ॐ

श्रीसद्गुरुदेवाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग - १)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

'छहढाला' ग्रन्थ पर के प्रवचन

(ढाल १, २ और ३)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख
प्रभावक ट्रस्ट ५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

गुरु गौरव
श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन साहित्य केन्द्र,
पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ.

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट
विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ.
फौन : (०५७१) २४१००१०/११/१२

श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१
श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००
द्वितीय आवृत्ति : प्रत : ७५०
तृतीय आवृत्ति : प्रत : ३०००, दि.१२-८-२०१४, पूज्य बहिनश्री की १०१वीं जन्म जयंति
पृष्ठ : ८ + ५०० = ५०८
लागत मूल्य : १५०/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं.१९२४-बी,
६, शान्तिनाथ बंगलोझ,
शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास
भावनगर-३६४००१
फोन : ९७२५२५११३१

मुद्रक :
भगवती ओफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड,
बारडोलपुरा
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकिय

संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहे ऐसे जीव निरंतर मानसिक एवं शारीरिक ताप से तप्तायमान हो रहे हैं। अनंतकाल बीता फिर भी जीव को इस दुःख से मुक्त होने का उपाय प्राप्त नहीं हुआ, अतएव अनिच्छासे भी दुःखी हो रहा है। सुख की वांछा में भटक रहे जीव निरंतर दुःख प्राप्ति के उपाय का ही सेवन कर रहा है। यह एक वास्तविकता है। जीव को दुःख उत्पन्न होने का कारण क्या है इसकी भी खबर नहीं है तो उसे मुक्त कैसे होना उसके उपाय की तो सूझ कहाँ से होगी ? ऐसी एक विकट परिस्थिति में जगत के सर्व जीव काल व्यतीत कर रहे हैं।

दुःख को ही सुख मानकर सेवन करता ऐसा यह जीव दुःख के उपाय को ही साधता है। सुख का वास्तविक स्वरूप क्या ? दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या ? सुख कैसे प्रगट हो ? इत्यादि विषय से अनभिज्ञ, इस विषय की अंधकारमय परिस्थिति में कोई महाभाग्य से, महापुण्योदय से, किसी मंगल घडी में, दुःख से मुक्त कैसे होना और शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना उस पर प्रकाश डालने, उस उपाय को जगत समक्ष दर्शाने एक दिव्य आत्मा का आगमन इस भरतक्षेत्र में हुआ। जैसे सूर्यप्रकाश होने पर अंधकार रहता नहीं, वैसे वह दिव्य दैदीप्यमान, जाज्वल्यमान, अंतर-बाह्य पवित्रता के पूंज स्वरूप, अनेकानेक दिव्यगुणों से विभूषित आत्मा के आगमन से सुख कैसे प्रगट हो उसका उपाय दर्शाकर दुःखी जीवों की दरिद्रता को मिटाकर, शाश्वत सुख संपत्ति प्रदान की। ऐसे हम सबके तारणहार, जगत उद्धारक, मोक्षमार्ग शिरोमणी, पुरुषार्थ के धनी, सुख-संपत्ति दातार, इस काल का अचम्भा ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में अत्यंत विनम्रभाव से वंदन हो।

पूज्य गुरुदेवश्री के ज्ञान-ध्यानमय जीवन का एक मुख्यभाग है - प्रवचन। पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वरूप स्पष्ट करके तत्संबंधित सुख-दुःख की विकट समस्या का उपाय दर्शाया। आपश्री के प्रवचनों का श्रवण करना, वांचन करना यह जीवन की अचिंत्य और सुमंगल घडी है। इन प्रवचनों का प्रकाशन होना, घर-घर में जिनवाणी का स्वाध्याय हो, मूल मोक्षमार्ग शाश्वत अखण्डरूप से विद्यमान रहे इस हेतु से पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन शब्दशः प्रकाशित हो, ऐसी प्रत्यक्ष बोधस्वरूप, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनमर्म प्रकाशक, करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई की मंगल, पवित्र, लोकोत्तर

भावना के फल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'छहढाला प्रवचन' (भाग-१ और २) प्रकाशित करते हुए वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर गौरवान्वित हो रहा है।

'छहढाला प्रवचन' (भाग - १ और २में) प्रत्येक भाग में तीन ढाल पर के प्रवचनों का समावेश किया गया है। साथ ही ग्रन्थकर्ता श्री दौलतरामजी द्वारा रचित गाथाओं एवं उसकी हिन्दी टीका भी दी गई है। कविवर श्री दौलतरामजी का संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, जिसे वहाँ से पढ़ने की पाठकवर्ग को विनंती है। प्रथम ढाल में ग्रन्थकर्ता कविवर श्री दौलतरामजी ने संसार परिभ्रमण का स्वरुप, चार गति में जीव ने कैसे-कैसे दुःख सहन किये उसका वर्णन किया है। तत्पश्चात दूसरी ढाल में संसार परिभ्रमण का कारण, सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा, उसके नाश का उपाय इत्यादि विषय का सरल एवं स्पष्ट भाषा में वर्णन किया है। पूज्य गुरुदेश्री प्रवचनों में अनेकबार फरमाते थे कि, यह तो गागर में सागर भर दिया है।

जैन सम्प्रदाय में छहढाला की कृति लोकप्रिय है। बहुत से जैनी इस कृति को मुखपाठ करते हैं, परन्तु परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि, 'शास्त्र में मार्ग कहा है परन्तु मर्म तो ज्ञानी के हृदय में रहा है।' तद्नुसार पूज्य गुरुदेवश्री ने कविवर के हृदय में रहे भावों को स्पष्ट कर मोक्षमार्ग का उद्योत करके महान अविस्मरणिय उपकार किया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन यह मात्र कोई वचनश्रृंखला नहीं है अपितु उसमें निहित मोक्षमार्ग को यदि जीव हृदयगत करे तो आत्मकल्याण हो जाये ऐसा प्रबल निमितत्त्व इसमें रहा है। इसलिए प्रस्तुत प्रवचन जीव के कल्याणार्थ हैं, इस उद्देश्य से उसका वांचन, स्वाध्याय अवधारण आदि किया जाये ऐसी भावना है।

मूल कृति छहढाला सचित्र होने से प्रस्तुत प्रवचनों में जहाँ - जहाँ पूज्य गुरुदेवश्रीने चित्रों को देखकर उसका उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ उस चित्र को दिया गया है। तदुपरांत पूज्य गुरुदेवश्री ने जहाँ जिस प्रकार के दृष्टान्त दिये हैं उसके भी कुछएक चित्र दिये गये हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का भाव एवं भाषाप्रवाह यथावत् बना रहे उसका यत्किंचित प्रयत्न किया गया है। कोई-कोई जगह में श्रोतागणमें से कोई बात की गई हो या पूछने में आयी हो वह स्पष्ट सुनने में नहीं आयी है वहाँ डोट-डोट करके जगह छोड़ दी गई है। जहाँ जरूरत लगी वहाँ वाक्यरचना पूर्ण करने हेतु कोष्टक भरे गये हैं। व्यक्तिगत नाम का सम्बोधन कहीं भी लिया नहीं गया है। प्रत्येक भाग में दो ढाल के प्रवचन लिये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों को फिर से एकबार सुनकर जाँच लिये गये हैं, ताकि कोई क्षति रह न जाये।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य अति गम्भीर कार्य है ऐसी जागृतिपूरवक बारीकी से जाँच कर

प्रकाशन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं अजागृतिवश या अगम्भीरतावश कोई क्षति या भूल रह गई हो तो जीनवाणी माता की हृदयपूर्वक क्षमायाचना करते हैं। तथा पाठकवर्ग से भी विनंती है की यदि कोई क्षति ध्यान पर आये तो उसे अवश्य बताए।

प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशन के प्रसंग पर कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी, प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहन, पुरुषार्थ मूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी को स्मरण में लेकर उनके चरणों में वंदन करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के अपूर्व प्रवचन प्रकाशित हो ऐसी जिनकी मंगलभावना है, ऐसे सौम्यमूर्ति, निष्कारण करुणाशील, ज्ञानीपुरुषों के हृदय प्रकाशक पूज्य भाईश्री शशीभाई के उपकार को हृदयगत कर उनके चरणों में वंदन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रवचन गंगा में स्नानकर मिथ्यात्वरुपी मलिनता को धोकर, निर्मल पवित्र परिणति अंगीकार करें, एसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

पण्डित दौलतराम - संक्षिप्त जीवनवृत्त

प्रस्तुत कृति 'छहढाला' के रचनाकार पण्डित दौलतराम का जन्म विक्रम संवत् १८५५ (सन् १७९८ ईसवी) में, अलीगढ़-हाथरस के मध्य स्थित 'सासनी' ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'टोडरमल' था। आप पल्लीवाल जाति के नररत्न थे एवं आपका गोत्र 'गंगोरीवाल' अथवा 'गंगटीवाल' था। कविवर के पिता, अपने छोटे भाईश्री चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे।

कविवदौलतराम की शिक्षा एवं शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, पर इतना निश्चित है कि ये संस्कृत / प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ मनीषी थे। आपके द्वारा रचि ग्रन्थों में उपलब्ध जिन-सिद्धान्तों की गम्भीरता, इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है।

आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन, छिपैटी, अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके बड़े पुत्र टीका राम का जन्म विकर्म सम्वत् १८८३ और छोटे पुत्र का जन्म विक्रम सम्वत् १८८६ में हुआ था। आपके बड़े पुत्र लश्कर में रहते थे। आपके छोटे पुत्र के सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

कविवर दौलतराम, हाथरस में अपने पिता और चाचा के साथ कपड़े के व्यापार में सहयोग करते थे परन्तु स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण यदा-कदा समय निकालकर शास्त्रों के अध्ययन-मनन में लीन हो जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे हाथरस के जिनमन्दिर में गोम्मटसार का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मणिरामजी जिनदर्शन हेतु वहाँ पधारे। वे उनके स्वाध्याय से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे हाथरस छोड़कर मथुरा चलने का आग्रह करने लगे। पण्डित दौलतराम उनके साथ मथुरा चले गये और कुछ समय वहाँ बड़े आनन्द से रहे भी, परन्तु सम्भवतया सेठजी के वैभव की चकाचौंध में उनका मन नहीं लगा; अतः वे वहाँ से वापस अपने घर आ गये।

घर आने के बात उन्होंने पुनः आजीविका के सम्बन्ध में सोचा और अलीगढ़ जाकर छींट छापनें का कार्य करने लगे। प्रतीत होता है कि वे आजीविका की ओर से निश्चित नहीं थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, अतएव उन्हें अपने जीवन में बार-बार इधर से उधर होना पड़ रहा था, किन्तु साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उनकी अद्यात्मरुचि अत्यन्त प्रबल थी; अतः वे इन उदयाधीन परिस्थितियों से

विशेष आकुलित भी नहीं होते थे। कहा जाता है कि जिस समय वे छींट छापने का कार्य करते थे, उस समय अपने समीप एक चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छींट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी कि वे एक दिन में साठ-सत्तर गाथाएँ या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

कविवर दौलतराम के जीवन का यह प्रसंग आत्महित के अभिलाषियों द्वारा बारम्बार विचार करने योग्य है क्योंकि इससे व्यर्थ के आर्तध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करने की मंगल प्रेरणा प्राप्त होती है।

अलीगढ़ के बाद कविवर दौलतराम, दिल्ली आकर रहने लगे। दिल्ली में उन्हें विशिष्ट स्वाध्यायी एवं अद्यात्मरुचिसम्पन्न साधर्मियों का ऐसा सुन्दर समागम मिला कि वे सभी चिन्ताएँ भूल गये और फिर वहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं गये; जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे। आपने विक्रम सम्वत् १९०१ में माघ कृष्णा चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मी बन्धुओं के साथ तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा भी की थी।

कविवर पण्डित दौलतराम ने लगभग ६८ वर्ष की उम्र में, मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, विक्रम सम्वत् १९२३ को (०७ दिसम्बर १८६६, शुक्रवार) मध्याह्न में समाधिपूर्वक शरीर त्याग दिया। यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करके समाधिभाव धारण कर लिया था।

(मंगलायतन द्वारा प्रकाशित 'छहढाला', पुस्तकमें से साभार उद्धृत)

विषयानुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	गाथा	पृष्ठ नंबर
पहली ढाल			
०१	१६.०१.१९६६	१, २, ३	००१
०२	१७.०१.१९६६	३ से ६	०२३
०३	१९.०१.१९६६	७ से १२	०४६
०४	२०.०१.१९६६	१२ से १६	०७३
दुसरी ढाल			
०५	२२.०१.१९६६	१, २, ३	०९९
०६	२३.०१.१९६६	३, ४	१२३
०७	२४.०१.१९६६	५, ६	१४५
०८	२५.०१.१९६६	६, ७	१६६
०९	२६.०१.१९६६	७ से १२	१८७
१०	२७.०१.१९६६	१३	२११
११	२८.०१.१९६६	१३, १४, १५	२३०
तीसरी ढाल			
११	२८-०१-१९६६	१	२४६
१२	३०-०१-१९६६	१	२५५
१३	३१-०१-१९६६	१, २	२७४
१४	०१-०२-१९६६	३, ४	२९४
१५	०२-०२-१९६६	४, ५	३१६
१६	०३-०२-१९६६	६ से ८	३३७
१७	०४-०२-१९६६	८ से १०	३६१
१८	०६-०२-१९६६	१० से १२	३८६
१९	०७-०२-१९६६	१२, १३	४०९
२०	०८-०२-१९६६	१४, १५	४३२
२१	०९-०२-१९६६	१५ से १७	४५१
२२	१०-०२-१९६६	१७	४७३

ॐ

श्रीसद्‌गुरुदेवाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग - १)

पहली ढाल

मंगलाचरण

(सोरठा)

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं

अन्वयार्थ :- (वीतराग) राग-द्वेष रहित, (विज्ञानता) केवलज्ञान (तीन भुवनमें) तीन लोकमें (सार) उत्तम वस्तु (शिवस्वरूप) आनन्दस्वरूप [और] (शिवकार) मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, [उसे मैं] (त्रियोग) तीन योग से (सम्हारिकैं) सावधानी पूर्वक (नमहूँ) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :- राग-द्वेषरहित 'केवलज्ञान' ऊर्ध्व, मध्य और अधो इन तीन लोकमें उत्तम, आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक है, इसलिये मैं (दौलतराम) अपने त्रियोग अर्थात् मन-वचन-काय द्वारा सावधानी पूर्वक उस वीतराग (१८ दोषरहित) स्वरूप केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ।।१।।

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १०, रविवार
दि. १६-१-१९६६, श्लोक १ से ३, प्रवचन नं.१

यह एक छहढाला है। 'छहढाला' अर्थात् छह प्रकार के राग की चाल है अथवा 'छहढाला' अर्थात् आत्मा को मिथ्यात्व और अज्ञान शत्रु को जीतने के लिए एक उपायरूप ढाल, उसे यहाँ 'छहढाला' कहा जाता है। एक अध्यात्म प्रिय 'दौलतरामजी' हुए हैं, उन्होंने यह रचना की है। अन्दर सब शास्त्रों का उनकी शक्ति अनुसार निचोड़ करके गागर में सागर भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है। संक्षिप्त में शास्त्र का रहस्य थोड़ा... थोड़ा... थोड़ा... (करके) सब बहुत बातें इसमें रख दी है। यह प्रचलित है लड़को में, अपने पाठशाला में भी (प्रचलित है)

ॐ मंगलाचरण, पहली ढाल।

'तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता;'

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं

यह सोरठा है, सौरठा। ऐसे तो दो-दो बार बोलें, परन्तु यह सोरठा में दो बार नहीं। तीन भुवन में सार.. तीन भुवन में सार... ऐसा नहीं, सही देशी अर्थ ऐसा नहीं है। जैसा हो, वैसा कहा जाता है न वहाँ, यह राणकदेवी सोरठा बोलती है न! 'मा पर मारा वीर, चौसला कौन चढ़ावशे' राणकदेवी, जब राजा मरता है, फिर पर्वत है, वहाँ से नीचे गिरती है, 'गिरनार।' यह सोरठा है वहाँ, ऐसा कहते हैं।

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं।।१।।

कहो, समझ में आया इसमें? हैं? यह देशी समझ में आया? ऐसा कहा। यह देशी ऐसा है - ऐसा समझ में आया? ऐसा कहा है। ऐ... देवानुप्रिया! क्या कहा? देखो अब!

'**(वीतराग)...**' '**राग-द्वेष रहित,...**' मांगलिक रूप से पहला शब्द यहाँ से शुरू किया है। राग-द्वेष रहित विज्ञानता। वि-शेष, ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान। विज्ञानता में लिया है न ! वि...ज्ञानता; ज्ञान तो है परन्तु यह विज्ञानता-विशेष पूर्णज्ञान - ऐसा केवलज्ञान ! देखो, यहाँ मांगलिक में केवलज्ञान का स्मरण करते हैं। सावधानीपूर्वक करते हैं - ऐसा कहते हैं, हों !

विज्ञान अर्थात् केवलज्ञान; तीन भुवन में ऐसा कहकर तीन लोक सिद्ध करते हैं। इस जगत में तीन लोक हैं। लोक एक, उसके तीन भाग हैं - उर्ध्व, मध्य और तिरछा .... ऐसे तीन लोक; एक लोक के तीन भाग। इन तीनों मैं, देखो ! तीन लोक है - ऐसा सिद्ध करते हैं। 'सार' उत्तम वस्तु है। यह केवलज्ञान, राग-द्वेषरहित स्वरूप यह इस जगत में सार में सार है। समझ में आया ? यह एक प्रयोजनभूत है।

वैसे वस्तुरूप से तो सभी सार कहलाती है। ऐसे समयसार कहलाता है न ? वह आत्मा का समय आत्मा के अर्थ में हैं, यहाँ पर केवलज्ञान के अर्थ में 'सार' है। समझ में आया ? समयसार (अर्थात्) सम्यक् प्रकार से अय - ज्ञान का परिणमन, विकार रहित; यह आत्मद्रव्य की बात है। यहाँ केवलज्ञान की पर्याय सार में सार प्रगट करने योग्य है; इसलिए उसे सार में सार कहा गया है। समझ में आया ? तीन लोक में, राग-द्वेष रहित वस्तु केवलज्ञान उत्तम पदार्थ है। ओ..हो..! वह केवलज्ञान चाहिए है न ? धर्मात्मा को केवलज्ञान चाहिए।

'श्रीमद्' भी अन्तिम कलश में कहते हैं न ? 'इच्छे छे जे योगीजन, अनन्त सुख स्वरूप' आता है ? 'मूल शुद्ध ते आत्मरूप सयोगी जिन स्वरूप।' देखो, वहाँ ऐसा लिया है। 'मूल शुद्ध ते आत्मरूप, सयोगी जिन स्वरूप' - वहाँ लिया है भाई ! वहाँ केवलज्ञान लिया है। 'इच्छे छे जे योगीजन।' यहाँ आयेगा तब इसमें आगे कहेंगे, हों ! 'इच्छे छे जे योगीजन अनन्त सुख स्वरूप; मूल शुद्ध ते आत्मरूप।' आत्मपद। मूल शुद्ध, वह आत्मपद, परन्तु वह आत्मपद पर्यायवाला लिया है। 'सयोगी जिनस्वरूप, भले सयोग हो, परन्तु केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, बस ! मोक्ष हो गया। समझ में आया ?

यह इस तीन लोक में - उर्ध्व में स्वर्ग में सर्वार्थसिद्धि के विमान; मध्य में बहुत रचनायें; अधो में नारकी, भवनपति इत्यादि की रचनायें, इन सब में सार एक ज्ञान की वीतरागता - पूर्णस्वरूप, यही जगत में सार है, यही मक्खन है; यही आत्मा को प्रगट करने योग्य है; इसलिए वह वन्दन

करने योग्य है।

कैसा है केवलज्ञान ? '**(शिवस्वरूप)...**' है (अर्थात्) '**आनन्दस्वरूप...**' है। ज्ञान और आनन्द दो साथ डाले हैं (क्योंकि) मूलवस्तु है। दो डालते हैं। जहाँ-जहाँ; ज्ञान और आनन्द, बस ! ज्ञान और आनन्द। वह ज्ञान, आनन्दस्वरूप है, सुखरूप है, अतीन्द्रिय अनाकुल शान्तरस के साथ परिणमता केवलज्ञान होता है; इसलिए उसे शिव-उपद्रव रहित, कल्याणस्वरूप; कल्याण अर्थात् आनन्दस्वरूप - ऐसी उसकी व्याख्या की है। शिवका अर्थ तो कल्याणस्वरूप है; शिव का अर्थ उपद्रवरहित है, क्लेश रहित है अर्थात् आनन्दसहित है, ऐसा। आनन्द स्वरूप - यह वीतराग केवलज्ञान आनन्द स्वरूप है। जगत को आनन्द चाहिए है न ? तो कहते है कि केवलज्ञान ही आनन्दस्वरूप है। '**मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है...**' यह केवलज्ञान हुआ, अर्थात् उसे मोक्ष होकर ही रहेगा। यह भावमोक्ष है, द्रव्यमोक्ष हो जाता है। '**मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला...**' केवलज्ञान और आनन्द है।

'**उस मैं... (त्रियोग) अर्थात् तीन योग की...**' मन-वचन और काया की, '**(सम्हारिकैं...)**' अर्थात् '**सावधानी से...**' देखा ? सावधानी से। उस वीतराग केवलज्ञान को, वीतराग-विज्ञान को (नमस्कार करता हूँ।) वीतराग-विज्ञान तो छद्मस्थ में भी होता है। समझ में आया ? 'परमात्म प्रकाश' में बहुत जगह आया है। वीतराग, विज्ञानदशा, मुनि को वीतराग-विज्ञानदशा होती है। यह तो वीतरागी-विज्ञान केवलज्ञान को (कहा है।) जिसके फलरूप पूर्णदशा हुई, उसेयहाँ वीतराग-विज्ञान कहा गया है। कहते हैं, उसे तीन योग की सावधानी से '**नमस्कार करता हूँ।**' हमारे नमन करनेयोग्य, आदर करनेयोग्य हितरूप गिनकर सावधानरूप से प्रगट करनेयोग्य होवे तो यह वीतराग-विज्ञान केवलज्ञान है। उसे ही मैं नमस्कार करता हूँ। मेरा अन्तर झुकाव केवलज्ञान की पर्याय को ही नमन करता है। कहो, समझ में आता है ? अर्थात् ऐसा करके केवलज्ञान एक पर्याय है - ऐसा सिद्ध किया। आत्मद्रव्य में सामर्थ्य है, परन्तु केवलज्ञानपर्याय प्रगट करे - यह उसकी ताकात है। एक समय में तीन काल - तीन लोक को जाने ऐसी एक समय की पर्याय, ऐसी आत्मद्रव्य की एक समय की ज्ञान की पर्याय की ताकात है - ऐसी सामर्थ्य से उसे नमस्कार किया है। ऐसी सामर्थ्य गिनकर उसे वन्दन किया गया है।

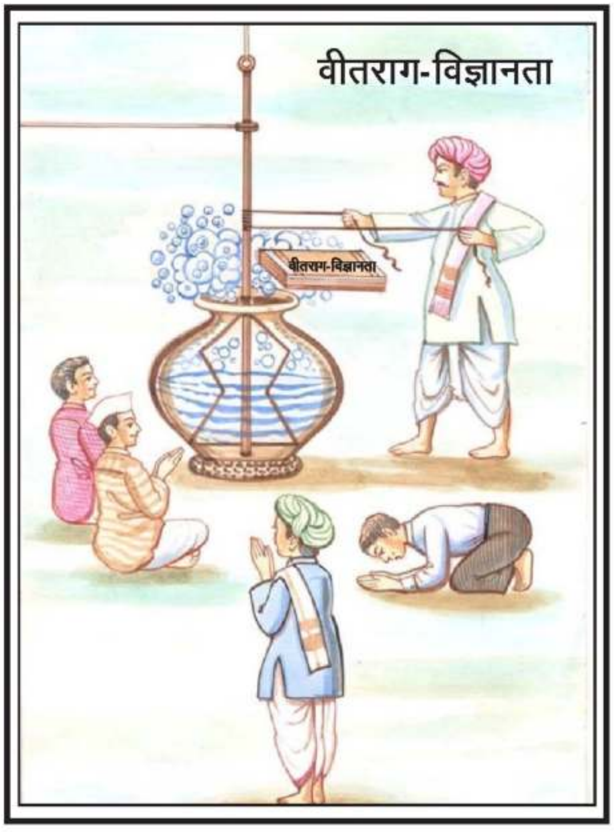

भावार्थ :- इसमें वह रखा है न जरा ! चित्र... चित्र। तीनलोक रखे हैं, समझे न ? देखो न ! लोक रखा है न ? यह लोक उर्ध्व, मध्य और पाताल (तिरछा) सब उसे नमस्कार करते हैं। देखो ! अपने में नहीं है, उसमें - हिन्दी में है। यहाँ कहते हैं, देखो ! मंथन करते है न ? इस तीन लोक का मंथन करते हैं। मंथन करके निकालने योग्य सार हो तो, मक्खन हो तो केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं। कहते है न ? एक यह ध्यान में रहता है। यह तीन लोक है, इसमें यह रवैया। रवैया कहते है न ? क्या कहलाता है ? क्या कहते हैं ? मथानी। मंथन करने में सार मक्खन निकालने योग्य होवे तो वीतराग केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं। देखो, चित्र भी ठीक दिया है, हों ! अपने नए में है, उस हिन्दी में हिन्दी में। इस हिन्दी में है। है न, यहाँ सब है यहाँ है। यह रही, हाँ ! यहाँ सब एक-एक है। यहाँ सब साथ रखी है। वह तो उसमें चित्र बराबर नहीं है, इसमें चित्र जरा ठीक है।

तीनलोकरूपी एक बड़ा मक्खन का... समझ में आता है ? क्या कहलाता है ? गोली... गोली ! गोली नहीं आयी तुम्हारी। तीनलोकरूपी गोली ! उसमें मंथन करके निकालने योग्य मक्खन होवे तो केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं, लो ! देखो न ! यह बताया है न ? यह क्या कहलाता है ? देखो न ! क्या कहलाता है ? गोल जैसा यह सामने बताया है न ? बड़ा बर्तन, बर्तन देखो न ! बर्तन जैसा आकार दिया है, देखो न ! है वहाँ ? बर्तन जैसा आकार देकर और उसमें मंथन करके

तीन लोक में से आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप का मंथन करके केवलज्ञान प्रगट करना, यह सार में सार है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसे सब नमस्कार करते हैं, देखो ! इस और, इस और यह मुनि मंथन करते हैं, देखो ! ध्यान में। मुनि दिये है न ? ध्यान में। केवलज्ञान, इस जगत में सार में सार वीतराग केवलज्ञान है - ऐसा कहकर एक-एक आत्मा की केवलज्ञानदशा वीतरागता प्रगट होती है - ऐसी आस्थारूप से इस बात को सिद्ध करके उसे नमस्कार किया है। समझ में आया ? एक समय में ! आहा..हा..! राग-द्वेष की कल्पना गयी, ज्ञान की पूर्ण पर्याय हुई - ऐसा कहते हैं। वीतराग-विज्ञानता कहा है न ? अर्थात् राग-द्वेष की विकारी पर्याय गयी, वीतराग पर्याय हुई, वीतरागता के साथ केवलज्ञान पूर्णदशा तुरन्त ही प्रगट हुई - ऐसी एक आत्मा में, एक समय में ऐसी ताकत है - ऐसी उसकी प्रतीति और श्रद्धा करके, उसे प्रगट करने के लिए हम उसे वन्दन, सत्कार और उसका ही आदर करते हैं।

देखो ! भावार्थ में थोड़ा लिखा है। '**राग-द्वेष रहित केवलज्ञान उर्ध्व, मध्य और पाताल - तीन लोक में उत्तम...**' सार का अर्थ उत्तम किया है। '**आनन्दस्वरूप और मोक्ष देनेवाला है।**' यह केवलज्ञान आनन्दस्वरूप और मोक्ष देनेवाल। हों ! केवलज्ञान ही मोक्ष-पूर्ण सिद्धपद को देनेवाला है। '**इसलिए मैं 'दौलतराम' अपने त्रियोग...**' अथवा उसे याद करनेवाला, केवलज्ञान को प्रगट करने का अभिलाषी। यह स्वतं ग्रन्थकार कहते हैं '**मन-वचन और काययोग द्वारा सावधानी से...**' अत्यन्त ही सावधानी से ऐसे वीतराग केवलज्ञान को मैं (नमस्कार करता हूँ) देखो ! सावधानी मे ज़रा राग के अभाव की सावधानी की है, कही है। 'सावधानी' शब्द का प्रयोग किया है न ? अर्थात् मोह का अभाव - ऐसी सावधानी को प्रगट करके ऐसे केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा को मैं '**नमस्कार करता हूँ।**' वे वीतराग कैसे है ? अठारह दोष रहित हैं। उन्हें क्षुधा नहीं, तृषा नहीं, रोग नहीं... ऐसे अठारह दोष आते हैं न ? (वे) नहीं - ऐसे केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ। लो !

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य और जीवों की इच्छा

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करूणा धार।।१।।

अन्वयार्थ :- (त्रिभुवनमें) तीन लोकमें (जे) जो (अनन्त) अनन्त (जीव) प्राणी [हैं वे] (सुख) सुखकी (चाहैं) इच्छा करते हैं और (दुखतैं) दुःखसे (भयवन्त) डरते हैं (तातैं) इसलिये (गुरु) आचार्य (करुणा) दया (धार) करके (दुखहारी) दुःख का नाश करनेवाली और (सुखकार) सुख को देनेवाली (सीख) शिक्षा (कहैं) कहते हैं।

भावार्थ :- तीन लोक में जो अनन्त जीव (प्राणी) हैं वे दुःख से डरते हैं और सुख को चाहते हैं, इसलिये आचार्य दुःखका नाश करनेवाली तथा सुख देनेवाली शिक्षा देते हैं।।२।।

अब, '**ग्रन्थ रचनाका उद्देश्य और जीव की चाह...**' देखो ! उद्देश्य क्या है ? ओर जीव को मूल सुख की चाहना है। इसमें अनन्त प्राणी लेंगे, हों ! निगोद से लेकर अनन्त जीवों को सुख की चाहना है। समझ में आया ?

'जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;'

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरुकरुणा धार।।१।।

शब्द भी ऐसे रचे हैं न ! तीन भुवन में - तीन लोक में। एक बात सिद्ध की। पहले वहाँ कहा था न - तीन लोक में सार। पहले शब्द में कहा था '**तीन भुवन में सार;**' अब कहते हैं, तीन लोक में जितने जीव है - अनन्त जीव हैं। समझ में आया ? अनन्त जीव हैं, इसमें इन्होंने ज़रा गति रखी

है, देखो ! चित्र में इस ओर; जीव अनन्त - इसमें रखा है - स्वर्ग का देव, गति है न ? यहाँ मनुष्य; यहाँ पशु (तीर्यञ्च) और नारकी - चार चित्र चित्रित किये हैं। चारों का नमूना दिया है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी। वह मारता है। इन तीन भुवन में इन चारगतियों के अनन्त जीव है - ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया ? अनन्त जीव हैं। भले ही निगोद में अनन्त है और दूसरे मनुष्य, देव, नारकी असंख्य है। इसलिए इन्होंने चार गति का समुच्चय फोटो दिया है।

तीन भूवन में '**जो अनन्त प्राणी है...**' उन अनन्त प्राणियों में, इन चार गति के जीवों को यहाँ चित्र में थोड़ा-सा बताया है। '**वे सुख को चाहते हैं...**' यह सिद्धान्त। जगत को सुख की छटपटाहट है, सुख चाहते हैं। निगोद से लेकर सब प्राणी सुख चाहते हैं। सुख चाहते हैं परन्तु सुख कहाँ है ? और उपाय क्या है ? इसका पता नहीं है। सुख चाहते हैं - यह एक ही सिद्धान्त यहाँ सिद्ध किया है। समझ में आया ? सुख को नहीं चाहते, वे जड़। 'श्रीमद्' ने एक जगह कहा है न भाई ! प्रत्येक प्राणी सुख को ही चाहता है, देखो ! मर कर भी सुख को चाहता है न ? मर जाऊँ; अमुक प्रतिकूलता आयी तो छोड़ दूँ, परन्तु प्रतिकूल छोड़कर सुखी होऊँ। यहाँ एकेन्द्रिय से लेकर सभी प्राणी लिये हैं, क्योंकि उनके आत्मा में सुखरूप आत्मा है; स्वभाव सुखरूप है, इसलिए सुख की अपेक्षा (रखकर सुख प्राप्त करने के लिए) बाहर में लगते है। उस प्रत्येक को सुख की इच्छा है। समझ में आया ? और सुख को चाहता है - ऐसा है न ? चाहना है, प्रत्येक प्राणी को सुख की चाहना है।

'**दुःख से डरता है...**' अस्ति-नास्ति की है। सुख की भावना है, दुःख से डरता है, दुःख से

त्रास पाता है... परन्तु दुःख किसे कहना ? और सुख किसे कहना ? इसका इसे पता नहीं है, इसलिए यहाँ उपदेश शुरू करते हैं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? '**दुःख से डरता है, इसलिए (गुरु)...**' है न ? '**आचार्य...**' महासन्त मुनि दिगम्बर आचार्य गुरु है न ? वे ही आचार्य सच्चे होते हैं। गुरु है न ? गुरु ! गुण में बड़े, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में (बड़े) ऐसे महान दिगम्बर आचार्य (होते हैं)।/ 'दौलतरामजी' के अभिप्राय में ऐसा है। महान निर्ग्रन्थ आचार्य दिगम्बर मुनि, वे गुरु'**करुणा करके...**' देखो ! दया का भाव आता है। जगत के प्राणियों को दुःखी देखकर, स्वयं को किंचित् राग है, इसलिए करुणा आती है।

'करुणा उपजे जोई' - 'श्रीमद्' में आता है न ? 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई; माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई।' यहाँ तो 'दौलतरामजी' यह कहना चाहते हैं (कि) आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त महानिर्ग्रन्थ मुनि थे। वीतराग-विज्ञानता प्राप्त करने के अभिलाषी। वीतराग-विज्ञानता (जो) केवलज्ञान कहा; वीतराग विज्ञानता - ऐसी वीतराग-विज्ञानता के साधक, ऐसे आचार्य, सन्त, गुरु यह शिक्षा देते हैं। 'दया करके...' फिर दया करके, हों ! करुणा का विकल्प है, अरे...! जग के प्राणी ! 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में आता है न ? धर्म के लोभी को देखकर किञ्चित् शुभराग होता है तो वे आचार्य जगत को उपदेश करते हैं। समझ में आया ? धर्म के लोभी जीव होवे तो, हों !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, किन्तु गुरु कहते हैं। ऐसा कि मैं अपने घर की बात नहीं करता। आचार्य - गुरु कहते हैं, ऐसा कहते हैं। गुरु ने उपदेश दिया, वह मैं कहूँगा - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो ! इन्होंने पहले सिर पर गुरु को रखा है। गुरु ने दया करके, आ..हा..! वीतराग-विज्ञान को साधन बोले, जिस वीतराग-विज्ञान को मैंने नमस्कार किया - ऐसे वीतराग-विज्ञान को साधनेवाले, उस वीतराग-विज्ञान की दशा में रहनेवाले, उस पूर्ण वीतराग-विज्ञान को प्राप्त करने के अभिलाषी... परन्तु वीतराग मुनि है। जिन्हे अन्दर में तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव हुआ है और ज्ञान की निर्मलता, स्वसंवेदन की वीतरागी-विज्ञानता अन्दर में प्रगट हुई है - परन्तु अपूर्ण - ऐसे गुरु दया करके, जगत पर करुणा करके (उपदेश देते हैं।) अरे...! जगत के प्राणी। अनादिकाल से चौरासी के अवतार में दुःखी है, उन्हें अब किञ्चित् सुख की इच्छा होने पर भी

सुख प्राप्त नहीं होता, उन पर करुणा करके, '**दु:ख का नाश करनेवाली...**' देखो ! यह शिक्षा। यह सब शिक्षा की व्याख्या है। शिक्षा कैसी है ? कि '**दु:ख का नाश करनेवाली और सुख देने वाली**' अस्ति-नास्ति से बात की है।

ये आचार्य, सन्त, मुनि वीतराग विज्ञान के साधक, इन्होंने दु:ख का नाश करनेवाली, सुख को उत्पन्न करनेवाली ऐसी शिक्षा अर्थात् उपदेश (दिया है।) एक सिद्धान्त में कितना भरा है, देखो ! विकार का नाश करनेवाली और आनन्द को उत्पन्न करनेवाली; निर्विकल्प दशाको उत्पन्न करनेवाली। विकार का नाश करनेवाली और निर्विकारी दशा को उत्पन्न करनेवाली। देखो ! इसमें अन्दर यह वीतरागता आयी। ऐसी शिक्षा गुरु-सन्तों ने दी है।

यहाँ तो आचार्य यह कहते हैं कि भाई ! गुरुने यह सीख (शिक्षा) दी है, उसमें से मैं यह बात करूँगा - ऐसा कहते हैं। महा दिगम्बर सन्तो, आचार्योंने गागर में सागर भर करके थोड़े में बहुत कहूँगा। '**दु:ख का नाश करनेवाली...**' आहा..हा..! ठीक ! और '**सुख को देनेवाली...**' जीव, सुख को चाहते हैं, इसलिए सुख को देनेवाली... इसका अर्थ यह है कि आत्मा की निर्विकारीदशा होनेवाली शिक्षा अर्थात् सीख; देखो ! यह उपदेश ! इन गुरु का यह उपदेश (है।) यह उपदेश का सार कहा। उपदेश कैसा होता है ? वह 'इष्टोपदेश' में आता है न ? इष्टोपदेश (में) आता है कि इष्ट अर्थात् प्रिय उपदेश किसे कहना ? कि जगत के प्राणी अपनी पर्याय का काम करे, (गति करे), तब जैसे धर्मास्ति निमित्त है, उसी प्रकार सभी कार्यों में एक जगत साधारण उदास निमित्तरूप है, ऐसा उपदेश, उसे इष्ट उपदेश कहते हैं। इस प्रकार दु:ख का नाश करनेवाली और आनन्द को देनेवाली दशा का उपदेश, उसे सच्ची शिक्षा, उपदेश कहा जाता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

इसका अर्थ ही यह हुआ कि वीतराग-विज्ञानता को केवलज्ञान को जो नमस्कार किया, उस केवलज्ञान के उत्पन्न करानेवाली, विकार की अभावदशा और निर्विकार की उत्पत्तिवाली ऐसी शीख, भगवानने - सन्तोने चार अनुयोगों में दी है, वह बात मैं कहूँगा - ऐसा कहते हैं। '**शिक्षा-सीख देते हैं...**' शिक्षा कौन ले सकता है ? संज्ञी प्राणी। यह भी आया न ? शिक्षा कौन ले सकता है ? कि यह संज्ञी (प्राणी), संज्ञी प्राणी हो, वह शिक्षा के योग्य है और उसे गुरु, शिक्षा देते हैं। इसका अर्थ यह कि जिसे इतना क्षयोपशमज्ञान है कि (जो) शिक्षा को समझ सकता है, उसे यह

गुरु शिक्षा देते हैं।

'**(कहैं)...**' शिक्षा कहते हैं - ऐसा कहकर गुरु की वाणी भी... यहाँ तो गुरु देते हैं न ? ऐसा कहते हैं न ? उस वाणी द्वारा जगत को उपदेश करते हैं। वाणी में यह आयेगा - दुःख का अभाव हो और सुख की प्राप्ति हो, बस ! इसमें पूरा मोक्षमार्ग आ गया। समझ में आया ? आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह मोक्ष को - आनन्द को देनेवाली (और) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान का नाश करनेवाली, दुःख का अभाव करनेवाली - ऐसी शिक्षा, सन्तोने आचार्योंने दी है। यह बात करेगें।

'**तीनलोक में जो अनन्त जीव (प्राणी) है, वे दुःख से डरते हैं...**' कोई कहता है - किन्तु तीन लोक में एकेन्द्रियजीव है, वे दुःख से डरते हैं ? हाँ, वे अन्दर अव्यक्तरूप से दुःख से डरते हैं। समझ में आया ? अनन्त प्राणी से व्याख्या ली है न ? जीव का स्वभाव ही ऐसा है, एक न्याय से देखें तो; क्योंकि वह आनन्दमूर्ति है, इसलिए सुख को ही चाहता है और दुःख से दूर होना चाहता है - ऐसा उसका स्वरूप ही है। देखो न ! यह सिर पर आपदा आवे या प्रतिकूलता आवे, उसे दूर करने को 'शरीर छोड़कर भी (दुःख) दूर करुं और सुखी होऊँ' - इसका अर्थ क्या होता है ? प्रतिष्ठा (न) हो, पैसा न हो, निर्धन हो - इतनी आपदा इसे कठोर लगती है कि शरीर को छोड़ना सरल लगता है। शरीर को छोड़ना सरल लगता है और आपदा कठोर लगती है। शरीररहित, अर्थात् अकेला रहकर भी, सुखी (होऊँ) - ऐसा हुआ है या नहीं अन्दर ? अकेला रहकर - शरीररहित रहकर भी दुःख से रहित होऊँ। शरीररहित; दूसरे साधन तो कहाँ गये ? मरे तब होता है न ? मर जाता है, नहीं ऐसे ? हाय ! दुःख से मर जाऊँ, छोड़ दूँ। भाई...! भाई ! यह क्या लगा रखा है इसने ? हैं ? भटकना है, कहते हैं।

यहाँ कहते है कि अन्दर में देहरहित होकर भी सुखी होना चाहता है - इसमें यह अव्यक्तरूप से सिद्ध होता है कि शरीर बिना अकेला रहूँ, परन्तु मैं सुखी होऊँ - तो इसका अर्थ यह कि मेरे अकेले में अन्दर सुख है, परन्तु इसे भान नहीं है, इसलिए शरीर छोड़कर फिर नरक-निगोदमें जाएगा। समझ में आया ? यह तो प्रसत होता है, आप क्यों ऐसा ढ़ीला बोले ? कहो, समझ में आया ? ऐसा छोड़ूँ, जहर पीकर मरे - इसका अर्थ इतना सिद्ध होता है कि शरीर का साधन भी न रहे तो मैं अकेला सुखी होऊँगा - ऐसा अव्यक्तरूप से अन्दर में भाव (होता है), परन्तु भान नहीं,

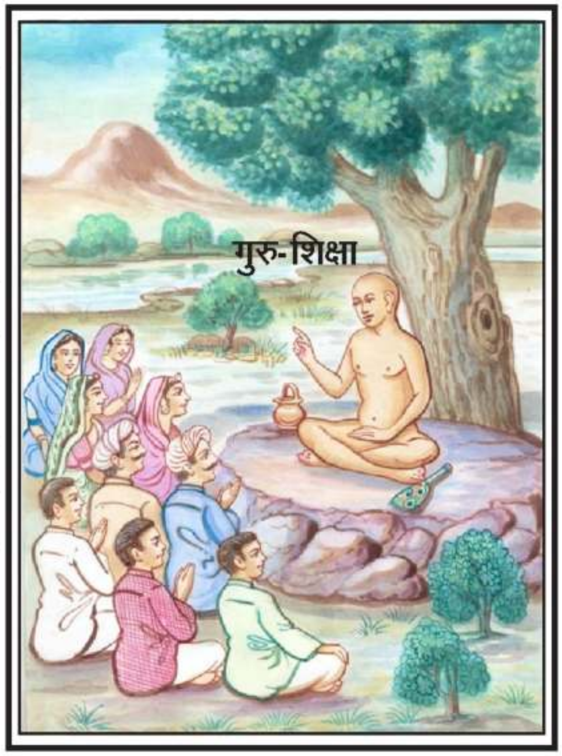

भान नहीं। मूढ़ ! शरीररहित होकर फिर सुख कहाँ है ? - यह पता नहीं है, परन्तु सुख के लिए छटपटाहट और तड़पड़ाहट तो है इसकी। भाई ! है ?

मुमुक्षु :- निगोद के जीव को रोग...

उत्तर :- रोग ही बड़ा, पूरा सदा ही रोग ही है। निगोद के जीव को रोग ही बड़ा पड़ा है। 'आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं।' 'आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं' - उसे इस भ्रान्ति का बड़ा रोग पड़ा है। निगोद के जीव का बड़ी भ्रान्ति-भ्रम है। चैतन्य आनन्दमूर्ति है, उसकी खबर नहीं हैं (- यह) बड़ा भ्रम पड़ा है, वह महादुःखी है। सब कहेंगे, देखो न यहाँ !

इसलिए आचार्य महाराज '**दुःख का नाश करनेवाली और सुख को देनेवाली शिक्षा देते हैं...**' ऐसी शिक्षा आचार्य महाराज देते है - ऐसा कहा, देखा ? देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! यहाँ गुरु बैठे हुए हैं, देखो ! यह मुनि, नग्नमुनि, दिगम्बर मुनि, एक जगह कहीं लिखा है, हो ! गुरु अर्थात् दिगम्बर मुनि - ऐसा किसी प्रति में लिखा है, किसी प्रति में है, वह सही है। यहाँ लिखा है न - देखो न ! यहाँ दिगम्बर मुनि सामने विराजमान है, देखो ! चार व्यक्ति। समझ में आया ? उन्हें शिक्षा देते है। शिक्षा देते हैं - ऐसा करके ऐसा बहुत सरस... दिगम्बर मुनि, महामुनि ! वीतराग - विज्ञान साधक ! जिन्हें एक लंगोटी का धागा भी नहीं है। मोरपिच्छी, कमण्डल - यह तो उपचरित, अपवादिक उपकरण हैं। अन्तर में महा आत्मा का साधन कर रहे हैं, उसमें से विकल्प आया; जगत पर करुणा आयी है और उपदेश होता है। कहो, ऐसी शिक्षा देते हैं। लो ! यह पहला श्लोक (पूरा) हुआ। वह पहला (श्लोक था, वह) मंगलाचरण का था। यह ग्रन्थ का पहला श्लोक है।

गुरुशिक्षा सुननेका आदेश तथा संसार-परिभ्रमणका कारण

ताही सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।२।।

अन्वयार्थ :- (भवि) है भव्य जीवो ! (जो) यदि (अपनो) अपना (कल्याण) हित (चाहो) चाहते हो [तो] (ताहि) गुरु की वह शिक्षा (मन) मनको (थिर) स्थिर (आन) करके (सुनो) सुनो [कि इस संसारमें प्रत्येक प्राणी] (अनादि) अनादिकाल से (मोह महामद) मोहरूपी महामदिरा (पियो) पीकर, (आपको) अपने आत्मा को (भूल) भूलकर (वादि) व्यर्थ (भरमत) भटक रहा है।

भावार्थ :- हे भद्र प्राणियो ! यदि अपना हित चाहते हो तो, अपने मनको स्थिर करके यह शिक्षा सुनो ! जिस प्रकार कोई शराबी मनुष्य तेज शराब पीकर, नशे में चकचूर होकर, इधर-उधर डगमगाकर गिरता है, उसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से मोह में फँसकर, अपनी आत्मा के स्वरूप को भूलकर चारों गतियों में जन्म-मरण धारण करके भटक रहा है।।२।।

दूसरा (श्लोक)। '**गुरुशिक्षा सुनने का आदेश...**' गुरु, सुनने को कहते हैं। ध्यान रखकर सुन ! कहते हैं - सब छोड़कर यह सुनने में ध्यान रख - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! '**और संसार परिभ्रमण का कारण...**' इसका भी (चित्र) रखा है न ?

ताही सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।२।।

अद्भुत भाषा ! यह लड़को के हाथ में है या नहीं ? हाँ, ऐसा कहते हैं। यह तो तुम्हें बहुत बार सिखाते हैं। पहला शब्द लिया है, '**हे भव्य जीवों !**' यहाँ भव्य से शुरूआत की है। भव्य जीव,

जो मोक्ष के लिए अभिलाषी है और मोक्ष के योग्य जीव है, उसे कहते हैं - हे लायक प्राणी ! यहाँ सम्बोधन किया है - '**हे भव्य जीवो ! यदि अपना हित चाहते हो तो...**' यहाँ एक सिद्धान्त है। यदि अपना हित चाहते हो तो। एक शब्द यहाँ से लिया है - तुझे यदि हित की चाहना-भावना होवे तो। यहाँ 'तो' रखा है, हाँ ! चाहते हो तो - ऐसा कहा है न !

'**जो चाहे अपनो कल्यान।**' तुम्हे हित चाहिए हो तो, हित-हित; अहित तो अनन्त काल से कर ही रहा है। यदि अपना हित चाहते हो तो '**गुरुकी वह शिक्षा...**' मन में... देखो...! मन में स्थिर करके सुनो। '**मन को स्थिर करके सुनो...**' काया-बाया स्थिर बैठी है या नहीं, '**मन को स्थिर करके सुनो...**' ऐसा कहते हैं। ध्यान रखकर सुनो। जैसे, प्रियवान संसार की प्रिय वार्ता मन स्थिर करके सुनता है; इसी तरह तुझे तेरे हित की इच्छा होवे, आत्मा का हित कैसे हो ? शान्ति कैसे हो ? सुख कैसे हो ? - ऐसे हित की कांक्षा हो तो उन धर्मात्मा गुरु की शिक्षा मन को स्थिर करके आन-स्थिर करके (सुनो)। मन को स्थिर करके (अर्थात्) दूसरे विकल्प छोड़कर सुनो... आदेश किया है।

देखो ! अन्दर शब्द है न ? आदेश शब्द शीर्षक में (उपोद्घात में) दिया है - गुरु-शिक्षा सुनने का आदेश - यह 'आदेश' शब्द प्रयुक्त किया है। यहाँ भी '**सुनो**' - ऐसा कहा है न ? सुनो ! इस पर तो बड़ा वजन है उसमें... पाहुड़ में, 'सुनो' शब्द की व्याख्या बहूत लम्बी की है। 'जयधवल'। 'सुनो' शब्द की व्याख्या की - सुनो ! ऐसा कहकर गुरु, जगत को सत्यवार्ता सुनने के लिए उत्तेजित करते हैं, सावधान करते हैं। दूसरी बात छोड़ दे, दूसरे विकल्प छोड़ दे; हम जो यह शिक्षा कहते हैं, उसे सुनने में मन को स्थिर कर। सुनने की बहुत लम्बी व्याख्या की है। एक-एक शब्द सूत्र है अवश्य न ? पाहुड़ में। सुनो ! अर्थात् मन के दूसरे विकल्पों को छोड़कर, यह हित की बात कहते हैं, उसे सुनने में सावधान, तत्पर हो। कहो, समझ में आया ? यह हिन्दी तो बहुत साधारण भाषा है। मूल भाषा में कुछ बहुत (कठिनता) नहीं है और हमने तो यह गुजराती किया है।

'**इस संसार में प्रत्येक प्राणी अनादि काल से...**' यह सिद्ध किया। '**जो चाहो अपनो कल्यान...**' ऐसा है न ? अपना कल्याण चाहो, अर्थात् कल्याण, अर्थात् हित। कल्याण की

व्याख्या ही हित है। कल्याण की चाहना हो, हित की चाहना हो, आत्मा की शान्ति -सुख की प्राप्ति करने की चाहना हो तो हित की व्याख्या गुरुकहेगे, यहाँ दूसरी व्याख्या उनके पास नहीं है। समझ में आया ? पैसा कैसे मिले ? तुम्हारे पुत्र कैसे हो ? - यह बात यहाँ शिक्षा में नहीं है (-ऐसा) कहते हैं। हैं ? महाराज ! हमें यह पैसा-वैसा देदो; हाथ रखो, ऐसे अमुक हो जाए, हमारे यह हो जाए, फिर हम निरन्तराय धर्म (करेंगे)। कहते हैं कि शिक्षा में यह कोई बात नहीं आती। यहाँ तो कल्याण चाहता हो तो कल्याण की बात मन को स्थिर करके सुनो - एक बात कहते हैं। कल्याण की बात आती है, दूसरी कोई बात यहाँ नहीं है। ऐसे स्वयं ग्रन्थकर्ता आचार्य के उपदेश में यह आता है - ऐसा स्वयं सिद्ध करके साक्षी से बात करते हैं। आहा...हा...!

इस संसार में प्रत्येक प्राणी 'मोहमद पियो अनादि' - '**मोह महामद पियो अनादि।**' भाषा देखो ! '**अनादि काल से...**' अनादि अर्थात् निगोद से लेकर। क्या कहा ? वे निगोद के जीव नित्यनिगोद में पड़े हैं, जिसमें अभी कितने ही जीव ऐसे हैं कि कभी त्रस नहीं हुए, लट नहीं हुए, चीटी-मकोड़ा नहीं हुए; मनुष्य तो कहाँ से होंगे ? ऐसे अनादि के जीव निगोद में पड़े हैं; वहाँ से लेकर अनादि काल से; फिर मनुष्य हुआ, देव हुआ, पशु हुआ, पंचेन्द्रिय हुआ आदि। अनादिकाल से (कहकर) यह नयी बात नहीं है - ऐसा कहते हैं। मोहदशा नयी नहीं है - ऐसा कहते हैं। जैसे, इसका शुद्धस्वरूप अनादि पवित्र पड़ा है, वैसे ही यह मोहदशा भी इसके पास अनादि की है; मोहदशा फिर नयी लगी है - ऐसा नहीं है।

अनादि काल से '**मोहमहामद...**' मोहरूपी तेज शराब ! तेज शराब ! तेज शराब ! तेजवाली शराब । शराब होती है न ? बहुत ऐसी शराब होती है, तेज... तेजदार होती है न ! पीते हों, '**मोह महामद...**' मिथ्यात्व की बात साथ में मुख्य लेना है न ? मिथ्यात्वरूपी महामोहरूपी तेज शराब पी है। अनादिकाल से अज्ञानी ने एकेन्द्रिय से लेकर... आहा...हा...! नौवें ग्रैवेयक मिथ्यात्व सहित गया, वे सब प्राणी महामोहमद पियो... भ्रम का महामद पिया है - शराब, तेज शराब - तेज शराब । शराब पीते हैं न, फिर एकदम ऐसी तेज शराब (पीने के) बात कलेजा घनधना जाए ऐसा (फिर) नशे में पड़ता है।

'पालेज' मे मजदूर होते थे, मजदूर। प्रतिदिन पाँच-पाँच रूपये, दश-दश, सात-सात रूपये

पेदा करते, फिर सायंकाल जाकर बारह आने की शराब पी आये। दुकान साथ में थी, उसका बड़ा था, फिर पागल होकर पड़े। पूरे दिन की थकान लगी होवे न, वह थकान दिखे (महसूस) नहीं हो इसलिए। इसीप्रकार अनादि से अज्ञानीने महा मिथ्यात्व की शराब पी रखी है। देखो, इसने अनादि से मिथ्यात्व कि मदिरा पी रखी है, हो ! नया नहीं है।

'**मोहरूपी तेज शराब...**' ऐसा कहकर क्या कहा ? अनादि से कर्म इसे भटकाते हैं और कर्म ने यह नुकसान कराया है - ऐसा नहीं है। ऐसा कहा या नहीं इसमें क्या कहा ? तुझे अनादि से कर्म ने मार रखा है - ऐसा नहीं कहा, देखो ! 'दोलतरामजी' भी (ऐसा कहते है कि) आचार्य इस प्रकार कहना चाहते हैं - ऐसा हम कहते हैं। क्या कहा है वह ? अनादिकाल से मोहमहामद पियो, मिथ्यात्वरूपी जहर - महामदिरा तूने पीयी है, कर्म ने कुछ कराया है - ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। ओहो...हो...! पहली ही भूल में यह बात करते हैं, लो !

दूसरे लोग कहते हैं कि अनादिसे दर्शनमोह के कारण (परिभ्रमणकिया)। इन भगवान के पास गया न ! निमित्त तो अच्छा था न ? क्यों नहीं समझता, यदि निमित्त से समझता होवे तो ? तब कहते है - इसे दर्शनमोह का कर्म पड़ा (था) निमित्त कठोर था, उसके कारण नहीं समझता। आहा...हा...! है ? ऐसा स्पष्टीकरण में (अज्ञानी) कहते हैं। हैं ? समझ बिना के।

यहाँ तो स्वयं कहते हैं - '**मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि...**' देखा ? भूलने का कारण बताया ! महामोहरूपी जलद अर्थात् तेज शराब अर्थात् तीव्रतायुक्त मिथ्यात्व को - भ्रम की मदिरा पी ली है। तूने पी है, तूने किया है, किसी ने कराया नहीं है। भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उससे विरूद्ध होकर तूने मिथ्यात्व की शराब... एकेन्द्रिय से लेकर... हाँ! जगत के एकेन्द्रिय प्राणी भी मोहमहामद - मदिरा पीने के कारण पड़े हैं - ऐसा कहते हैं। 'गोम्मटसार' में आता है न ? - कलंक - प्रचुर कलंक, प्रचुर भावकलंक; भाव की प्रचुर कलंकता के कारण पड़ा है, देखो ! उन्होंने यह वचन यहाँ दूसरी गाथा में लिखा है, लो ! समझ में आया ?

क्यों भटकता रहा ? और कैसे किया ? कि मोह महामद पिया इसलिए; कर्म के ज़ोर के कारण भटकता रहा और भ्रान्ति हुई - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अब इस 'छहढाला' में तो

ऐसी बात डाली है। कहो है ? यह पाठशाला में पढ़ाते हैं।

देखो ! '**(आपको) अपने आत्मा को भूलकर...**' देखो ! मिथ्यात्व की तीव्र मदिरा (पिया), जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे (अपना) मानकर और जो अपना स्वरूप है, उसे भूलकर... ऐसा कहा है; देखा ? मोहरूपी शराब पी है, इसलिए जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे (अपना) मानकर और अपने स्वरूप को भूलकर - ऐसा कहते हैं। देखो ! समझ में आता है ? किस कारण से ? इस विपरीत पड़े हुए तेरे मोह के कारण से - ऐसा कहते है यहाँ तो। आहा...हा...! छहढाला में ऐसी बात ! गागर में सागर भरी हुई बातें करते हैं। और फिर वापिस डाले तब कर्म के कारण होता है - ऐसा कहते हैं, लो ! यह यहाँ ऐसा कहा होगा, परन्तु यह बात पहले से ही शुरू की है यहाँ; और गुरु इसे सीख देते हैं - इसका अर्थ क्या हुआ ? इसे सीख देते है - इसका अर्थ (क्या) ? कि तू भूला है, तुझसे भूल मिटाने की बात करते हैं। हम कर्म का कहते है ? भाईसाहब ! कर्म ने इसे दुःख कराया है, भ्रम कराया है। कर्म को कहते हैं ? दूर हट ! उपदेश तो उसे देते हैं, जो भूल है, उसे भूल मिटाने का उपदेश हो सकता है। कर्म भूला है ? कर्म ने भूलाया है ? समझ में आया ?

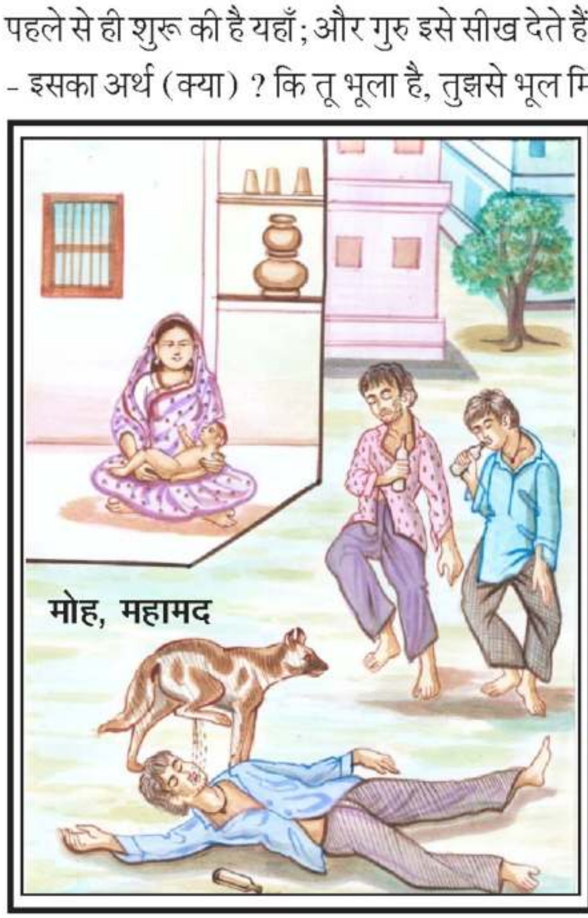

फिर '**पियो...**' - ऐसा कहा है न ? तूने पी है मदिरा - ऐसा कहा, देखो न ! '**मोहमहामद पियो...**' तूने पी है। विपरीत मान्यता - मिथ्याश्रद्धा (अर्थात्) जो तेरी वस्तु नहीं है, उसे / पर को अपना-मानना यह महामदिरा तूने पी है।

मुमुक्षु :- जैन शराब पीये ?

उत्तर : वह यह मिथ्यात्व की मदिरा पीता है। जैन अर्थात् क्या ? उस शराब की बात कहाँ है ? यह भाषा कैसी प्रयोग की है, देखो न ! '**मोहमहामद...**' अन्दर महामद चढ़ गया है।

इसमें दृष्टांत दिया है न ? है ? देखो, दिया है, हाँ, देखो देखो ! यह शराब पी है। देखो, यह पागल हो जाता है, देखो ! हाथ में बोतल है ऐ...से...! यहाँ एक बहुत शराब पिये हुए है और वह पड़ता है। पड़ता है फिर कुत्ता चाटता है, देखो ! एक पड़ते-पड़ते रह गया है, यह रखा; एक ने पी, पड़ते-पड़ते रखा और एक पड़ा - ऐसे तीन डाले है। समझ में आया ? एक स्त्री यहाँ बताई है, गोद में लड़का है, वह ऐसे कि मोह में पड़ी है ऐसे। मोह मदिरा में... मेरा लड़का.. मेरा लड़का। इस मोह में यह शराब पीकर ऐ...सा... पागल हो गया है। है चित्र ? पहला शराब पीकर थोड़ा... दूसरा ऐसे लड़खड़ाते पैरों से आया ए... पंडितजी ! जरा ऐसा लड़खड़ाया... सीधा लड़खड़ाकर पड़ा है। पड़ा और वह कुत्ता उसे चाटता है, देखो, पीछे ! समझ में आया ?

आहा...! जैसे शराब पीकर ऐसे हेरान-हेरान होता है, वैसे ही महा मिथ्यात्वरूप शराब पीकर, यह मेरी स्त्री और यह मेरा पुत्र और यह मेरा पति और यह मेरा शरीर और यह मेरा यह... ऐसे करते-करते जाए...भटकते... भटकते पड़कर नीचे। शराब पीये हुए मनुष्य, जहाँ मल-मूत्रादि हो, वहाँ पड़ जाते हैं। नीचे मल-मूत्र (हों) वहाँ पड़ जाता है और कुत्ता आकर, मुँह खुला हो तो उसमें पेशाब करता है। कहो, समझ में आया ?

मोह के मारे चार गति मे भटकते हैं। स्त्री-पुत्र, मुझे हेरान करते हैं, परन्तु ऐसे धक्का मारे, गाली दे, भान बिना के, तुमने तो ऐसा किया, तुम्हें कुछ नहीं, ये दूसरे देखो न कैसे ? ये मुँह फाड़कर मुँहमें पेशाब डाले तो यह प्रसत होता है। अर...र...र...! समझ में आया ? ठीक चित्रित किया है, हों ! महामद की व्याख्या वही... वही... खराब (की है।) मोह अर्थात् ममता, अहंभाव किया है, लो ! और कल्याण का अर्थ किया है - भलाई अथवा सुख। यह यदि तुम्हें चाहिए हो तो कहते हैं कि तुमने आत्मा को भूलकर मोह की मदिरा (पी है, उसे छोड़ो।) वादि अर्थात् व्यर्थ; मुफ्त वह मोह है न (उसकी) व्याख्या। वादि अर्थात् मोह से व्यर्थ भटकता है, मुफ्त में भटकता है। मोह की व्याख्या ही मुफ्त/ व्यर्थ इस प्रकार होती है। जो स्वरूप में नहीं है - ऐसा निरर्थक मोह उत्पन्न करके; और भ्रम का स्वभाव आत्मा का नहीं है, भटकने का नहीं है और

व्यर्थ-निरर्थक भटकता है। चौरासी के अवतार में ऐकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय (गति में) भटकता है।

'**(भावार्थ :-) हे भद्र प्राणियों ! यदि अपना हित चाहते हो...**' हित चाहते हो। 'श्रीमद्' कहते हैं न ? 'जो इच्छो परमार्थ तो...' आता है या नहीं ? है ? 'जो इच्छो परमार्थ तो' - परमार्थ चाहते हो तो कहते है, वरना न हो तो (नहीं कहते)। 'करो पुरुषार्थ' - आता है ? 'करो सत्य पुरुषार्थ' 'जो इच्छो परमार्थ तो...' बाकी क्या कहै ? यदि तू मोक्षार्थी हो तो तुझे यह बात कहते हैं।

ऐसा कहते हैं, अपना हित चाहते हो तो '**अपना मन स्थिर करके यह शिक्षा सुनो।**' शिक्षा, गुरु जो ज्ञान से बात करते हैं, उस बात को सुन, जिसमें शिक्षा रही है, जिसमें तेरा हित रहा है, उसे सुन। '**जिस प्रकार कोई शराबी, शराब पीकर, नशे में चकचुर होकर...**' देखा ? शराब पीकर फिर चकचूर हुआ... '**जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है...**' लड़खड़ाकर है न उसमें ? देखो न ! यह (जीव) भी जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है, निगोद में और यहाँ और वहाँ। स्त्री, पुत्र, अमुक व्यापार, धन्धा, शराब पीकर जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है निरर्थक ! समझ में आया या नहीं ?

भाई ! यह शरीर ... यह भी मोह की शराब पीकर भटक रहा है - ऐसा कहते हैं। मोह की शराब पी रखी है। शरीर मिटे परन्तु शरीर मिटे तो तुझे क्या है किन्तु ? मिथ्यात्व की शराब पीकर जहाँ-तहाँ भटका-भटक, भटका-भटक करता है। नशा (करके) नीचे गिरता है न ? ऐ...से...! मुँह फाड़े और कुत्ता हंगे (पेशाब करे) तो इसके मुँहमें आ जाता है, तो भी गटककर पी जाता है। आहा...हा...! महामिथ्यात्व के ज़ोर में ऐसी प्रतिकूलता या अनुकूलता हो, उसमें राग-द्वेष करके, राग-द्वेष करके अन्दर मिथ्यात्व का जहर चढ़ गया है। मिथ्यात्व, मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व महा मोह; राग-द्वेष तो अस्थिरता के है।

'**जहाँ-तहाँ लड़खड़ाकर गिरता है...**' जहाँ-तहाँ, ऐसे। फिर कोई मेल रहता है कि शराब पीकर कहाँ पड़ता है ? ऐसा कि भाई ! योग्य रहकर गिरे या इस जगह गिरे, मूत्र (होवे) अरे...! विष्टा बाहर डालकर आये हों, वहाँ जाकर गिरता है। वहाँ रास्ते में एक शराबखाना नहीं है ? 'राजकोट' में ! एक बार (उधर से) निकले ते तो एक शराब पीकर निकला था,

ऐ..से..! वे खेत में मलादि डाल आते है न ? वह क्या कहलाता है ? नगरपालिका के डिब्बे भरकर, वहाँ भटकता है, खेत में, कुछ भान नहीं है कि किस तरफ जाता हूँ ? वह विष्टा का ढेर पड़ा हो, वहाँ फटा..क देकर ऐसे गिर जाता है। समझ में आता हे ?

इसी प्रकार मिथ्यात्व की शराब पीये हुए चार गति में जहाँ-तहाँ भटकता है - ऐसा कहना है न ? जहाँ-तहाँ कोई एकेन्द्रिय में, कोई पंचेन्द्रिय में, कोई नरक में, कोई देव में - सब मिथ्यात्व के शराब पीकर भटक रहे हैं। **'उसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से मोह में फँसकर...'** स्वयं मोह में फँसा है, हाँ ! कर्म ने नहीं फँसाया है । यहाँ ऐसी बात करते है, उसे नहीं समझता, क्या करना ? कहो ! है ? **'मोह में फँसकर, अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर...'** लो ! यहाँ से शुरु किया है पहले ! देखा ! **'भूल आपको...'** है न ? अपने स्वरूप को भूला है, बस ! यह इसकी बात। मिथ्यात्व के भ्रम में अनादि से निगोद से लेकर,... इसमें सब आये या नहीं ? दिगम्बर मुनि नौवें ग्रैवेयक तक गया, वह भी मोह की, मिथ्यात्व की मदिरा में चकचूर हो कर अपने को भूल गया है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **'अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर...'** स्वयं भूलकर **'भूल आपको भरमत - चारो गति यों में जन्म-मरण धारण करके भटकता है।'** चौरासी के अवतार में जहाँ सुख नहीं है, वहाँ भ्रम से सुख खोजता है और आत्मा के सुख को भूलकर चारों गतियों में दुःख में भटक रहा है।

इस ग्रन्थ की प्रमाणिकता और निगोद का दुःख

त्रास भ्रमनकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;
काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।।३।।

अन्वयार्थ :- (तास) उस संसारमें (भ्रमनकी) भटकनेकी (कथा) कथा (बहु) बड़ी (है) है (पै) तथापि (यथा) जैसी (मुनि) पूर्वाचार्योंने (कही) कही है [तदनुसार मैं

भी] (कछु) थोड़ी-सी (कहूँ) कहता हूँ [कि इस जीव का] (निगोद मँझार) निगोदमें (एकेन्द्री) एकेन्द्रिय जीवके (तन) शरीर (धार) धारण करके (अनंत) अनंत (काल) काल (वीत्यो) व्यतीत हुआ है।

भावार्थ :- संसार में जन्म-मरण धारण करनेकी कथा बहुत बड़ी है। तथापि जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने अपने अन्य ग्रन्थों में कही है, तदनुसार मैं (दौलतराम) भी इस ग्रन्थमें थोड़ी-सी कहता हूँ। इस जीवने नरकसे भी निकृष्ट निगोदमें एकेन्द्रिय जीव के शरीर धारण किये अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय में उत्पन्न होकर वहाँ अनंतकाल व्यतीत किया है।।३।।

अब तो ऐसा सिद्ध करना चाहते है कि '**इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता...**' मोक्षमार्ग (प्रकाशक) मैं कहते हैं न कि यह ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करते है। मेरे घर की कल्पना की बात नहीं है। '**ग्रन्थ की प्रामाणिक्ता और...**' पहले '**निगोद का दु:ख।**' भ्रम के कारण महादु:ख प्राप्त किया। वह प्रथम निगोद के दु:ख से शुरू करते हैं। इस मिथ्यात्व की व्याख्या बाद में करेंगे, परन्तु इस मिथ्यात्व से ही अनादिकाल में यह निगोद में भटका है। निगोद में भी मिथ्यात्व के कारण रहा है - ऐसा सिद्ध करते हैं पहले से - शुरू से, एकेन्द्रिय निगोद से इसके दु:ख (कहते हैं।)

त्रास भ्रमनकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;
काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।।३।।

'**तास भ्रमन की है बहु कथा, वै कछु कहूँ कही मुनि यथा;,...**' देखा ! यह भी मुनि कहते हैं - ऐसा मैं कहूँगा - यह कहते हैं। '**तास भ्रमन की है बहु कथा पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;...**' स्वयं उत्तरदायित्व लेते (कहते हैं कि) मुनियों ने कही है; सन्तों ने, वीतराग ज्ञानियों ने कही है - वह बात मैं तुमसे कहूँगा। प्रामाणिकरूप से भगवान निगोद के दु:ख का वर्णन कहते हैं, वह बात कहूँगा। देखो ! ऐसा कहकर पहली पंक्ति में ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्थापित की है।

'**त्रास भ्रमन की है वहु कथा,...**' मिथ्यात्व की। '**पै कछु कहूँ,...**' किन्तु थोंड़ी कहूँगा। '**कही मुनि यथा;...**' जैसी मुनियों ने कही है, वैसी बात मैं करूँगा; मेरे घर की कल्पना की कोई बात नहीं करूँगा।

'**काल अनंत निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।**' यहाँ से बात शुरु की है। अनन्त काल निगोद मँझार पड़ा, वहाँ से एकेन्द्रिय तन धारण किया, उसमें अनन्त दुःख सहन किया। ओ...हो...हो...! वह सब मिथ्यात्व के कारण (धारण किया) - ऐसा सिद्ध करता हैं, हाँ ! क्या ? मिथ्यात्व के कारण दुःख प्राप्त किया। सम्यग्दर्शन के कारण सुख पाता है, बस ! यहाँ एक ही बात कहना है (कि) ऐसी भ्रमणा के कारण निगोद के दुःख प्राप्त किये।

यह बात '**तास भ्रमन की**' (अर्थात्) '**भटकने की कथा बहुत बड़ी है...**' भाई ! आहा...हा...! कहते हैं कि तेरे भटकने की वार्ता तो बहुत बड़ी है, '**तथापि जैसी पूर्वाचार्यों ने कही है...**' देखो ! मुनि की व्याख्या की। महा कुन्दकुन्दाचार्य आदि महा मुनि, समन्तभद्राचार्य महामुनि। पूज्यपाद स्वामी आदि महामुनि, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती दिगम्बर सन्त - उन्होंने जो कहा, भटकने की जो (कथा) कही है, यह बात मुनियों ने कही है, वह बात कहूँगा। '**उस अनुसार में भी थोड़ी सी कहता हूँ।**' ऐसा कहते हैं। '**कछु**' कहा है न ? सन्तों ने तो बहुत कही है, विस्तार से कही है, परन्तु मैं कुछ थोड़ी-सी कहुँगा।

'**इस जीव का... (निगोद मँझार) निगोद में एकेन्द्रिय जीव का शरीर धारण करके...**' देखो ! चैतन्यस्वरूप को भूलकर एकेन्द्रिय शरीर धारण किया। अनादि एकेन्द्रिय के शरीर में रहा। '**अनन्त काल व्यतीत हुआ है...**' समझ में आया ? '**काल अनन्त निगोद**' कहा है न ? '**अनन्त काल व्यतीत हुआ है।**' निगोद में एक शरीर, शरीर है न ? वाणी और मन तो नहीं है। एक तन-शरीर धारण करके अनन्तकाल निगोद में रहा है, वह मिथ्यात्व-भ्रम के कारण (रहा है।) वह दुःख कैसा है - यह विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण ११, सोमवार
दि. १७-१-१९६६, श्लोक ३ से ६, प्रवचन नं. २

यह 'छहढाला' है। इसकी पहली ढाल की तीसरी गाथा चलती है। एक तो मांगलिक की हुई और यह तीसरी गाथा चलती है। क्या बात चलती है ? जीव अनादि से, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दुर्लभ भावना, उसकी बात चलती है।बाद मैं लेंगे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। अनन्तकाल से परिभ्रमण करते-करते, उसे इस नरकगति, तिर्यञ्चगति-निगोदगति, मनुष्यगति देवगति में भटकते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति महादुर्लभ है, वह यह वर्णन है। स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में यह बोधिदुर्लभ भावना की व्याख्या है, भाई ! उसकी वह गाथा है।

बारह भावना है, (उसमें) बोधिदुर्लभ भावना (है।) उसकी गाथा का अर्थ लगभग उन्होंने वहाँ से लिया है। समझ में आया ? बारह भावना है न ? उसमें ग्यारहवीं बोधिदुर्लभ भावना है, दसवीं लोकभावना है। चौदह ब्रह्माण्ड है, उसमें अनन्त बार परिभ्रमण किया; फिर ग्यारहवी बोधिदुर्लभभावना है, बारहवीं धर्मभावना है। इस बोधि दुर्लभ भावना में स्वामी कार्तिकियने इस प्रकार लिया है। उनकी शैली अनुसार इन्होंने - 'दौलतरामजी'ने हिन्दुस्तान की भाषा में रचना की है। देखो ! यहाँ आया है।

भावार्थ है। तीसरी गाथा का है न ? यह क्या बात चलती है ? इस प्रकार परिभ्रमण करते-करते सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। भटकते-भटकते दुःख पाते हुए यह मनुष्यभव और उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति (होना) तो महा-महा अनन्तकाल में दुर्लभ है। यह बतलाने के लिए यह दुःख की व्याख्या और मिथ्यात्व का फल बताते हैं।

'संसार में जन्म-मरण धारण करने की कथा बहुत बड़ी है।' स्वयं कहते हैं कि भाई ! मुनियों ने सन्तोने, भगवानोंने संसार में जन्म-मरण-जन्म लेना और मरना इसके जो जन्म-

मरण धारण करने की बात तो (बडी मिलती है) '**तथापि जिस प्रकार पूर्व आचार्यो ने...**' स्वामी 'कार्तिकिय' आदि आचार्यों ने '**अपने दूसरे ग्रन्थों में कही है...**' उस प्रकार मैं भी इस ग्रन्थ में थोड़ी-सी कहूँगा। आचार्यों ने तो बहुत विस्तार से (वर्णन) किया है। स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' मे तो एक-एक का बहुत विस्तार लिया है।

'**इस जीवने नरक से भी निकृष्ट निगोद में एक इन्द्रिय जीव का शरीर धारण किया...**' देखो ! निगोद जीव, नरक से भी हलका (निम्न) है। निगोद का जीव (अर्थात्) एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, उसे निगोदजीव कहते हैं। समझ में आया ? अनन्त काल नित्य निगोद में रहा, जिसमें से कभी त्रसपना प्राप्त नहीं किया, ऐसे निगोद में अनन्त बार रहा; परन्तु यहाँ ग्रन्थकार को, निगोद में से निकलेगा - ऐसी बात लेना है। भाई ! पीछे आता हे न ? '**निकसि भूमि**' - निगोद से निकलकर... '**निकसि भूमि**' आया न ? इसलिए निगोद में से निकलनेवाले की व्याख्या। नित्य पड़ा है वह तो पड़ा ही है। समझ में आया ? अभी निगोद किसे कहना ? उसकी श्रद्धा कराते हैं। उसमें कितने काल भटका और कितने दु:ख सहन किये ?

निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। उन्हें एकसाथ अनन्त का श्वास साथ ही होता है, आयुष्य साथ ही होता है, इन्द्रिय साथ (होती है) और प्राण (साथ होते हैं।) समझ में आया ? ऐसे निगोद में एकेन्द्रिय शरीर धारण करके रहा है। 'गोम्मटसार' में तो ऐसा एक लेख है कि निगोद का एक शरीर असंख्य क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक रहता है, उसमें निगोद का जीव जन्मता और मरता है, जन्मता और मरता है, जन्मता और मरता है। ओहो...हो...! आता है, यह बात पहले हुई है, याद है न ? ऐ...ई...! 'गोम्मटसार' में है।

एक निगोद का शरीर, हों ! इतने काल रहे उसमें एक निगोद का जीव बारम्बार मरता-जन्मता है, मरता-जन्मता है, मरता-जन्मता है, तथापि शरीर तो वह का वही रहता है। उस शरीर में इतनी बार-असंख्य... असंख्य... असंख्य... अरबों बार निगोद के अनन्त जीव जन्मते और मरते हैं। कहीं उनकी खान का पता नहीं लगता उन्हें। समझ में आया ? क्या कहा ? एक शरीर में इतने काल रहता है - यह कहेंगे, देखो !

नरक से भी हल्का निगोद काल है। '**एक इन्द्रियजीव का शरीर धारण...**' करता है।

अनन्त जीवों का शरीर एक, इन्द्रिय एक, श्वास एक, आयुष्य एक - ऐसे अनन्त जीव एक शरीर में रहते हैं, उनके दुःख की पर्याय क्या कहना ? कहते हैं जिनकी इतनी हीनदशा हो गयी है। तत्त्व के विराधक जीव, कितने तो अनादि के तत्त्व के विराधक (हैं) और कितने ही तत्त्व के विराधक होकर वहाँ - निगोद में जाते हैं, उसे इतर निगोद कहते हैं और यहाँ निगोद अनादि से आत्म तत्त्व के स्वभाव के भान बिना भाव कलंक पहुरा - भाव कलंक की प्रचुरता; प्रचुरकलंकके कारण एक शरीर में निगोद के अनन्त जीव पड़े है। उनका दुःख भगवान जाने और वे वेदन करें।वे जीव है, हों ! मिथ्या नहीं है। आलु, शक्करकन्द, हरी काई (इनकी) एक इतना टूकड़ा लो तो (उसमें) असंख्य तो शरीर है और एक शरीर में अभी तक जो सिद्ध जीव हुए, छह महीने और आठ समय में छहसौ आठजीव सिद्ध होते हैं, अभी तक के अनन्त पुद्गलपरावर्तन में सिद्ध की जो संख्या है, (उसकी अपेक्षा भी अनन्त जीव निगोद के है।) अनन्त पुद्गलपरावर्तन की जो सिद्ध की संख्या, फिर वापिस अनन्त पुद्गलपरावर्तन आया। समझ में आया ? एक पुद्गलपरावर्तन में उसके अनन्तवें भाग में अनन्त चौबीसी होती है। ऐसा एक पुद्गल (परावर्तन), ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन, उसमें एक चौबीसी में भी छह माह और आठ समय में छह सौ आठ मुक्ति होती है। ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन की मुक्ति की जो संख्या है, उसकी तुलना में निगोद के एक शरीर में अनन्तगुने जीव हैं। समझ में आया ?

भूतकाल की अपेक्षा उसमें कितना (काल) गया ? आहा...हा...! कितने जीव तो एक शरीर में, उसमें अनन्तबार रहा। यह सत्य होगा ? है ? दुर्लभपना बतलाते हैं, भाई ! तुझे मनुष्यपना मिलना... आगे कहते-कहते कहेंगे, उसमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, जो जन्म-मरण के अन्त का कारण है, वह तो महादुर्लभ है, भाई ! यह दुर्लभ सामग्री प्राप्त करके अब काल को - अवसर को मत चूकना - यह कहना चाहते हैं। कहेंगे, अभी आगे बहुत कहेंगे। समझ में आया ?

इस नरक से भी हीन निगोद का एकेन्द्रिय जीव का शरीर धारण करता है। '**साधारण वनस्पतिकाय में उत्पत होकर वहाँ अनन्त काल व्यतीत किया है।**' एक में असंख्य क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का एक शरीर, उसमें रहा फिर वह गया; ऐसे - ऐसे अनन्त के शरीर भी इसने परिवर्तन किये। समझ में आया ? कोठी में होता है न ? जैसे बड़ी कोठी होवे और एक दाना

आवे और जाए; दाना आवे और कोठी ऐसी की ऐसी रहे। इसी प्रकार निगोद का एक शरीर इतने काल तक रहता है। उसमें से अनन्त जीव जाते हैं और अनन्त आते हैं; अनन्त जाते है और अनन्त मरते हैं, अनन्त (आते है), शरीर ऐसा का ऐसा रहता है। ओ..हो..हो...! उसमें से इसे निकलना ! कहते हैं - इस प्रकार अनन्तकाल व्यतीत हुआ है। यह तीन बात हुई।

निगोदका दु:ख और वहाँ से निकलकर प्राप्तकी हुई पर्यायें

एक श्वासमें अठदस बार, जनम्यो मरयो मरयो दुखभार,
निकसि भूमि जल पावक, भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।।४।।

अन्वयार्थ :- [निगोदमें यह जीव] (एक श्वासमें) एक साँसमें (अठदस बार) अठारह बार (जनम्यो) जनमा और (मरयो) मरा [तथा] (दुखभार) दु:खों के समूह (मरयो) सहन किये [और वहाँ से] (निकसि) निकलकर (भूमि) पृथ्वीकायिक जीव, (जल) जलकायिक जीव, (पावक) अग्निकायिक जीव (भयो) हुआ तथा (पवन) वायुकायिक जीव और (प्रत्येक वनस्पति) प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव (थयो) हुआ।

भावार्थ :- निगोद [साधारण वनस्पति] में इस जीवने एक श्वासमात्र (जितने) समयमें अठारह बार जन्म* और मरण x करके भयंकर दु:ख सहन किये हैं। और वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवके + रूपमें उत्पन्न हुआ।।५।।

* नया शरीर धारण करना।

x वर्तमान शरीरका त्याग।

\+ निगोदसे निकलकर ऐसी पर्यायें धारण करनेका कोई निश्चित क्रम नहीं है; अन्य त्रस पर्यायें भी प्राप्त करता है।

अब, '**निगोद का दुःख...**' उसमें दुःख का वर्णन करते हैं। यह बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन करने में 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में यह अधिकार लिया है, उसमें से इन्होंने यह लिया है। '**वहाँ से निकलकर प्राप्त पर्यायें।**'

एक श्वासमें अठदस बार, जनम्यो मरयो मरयो दुखभार,
निकसि भूमि जल पावक, भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।।४।।

'**(निगोद में यह जीव) (एक श्वास में)**' '**एक श्वास में... (अठदस बार) अठारह बार जन्मा और मरा...**' एक श्वास, आहा..हा...! यहाँ तो इसे जरा-भी प्रतिकूलता आ जाए, वहाँ शोर मचा देता है। भाई ! एक श्वास में, हों ! अठारह बार जन्मा और मरा। अठारह बार, एक श्वास में। ऐसे अनन्त बार ! एक अनन्त श्वाच्छोश्वास निगोद के शरीर में परिभ्रमण में इसने निकाले हैं। आहा..हा...! यहाँ जहाँ आया, वहाँ सिर घूम जाता है, मानो क्या करना और हमारे क्या करना और कहाँ जाना ? है ? कुछ थोड़े से पैसे होवे वहाँ ऐसा हो जाता है और बढे वहाँ तो ऐसा होजाए, जीव को हैरान कर देता है ! भाई ! है ?

यह कहते हैं - भाई ! बापू ! तेरे इतिहास की कथा लम्बी है। यह कहा न ! देखो न ! क्या कहा ? '**ये कछु कहूँ कही मुनि यथा...**' तेरी यह कथा बड़ी है, भाई ! जैसे वह बारोट आकर इसकी बात करता है या नहीं ? तेरे परिवार में ऐसे लोग हो गये हैं, ऐसे हुए थे, ऐसे हुए; अच्छा - सब कहता है वह तो। इसीप्रकार यह सर्वज्ञ भगवानने तेरी भूतकाल की कथा कही है। इस विगत काल में कितना रहा - यह भगवानने तो बहुत विस्तार से कहा है, सन्तों ने तो बहुत विस्तार से कहा है, परन्तु मैं उसमें से थोड़ी-थोड़ी बात करूँगा।

कहते हैं - एक श्वास में अठारहबार जन्मा और मरा। ऐसे अनन्त जीव एक साथ हो ! साथ ही जन्मे और मरे। उनमें इतनी भाईबन्दी होगी या नहीं ? जरा भी लेना या देना नहीं है। एक जीव में दूसरे जीव का अभाव; एक जीव की प्रकृति अलग, पर्याय अलग; द्रव्य-गुण अलग, उनके कर्म भी अलग सब अलग अलग है। आहा..हा...! आहा..हा...! '**जन्मा और मरा और... (दुःखभार) दुःखो का समूह...**' ओ..हो..हो...! निगोद का दुःख, उसके दुःख का क्या

कहना ? नरक का दुःख तो पंचेन्द्रिय संयोग की व्याख्या है वहाँ। इसके (निगोद के) दुःख तो मिथ्यात्व और कषाय की उग्र परिणति का दुःख है और भले ही शास्त्रकार दुःख का कथन संयोग से करते हैं, परन्तु दुःख का स्वरूप आनन्द से विपरीत मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष की उग्रता में परिणमित होना, उसका नाम दुःख है। बात तो लोग, संयोग से देखते हैं, इसलिए संयोग से बात करेंगे। यह जन्म-मरण का दुःख (कहा, वह) वास्तव में जन्म-मरण का दुःख नहीं। देखो ! बात तो यह कही, देखो ! कहते हैं न ! '**एक श्वास में अठदस बार जन्म्यो मर्यो दुःखभार...**' देखो ! जन्मा, मरा, दुःखों का समूह सहन किया। भाषा क्या है ? जन्म और मरण के दुःख का भार सहन किया। उन्हें बताना है कि भाई ! यह आत्मा जन्मे और मरे, इसमें कषाय की इतनी तीव्रता है कि बारम्बार उसमें विकार में दुःखी होकर बारम्बार परिवर्तन करता है।

जिस मनुष्य को जिसके प्रति बहुत प्रेम होता है न, वह चीज़े बहुत पलटाया करता है। समझ में आया ? बाईयों के पास पच्चीसों प्रकार की साड़ियाँ होती हैं। देखा है उनके सन्दूक में ! वे शौच के लिये जाऐ तब दूसरी (पहिने), बैठने के लिए दूसरी, सोने के लिए दूसरी, यह करे तो दूसरी... ऐसी पलटापलट - पलटापलट किया करती है। एक दिन में कितनी बार बदलती है। ये बड़े राजा होवे जोड़ा बहुत बदलते हैं, लकड़िया बहुत बदलते हैं, घर में हो तो यह (इस प्रकार) अलग-अलग (रखते हैं।) जिसके प्रति रस है उसे ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा भोगना, यों भोगना... ऐसा भोगना ! कहो भाई ! देखा है या नहीं ? बहिनों के विचार किसी दिन देखे है ? सवेरे से शाम तक कितनी साड़िया बदलती है तुम्हे ? लो ! गरीब व्यक्ति को एक होवे तो क्या बदले ? वे दस प्रकार के, पन्द्र प्रकार के पड़े हो तो बदलाबदली यह तो तुम्हारे। दो घड़ी में यह और दो घड़ी यह। इस प्रकार मानों बाई बदल गयी हो ऐसा लगे, वस्त्र बदला इसलिए। भाई !

ऐसे इसके संस्कार कहते हैं कि इस शरीर का इतना प्रेम है। चैतन्य का तो पता नहीं; रहा है एक शरीरमात्र। शरीरमात्र रहा है। उसमें इतनी एकत्वबुद्धि है। इतनी एकत्वबुद्धि है कि गुलाँट मार-मारकर एक श्वास में अठारह भव करता है। आहा..हा...! उसके एक दिन के कितने, क्या कुछ कहलाता है न एक अन्तर्मुहूर्त के ? तीन हजार सात सो अठहत्तर ! है क्या कहते हैं ?

बहत्तर ? है ? तिहत्तर ? जो आकड़ा हो वह, हाँ ! कितने ? एक अन्तर्मूहूर्तमें इतने भव करता है, लो ! आंकड़ा जो कोई हो वह। इतना प्रेम हे न ! भगवान आत्मा का प्रेम तो चला गया है। इस प्रकार बार-बार गुलाँट खाता है। एक श्वास में अठारह भव - यह भी कोई बात है ! कुछ समझ में आया ? ऐसे दु:ख के समूह को जन्म-मरण की व्याख्या से आचार्य ने शास्त्र में दु:ख की व्याख्या की है। वरना जन्मना-मरना तो संयोग हुआ। जन्म, (यह) संयोग और मरण, वह संयोग का वियोग, परन्तु उस समय उसे दबाव की मिथ्यात्व और कषाय की इतनी तीव्रता है कि उसके दु:ख के जन्म-मरण के समय भगवान जानते है ओर वह भोगता है - इतना उसे दु:ख है। समझ में आया ?

उसकी थोड़ी व्याख्या की है। उन्होंने एक बार कहा था न ? कि भाई ! निगोद के दु:ख को किस प्रकार... भाईने दिया है जरा। एक मनुष्य होवे, उसके प्रत्येक अंग में मजबूत वस्त्र भर दे, फिर उसे लोहे के सरिये से बाँधे, फिर उसे एक वृक्ष पर बाँधकर टांग दे। समझे इसमें ? इस प्रकार वे वृक्ष पर पिण्ड करके बाँध दै, हाँ ! सब बन्द करके... फिर नीचे से अग्नि जलावे और सिर पर कोड़े मारे। यह तो अभी पंचेन्द्रिय की व्याख्या है, इससे तो अनन्तगुना दु:ख है। यह तो एक लोगों का जरा ऐसा लगे कि ऐसा ! मुँह सिल दिया हो, फिर ऐसे चारों और कसकर, शरीर को कसकर और लोहे के धगधगाते सरियों से बाँधकर और लोहे सरिये में डालकर वृक्ष पर बाँधे और पीटे, आवाज़ कर नहीं सके, हिल सके नहीं; कुछ नहीं मात्र अकेली पीड़ा (सहन करे)। यह तो संयोग से बात की है। समझाये किस तरह ? परन्तु वस्तुत: तो उसे संयोगीभाव का दु:ख है। आहा..हा...! समझ में आया ? यहाँ ज़रा चीखे वहाँ तो हाय... हाय... उसे ठीक हो गया और मुझे खराब हो गया। उसे यह हो गया, वह चढ़ गया - छोटा भाई बढ़ गया और बड़ा भाई रह गया। शूली पर चढा होगा, वहाँ क्या है ? आहा..हा...!

कहते हैं - भाई ! तेरे दु:ख की व्याख्या भगवान भी पूरी नहीं कर सकते। क्या कहें ? जैसे आत्मा की अनंतता की बात का पार नहीं है, वैसे ही उसकी विपरीतदशा का वेदन, जिसे वेदन हो, उसे पता पड़ता है (या) उस वेदन को दूसरे केवली जानते है। क्या वेदन ? अपार, जहाँ सम्पूर्ण आत्मा ही जहाँ मिथ्यात्व और मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष में इतना ढंक गया है कि जिसके अक्षर के अनन्तवें भाग की पर्याय का क्षयोपशम जरा ज्ञान-दर्शन का (हो) वीर्य आवृत्त है। समझ में

आया ? ऐसी निगोद पर्याय के दुःख की दशा, कहते हैं कि मुनियोंने तो बहुत कही है, परन्तु मैं थोड़ी कहूँगा। समझ में आया ? उसमें अनन्तकाल रहता है। निगोद में अनन्त पुद्गलपरावर्तन (काल तक) रहता है। ऊपर अनन्तकाल कहा है न ? नहीं कहा उसमें ?

'**काल अनन्त निगोद मँझार...**' अनन्त पुद्गलपरावर्तन। एक बादर निगोद में व्यर्थ रहे, अकेला बादर निगोद में (रहे) तो भी सत्रह क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम (रहता है।) सूक्ष्म निगोद में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक (रहता है।) दो में फिरते-फिरते रहे तो ढाई पुद्गलपरावर्तन और एकेन्द्रिय आदि में जाकर एकेन्द्रिय निगोद, एकेन्द्रिय निगोद असंख्यात पुद्गलपरावर्तन करता है, उसे श्वास आ जाता है, परन्तु ऐसे तो अनन्त निकाले - ऐसा कहते है। यहाँ तो काल अनन्त कहा है न ? अनन्त... फिर भाषा तो क्या रखें ? आहा..हा...! अरे ! इसमें से तू मनुष्य हुआ, भाई ! ऐसा कहते है। यह बोधिदुर्लभ - सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करना और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र का त्याग करना, यह अनन्तकालमें, यह निकलना ही दुर्लभ, उसमें यह पाना तो कितना दुर्लभ है ! समझ में आया ?

'**दुःखो के समूह सहन किये...**' लो ! '**(और वहाँ से) निकलकर...**' यह बात ली है। निगोद में से निकलकर यहाँ तो (यह) बात लेना है। जो नित्य निगोद में पड़े हैं, उनकी बात नहीं है; वे तो हैं, पड़े हैं। '**पृथ्वी कायिक जीव...**' यह तो उनकी एक शैली से बात करते हैं। शास्त्र में, 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी यही शैली है, भाई ! पृथ्वीकायिक आदि.. भाषा ऐसी बोली जाती है न ? बोला क्या जाता है ? पृथ्वी, अप, तेज, वायु और.. ऐसा बोला जाता है न ? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय - इस प्रकार कथन किया है। निकलने की यही रीति है - ऐसा कुछ नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं पृथ्वी का जीव हुआ। वह जीव कैसा होगा ? यह खान की मिट्टी आती है न ? एक टूकड़े में असंख्यात शरीर है, एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। उसमें एक पृथ्वी में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक वहाँ रहता है। समझ में आया ? आहा..हा...! सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम किसे कहते हैं ? असंख्यात् अरब वर्ष। सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम। एक सागरोपम में दश क्रोड़ाक्रोड़ी प्लोयपम, एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्यात्

अरबों वर्ष (होते हैं।) पृथ्वी में रहे तो असंख्यात अरबों वर्ष रहता है। पृथ्वी में ही निकले-ऐसा कुछ नहीं, परन्तु उसे शास्त्र की कथन की पद्धति एकेन्द्रिय की है, उस पद्धति से बात की है। पृथ्वी कायिक जीव।

जल, यह पानी... पानी एक जल की बिन्दु हैं, उसमें असंख्य जीव है। उसमें एक-एक शरीर

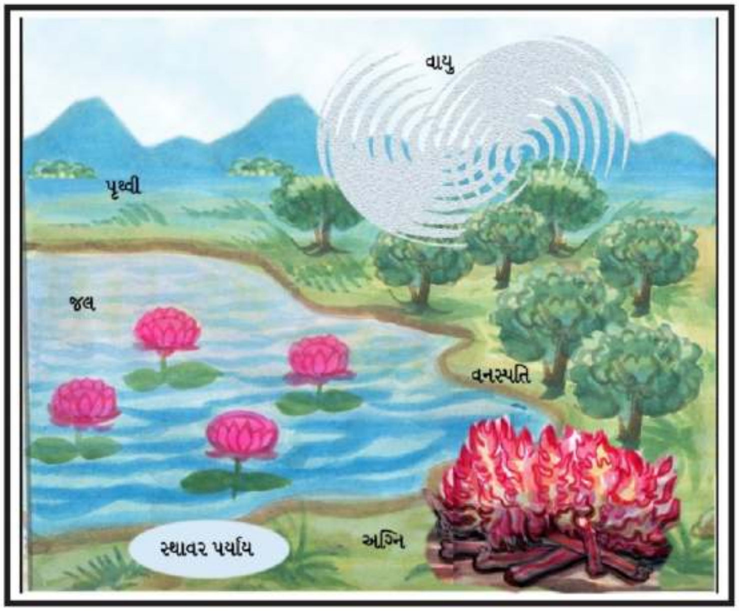

में एक-एक जीव पानी में भी ऐसा का ऐसा जन्मे और मरे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक रहता है। वह जीव वहाँ (इस) स्थिति मे रहता है। कायस्थिति, हाँ भवस्थिति थोड़ी है। जेसे की पृथ्वीकाय का एक शरीर है, वह बाईस हजार वर्ष है, परन्तु उसी का उसी में जन्मे और मरे, जन्मे और मरे तो असंख्यात अरब वर्षों तक रहता है। पानी में एक शरीर में रहे तो कितने सात हजार वर्ष रहे ? सातहजार वर्ष एक शरीर में, हाँ ! एक ही शरीर, परन्तु जन्मे और मरे, जन्मे और मरे - असंख्यात क्रोड़ाक्रोड़ी, समझ में आया ? सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी; असंख्यात नहीं; असंख्यात अरब वर्ष, असंख्यात अरब वर्ष। कहो, उसमें से निकला और अग्नि हुआ।

अग्नि-अग्नि। यह चूल्हे की अग्नि, दियासलाई की अग्नि होती है न ? चिनगारी, यह जीव है। इतनी-सी कणी दिखायी देवे, उसमें असंख्य जीव है। एक-एक में एक-एक शरीर है। एक शरीर का एक-एक जीव है। उसमें एक में रहेतो उसकी अमुक आयुष्य (होती है।) तीन अहो रात्र ! यह सब भूल गया। और उसी का उसी में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम रहे। असंख्यात अरबो वर्ष तक अग्नि में ही जन्मे ओर मरे, अग्नि में जन्मे और मरे अग्नि में मरे और

जन्में...! ओ..हो...हो...! समझ में आया ? भाई ! अब तुम्हारा मनुष्यपना इतना कहाँ रहा ?

अवसर आता है न, तब यह भूल जाता है। वह दृष्टान्त नहीं आया ? नगर का एक दृष्टान्त आया था न ? मुझे गाँव में घुसना है, नगर था न नगर ? उसके चार दरवाजे थे। अब मुझे गाँव में घुसना है। मैं अन्धा हूँ। तब कहते हैं - तुझे बताने कौन आयेगा ? उसका गढ़ हो न ? उसे हाथ से छूते जाना, दरवाजा आवे तब घुस जाना; परन्तु दरवाजा आवे तब हाथ से खुजलाने लगे, इतने में दरवाजा चला जाए, फिर जहाँ दूसरा दरवाजा आवे, वहाँ पेशाब करने का मन हो; तब दरवाजा निकल जाए, गढ़ में घुसने का प्रसंग ही प्राप्त नहीं हो। इस प्रकार अवसर आवे तब मुझे कुछ यह करना है, मुझे कुछ यह करना है, मुझे धूल यह करना है।

कहते हैं अरे ! अग्निकाय का जीव...! आहा...हा...! असंख्य अरब वर्ष वहाँ (रहता है।) सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की कायस्थिति, हो !

फिर वायुकाय हुआ। पवन... पवन ! वह भी जीव है। वह वायु, उसमें भी सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम रहता है। उसके एक शरीर की आयुष्य कितनी है ? सात हजार वर्ष। एक शरीर में सात हजार वर्ष रहता है। इस प्रकार असंख्यात अरब वर्ष रहता है। उसकी वायु में रहने की कायस्थिति असंख्य अरब वर्ष ! सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम ! यह सब, यहाँ तू रहा है। कहते है भाई ! यह सब आस्था कराते हैं। यह सब था और वहाँ तू (रहा है)। भगवानने बारोट होकर यह तेरी कथा कही है, बापू ! यहाँ तू इतना भटका है, भाई ! तुझे सम्यग्दर्शन पाने के लिए महासमागम मिलना और पाना अनन्तकाल में दुर्लभ है। आगे...आगे बात करेंगे।

प्रत्येक वनस्पति निगोद में से निकला है न ? अर्थात् एक शरीर में एक जीव; यह नीम, पीपल, एक पता है, उसमें असंख्य जीव हैं। नीम के एक पत्ते में असंख्य जीव हैं। उसमें एक-एक शरीर में एक-एक जीव, उसके दुःख भी बहुत। समझ में आया ? प्रत्येक वनस्पति काय में भी सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम रहता है एक शरीर में दश हजार वर्ष कायस्थिति, मरे और जन्मे, मरे और जन्मे तो असंख्यात अरबों वर्ष (रहता है) सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी (सागरोपम) रहता है - इस नीम जैसी प्रत्येक वनस्पति में। लौकी और करेला यह सब है न ? उनमें मरे और जन्मे, मरे और जन्मे तो भी सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम (रहता है।) आहा...हा...!

सब्जी लेने गया, वहाँ चार पैसे के (एक) शेर बैंगन लिया, छोटी मूली माँग ली, छिलके के साथ था, उसमें भाई स्वयं बैठा था। मुफ्त में मूली में गया। है ? आहा...हा...! इसे पत्ता कहाँ है ? यह कितनी मूल्यवान वस्तु है ! गरीब को गुड़ मिले तो सन्तोष करता है ऐसा... ऐसा... ऐसा... इसे ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त हुआ, उसमें क्या करने का है ? और क्या प्राप्त करने का है ? इसकी दरकार नहीं है, इसलिए उस बात की सब शुरूआत यहीं से की है, हों ! 'स्वामी कार्तिकिय'ने की है, वह बात स्वयं करते है। समझ में आया ? यह अन्वयार्थ हुआ।

'**भावार्थ :- निगोद (साधारण वनस्पति) में इस जीव ने एक श्वासमात्र (जितने) समय में अठारह बार जन्म और मरण करके भयंकर दुःख सहन किये हैं।**' यह तो निमित्त से बात की है। शरीर धारण किया और गया - ऐसे संयोग से बात करते हैं, परन्तु शरीर का संयोग होने पर उसमें इतना दुःख है और वियोग होने पर इतना दुःख है। उस दुःख की व्याख्या बतलाना है। समझ में आया ? एक अंगुली का जोर टूट जाए तो चिल्लाता है या नहीं ? तो पूरा शरीर टूट जाता है, हाय...! इतना मिथ्यात्व और कषाय का जोर है न ? दुःखी... दुःखी... दुःखी... तडफता है; भयंकर दुःख सहन किये है।

'**वहाँ से निकलकर...**' देखो ! निगोद में से निकलकर, ऐसा हाँ ! वहाँ भी ऐसा पाठ है, भाई ! 'स्वामी कार्तिकियानुप्रेक्षा' में वह अभी देखा है। उसमें ज़रा लिखा है न, इसलिए वह देखा। उनके घर का नहीं है, लोग नहीं मानते। उन्होंने घर का कुछ नहीं डाला है। सब शास्त्र के आधार सहित है, हों ! देखो !

जीवो अणंतकालं वसइ णिगोएसु आइपरिहीणो।
तत्तो णीसरिऊणं पुढवीकायादियो होदि।।२८४।।

शास्त्र की भाषा है, तदनुसार कहा है। पृथ्वीकायिक होता है। पृथ्वी, अपकाय - यह शैली ली है। समझे ?

तत्थ वि असंखकालं वायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं।
चिंतामणिव्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्ठेण।।२८५।।

देखो ! अब आयेगा न ? वह उनकी भाषा है, देखो !

तिर्यंचगतिमें त्रसपर्यायकी दुर्लभता और उसका दुःख

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, घर घर मरयो सही बहु पीर।।५।।

अन्वयार्थ :- (ज्यों) जिस प्रकार (चिन्तामणि) चिन्ता-मणिरत्न (दुर्लभ) कठिनाईसे (लहि) प्राप्त होता है (त्यों) उसी प्रकार (त्रसतणी) त्रसकी (पर्याय) पयार्य [भी बड़ी कठिनाई से] (लही) प्राप्त हुई। [वहाँ भी] (लट) इल्ली, (पिपील) चींटी, (अलि) भँवरा (आदि) इत्यादिके (शरीर) शरीर (घर घर) बारम्बार धारण करके (मरयो) मरण को प्राप्त हुआ [और] (बहु पीर) अत्यन्त पीड़ा (सही) सहन की।

भावार्थ :- जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है उसी प्रकार इस जीवने त्रसकी पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त की। उस त्रस पर्यायमें भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव और भंवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धार करके मरा और अनेक दुःख सहन किये।।५।।

अब, '**तिर्यंचपर्याय में त्रसपर्या की दुर्लभता...**' तिर्यंचगति में त्रसपर्याय की दुर्लभता '**और उसका दुःख।**' यहाँ तक तो बात की है निगोद के दुःख, वहाँ से निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (हुआ)। (इसी) क्रम से होता है - ऐसा कुछ नहीं है। किसी समय होवे भी और किसी समय सीधा मनुष्य भी होता है। किसी समय पृथ्वीरूप से होता है; किसी समय निकलकर सीधे वनस्पति भी होता है, परन्तु उस शास्त्र की शैली है न, पृथ्वी जल - उस शैली से बात की है। देखो ! यह 'स्वामी कार्तिकेय' की भाषा है भाई !

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, घर घर मरयो सही बहु पीर।।५।।

'जैसे, चिन्तामणि रत्न कठिनता से प्राप्त होता है...' देखो ! भाषा। चिन्तामणि रत्न, महापुण्य होवे और प्राणी को प्राप्त होता है। अभी लाभ-अलाभ का प्रश्न नहीं है। यह तो जैसे महापुण्य के कारण चिन्तामणिरत्न प्राप्त होता है। वह चिन्तामणि पत्थर होता है, उसकी सेवा देव करते हैं; इसलिए वह जिसे प्राप्त होता है, उसकी इच्छानुसार उसे मिलता है, पुण्य के कारण। ऐसी दुर्लभता बताकर (कहते हैं)। **'उसी प्रकार (त्रसतणी) त्रस की (पर्याय)...'** ओ...हो...! अभी तो त्रसपना, हों ! निगोद में से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति प्रत्येक (हुआ), उसमें से त्रस (हुआ) इतनी बात यहाँ करनी है। समझ में आया ? अभी यह सब तिर्यंच की बात चलती है। निगोद, वह तिर्यञ्च है न ? निगोद है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब तिर्यञ्च है। अब, कहते हैं कि उसमें से त्रसपना प्राप्त करना चिन्तामणिरत्न के समान है। अभी त्रस, हों ! दो इन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय होना। ओ..हो..हो..! समझ में आया ?

'त्रस की (पर्याय)...' अर्थात् शरीर **'(दुर्लभ) कठिनता से प्राप्त होती है।'** दो इन्द्रिय में से निकलकर, प्रत्येक में आना - पृथ्वी आदि में आना, उसमें से निकलकर त्रस होना, (वह जैसे) चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे त्रसपना प्राप्त करना दुर्लभ है। दो इन्द्रिय इल्ली (कीडा) होना दुर्लभ है। ऐसा कहते है, लो ! आहा...हा...! आचार्य 'स्वामिकार्तिकेय' स्वयं कहते है, हाँ ! उसका दृष्टान्त दिया है। अभी श्लोक पढ़ गये है न ! आहा...हा...! पहले के गृहस्थ पण्डित घर की बात नहीं करते हैं; सभी आचार्यों ने कही है, उसे संक्षेप में समेटकर जो कुछ कहने का आशय हो, वह बात करते हैं। एक भी बात घर की (कल्पना की) नहीं करते हैं; महा भवभीरूथे। समझ में आया ?

'वह त्रस की पर्याय कठिनता से प्राप्त होती है। (वहाँ भी) लट...' अभी तो कहते हैं कि एकेन्द्रिय वनस्पति, पृथ्वी, जल में से निकलकर लटपना प्राप्त करना, वह चिन्तामणिरत्न प्राप्त करने जैसा है। आहा...हा...! जैसे चिन्तामणिरत्न कठिन, वैसे ही एकेन्द्रिय में से लट होना कठिन (है।) लट... लट..., दो इन्द्रिय ! वह कण्डे में होती है न ? एक शरीर और मुँह (ऐसी) दो (इन्द्रियाँ) होती है। समझ में आया ? एकेन्द्रिय अर्थात् एक शरीरस्पर्श ही होता है। इसे (दो इन्द्रियवाले को) शरीर और मुँह दो होते हैं। लट... **'चीटी...'** देखो ! क्रम लिया है, हाँ ! चींटी

अर्थात् त्रिइन्द्रिय - ऐसा क्रम लिया है। चीटीं को तीन इन्द्रियाँ होती है स्पर्श, जीभ और नाक। वह भी एकेन्द्रियमें से दोइन्द्रिय और दोइन्द्रिय में से तीन इन्द्रिय (प्राप्त होना), वह चिन्तामणि रत्न की तरह दुर्लभता से पाता है। यहाँ कहते हैं, हीरा थोड़ा सा मिले, वहाँ ऐसा-ऐसा हो जाता है। वह तो कहते है, उस चिन्तामणिरत्न की तरह यह लट (पना) पाना कठिन है - ऐसा कहते हैं। तेरे हीरा की बात नहीं है। समझ में आया ? वहाँ से निकलकर भँवरा (हुआ), वह चौइन्द्रिय है। एक-एक इन्द्रिय बढ़ी है। भ्रमर को चार इन्द्रियाँ होती है, कान नहीं होता, उसे आँख होती है। स्पर्श, जीभ, नाक, आँख (ऐसी) चार (इन्द्रिया होती है।)

'**(आदि) इत्यादि शरीर...**' इसका यह तो एक-एक नमूने का नाम दिया है, हाँ ! ऐसे दो इन्द्रिय के जीव, त्रिइन्द्रिय के जीव, चौइन्द्रिय के जीव - यह एकेन्द्रिय में से होना महा चिन्तामणिरत्न की तरह कठिन है। समझ में आया ? '**(धर-धर) बारम्बार धारण करके...**' देखो ! फिर एक नहीं, उसमें भी बहुत काल रहता है, उसकी कालस्थिति बड़ी है। त्रस में, एक त्रस की स्थिति में दो हजार सागर। दो हजार सागरोपम त्रस में रहता है। त्रस अर्थात् सब होकर, हाँ ! दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय सब ! दो हजार सागरोपम। इसमें कितने वर्ष होते हैं ? असंख्यात अरब वर्ष। दो हजार सागरोपम। एक सागरोपम में दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम, एक पल्योपम में असंख्यात अरब वर्ष ऐसे-ऐसे दो हजार सागरोपम त्रस में रहता है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय सब होकर, हों ! समझ में आया ?

'**बारम्बार धारण करके (भरा)...**' संयोग से बात करते हैं। समझ में आया ? वैसे तो निगोद से निकलकर... शास्त्र में आता है न ? भरत के बत्रीस हजार पुत्र.. लिखा है न इसमें ? एकदम मनुष्य (हुए) यह तो कोई होता है। यह तो सीधे मनुष्य भी होता है। कोई सीधे मनवाला भी होता है, कोई मनहरित पंचेन्द्रिय होता है, सीधा होता है, इसमें कुछ (नहीं)। यह तो एक उसे समझाने की शैली शास्त्र में होवे - ऐसे बात रखते हैं न ! दस हजार, वे बत्रीस हजार, कहो ! समझ में आया ? उत्कृष्ट बात में दुःख की शैली और क्रम बताना होवे, उसमें (दुःख की) उत्कृष्ट बात करते हैं। ऐसा होता है न ? यह बतलाना हो न ? अन्य बात यहाँ किसलिए बतायें ?

कहते है कि, धर-धर मर्यो। शरीर धर धर कर मरा। एक शरीर धारण किया, वहाँ दूसरा,

दूसरा वहाँ तीसरा... आहा...हा...! वस्त्र पलटाना पड़े वह इसे कठिन पड़ता है। यह कहते हैं शरीर धर-धर कर अनन्तबार मरा। भगवान आत्मा आनन्द का कन्द प्रभु, अपने को भूलकर और पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का सेवन करके ऐसे शरीर को धारण किया। कौन वहाँ मान और कहाँ अपमान ? इसे कोई मानता ही नहीं था कि यह जीव है। एकेन्द्रिय निगोद के जीव को कौन मानता है ? उसे भी कहाँ खबर है (कि) हम जीव हैं या नहीं ? यह त्रस हुआ तब फिर ज़रा गति करने लगा। ऐसे वीर्य की गति, वह तो शरीर की गति। कर्मचेतना... कर्मचेतना। एकेन्द्रिय में तो मुख्यरूप से अकेली कर्मफलचेतना ही है। अकेले पाप के फल ही भोगता है। अकेले दुःख को भोगता है। त्रस में मुख्यरूप से कर्मचेतना गिनी गयी है, वरना फल तो भोगता है। यहाँ भोगने की बात ली है। यहाँ तो कर्मफलचेतना... भोगने की दुःख की व्याख्या लेना है यहाँ तो।

'**(मर्यो) मरण को प्राप्त हुआ...**' कौन मरण को प्राप्त हुआ ? कि जीव, मरण को प्राप्त नहीं करता। शरीर धारण कर-करके मरा - ऐसा कहा है न ? शरीर का संयोग हुआ, वह शरीर छूटा; शरीर प्राप्त हुआ, वह शरीर छूटा - इसका नाम मरा ऐसा (कहा जाता है।) '**(और) (बहुपीर) (सही) बहुत पीड़ा सहन की।**' बहुत पीड़ा ! लट, चींटी, मकोडे... आहा...हा...! इतनी लम्बी लट होती है, उस पर एक पचास मण का बड़ा घन पड़ा हो, आधी लट दब गयी हो और आधी-दूर रह गयी हो। है ? मण दो मण लोहा होता है या नहीं ? लम्बी लट नहीं होती ? ऐसी लम्बी हो, उस पर पाँच मण का पत्थर पड़ा... आधी यहाँ आधी अन्दर ! संयोग से बात चलती है, हाँ ! उसे पीड़ा तो विकार और एकत्व की है। आहा...हा...! यह शरीर नीचे से निकले नहीं, यहाँ से मरे नहीं, वह ऐसे तड़फन... तड़फन... तड़फन... तड़फन कर मरता है। यह दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चोइन्द्रिय की बात है, हों !

यह मक्खियाँ, देखो न ! मधुमक्खी। सिर पर ऐसी इकट्ठी की हो, नीचे पकड़नेवाला अग्नि का धुँआ करता है, बड़ी अग्नि ! धड़... धड़... धड़... अग्नि करता है। एकदम भाग जाती है। शहद लेने के लिए (ऐसा) करते हैं। ऐसे दुःख, पीड़ा, बहुत पीड़ा सहन की। कहते है - आहा...हा...! देखो न ! इस गुड़ के उसमें - राब में गुड़के राब में ऐसी मक्खियाँ पड़ते ही एकदम मर जाती है। हैं ? चीटिंयाँ, ऐसी चीटियाँ निकली हो न... तमतमाती अग्नि में (पड़े) तमतमाती कड़ाई होवे न,

कड़ाई नीचे ? इतने अधिक तेल में वहाँ कौन देखने जाता है ? ऐसे चट... चट... (सुलग जाती है।) दीमक... दीमक...! ऐसे सुँवाली दीमक होती है, बाहर निकलती है और तेज धूप लगे तो खत्म हो जाती है, धानी तरह सट... सट... हो जाती है। ऐसी '**(बहु पीर सही)...**' यह संक्षिप्त शब्द में (कहते हैं)। तूने बहुत पीडा सहन की है, बापू ! दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चौ इन्द्रिय में कही सुख की गन्ध नहीं है।

'**भावार्थ :- जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार...**' यह तो कठिनता से प्राप्त होता है - ऐसा (कहा है, इसमें) इतनी दुर्लभता बतलाना है, हों ! वह दुर्लभ हे न ? यह बोधि दुर्लभ है। '**इस जीव ने त्रसपर्याय भी बड़ी कठिनता से प्राप्त की है।**' निगोद से निकलकर प्रत्येक और उसमें से निकलकर त्रस बहुत महापुण्य किया होवे, तब बाहर आया है।

'**उग्र त्रसपर्याय मैं भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव; और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धारण कर करके मरा और अनेक दुःख सहन किये।**' आहा...हा...! किसे पुकार करने जाए ? वहाँ फरियाद चलती है कि यह मुझे व्यर्थ में मार देता है ? हम '**ऐसे ही**' फिरते हैं, चीटीं, मकोड़ा पानी में पड़ते है, अग्नि में (जलते हैं); कहो, समझ में आता है ? चीटीं, चीटी को पंख आवे और पानी में '**गिरे एकदम गिरते... गिरते...**' बड़े पंख लम्बे हों तो कहाँ पड़ता उसे पता नहीं होता, वह तो पड़ते पड़ते एसे अग्नि होवे तो वहाँ पड़ जाए। पंखो का मार हो जाता है न, पंखो का ? यह नहीं होता। चातुर्मास में वे जीव (होवे है न) ? एक यहाँ निकलते थे, कोने में एक बार, तुम थे या नहीं ? तुम थे, उस कौने में पता है न ? बहुत वर्ष पहले, एक साथ निकलते थे; अन्दर से नये-नये फट-फट (निकलते)। बाहर से कौए और कबूतर तैयार हो, एकदम चोंच मारे तो वह बीच का कलेवर खा जाए और वह पंख टूट जाता है; परन्तु उसे न ? यह कहते हैं - अनन्त बार तेरा हुआ है - ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, भँवरा, मक्खी, पतंगा दब जाते है, देखो न ! रास्ते में ऐसे बड़े-बड़े पतंगे होवे हैं, इतने बड़े ! बस चलती

है बस, बहुत बार रास्ते में चिपके हुए दिखते हैं। इतने इतने बड़े, हाँ! पीले चिपके हुए।

अब फिर तिर्यंचगति में असंज्ञी और संज्ञी का क्रम लिया है। तिर्यंचगति में भी मनरहित पंचेन्द्रियजीव होते हैं और मनवाले होते है। ऐसे भी तूने अनन्त भव किये हैं। वह शास्त्र में इसमें स्वामी कार्तिकिय में यह क्रम लिया है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यही कहते हैं कि तू अब काल मिला है, इसलिए अवसर पहचान ले, इसके लिए तो यह बात करते है। कठिन ! बापू ! मनुष्यपना कठिन, उसमें धर्म प्राप्त करना, सुनना कठिन। आहा...हा...! देखो न ! यह बाहर की पदवी के लिए धमाधम चलती होगी या नहीं ? है ? वे कहें मैं पदवी में आऊँ, वह कहे मैं आऊँ। अरे...! परन्तु बापू ! वह तेरी पदवी कहाँ है ? भाई ! क्या मिला और क्या पाना है - वह पूरा रह जाता है। ऐसा महा किठिनता से भव मिला।

तिर्यंचगतिमें असंज्ञी तथा संज्ञीके दु:ख

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर।।६।।

अन्वयार्थ :- ढयह जीवज (कबहूँ) कभी (पंचेन्द्रिय) पंचेन्द्रिय (पशु) तिर्यंच (भयो) हुआ [तो] (मन बिन) मनके बिना (निपट) अत्यन्त (अज्ञानी) मूर्ख (थयो) हुआ [और] (सैनी) संज्ञी [भी] (ह्वै) हुआ [तो] (सिंहादिक) सिंह आदि (क्रूर) क्रूर जीव (ह्वै) होकर (निबल) अपने से निर्बल (भूर) अनेक (पशु) तिर्यंच (हति) मार-मारकर (खाये) खाये।

भावार्थ :- यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मनरहित होनेसे अत्यन्त अज्ञानी रहा; औब कभी संज्ञी हुआ तो सिंह आदि क्रूर-निर्दय होकर अनेक निर्बल जीवोंको मार-मारकर खाया तथा घोर अज्ञानी हुआ।।६।।

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर।।६।।

यह सब शैली ली है। '**यह जीव कभी पंचेन्द्रिय...**' विकलेन्द्रिय में से निकलता है न ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय में से निकला। यह तो क्रम लिया है। यह तो कोई सीधा पंचेन्द्रिय भी होता है, उसका कुछ नहीं। समझ में आया ? किसी समय... इसलिए कहा न ? '**कभी पंचेन्द्रि...**' हुआ और पाँच इन्द्रियाँ मिली। कान भी मिले, उस भँवरे तक चार इन्द्रियाँ थी, फिर कान मिले; पाँच इन्द्रियाँ मिली, परन्तु '**(मन बिन) मन के बिना (निपट अज्ञानी)...**' मन नहीं मिला, इसलिए अत्यन्त मूर्ख हुआ... लो ! मन नहीं मिलता, वहाँ शिक्षा ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं मिलती। मूर्ख... मूर्ख.. मूर्ख... हुआ। मन के बिना निपट अज्ञानी रहा। चाहे जो मन के बिना का बड़ा प्राणी हो, उसे शिक्षा दो तो क्या ग्रहण करने की शक्ति है ? इसलिए कहते हैं, मन बिना निपट (अज्ञानी रहा।)

बड़ा भरफोड़ा (जीवजन्तु) होता है, हों ! कितने ही पंचेन्द्रिय सर्प मनरहित होते हैं, कितने ही, हों ! बड़े-बड़े हाथी हों ऐसे हों ! मनरहित साधारण दिखाव; मनरहित असंज्ञी मछलियाँ (होती है)। यह तो बहुत संज्ञी है, परन्तु मनरहित सीधे अध्धर मछलियाँ होती है; मन नहीं होता, असंज्ञी। भान नही होता। मिली पाँच इन्द्रियाँ, मिली मूर्खता और अज्ञानदशा। आहा...! उसमें से कहते हैं कि यह मनुष्यपना और उसमें दुर्लभ (भव में) सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, वह कठिन है। पाया तो अब चूकना मत - ऐसा अब आगे कहेंगे। है ? आता है न पीछे ?

'**(सैनी) संज्ञी (भी) हुआ...**' वह मन रहित था, उसमें से मरकर फिर पंचेन्द्रिय मनवाला हुआ। मन प्राप्त हुआ। '**सिंह इत्यादि क्रूर जीव होकर...**' देखो ! क्रूर सिंह हुआ। हिरण को तो एसे एकदम पकड़ता है। सिंह को ज़रा भी दया होगी ? क्रूर ऐसा बड़ा मुँह मारकर चीरकर...

भगवान को जीव भी देखो न ! 'महावीर' भगवान का जीव आता है न दशवें भव में ? हिरण वह ऐसी तराप (छलाँग) मारता है। ऐसे मारता है। आहा...हा...! उसमें फिर मुनि निकले और (बोध देते हैं।) अरे...! जीव अरे...! तुम यह क्या करते हो ? तुम तो दसवें भव में तीर्थंकर

होनेवाले हो। हमने सर्वज्ञदेव केवली से सुना है। यह क्या करते हो ? पंचेन्द्रिय को पंचेन्द्रिय मारे ? यह क्या गजब है ? (सिंह) एसा रूक जाता है। देखो ! अभी तो दसवें भव में तीर्थंकर होनेवाला है। वह हिरण को मारता है। ऐसे भव भान बिना क्रूर होकर किये हैं। सिंह क्रूर (होकर) ऐसा बटका खाता है। एक और भेंड उस तरफ हरा खड़ मुँह से खाता हो, पीछे सिंह पूंठे खाता है। ऐसा उसका स्वभाव होता है।

यह बड़े राजा जाते हे न ? क्या करने ? शिकार ! तख्ता बाँधे, वहाँ भेड़ को बाँधे, पाड़े को बाँधे और सिंह आवे। वह घास डाला हो, उसे भेड़ खाता हो और पीछे से सिंह काटे। एक बनिये को देखने ले गये। (एक सेठ) थे, दरबार ले गये। सेठ ! चलो तो सही। वह जाने कि ना कहा करना। वहाँ अन्दर उस तख्ते में से देखा। बाहर में वह पाड़ा बँधा और दीपड़ा, सिंह आवे उसे मारे। यह कहे - भाई ! यह हमसे नहीं देखा जाता। (एक) सेठ था (वह कहे) 'हमारे ऐसा नहीं होता, यह हमारा काम नहीं।' (तब दरबार कहता है) अरे ! बनिया डरपोक इतना नहीं देख सकता ? आहा...हा...! बापा ! अभी क्या होता होगा, वह भगवान जाने। है ? अभी नरक में उसकी चिल्लाहट और उसकी पीड़ा, वह भगवान जाने और वह भोगे... क्या होगा अब ? भविष्य में होना होगा वह होगा। गोलन गाडा भरे। इस हाथ करके इस हाथ भोगेंगे। हम क्षत्रिय कहलाते हैं। बनिये की तरह डरपोक नहीं है कि हम डर जाएँगे। बहुत अच्छी बात है, भाई ! मरकर जाएगा वहाँ डरपोक से भी हल्का होकर मरकर दुःखी होगा। उसकी एक समय की पीड़ा एक सैकेण्ड की उसकी पीड़ा वह जाने। इतना वर्णन भगवान करते हैं। और अभी वहाँ नीचे पड़ा है। बड़े-बड़े राजा मरकर नरक में पड़े हैं। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं '**सिंह इत्यादि क्रूर जीव होकर अपने से निर्बल...**' प्राणी को मारता है। आहा...! अभी एक बार नहीं आया था ? सिंह और अजगर की लड़ाई। अजगर तो बड़ा जबरदस्त। सिंह को लिया पाशमें सिंह को अजगर में ऐसा पाश लिया, बीच में पेट में से। वह छूटने के लिए महेनत करे... महेनत करे... चौबीस घण्टे ऐसा पाश में लिया कि सिंह का खून निकाल दिया, मर गया। मरा तो निकाल दिया। अजगर... अजगर बड़ा जबरदस्त था, सिंह को मार दिया। यहाँ कहेंगे न ? सबलवान ऐसे निर्बल को मार देता है। अजगर होता है न ? बड़े-बड़े अजगर। उनकी आँखो में ऐसा होता है कि ऐसा बड़ा घोड़ा चला आ रहा हो, वह खिंच जाता है। अजगर में ऐसा होता है। बड़ा अजगर किस प्रकार चलता है ? दौड़कर कहाँ जाए ? कुदरत ने उसकी आँखे ऐसी की है कि ऐसा करे वहाँ छोटे छोटे घोड़े उसके पेट में खिंच आते हैं, मुँड में आ जाते हैं और फिर खाता है। ओ..हो...हो...! ऐसा अनन्तबार संज्ञी पंचेन्द्रिय क्रूर हुआ तो निर्बलों को मारकर, चीरकर खाया। यहाँ तो संयोग से व्याख्या करना है न ? खा सकता है या नहीं, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना है, हाँ फिर ! आहा...हा...!

'**निर्बल अनेक तिर्यंच मार-मारकर खाये।**' पाठ क्या है ? देखो ! हे ? मार दिया। लो ! अभि सिद्ध क्या करना है ? बात समझना चाहिए न ? हैं ? ऐसे भाव किये तब वह मारा गया, इसमें दुःख हुआ, - ऐसे कहते हैं। परन्तु भाषा क्या कहें ? देखो ! यह मार दिया, यह आया था नहीं इसमें ? अरे...! भगवान ! '**सैनी ह्वै क्रूर, निर्बल पशु हति...**' एक शब्द '**खाये भूर।**' दूसरा शब्द बहुत मार मारकर खाये। लो ! खा सकता है या नहीं ? यहाँ तो संयोग से उसे दुःख की व्याख्या बतलाना है। क्रूर सिंह हुअ। इसलिए मारकर खाये। मुँह पकड़े, पेट (पकड़े) बड़ी भेंस होती है न ? सिंह उसकी आल पकड़ता है आल खाता है। गिरे और ऐसे नीचे डाले।

(एक भाई) कहते थे न ! एक बार दो सिंह आये उनके गाँव में। भेंस को पकड़ी, बड़ी भेंस, उसका आल खाते थे। दो सिंह बैठे थे। स्वयं देखने गये, क्या करते हैं ? एक सिंह को देखा, ऐसा देखा वहाँ दूसरा। सवेरा हुआ वहाँ दोनो चले गये। भेंस का आल खा गये थे। तड़फ तड़फ कर मर गयी। आल ही खाये, अन्दर का माल। आहा...हा...! पूरा शरीर पड़ा रहा। क्रूरता की। समझ में आया ? कहते है - '**अनेक तिर्यंच मार-मारकर खाये।**' फिर एक दो नहीं, ऐसा

कहते हैं। बहुत चाहिए या नहीं उसे ? सिंह आदि को तो बहुत चाहिए, अजगर को कितने ही पशु आदि चाहिए।

'**भावार्थ :- यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मन रहित होने से...**' देखो ! ऐसी भी एक दशा होती है। मनरहित पंचेन्द्रिय भी होता है। पंचेन्द्रिय होवे और मनुष्य हो ऐसा कुछ नहीं। '**अत्यन्त अज्ञानी रहा...**' 'छहढाला' में सब बातें बहुत अच्छी की है। पहली दुर्लभ भावना से वर्णन करके वस्तु का वर्णन करेंगे। '**...और कभी संज्ञी हुआ...**' मनवाला हुआ, सिंह इत्यादि। सिंह, हाथी, घोड़ा, बाघ, नाग ये सब क्रूर हुए, क्रूर निर्दय हुए। समुद्र में निर्दय मगर-मच्छ होते हैं; बड़े मगरमच्छ छोटे को खाते हैं। क्या कहते हैं ? मच्छ निगल-निगल नहीं कहते ? है ? मच्छ निगल-निगल कहते हैं न ? बड़ा मच्छ ही छोटे को खाता है पूरा। मेंठक होवे, उसने मुँह में मच्छर को पकड़ा हो, उस मेंठक को छोटा सर्प पकड़ता है, छोटे को दूसरा बड़ा पकड़ता है। ऐसा का ऐसा चला करता है। मेंढक ने एक मक्खी को मारने, खाने के लिए मुँह में पकड़ी हो, उस को दूसरे बड़े (सर्पने) पकड़ा हो; उसे फिर उससे बड़े ने पकड़ा हो। ऐसी पीड़ा और ऐसे भव जीव ने अनन्तबार किये हैं। जैसे बारोट इसकी पूर्व की कथा कहता है; ऐसे भगवान तेरी कथा कहते हैं, ले ! मुनि ने जैसी कथा कही, वैसी कथा कहूँगा, भाई ! आहा...हा...!

'**सिंह आदि क्रूर तिर्यंच होकर, अपने से निर्बल...**' जो अपने से हलके प्राणी निर्बल है (ऐसे) '**अनेक जीवों को मारकर...**' लो ! मारकर, अर्थात् ऐसे मार डालने के भाव हुए और उसकी क्रिया हुई। शब्द क्या बोले ? व्यवहार से बात, सब व्यवहार की ही होती है अधिक।

समझाना होवे तो ऐसा कहते हैं कि नहीं, नहीं; इसने मार नहीं दिया, इसने भाव किया था ऐसा कहेंगे वहाँ ? यहाँ बताना क्या है ? जन्म-मरण किया, इसलिए दु:खी हुआ - ऐसा कहा। लो ! शरीर के संयोग-वियोग से ऐसी व्याख्या की। व्याख्या करे तब उन्हें समझाना क्या है ?

'घोर अज्ञानी हुआ।' मारकर खाया, माँस खाया। समझ में आया ? सिंह कितन ही ऐसे क्रूर होते हैं। थोड़ा लगा होवे तो कपट करे। जहाँ लेने आवे, वहाँ उसे ही मारे, पकड़े, खा जाए। यहाँ हुआ था न ? 'गोंडल' का नहीं ? फटाया का दीपडा था बड़ा, ऐसा पड़ा था। वहाँ एक व्यक्ति गया तो (उसे खा गया।) हाय... हाय... साथ रहनेवाला मनुष्य क्या करे ? क्रूरता... क्रूरता... क्रूरता...! क्रूर, उसका मुँह ही क्रूर होता है। दीपडा ऐ..सा (होता है।) यह आयेगा। इसमें यह बात रह ही गई, हो ! है ? चित्र में रह गयी। एक बात में कहाँ सब होती है ? चित्र है या नहीं इसमें ? है ? देखो !

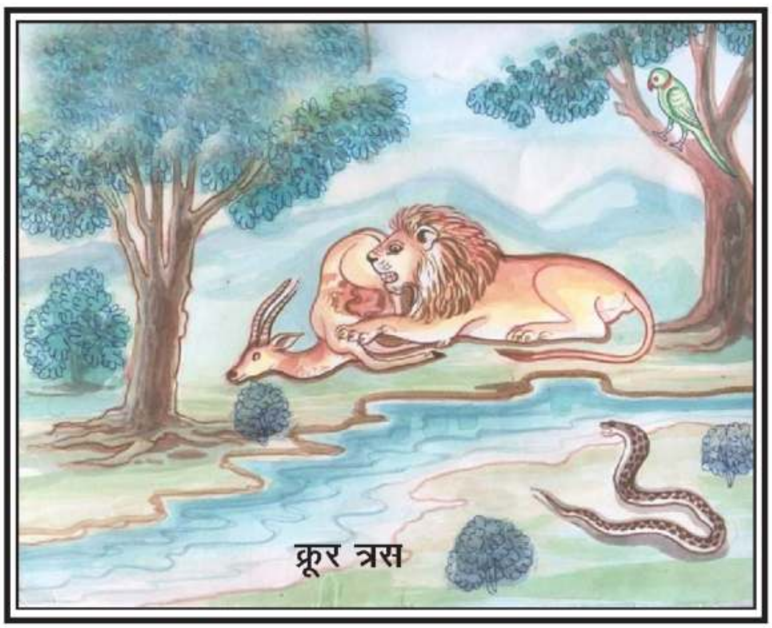

उसमें कहा है न ? वह एकेन्द्रिय निगोद की व्याख्या की। लो ! फिर वह जन्मा, मरण को प्राप्त हुआ ! देखो ! पृथ्वी, जल का दृष्टान्त दिया है, हाँ ! मनुष्य रचना है, फिर यह बताया, देखो ! यह... ऐसा कहते हैं। चिन्तामणि त्रसपर्याय - ऐसा कहकर तितलियाँ और ऐसा दृष्टान्त दिया है। यह बताते है, देखो ! ऐसा पाना दुर्लभ है। ऐसा फोटो इसमें दिया है, हाँ ! है ?

उसमें से सिंह लिया, देखो अब यह। यह सिंह इस हिरण को उल्टा पटककर मारता है, देखो !

ऐसा करके, यहाँ पंछी रखा है, यहाँ एक सर्प रखा है नीचे, ऐसा करके सर्प उपर चढ़कर उसको मारने जाता है और वह मैना मानो सर्प को मारूँ, सर्प मानो उसे मारूँ। समझ में आता है ? ऐसे क्रूर ! अभी तो यहाँ तक आया है न ? '**सिंहादिक सैनी ह्वै क्रू, निबल पशु हति खाये भूर।**' भूर अर्थात् बारम्बार, एकाकार। सर्प को मारे ऐसे पाप अनन्तबार किये और अनन्त दुःख सहन किये, परन्तु कही इसे अन्त नहीं आया।

६ गाथा कही। लो ! सातवीं गाथा में (आयेगा)। उसमें दृष्टान्त ठीक दिये हैं, हाँ ! चित्ता का किया है, हाँ ! यह श्वास का दृष्टान्त दिया है। यह श्वास... श्वास.. एक श्वास में (अठारह बार)। ठीक ! यह निगोद, ठीक !

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो त्रिकाल स्वभावभाव है । वह मोक्ष करना है या मोक्ष हुआ है, ऐसा नहीं , परन्तु इस शक्तिरुप मोक्षका आश्रय लेकर जो पर्याय होती है , वह व्यक्तिरूप मोक्ष है । वह व्यक्तिरूप मोक्ष - मोक्षमार्गकी प्रर्यायसे प्राप्त होता है, परन्तु द्रव्यसे प्राप्त नहीं होता । पर्याय ही मोक्ष प्रकट करती है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मोक्षको प्रकट नहीं करता, न ही जड़कर्म मोक्षको प्रकट करता है। इसे भी सच में तो शुद्धउपादान-कारणभूत होनेसे मोक्षका कारण कहा है, परन्तु यह भी एक अपेक्षासे ही है । वास्तवमें तो मोक्षमार्गका व्यय होने पर ही मोक्षकी पर्याय होती है । (परमागमसार - ११७)

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १३, बुधवार
दि. १९-१-१९६६, श्लोक ७ से १२, प्रवचन नं. ३

इस 'छहढाला' में पहली ढालचलती है। छह प्रकार के देशी भी है और छह प्रकार के कथन की विधि भी है, परन्तु अन्तर है, प्रत्येक में भिन्न है न ? प्रत्येक ढाल में ! पहली ढाल में वहाँ से लिया है - निगोद से लेकर दुःख का वर्णन किया है। क्यों किया ? - यह दूसरी ढाल मैं आयेगा। दूसरी ढाल है न ? उसमें आयेगा। देखो ! '**ऐसे मिथ्याद्रग-ज्ञान-चर्ण, वश...**' दूसरी ढाल का प्रथम श्लोक है न ? वर्णन करने का हेतु क्या है ? कि अनादि का अज्ञानी आत्मा, मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर चारगति में दुःखो को सहन करता है - यह बात सिद्ध करना है।

आत्मा के भान बिना... आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना (दुःख सहन किये), इसलिए स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में बोधिदुर्लभभावना में ही यह व्याख्या है। अनन्तकाल चौरासी के अवतार में... यहाँ लिया है निगोद से, 'स्वामी कार्तिकिय' ने भी इसी प्रकार लिया है। निगोद से निकलकर और कोई पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु होता है। वहाँ कोई मनरहित पशु होता है, कोई मनवाला पशु होता है; वहाँ से मरकर नरक जाता है, वहाँ से मरकर कोई मनुष्य होता है; वहाँ से मरकर कोई देव होता है - ऐसे इसप्रकार भाईने वर्णन लिया है, यह शैली आचार्य की शैली है। वह शैली यहाँ ली है।

आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति है। उसके अन्तर के सम्यग्दर्शन और ज्ञान बिना उसने चौरासी के अवतार अनन्तकाल से एक-एक में जन्म-मरण किया है। उसके दुःख का वर्णन करते हैं। वे दुःख प्राप्त क्यों हुए ? मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण। इसलिए दूसरी ढाल में यह कहा कि - '**ऐसे मिथ्याद्दग-ज्ञान-चर्ण वश...**' ऐसा कहा न ? '**भ्रमत भरत दुःख, जन्म-मर्ण; ता तैं इनको तजिये सुजान, सुनतिन संक्षेप कहूँ बरवान।**' यह पहली ढाल में दुःख का वर्णन बताने का हेतु कि मिथ्या दर्शन-ज्ञान के कारण से ऐसे दुःख सहन किये; इसलिए मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र को छोड़ और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अंगीकार कर। यह बताने के लिए यह बात की है।

तिर्यंचगतिमें निर्बलता तथा दुःख

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम आतप त्रास।।७।।

अन्वयार्थ :- [यह जीव तिर्यंच गतिमें] (कबहूँ) कभी (आप) स्वयं (बलहीन) निर्बल (भयो) हुआ [तो] (अतिदीन) असमर्थ होनेसे (सबलनि करि) अपनेसे बलवान प्राणियो द्वारा (खायो) खाया गया [और] (छेदन) छेदा जाना, (भेदन) भेदा जाना, (भूख) भूख, (पियास) प्यास, (भार-वहन) बोझ ढोना, (हिम) ठण्ड, (आतप) गर्मी [आदिके] (त्रास) दुःख सहन किये।

भावार्थ :- जब यह जीव तिर्यंचगतिमें किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण अपनेसे बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया; तथा उस तिर्यंचगतिमें छेदाजाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझ ढोना, ठण्ड, गर्मी आदिके दुःख भी सहन किये।।७।।

अब, अपने यहाँ छह गाथा पूर्ण (हुई है), सातवीं आयी है। तिर्यंचगति के निर्बलता के दुःख।

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम आतप त्रास।।७।।

क्या कहा ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा देखा कि इसने अनादि से निगोद के अनन्त दुःख सहन किये। एक श्वास में अठारह भव धारण किये। यह बात आ गयी है न ? वहाँ से कदाचित् कोई मरा तो एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति में आया। उसमें से त्रसपना प्राप्त करना तो महारत्न की तरह दुर्लभ कहा है न अन्दर ? जैसे चिन्तामणिरत्न प्राप्त करना दुर्लभ है, उसी प्रकार ऐकेन्द्रिय में से त्रसपना प्राप्त करना महादुर्लभ है। यह सब शैली से वर्णन किया है। यह

शास्त्रानुसार वर्णन किया है। समझ में आया ?

अब, यहाँ कहते है कि उसमें से तिर्यंच में आया। निगोद में से (निकलकर) मनवाला प्राणी हुआ। उसमें कैसे दुःख सहन किये - यह बात करते हैं। **'(यह जीव तिर्यंचगति में) कभी (स्वयं) कमजोर हुआ...'** मिथ्यादर्शन-ज्ञान के कारण से पशु में अवतरित हुआ। समझ में आया ? इस कारण अन्दर यह बताना है - मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान के कारण ऐसे तिर्यंच में अवतरित हुआ, बलहीन हुआ - कमजोर (हुआ), **'(तो) असमर्थ होने से अपने से बलवान प्राणियों के द्वारा खाया गया...'** संयोग से दुःख का कथन किया है, हाँ ! समझ में आया ? देखो ! इसमें है। है न इसमें ? यह चिन्ह दिया है, क्या कहलाता है ? चित्र बलहीन जो हिरण है, देखो ! उसे चीता पीछे पकड़ता है, ऐसा। उसमें सामने वृक्ष आता है, इसमें सामने वृक्ष है। समझ में आया ? हिरण का भव किया। मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान द्वारा निगोद में से निकलकर पन्चेन्द्रिय हुआ, वहाँ दीनता के कारण सिंह ने मारा। समझ में आया ? और फिर विशेष कहेंगे, देखो !

'बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया...' खाया गया अर्थात् ? उसका शरीर खाया गया। शरीर खा जाने से व्याख्या की है। समझ में आया ? शरीर खाया गया। किसने खाया ? देखो ! दूसरे शरीर खा सकते है न ? भाई !

मुमुक्षु :- नहीं साहेब !

पूज्य गुरुदेवश्री :- तो यह क्या खाया गया ? यह तो संयोग से दुःख का वर्णन करते हैं कि

निर्बल प्राणियों को सबल प्राणीने महा प्रहार करके मारा। गर्म पानी छिड़का। चूहे को उसमें पकड़ते है न ? पिंजरे में। पिंजरे में चूहे को पकड़कर ओर फिर से धगधगता गर्म-गर्म पानीडालते हैं। धगधगता पानी, हाँ ! नज़रों से देखा है, वहाँ हमारे 'पालेज' में मुसलमान की दुकान है, अनाज की दुकान, इसलिए चूहे बहुत होते हैं। उसका एक व्यक्ति चूहे पकड़कर निकला था, वहाँ ऊपर से धगधगाता पानी डालता था। ऐसे दुःख (सहन किये।) अब, चूहे को कहाँ जाय ? यह तो संयोग से वर्णन करते हैं। राग... राग... एकत्वबुद्धि है न ? शरीर और राग मैं हूँ... शरीर और राग मैं हूँ; चिदानन्द भगवान आत्मा का पता नहीं, इसलिए ऐसी एकत्वबुद्धि के कारण खाया गया, पकाया गया, मारा गया - ऐसे दुःख अनन्त बार वहाँ सहन किये। कहो, समझ में आया ?

'छेदा जाना...' तो ! है न इसमें इस ओर ? देखो ! यहाँ छेदते हैं। इस पशु को नहीं छेदते ? नथ बाँधते है, बाँधकर नपुसंक करते हैं, इन्द्रिय काटते है। यह ऐसा करके (छेदते हैं।) भगवान आत्मा, अपनी शान्ति का आनन्द स्वभाव, उसे अनादि से भूलकर इसने अनादि से ऐसे दुःख सहन किये है। समझ में आया ?

'**भेदा जाना...**' भेदा गया, टुकड़े किये। लो ! देखो ! शिकारी अथवा कषायी लोगों ने पकड़कर एकदम टुकड़े करता है। 'राजकोट' में कषायी के घर के पास से दिशा (जंगल) जाने को निकलते है न ? खट... खट... ऐसे काटता होता है। ऐसे दुःख, आत्मा को भूलकर शरीर और राग की एकता में, आस्रव और अजीव की एकता में (प्राप्त किये हैं।) - ऐसा अभी कहना है। समझ में आया ? आस्रव और अजीव भित है, उसके भान बिना उनकी एकता में ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

फिर '**भूख...**' लगी, भूख - क्षुधा। पशु को कितनी क्षुधा लगती है, देखो न ! समझ में आया ? मिलता नहीं बिचारे कुत्ते तो... 'कुत्ते के भव में मैं ढूढ खाये टुकड़े, वहाँ भूख का सहा भड़का' - ऐसा पहले 'पालेज' में सुनते थे। भाई ! 'पालेज' में ऐसी बातें होती है न ? वहाँ दूसरी ऐसी तत्त्व की बात कहाँ थी ? उसमें एक साधु 'पालेज' में आते थे, फिर ऐसा पहले गाते। लो ! पहले सुना हुआ यह। 'कुतरा ना भवमां में

वीणी खाया कटक्या, त्यां भूख ना बेठ्या भड़का रे...' भूधरजी तमने भूल्यो। भूधरजी अर्थात् भगवान को भूला, ऐसा। वहाँ मन्दिरमार्गी का मन्दिर है न, वहाँ उतरे; फिर हम रात्रि को जाए, यह बात करते। तत्त्व की बात तो थी नहीं। ऐसे दुःख सहन किये - यह (कहे)। वहाँ भी ऐसा था, 'दामनगर'! नारकी का चित्र बताये। पहलेके पुराने साधु होय न ? देखो ! हुक्का पीये तो ऐसा होगा; बीड़ी पीये तो ऐसा होगा; परस्त्री को भोगेगे तो ऐसा होगा। उनको ऐसे दुःख बताये; परन्तु ये दुःख बताने का हेतु क्या है ? है ? मिथ्याश्रद्धा-आत्मा के भान बिना इसने विकार और संयोगी वस्तु को अपनी मानकर स्वभाव को भूल गया। उस भूल में इसने ऐसे अनन्त भ्रमण किये हैं।

'**प्यास...**' यह पानी का प्यास। यह पशु की बात है, हाँ ! अभी। '**बोझा ढोना..**' सिर पर बोझा (ढोना)। देखो ! यहाँ किया है न ! देखो ! इतना भार है तो बैल ऐसे गिर जाता है। 'कलकत्ता' में सौ-सौ मण भार भरते है, नहीं ? है ? पता है। लम्बी गाड़ी और इतना भार भरते हैं, बोझा भरते हैं। भार-वहन, छेदन-काटा जाना, ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं।

'**ठण्ड...**' जंगल में सर्दी पड़े और ये हिरण के छोटे-छोटे बच्चे... हा...य... ठण्डी में ठिठुर जाते हैं। '**गर्मी...**' गर्मी ऐसी पड़ती है कि ऐसे छोटे त्रस मर जाते हैं। देखो न ! यह चकला और मैना नही आते ? गर्मी में चकला, मैना एसे हाँफ-हाँफकर मर जाते हैं, बहुत गर्मी लगती है। ऐसे दुःख प्रत्येक जीव ने अनन्तबार सहन किये हैं। चार गति में, इसमें तिर्यंचगति की बात है। '**दुःख सहन किये।**' लो ! समझ में आया ?

'**भावार्थ :- जब यह जीव तिर्यंच गति में किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण अपने से बलवान प्राणियों के द्वारा मारकर खाया गया; तथा उस तिर्यंचगति में छेदाजाना, भेदाजाना, भूख, प्यास, बोझा ढोना, ठण्ड, गर्मी आदि के दुःख भी सहन किये।**'

तिर्यंच के दु:खकी अधिकता और नरक गति की प्राप्तिका कारण

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मरयो, घोर श्वभ्रसागरमें परयो।।८।।

अन्वयार्थ :- [इस तिर्यंचगितमें जीवने अन्य भी] (बध) मारा जाना, (बंधन) बँधना (आदिक) आदि (घने) अनेक (दुख) दु:ख सहन किये; [वेज (कोटि) करोडों (जीभतैं) जीभोंसे (भने न जात) नहीं कहे जा सकते। [इस कारण] (अति संक्लेश) अत्यन्त बुरे (भावतैं) परिणामोंसे (मरयो) मरकर (घोर) भयानक (श्वभ्रमसागरमें) नरक रूपी समुद्र में (परयो) जा गिरा।

भावार्थ :- इस जीवने तिर्यंचगतिमें मारा जाना, बँधना आदि अनेक दु:ख सहन किये, जो करोडों जीभोंसे भी नहीं कहे जा सकते। और अन्तमें इतने बुरे परिणामों (आर्तध्यान) से मरा कि जिसे बड़ी कठिनाईसे पार किया जा सके ऐसे समुद्रसमान घोर नरकमें जा पहुँचा।।८।।

'**अब तिर्यंच के दु:ख की अधिकता और नरकगति की प्राप्ति का कारण**' यहाँ से नरक लिया है, भाई! 'स्वामी कार्तिकेय'ने ऐसा लिया है - निगोद से तिर्यंच और तिर्यंच से नरक।

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीमतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मरयो, घोर श्वभ्रसागरमें परयो।।८।।

'**(इस तिर्यंचगति में जीव ने अन्य भी) मारा जाना, बँधना...**' देखो न! यह शिकारी लोग अथवा कषाईखाने में... '**आदि अनेक दु:ख सहन किये...**' ग्रन्थकार कहते हैं कि इन तिर्यंच के दु:खो को हम करोड़ो जीभों से कहें तो नहीं कहे जा सकते। करोड़ो जीभों से कहें तो उनके दु:ख (नहीं कहे जा सकते।) भूल गया, परन्तु भूल जाता है न ? मनुष्य होवे वहाँ भूल

जाता है न ? '**करोड़ो जीभों से नहीं कहे जा सकते।**' ऐसे तिर्यंच के दुःख। काटे, टूकड़े करे।

एकबार 'धंधुका' में एक बड़ी गाय को भले प्रकार श्रृंगार करके गाँव में घुमाया था। उस गाय को रात्रि में पूरी तरह बाँधकर, मुँह बन्द करके बाँधी। मुसलमानों ने किया था, 'धंधुका' में मुसलमानों ने (किया था।) फिर बारीक... बारीक... बारीक... टूकड़े करके काट दिया, फिर उसे बाँट दिया। आहा...हा...! समझ में आया ? पशु के ऐसे दुःख ! आत्मा के भान बिना (सहन किये।) मैं कौन हूँ ? मेरी क्या जाति है ? मुझे क्या चाहिए ? मुझे क्या प्राप्त करना है और क्यों छोड़ना है ? इसके भेदज्ञान के भान के बिना ऐसे अनन्त अवतार में ऐसे दुःख भोगे हैं।

एक व्यक्ति कहता था, हमारे भाई कहते - पारसी लोग इनके पड़ौसी थे। (वे) सूअर के पैर को लोहे के सरिये के साथ बाँधकर, जैसे शक्करकन्द को शेकते है, शक्करकन्द; वैसे सूअर को अग्नि में डाल दिया, सिकने के बाद उसे खाते हैं। आहा...हा...! पूरे सूअर को उसे बाफकर ऐसे जीवित डालते हैं, फिर आग पर डालते हैं। ऐसे दुःख, भाई ! इसने देखे नहीं हैं, सुने नहीं है, इसे खबर नहीं है। यहाँ जरा सा दुःख और प्रतिकूलता होवे और अपमान होय है ! तुरन्त क्रोधित हो जाता है। हे हमारा अपमान !

परन्तु मुफ्त में ऐसे दुःख बहुत बार सहन किये हैं। मूली में मुफ्त में बिक गया है। तेरी कोई कींमत नहीं है। तूने धर्म की कीमत किये बिना ऐसे दुःख सहन किये हैं। कहते है, करोड़ जीभों से भी नहीं कहे जा सकते। देखो ! अन्दर है न ? दो बैल बनाये हैं, हाँ ! बध-बन्धन बाद में आयेगा।

मुमुक्षु :- याद क्यों नहीं रहता है ?

उत्तर :- जन्म होने के छह माह बाद क्या हुआ था - याद रहता है ? यहाँ जन्म होने के बाद

महीने में पहले थे या नहीं ? है ? माँ की गौद में बैठकर रोते थे, ऊँ... ऊँ... करते थे - वह सब याद है ?

मुमुक्षु :- नहीं, माँ कहती है।

उत्तर :- परन्तु तुम्हें खबर नहीं है न ! इसी प्रकार यहाँ कहते है, देखो न ! कल वह लड़का ऊँआ... ऊँआ... करता था, बहुत रोता था न ? उस लड़के को, बालक को कुछ भान नहीं होता। उसे अनुकूल क्या, प्रतिकूल क्या - इसको खबर नहीं होती। बालपने में बहुत दुःख है, हाँ ! आगे आयेगा। बालपने में बहुत दुःख, अन्दर भान नहीं होता, आकुलता (होती है।) ऐसे बैठना होतो है ऐसे सुलावे, ऐसे सुलावे तो ऐसे बिठावे, उस बिचारे को कुछ पता नहीं होता। बालकपने मैं दुःख... दुःख... दुःख... बहुत दुःख है। समझे ? अभी उस दुःख की खबर है ? वहाँ तुम्हारी डोकरीने क्या किया था। 'आकडिया' में ? (याद नहीं), इसलिए नहीं था ? ऐसे अनादि का यह है। इसकी माँ कहे और याद करे; इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं और याद करता है, ऐसे इसे याद कराते हैं। कहो, भाई ! आहा...हा...!

कहते हैं - ऐसे दुःख बहुत सहन किये। '**अति संक्लेशभाव तैं भर्यो।**' तिर्यंच की बात है। समझ में आता है ? बहुत संक्लेश। देखो ! इसका दृष्टान्त दिया है। देखो ! इसका दृष्टान्त दिया है। देखो ! यहाँ गाय। गाय का। एक गाय है और मरने पर उसे (खाते हैं।) यहाँ एक गाय थी। हम (एक भाई के) मकान में थे। उसमें हुआ था उसे वह। क्या कहलाता है यह ? हड़कवा। गाय

बड़ी, हडकवा लो ! दो दिन फिरा करे। हमारे तो ऊँचा मकान और नीचे फिरती थी। साथ ही उसके पास एक बड़ है वहाँ गिरी और फीर पक्षी और कुत्ते आकर काटे/चाटे और चीखे/ चिल्लाए मर गयी। दो दिन नहीं पानी, नहीं आहार - ऐसे दुःख अनन्त बार (सह किये।) यहाँ तो संयोग से वर्णन करते हैं। भित... भित संयोग में इसकी दुःख की एकता कैसी होती है - ऐसा बताकर, मिथ्यादर्शन के फलरूप ऐसे (दुःख) भोगने पड़े है - यह कहते हैं। आहा...हा...! कहो समझ में आया ?

संक्लेश से मरा। वह गाय, में सब देखो न बहुत। ऊपर से ये चूहे होज में गिरते हैं। यह होता है न ? मिल का धगधगता गर्म पानी होवे, उसमें कबूतर पडते हैं, कबूतर बिचारे। बड़े सर्प निकले हों, वे गिरते हैं, वे जल जाए ऐसे। हाय... हाय.. ... ! ऐसे भव तिर्यंच में संक्लेशभाव से बहुत किये। वहाँ से मरकर '**घोर (स्वभ्रसागर में)...**' लो ! वहाँ से - तिर्यंच में से नरक में गया। ऐसी शैली ली है। वह पशु मरकर वहाँ से ऐसे बुरे परिणाम किये। बुरे-बुरे कि मरकर नरक में गया। '**भयानक नरकरूपी समुद्र में जा गिरा। स्वभ्रसागर -**' उसे उपमा दी - नरकरूपी समुद्र में जा गिरा। पशु में से निकलकर नारकी हुआ।

एक भेड़ को तो पीठ में से लोहे का धगधगता सरिया डालकर और मुँह में निकाला था। जीवित भेड़ ! पीठ में से धगधगता सरिया डालकर, कपड़े से पकड़कर ऐसे पीठ में से मुँह से (बाहर निकाला।) वह पीड़ा कैसी होगी ? मूल मे तो एकता (एकत्वबुद्धि) की पीड़ा है, परन्तु शास्त्रकार संयोग की स्थिति का दूसरा क्या वर्णन करे ? निमित्त से, संयोग से, व्यहार से सब वर्णन करते हैं। वह दशा भूल गया है। भगवान (आत्मा) आन्दकन्द प्रभु है। जिसकी नजरो में अतीन्द्रिय आनन्द आवे - ऐसा यह आत्मा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की श्रद्धा और ज्ञान को भूलकर ऐसे दुःख अनन्त बार सहन किये है। समझ में आया ? '**बड़ी कठिनाई से पार किया जा सके - ऐसे समुद्र समान घोर नरक में जा पहुँचा।**' गया नरक में।

नरकों की भूमि और नदियों का वर्णन

तहां भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहां राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी।।९।।

अन्वयार्थ :- (तहां) उस नरक में (भूमि) धरती (परसत) स्पर्श करनेसे (इसो) ऐसा (दुख) दुःख होता है [कि] (सहस) हजारों (बिच्छू) बिच्छू (डसे) डंक मारे तथापि (नहिं तिसो) उसके समान दुःख नहीं होता; [तथा] (तहां) वहाँ [नरकमें] (राध-श्रोणितवाहिनी) रक्त और मवाद बहानेवाली नदी [वैतरणी नामकी नदी] है जो (कृमि-कुल-कलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ोंसे भरी है तथा (देह-दाहिनी) शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थ :- उन नरकों की भूमिका स्पर्श मात्र करने से नारकियों को इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छू एक साथ डंक मारे तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरक में रक्त, मवाद और छोटे-छोटे कीड़ोंसे भरी हुई, शरीर में दाह उत्पत करनेवाली एक वैतरणी नदी है, जिसमें शांतिलाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं, किन्तु वहां तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।

(जीवों को दुःख होनेका मूल कारण तो उनकी शरीर के साथ ममता तथा एकत्वबुद्धि ही है; धरती का स्पर्श आदि तो मात्र निमित्तकारण है।) ।।९।।

अब, '**नरक की भूमि और नदी के दुःख**' का वर्णन करते हैं। लो ! अब यह कठोर बात वापिस (आई।)

तहां भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहां राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी।।९।।

देखो ! यहाँ दृष्टान्त दिया है। देखो यह ! हजारों बिच्छु लगायें है, देखो ! एक जहरीला बिच्छु अच्छी तरह से काटे तो शोर मचाने लगा और तुरन्त दो घड़ी मे मर जाए। ऐसे वहाँ नरक में दूसरे बिच्छु बहुत कठोर करके और पूरे शरीर को (चिपकते हैं।) देखो ! यह चित्र किया। देखो यह ! एक तो नारकी नपुसंक है। यह सब माँस खाये, शराब पीये, शिकारकरे, सब लम्पटी वे मरकर वहाँ नरक में अनन्तबार गये। प्रत्येक जीव वहाँ नरक में अनन्तबार उत्पन्न हुआ है। हजारों बिच्छु उसे काटे, उसका दुःख न हो, उससे अनन्तगुना दुःख वहाँ है। आहा...हा...! कहो, भाई ! क्या है यहाँ तुम्हें ?

'उस नरक में धरती स्पर्श करने से ऐसा दुःख होता है...' जमीन को स्पर्श करने से, हाँ ! स्पर्श करने से अनन्तगुना दुःख होता है, मानों हजारों बिच्छु काटते हों। हजारो कठोर झहरीले बिच्छु ऐसे डंक मारे तो हाय... हाय... ! ऐसे एक-एक जगह दौड़े ! देखो ! यह सब दृष्टान्त दिये हैं। चारों ओर बिच्छु... बिच्छु... बिच्छु...!

आत्मा अनादिकाल से परिभ्रमण में रहा है, मोक्ष में तो गया नहीं। मोक्ष अर्थात् अपनी शुद्धता को तो प्राप्त नहीं हुआ। तब वह रहा कहाँ ? वह वर्णन पहले करते हैं। समझ में आया ? क्यों रहा ? कि मिथ्यादर्शन के कारण। मूल कारण तो मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? इसलिए फिर उसका क्रमवर्णन करेंगे। मिथ्यादर्शन, कुदेव-कुगुरु गृहीत-अगृहीत का; फिर समकित का; फिर ज्ञान का; फिर चारित्र का। ऐसा करके 'छहढाला' पूरी करेंगे। बारह भावना है। समझ में आया ?

नरक में भूमि का स्पर्श ऐसा कठोर-कठोर है। यह कोई डाभ (कुश) का अथवा गोखुर का

एक काँटा जरा लगे, चूभे, वहाँ इसे ऐसा हो जाता है। उससे अनन्तगुनी तीखी नरक की भूमि है। ऐसी तीखी जमीन है और जो नारकी जीव हैं... यहाँ से मरकर जहाँ नारकी उत्पन्न होते हैं, जो उनके उपजने का स्थान है, वे ऐसे उलटे हैं, ऐसे। ऐसे उलटे हैं। वहाँ उपजता है, वहाँ ऐसा नीचे गिरता है। वह उपजता है, वहाँ भी तीक्ष्ण शस्त्र भरे हैं, अन्दर से कठोर हैं, उसमें उपजता है। हाय.. हाय...! बिल में उपजा साथ नीचे नरक में। नीचे छत्रीस प्रकार के शस्त्र होते हैं। ऊँचे शस्त्र आते हैं न ? ऊँचे बहुत प्रकार के कठोर, तीक्ष्ण शस्त्रों को स्पर्श करे, वहाँ कट जाए ऐसे। उसमें नारकी एकदम ऊपर से नीचे गिरता है। कहो, समझ में आया ? यह राजा, महाराज माँस खानेवाले और ये सब लम्पटी होते है न ? माँस, शराब खानेवाले, शहद खानेवाले - ये सब मरकर वहाँ नरक के मेहमान होते हैं। है ? आहा...हा...!

अनादि का है। यह आत्मा कहाँ नया है ? शरीर ऐसे नये-नये धारण किये हैं। अनादि से इसने ऐसे भान बिना नरक में ऐसे दुःख सहन किये कहते हैं। उसमेंसे काटा जाना, छेदाजाना, भेदाजाना, आहा...हा...! फिर चिल्लाता है। ऐसे करते हजारों बिच्छु डंक मारते तो उसके जैसा दुःख नहीं होता। उसके जैसा दुःख नहीं होता अर्थात् क्या ? उन हजारों बिच्छुओं के दुःख की अपेक्षा भी यह दुःख बहुत है। ऐसा कहते हैं। वहाँ इतना अधिक दुःख है कि उन हजारों बिच्छुओं की तो उसके समक्ष गिनती नहीं, उतना दुःख नरक में है। परन्तु आनन्द को भूलकर तीव्र मिथ्यात्व का सेवन किया हो; जितना आनंद, सहजानन्द प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि का भान नहीं होता, उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए अनन्त विपरीतता की है, विपरीतता; इसलिए उसके दुःख में अनन्तपना ही अन्दर में आता है। स्वयं आनन्दमूर्ति है, उससे विरुद्ध एक विकल्प राग, देह, वाणी, मन इनका अभिमान- यह हमारे, यह हम इस मिथ्याश्रद्धा में इसने ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। समझ में आया ?

उसमें से (उसे ऐसा लगता है कि) लाओ न नदी (वेतरणी नदी) में जाऊँ। ऐसा विचार होता है। बहुत दुःख लगता है, बहुत दुःख लगता है। हाय.. हाय..! चिल्लाता है। अरे..रे..! यह दुःख वह क्या होगा ? यहाँ बड़ा राजा हो, महल में सोता है, मखमलकी सय्या में से वहाँ जाकर पड़ता है नीचे। समझ में आया ? बड़े मील का मालिक अरबोंपति हो, महा करोड़पति हो, महा

अधर्म किया हो, अनेक मेंढक मारे हों, अनेक माँसादि खाते हो, शराब पीते हो, गुप्तपने मछलियां खाता हो। आहा...हा...!

'राजकोट' में एक बनिया कहता था - महाराज! कितने ही बनिये ऐसे है कि बाहर मूर्गी लेकर (ऐसा कहते हैं) हलुआँ करना, हाँ ! मुर्गी का अच्छा हलुआँ करना। बनिया कहता था। आहा...हा...! फिर ऐसे रगड़ना हाँ! कहो, ऐसे पाप, बहुतगलत कार्य! मुर्गे को मारकर सुज़ी के हलवे जैसा ? घर में स्त्री तो करने दे नहीं, बनिये के घर में, इसलिए दूसरे के यहाँ एकदम बाहर करे। अब ऐसे काले कारनामे करे और मरकर नरक जाए। वह कुछ कीमत भरकर जाता है न ? या मुफ्त में जाता है ? हैं ? किंमत देकर जाता है। आहा...हा...!

यहाँ एक रस की पीड़ा हुई हो, रस होता है न ? रस। क्या कहते हैं ? रस की पीड़ा। वह पीड़ा बिच्छु काटे ऐसी, हाँ! वह पीड़ा बहता न हो और ऐसी की ऐसी क्या कहलाता है उसका नाम ? वह पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... वे कहते थे। वह पीड़ा बिच्छु की पीड़ा से अधिक है। पीठ में नीचे निकलते तो खून जाए नहीं, पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... उसमें से। नरक की तो उससे अनन्तगुनी है। आहा...हा...! किसका मान करना और किससे अधिकपने होना, मनाना ? समझ

में आया ?

उसमें बहुत दुःख होता है, (इसलिए) '**(राध-श्रोणितवाहिनी) रक्त और भवाद बहानेवाली...**' वेतरणी नदी। यह वास्तव मैं तो नारकी वैतरणी नदी का रूप धारण करते हैं। नरक के दूसरे नारकी होवे है, वे शरीर का वैतरणी नदी का प्रवाहीरूप धारण करते हैं। उसमें अन्य दूसरे आकर पड़ते हैं। समझ में आया ? अन्दर ही अन्दर नारकी ही ऐसा करते हैं। '**रक्त और मवाद बहानेवाली (एक वैतरणी नामक नदी है) जो (क्रमिकुलकलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ों...**' मगर-मच्छ, क्षुद्र कीड़े वे भी नारकी होते हैं, हाँ ! अन्दर, दूसरे नारकी ऐसे होते हैं। वह (अन्य) नारकी आता है (तो) काटता हैं, टुकड़े करते हैं, छेदते है। हाय... हाय...! बाहर से यहाँ आया, मानों नदी है, इसलिए शीतलता होगी...! वहां तो ... आहा...हा...! पुकार... पुकार... अरे..रे...! कहाँ जाना ? '**कीड़ों से भरी है तथा शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली है।**' लो ! समझ में आया ? शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली ऐसी नदी महादुःख (उत्पन्न करनेवाली है।)

'**भावार्थ : उन नरकों की भूमि का स्पर्शमात्र करने से नारकियों को इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छु एक साथ डंक मारे तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरक में रक्त, भवाद और छोटे-छोटे कीड़ों से भरी हुई, शरीर में दाह उत्पन् करनेवाली एक वैतरणी नदी है।**' यह सब आचार्यों ने कहा है, हाँ ! भगवान ने देखा हुआ और सुना हुआ ऐसा कहा है। '**जिसमें शान्तिलाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं, किन्तु वहाँ तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।**' मूलतो एकत्वबुद्धि का (दुःख) है। देखो ! अन्दर लिखा है। बात तो सब संयोग से बतायी जाती है न ? खाना, खाता है, पीता है, टुकड़ा करते हैं, काट खाते हैं - यह सब संयोग है। वस्तु तो प्रभु आत्मा अपनी ज्ञान जाति को, आनन्द जाति को भूलकर देह-शरीर, वाणी, पुण्य-पाप के विकल्पों में एकत्व होता है, उसकी तारतम्यता के दुःखो का यह सब वर्णन है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! अब इसमें बहुत तड़फड़ाता हो, वहाँ से निकलकर कहते हैं बाहर आवे। वैतरणी, ठीक ! उसमें रूप धारण किया है।

नरकों के सेमलवृक्ष तथा सर्दी-गर्मीके दु:ख

सेमर तरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र;
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।

अन्वयार्थ :- (तत्र) उन नरकोंमें (सिपत्र ज्यों) तलवार की धारकी भाँति तीक्ष्ण (दलजुत) पत्तोंवाले (सेमर तरु) सेमलके वृक्ष [हैं जो] (देह) शरीर को (असि ज्यों) तलवार की भाँति (विदारैं) चीर देते हैं, [और] (तत्र) वहाँ [उस नरकमें] (ऐसी) ऐसी (शीत) ठण्ड [और] (उष्णता) गरमी (थाय) होती है [कि] (मेरु समान) मेरु पर्वतके बराबर (लोह) लोहेका गोला भी (गलि) गल (जाय) सकता है।

भावार्थ :- उन नरकोंमें अनेक सेमलके वृक्ष हैं, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दु:खी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर उस वृक्ष के नीचे जाता है, तब उस वृक्ष के पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं। उन नरकों में इतनी गरमी होती है के एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका पिण्ड भी पिघल* जाता है; तथा इतनी ठण्ड पड़ती है कि सुमेरु के समान लोहेका गोला भी गल+ जाता है। जिस प्रकार लोकमें कहा जाता है कि ठण्डके मारे हाथ अकड़ गये, हिम गिरनेसे वृक्ष या अनाज जल गया आदि। यानी अतिशय प्रचंड।।१०।।

---

* मेरु सम लोहपिंडं, सीदं उण्हे विलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे मयणखंडं वा ।।

* अर्थ :- जिस प्रकार गर्मीमें मोम पिघल जाता है (बहने लगता है) उसी प्रकार सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका गोला गर्म बिलमें फेंका जाय तो वह बीचमें ही पिघलने लगता है।

X मेरुसम लोहपिंडं, उण्हं सीदे विलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे लवणखण्डं वा ।।

X तथा जिस प्रकार ठण्ड और बरसातमें नमक गल जाता है (पानी बन जाता है) उसी प्रकार सुमेरु के बराबर लोहेका गोला ठण्डे बिलमें फेंका जाये तो बीचमें ही गलने लगता है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरककी भूमि गर्म है; पाँचवे नरक में ऊपर की भूमि गर्म तथा नीचे तीसरा भाग ठण्डा है। छठवें तथा सातवें नरककी भूमि ठण्डी है।

दसवीं -

सेमर तरुदलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र;
मेरुसमान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।

यह भी शास्त्र का पाठ है, हों ! उस नरक में जीव ने अनन्तबार मिथ्यादर्शन के कारण नरक की योनि धारण की है। कहते हैं '**तलवार की धार की भाँति तीक्ष्ण पत्तोंवाले सेमल के वृक्ष...**' उसके शरीर को चीर दिया। सिर पर पड़ा, नीचे जरा शीतलता लेने जाए, नदी में से नीकलकर नारकी जहाँ-तहाँ ऊपर से तलवार की धार जैसे पत्ते (पड़ते हैं।) पच्चीस-पचास मण के लोहे के गोले जैसे उसके फल होते हैं, (वे) सिर पर पड़ते हैं। समझ में आया ? वे तलवार की तरह चीर देते हैं।

'**(उस नरक में) ऐसी सर्दी...**' एसी सर्दी होती है (कि) एक लाख योजन का मेरुजितना गोला हो, यह मेरुपर्वत हे न ? एक लाख योजन का मेरुपर्वत है। एक योजन दो हजार कोष का, ऐसा लाख योजन का मेरु; ऐसा एक लोहे का गोला करे, ऐसी सर्दी वहाँ हे कि उस गोले के रजकण एक क्षण में बिखर जाएँ। मेरु जितना लोहेका गोला; जिसकी सर्दी में वह गोला डाले, अभी तो ऐसे डाले, नीचे न पहुँचे, वहाँ उसके सभी रजकण बिखर जाएँ, गल जाए, पानी की तरह समाप्त हो जाए। समझ में आया ? आहा...हा...! उसमें सागरोपम रहना होता है। भूल गया, परन्तु वह नहीं है ? भाई ! आहा...हा...! एक रात्रि कठिनता से जाए तो इसे कैसा लगता है ? अरे...! कोई नहीं और रात्रि ऐसी कठिनाई में गयी, तड़फड़ाहट मार-मारकर गयी। प्रातःकाल निकाला - यह मेरा मन जानता है - ऐसा कितने ही कहते है न ? भाई !

एकबार मास्तर कहते थे, हाँ ! मास्टर अकेले रहते थे। एकबार कहते थे। पूरी रात्रि ऐसा होता है। सब सोते हों, सोते हों और जागे तो भी उसे करे क्या परन्तु अन्दर ? यह मनुष्य की बात तो साधारण है। यहाँ तो नरक में लोहे का गोला ... मेरुजितना एक करे, उस उष्णता में डाले तो जैसे घी का पीण्ड पिघल जाता है, ऐसे उसकी गर्मी में पिघल जाता है। (मेरु पर्वत की) ऊँचाई जितना पिण्ड भी पिघल जाए '**इतनी सर्दी पड़ती है कि सुमेरुके समान लोहे का गोला भी पिघल जाता है।**'

'**जिस प्रकार लोक में कहा जाता है कि ठण्ड के मारे हाथ अकड़ गये...**' नहीं कहते ? ऐसा वहाँ शरीर सर्दी के कारण अकड़ जाता है और '**हिम गिरने से वृक्ष या अनाज जल**' जाता है। हिमगिरने पर अनाज भी जल जाता है न ! हिम पड़े तो यह बेंगन बहुत जलती है। हिम पडे न ? बैगन... बैगन सब सड़... सड़... सड़... हो जाते हैं। इतनी सर्दी नरक में है। दीमक के शरीर... जैसे धूप लगे तो तड़ - तड़ हो जाए, ऐसे ये वहाँ के नारकी के शरीर सड़... सड़... हो जाते हैं, टुकड़े इकट्ठे हो जाते हैं। ओ...हो...हो...! यह भगवान याद कराते हैं। आहा...हा...! मिथ्यादर्शन के फल की बात की। मिथ्याश्रद्धा - गृहित मिथ्यात्व या अगृहित मिथ्यात्व; गृहीत अज्ञान या अगृहीत अज्ञान और मिथ्याचारित्र ऐसे सेवन किये अनन्तकाल में। किसी दिन इसने सम्यग्दर्शन क्या है ? कैसे प्राप्त होता है ? उसकी विधि भी कभी नहीं पकड़ी। आहा...हा...!

कहते हैं - '**अनेक सेमर के वृक्ष है, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दु:खी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर उस वृक्ष के नीचे जाता है, तब उसे वृक्ष के पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं।**' इतनी गर्मी कि लाख योजन का गोला भी गल जाता है। लो ! '**अतिशय प्रचण्ड ठण्ड के कारण लोहे में चिकनाहट कम हो जाने से उसका स्कन्ध बिखर जाता है।**' इतनी पीड़ा... वह सर्दी की। अनन्त उष्णता, अनन्त सर्दी। देखो न ! यह हिम पड़ती है तो ये पूरे वृक्ष जल जाते है। ऐसी सर्दी की पीड़ा, यह शरीर सब ऐसे मुरदे जैसे रहते हैं। समझ में आया ? वर्षा में नमक पीघल जाए - ऐसे मेरु समान लोहे का गोला पिघल जाता है। यह दसवीं (गाथा पूरी) हुई।

नरकों में अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यास का दु:ख

तिल-तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;
सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।।११।।

अन्वयार्थ :- [उन नरकों में नारकी जीव एक-दूसरेके] (देह के) शरीर के (तिल-तिल) तिल्लीके दाने बराबर (खण्ड) टुकड़े (करैं) कर डालते है [और] (प्रचण्ड) अत्यन्त (दुष्ट) क्रूर (असुर) असुरकुमार जातिके देव [एक दुसरे के साथ] (भिड़ावै) लड़ाते हैं; [तथा इतनी] (प्यास) प्यास [लगती है कि] (सिन्धुनीर तैं) समुद्रभर पानी पीनेसे भी (न जाय) शांत न हो, (तो पण) तथापि एक बूँद एक बूँद भी (न लहाय) नहीं मिलती।

भावार्थ :- उन नरकोंमें नारकी एक-दूसरे का दु:ख देते रहते हैं अर्थात् कुत्तों की भाँति हमेशा आपसमें लड़ते रहते हैं। वे एक-दूसरेके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, तथापि उनके शरीर बारम्बार पारेकी* भाँति बिखरकर फिर जुड़ जाते हैं। संक्लिष्ट परिणामवाले अम्बरीष आदि जातिके असुरकुमार देव पहले, दुसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर वहाँ की तीव्र यातनाओंमे पड़े हुए नारकियोंको अपने अवधिज्ञानके द्वारा परस्पर बैर बतलाकर अथवा क्रूरता और कुतूहलसे अपसमें लड़ाते हैं और स्वयं आनन्दित होते हैं। उन नारकी जीवों को इतनी महान प्यास लगती है कि मिल जाये तो पूरे महासागर का जल भी पी जायें तथापि तृषा शांत न हो; किन्तु पीनेके लिये जल की एक बूँद भी नहीं मिलती ।।११।।

'नरक में अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यास का दु:ख।' देखो ! यहाँ काटते हैं, देखो ! है न ? ग्यारह आती है न यह ? वृक्ष और यह सब किया है, हाँ ! टुकड़े टुकड़े करते हैं। देखो ! हाथ कट जाता है। वह उपर से पड़ता है और सेमर के पत्ते ? कन्धा कट जाता है, पेर कट जाता है, आधा सिर कट जाता है, नाक कट जाती है। एक

* पारा एक धातु के रस समान होता है। धरती पर फेंकने से वह अमुक अंशमें छार-छार होकर बिखर जाता है। और पुन: एकत्रित कर देनेसे एक पिण्डरूप बन जाता है।

तो श्रद्धा कराते है कि ऐसा अनन्तबार हुआ है। यह कल्पित बात नहीं है। तुझे ऐसा अनन्तबार हुआ, बापा ! तू भूल गया, इसलिए कही वस्तु चली जाएगी ? अनादिका आत्मा है।

मुमुक्षु :- रविवार...

उत्तर :- नरक में एक समय का रविवार नहीं आता। अनन्त-अनन्त दुःख ! इसने निरन्तर खोटे परिणाम किये, निरन्तर खोटे भाव किये। उसके फल निरन्तर ही होते हैं। समझ में आया ?

तिल-तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;
सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।।११।।

ऐसा कहाँ लीखा है। यहाँ नारकी किये है न ? मार-काट करते है, देखो ! हाथ कट गया है, नारकी-नारकी अन्दर ही अन्दर; वह असुरदेव खड़ा है। फिर नारकी नारकी को (मारते हैं।) वह उसका सिर काटता है, उसका हाथ काटता है, उसका वह काट देता है। है ? यहाँ होता हे न मनुष्य को ? मनुष्य-मनुष्य में नहीं होता ? काट देते हैं, चीर देते हैं। ओ...हो...हो...!

संवत् १९९४ में एक ब्राह्मण था। (एक भाई) कहते थे - काच्छियों और ब्राह्मणो में खेत के लिये बड़ी लड़ाई हुई। काछी और ब्राह्मण बड़े लट्ठ जैसे हों ! तेरह चोट मारी सब टुकडे हाँ ! घाव हुआ घाव ! खून तो ऐसा बहता जाए। बाजार में निकला तो ऐसा खून का प्रवाह निकले बलशाली व्यक्ति न, ऐसे का ऐसा वहाँ से घर जाकर फिर पड़ा। लहुलुहान... लहुलुहान...! यह तो अनन्तवें भाग की पीड़ा है। नरक में तो बापू ! उससे अनन्तगुनी भाई ! अनन्तानुबन्धी की कषाय तीव्र हे न ? हैं ? अनन्तानुबन्धी का क्रोध, अनन्तानुबन्धी का लोभ आहा...हा...! मिथ्यात्वरूपी

अनन्त, उसे अनुबन्ध करके जो विकार उत्पत करता है, (उसके फल में) उसके संयोग में चीखकर पुकारता है; एक पल का भी सुख नहीं है।

धर्म प्राप्त करना दुर्लभ है। ऐसी-ऐसी गति में भटकते हुए यह धर्म कुछ पाया नहीं। आचार्य महाराज ने 'बोधिदुर्लभ भावना' में यह सब वर्णन किया है। 'स्वामी कार्तिकेय' ! धर्म, यह कहीं लौकिकमें साधारण मानते हैं - ऐसी चीज़ नहीं है। अलौकिक आत्मा अन्दर, भगवान आत्मा, अकेला ज्ञान का सागर प्रभु है। जैसे यह दुःख के सागर में नरक में भटका है, वैसा ही भगवान अन्दर ज्ञान का सागर है। उस ज्ञान के सागर में... उसमें कहीं आया था न ! सवेरे का याद आया था 'परखे गुण की थैली' - ऐसा कहीं आया था, हाँ ! कही आया था। सवेरे फिर ऐसा पाठ आया था - 'परखे गुण की थैली'। कहीं आया अवश्य था। भजन में कहीं, चाहे जहाँ क्या पता पड़े बहुत जगह होता है। यह गुण की थैली आत्मा। रुपयों की थैली भरी होती है या नहीं ? चावल की थैली, रुपयों की थैली। ऐसे ही यह गुण की थैली। अकेले अनन्त रत्न - ज्ञान, दर्शन, आनन्द की थैली आत्मा है। 'परखे' (अर्थात्) उसकी परीक्षा करे तो उसे सम्यग्दर्शन होवे तो उसके जन्म-मरण मिटें तो यह दुःख मिटे, वरना तो मिटना नहीं है। कहो, समझ में आया ? 'परखे गुण की थैली। यह परीक्षा कर, बापा ! ऐसा तो तूने भान बिना सब किया। दुनिया की परीक्षा की। हीरा, माणेक कि की और वह की परन्तु आत्मा की परीक्षा नहीं की।

कहते हैं - '**(उस नरक में नारकी जीव एक-दूसरे के) शरीर को -**' देखो ! '**शरीर के तिल के दाने जैसे टूकड़े कर देते हैं...**' टूकड़े... टूकड़े... टूकड़े... समझ में आया ? एकबार एक व्यक्ति 'मुम्बई' में रास्ते में जा रहा था। वहाँ एक व्यक्ति भुजिया करता था। कसाई... कसाई...! वह पच्चीस, पचास, सो मुर्गी के अण्डे ऐसे-ऐसे बच्चे छोटे; उन्हे जरा ऐसा आटा डाले तो नजदीक आवे। पूरा हाथ में लेकर उसकी टांगे तोड दी, चने का आटा लपेटकर एक बच्चे का एक भुजिया (बनाता था।) एक व्यक्ति निकला। (उसने देखा) यह क्या करता है ? एक-एक इतना बच्चा; अण्डा टूट गया और मुर्गी का इतना बारीक बच्चा; पैर तोड़ दे। पूरा लेकर चने के आटे में तल डाले। कीमत ले रूपये का सेर। यह तो पहले की बात है हाँ ! पचास-साठ वर्ष पहले की। लो ! यह तिर्यंच के ऐसे तो प्रत्यक्ष दुःख है। वह आगे कहेंगे हाँ ! वह तो तुम प्रत्यक्ष देखते

हो। समझ में आया ? भूल जाता है।

(यहाँ कहते हैं) तिल-तिल जितने टूकड़े करते हैं। '**अत्यन्त क्रूर असुरकुमारजाति के देव, (एक-दूसरे के साथ भिड़ाते हैं।)**' देखो ! आया है, भिड़ाते हैं, देखो ! यहाँ काठी फुरसत में होते है न ? शाम को बैठकर फिर पाड़ों को लड़ाते हैं, मुर्गों को लड़ाते हैं; मुर्गे लहुलुहान हो जाते हैं, पाड़ो होते हैं और फिर बैठे-बैठे देखते हैं। ऐसे यह असुरकुमार भी नारकियों को परस्पर भिड़ाते हैं; बैठे-बैठे देखते हैं। काठी समझते हैं ? काठी होती है न ? ऐसे फुरसत से बैठते हैं, कुछ काम नहीं। पाड़ा लाकर फिर सिर में मारते हैं। लहुलुहान एक-दूसरे, हों ! अर्धमृतक जैसे हो जाते हैं। देखेत हैं। ऐसे ही नारकियों को परस्पर लड़ाकर असुरकुमार भिड़ाते हैं, अन्दर पीड़ा करते हैं। आहा...हा...! असुरकुमार एक-दूसरे को लड़ाते हैं।

'**इतनी प्यास (लगती है कि) समुद्रभर पानी पीने से भी शान्त नहीं हो सकती...**' सम्पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य योजन में पानी भरा है। अन्तिम समुद्र है न ? असंख्य योजन में मीठा पानी भरा है, हाँ ! उसे दे तो कड़ाई में एक बिन्दु पड़े - इतनी प्यास लगती है। इतना पानी (पीने की प्यास लगती है) परन्तु एक बूँद नहीं मिलता। प्यास इतनी कि पूरा समुद्र देवे तो भी बुझे नहीं। यह अतिशयोक्ति होगी ? कारण है, प्रभु ! तेरे स्वरूप में अनन्त शान्ति, आनन्द है; उससे विरुद्ध पड़ा हुआ कषायभाव, ऐसा तीव्र, ऐसा तीव्र की जिसकी तृषा के दुःखों का (पार नहीं है)। तृषा तो संयोग से बात की है परन्तु उसमें इतनी तृषा और इतने ममता के परिणाम हुए हैं। हाय... हाय... अरे...! यह पानी बिना कैसे निकाला ? ३३ सागर निकाले। कितने ?

एक सागरोपम में दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम में असंख्यात अरबों वर्ष ! अब यह तो इतना है वहाँ, ३३ सागर अर्थात् (क्या) ? ऐसे तो अनन्त तेतीस सागर एक नरक में किये। समझ में आया ? और एक नरक में भी जाए और फिर वापस जाए - ऐसे लगातार जाए तो पहले नरक में आठ बार जाए, भाई ! समझ में आया ? पहला नरक है न ? वहाँ से निकलकर दूसरी बार, तीसरी बार लगातार जाए तो पहले नरक में आठ बार जाए। दूसरे नरक में लगातार सात बार जाए। तीसरे में छहबार; चौथे में पाँच बार; पाँचवे में चार बार, समझ में आया ? छठवें

में तीन बार और सातवे में दो बार। सातवें नरक का नारकी लगातार दो बार जाता है। वें तीस सागर के दुःख भोगकर फिर पशु होता है, फिर मरकर वहाँ जाता है। समझ में आया ? भगवान के ज्ञान में मित्यादृष्टि के ऐसे भव उसने अनन्तबार किये, (यह जाना गया है।)

पहले नरक में से कठिनाईसे एक सागर से निकले, वहाँ फिर दूसरी बार जाए। एक अन्तर्मूहूर्त का पशु आदि का भव करे, हाँ ! भाई ! पहले नरक में एक सागरोपम के दुःख। जघन्य दस हजार वर्ष; उत्कृष्ट एक सागर; जिसकी दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम की स्थिति। जिसमें दुःख की इतनी पीड़ा कि जिसमें सर्दी (इतनी) कि एक मेरूपर्वत (जितना) लोहे का गोला गल जाए। उसमें इसने एक सागर व्यतीत किया। वहाँ से निकलकर अन्तर्मुहूर्त का कोई तिर्यंच हुआ। समझ में आया ? मच्छ। अन्तर्मुहूर्तमें वापस वहाँ आया। ऐसे-ऐसे लगातारपहले नरक में आठभव (किये) समझ में आया ? ऐसे दूसरे नरक की तीन सागर की स्थिति है न ? सात भव लगातार (करे), वहाँ से मरकर पशु और पशु में से वहाँ आवे, मनुष्य में आवे और मनुष्य मरकर वहाँ जाए। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो कहते हैं। बाकी समझ ले, आत्मा का ज्ञान कर, आत्मा की कींमत कर; दूसरी कीमत छोड़ दे, उसके लिए तो यह बात चलती है। शरीर मेरा और पैसा हमारा और धूल हमारी... अभी तो आगे कहेगें। समझ में आया ? किसी को कुछ अधिक पैसे हो गये हों तो उसकी जलन, अपने को कम होवे तो उसकी जलन। किसी का पुत्र होवे और उसे अच्छा होवे तो उसकी जलन, अपना पुत्र खराब होवे तो उसकी जलन। यह तो जलन की कितनी बात करना इसे ? भाई ! बाप लिखे कि भई ! ऐसा मत करो तो यह कोई माने ? लड़के स्वतन्त्र है या नहीं ? पाप करने में।

मुमुक्षु :- कहा करते है न ?

उत्तर :- कौन कहा करता था ? कोई नहीं करता। यह तो उसे ठीक लगे तो मानता है। तुम्हें मानता है वह ?

कहते हैं - ओ...हो...हो...! यह नरक के दुःख ! आहा...हा...! आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एक - ऐसे एक बार नहीं; ऐसे नारकी के भव अनन्तबार किये और अनन्तबार

पशु में आकर, मनुष्य में आकर वहाँ गया। भाई ! परन्तु भूल गया। नहीं ? यह बंगला देखकर ! आहा...हा...! भाई ! परन्तु तू है या नहीं ? है तो अनादि का है या नया है ? यदि अनादि का है तो कहीं रहा है या नहीं ? कहाँ रहा है ? पहली बात तो यह लिखी है यहाँ तो। मिथ्यादर्शन के कारण कहाँ रहा है ? रहा है या नहीं ? तू है या नहीं ? कहाँ रहा ? ऐसे नरक के अन्दर। आहा...हा...!

तिल-तिल जितने टुकड़े करते हैं। समझ में आया ? तथापि फिर वे टुकड़े टुकड़े हो जाए - ऐसा स्वभाव है या नहीं ? इकट्ठे हो जाए - ऐसा स्वभाव है। तृषा इतनी लगती है, तथापि एक बूँद पानी नहीं मिलता। असंख्यात समुद्रपानी के आवें तो भी तृषा बुझे नहीं, इतनी तृषा और मिले नहीं एक बूँद। कहो, यह बात सत्य होगी ? है ? भाई ! उसके (आत्मा के) आनन्द की अन्तता क्या कहना ! ऐसे ही उसके उल्टे दुःख की अनन्तता क्या कहना ? यहाँ तो ऐसा वर्णन करते हैं। समझ में आया ? अनन्तानुबन्धी शब्द का प्रयोग किया है न ? यह कारण है। भगवान आत्मा अनन्त शान्त और आनन्द का रस है, उसे भूलकर 'पर मेरे और मैं उनका' ऐसे अनन्त संसार की तीव्रता के कषाय परिणाम, उसकी तृषा के दुःख अनन्त ही होते हैं। आहा...हा...! परन्तु कुछ माप करना ही नहीं आता। क्या कहे ? समझ में आया ?

टुकड़े-टुकड़े करते हैं, वापस मिल जाते हैं। '**संक्लिष्ट परिणामवाले अम्ब और अम्बरीष...**' वहाँ के देव है, परमाधामी। जैसे यहाँ जेलर होते हैं न ? ऐसे वहाँ होते हैं। तीन नरक तक होते हैं, हाँ ! फिर तो नारकी परस्पर (लड़ते है।)... '**देव पहले, दूसरे, तीसरे नरक तक जाकर, वहाँ के तीव्र दुःखी नारकियों को, अपने अवधिज्ञान से वैर बताकर अथवा क्रूरता और कौतूहल से आपस में लड़ाते हैं...**' देख, यह तेरे बाप को ऐसा किया था, हाँ ! तुझे पता नहीं, तुझे भी पूर्व में मारा डाला था। देखो ! इसने तुझे ऐसा किया था, तुझे वहाँ कुएँ में धकेल दिया था, अग्नि में डालदिया था, सेक दिया था। देख यह। वह यह मनुष्य, देख यह नारकी - ऐसा करके असुरकुमार (उन्हें) आपस में लड़ाते हैं। कुत्तों की तरह.. जैसे कुत्ते इकट्ठे होते हैं, देखे न ? आहा...हा...! अक कुत्ती को आठ कुत्ते लगे थे, एक बार ऐसे, पींख डालते हैं, पींख डालते हैं कुत्ते। ऐसे कुत्तों की तरह नारकी परस्पर लिपते हैं।

'**स्वयं आनन्दित होते हैं।**' कौन ? वे देव प्रसन्न होते हैं। आहा...हा...! एकबार हमारे यहाँ

'चमार' गाँव है न ? 'पालेज' के पास, अभी 'नदीपुरा' नाम दिया है। 'पालेज' से चार-छह गाँवा दूर है। एक बार गये थे। एक गोरा (अंग्रेज) आया था। बारह हिरण... एक हिरण को ऐसे मारा; मारकर फिर ऐसे कूदा, ऐसा प्रसत... ऐसा प्रसत... ऐसा प्रसत... आहा...हा...! देखो न ! यह तो कुकर्म (करते हैं।) 'चमार' नाम का गाँव था। 'पालेज' से 'भरूच' के बीच आता है। वहाँ एक बार गये थे। वहाँ बात करते थे, एक गोरा आया था। हिरण को मारा। सब मुसलमान, पूरा गाँव मुसलमान। हिरण को मारा और ऐसे वह हिरण उछला तो स्वयं साथ में उछला। आहा...हा...! वह नारकी जैसा है या नहीं ? क्या है ? उससे तो अनन्तगुनी पीड़ा वहाँ नरक में है। ऐसे जीव वहाँ हर्षित होते हैं। कौन ? वे मारनेवाले, लड़ानेवाले। आहा...हा...!

'नारकी जीवों की इतनी प्यास लगती है कि यदि मिलजाए तो एक महासागर का पानी पी जाए...' मिलती नहीं एक बूँद। है न ? **'तो पण एक न बूँद लहाय।'** पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। आहा...हा...! इतनी प्यास ! यहाँ तो एक जरा (देर) इसे हो जाए तो तड़फड़ता है। कोई पानी नहीं लाता, इतना-इतना कहते है तो कोई सुनते नहीं हमारा वचन... (कल) तक तो सब पालते थे परन्तु अब यह जरा हमारा शरीर शिथिल पड़ गया, वहाँ हो रहा ? हम चले गये ? मर गये ? - ऐसा कहते हैं या नहीं ? कहते हैं, कहते हैं। मैंने तो दूसरों की बात की हैं, हाँ ! दूसरों की बात थी। ऐसा ज़रा दो-चार बार बुलावे और जवाब नहीं दिया (तो कहे) यह लो, हमारा वचन क्या है ? अभी तक तुम यह सब करते थे, और हम शिथिल पड़े, खटिया पर पड़े वहाँ ऐसा करते हो ? आहा...हा...! कहो, भाई ! अज्ञानी मूढ़ भ्रम में हैरान हो गया। भान नहीं है कि मैं मेरे कारण दुःखी हूँ; किसी (अन्य) के कारण नहीं। ऐसे नरक के अन्दर... एक बूँद भ नहीं मिलती। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह यहाँ भिड़ाते हैं, देखो ! यह क्या कहते हैं ? चिर-प्यास। पेट में प्यास लगी है न ? वह आकर भाला मारता है। भाला मारता है, देखो ! यहाँ काट डालता है, और यहाँ भाला मारता है। हाय... हाय.. मुझे प्यास लगी है तो वह (दूसरा) कहता है, ले ! लोहे का उबलता हुआ पानी (रस) पिलाता है, लोहे का उबलता पानी ! जैसे कथीर का होता है न कथीर ? गर्म-गर्म रस। अरे...! तेज़ाब ! उससे अनन्तगुना तेज तेज़ाब बनाकर वह इसके मुँह में पिलाता है। कहो, भाई ! है ! यह सब इसने भोगा है। यहाँ जरा हो वहाँ ऐं... ऐं... हो जाता है, बापा ! और सच्ची श्रद्धा

करनी हो तो कहे, अरे...! ऐसा होगा, अरे...! अमुक होगा, दुनिया रोकेगी, जगत रोकेगा, ऐसा रोकेगा। यह करने जाऊँगा तो अपने लड़को का विवाह नहीं करने देंगे, लड़कियां नहीं देंगे, अमुक नहीं रहेगा, अमुक नही देगा, अकेला हो जाऊँगा...! मर गया... आहा...हा...!

वह हाथ जोड़ता है, हाँ ! देखो ! ऐसे हाथ जोड़ता है। भाई साहब ! रहने दो न ! उसका मुँह ऐसा-ऐसा होगा ? भूत जैसा। असुरकुमार उसे भिड़ाता है, मारता है। लोहे का तीव्र (रस) करके (कहे) ले, पी यह। भाई साहब ! मुझे तो प्यास लगी है। यहाँ कहाँ पानी था अभी ? यह तो यह है। हाय... हाय... कहता है। ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं।

नरकोंकी भूख, आयु और मनुष्यगति प्राप्तिका वर्णन

तीनलोकको नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;
ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै।।१२।।

अन्वयार्थ :- [उन नरकोंमें इतनी भूख लगती है कि] (तीनलोक को) तीनों लोक का (नाज) अनाज (जु खाय) खा जाये तथापि (भूख) क्षुधा (न मिटै) शांत न हो। [परन्तु खाने के लिये] (कणा) एक दाना भी (न लहाय) नहीं मिलता। (ये दुख) ऐसे दुःख (बहुसागर लौं) अनेक सागरोपम काल तक (सहै) सहन करता है, (करम

जोगतैं) किसी विशेष शुभकर्मके योगसे (नरगति) मनुष्यगति (लहै) प्राप्त करता है।

भावार्थ :- उन नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है कि यदि मिलजाये तो तीनों लोक का अनाज एक साथ खा जायें तथापि क्षुधा शांत न हो; परन्तु वहाँ खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिलता। उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल (कमसे कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम काल तक) भोगता है। फिर किसी शुभ कर्मके उदय से यह जीव मनुष्यगति प्राप्त करता है।।१२।।

अब, '**नरक की भूख, नरक की आयु और मनुष्यगति प्राप्ति का वर्णन।**' अब, यहाँ से मनुष्य लेते हैं। देखो ? नरक में से मनुष्य, उस प्रकार शैली है। समझ में आया ? उसमें भी ऐसा है।

तीनलोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;
ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै।।१२।।

ऐसे दुःख जहाँ सहन किये। नरक में इतनी भूख लगती है (कि) तीन लोक के अनाज को '**खा जाए तो भी भूख नहीं मिटती।**' तीन लोक का अनाज कहा है। यदि पूरी दुनिया का अनाज पकाकर दे तो भी उसकी भूख नहीं मिटती। ओ...हो...हो...! सब अनन्तता की ही बात। बापू ! परन्तु तू अनन्त स्वरूप है न ! उससे विरुद्ध गया तो सब वेदन अनन्त ही होता है। समझ में आया ? संयोग भले थोड़ा हों, परन्तु अन्दर प्रतिकूलता की वेदना अनन्त ही होती है। आहा...हा...!

'**खाने को एक दाना भी नहीं मिलता...**' इतनी भूख की पीड़ा। तीन लोक का अनाज पकाकर दे तो स्वाहा (हो जाए।) अग्नि में जैसे कण डाले ऐसे स्वाहा हो जाए, परन्तु एक कण नहीं मिलता। '**ऐसा दुःख (बहुसागर लौं...)**' बहु सागर - ३३-३३ सागर। पहले नरक में एक सागर, तीन सागर, सात सागर - ऐसे करते-करते दस सत्रह, बाईस, तेतीस (सागर-इतने काल) तक सहन करता है। ऐसे करते हुए कभी कदाचित् ऐसा शुभभाव हो जाए, कोई विशेष शुभ परिणाम; समझे न ? उसके कारण नरगति - मनुष्यभव मिलता है।

अब, इस मनुष्यभव में भी मिथ्यादर्शन के कारण, आत्मज्ञान के बिना कैसे दुःख प्राप्त किये, उसका वर्णन करेंगे...। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १४, गुरुवार
दि. २०-१-१९६६, श्लोक १२ से १६, प्रवचन नं.४

१२वीं गाथा का भावार्थ। क्या चलता है यह ? अनादिकाल से मिथ्यादर्शन के जोर से मिथ्यादर्शन-मिथ्याश्रद्धा के कारण से आत्मा के स्वरूप के मान बिना, इसने अनन्तबार मिथ्यात्व का सेवन करके चार गति के दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। उसमें ग्रन्थकार ने निगोद से शुरुआत की है। आचार्यने (भी) निगोद से शुरु किया है। निगोद के अनन्त दुःख (सहन किये हैं।) वहाँ से निकलकर तिर्यंच (में आया), उसके भी अनन्त दुःख (सहन किये हैं)। यहाँ से तिर्यंच में से नारकी की बात है। अन्तिम बात है, देखो !

'**उन नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है...**' भूख इतनी है कि '**यदि मिल जाए तो तीनों लोकों का अनाज खा जाए... परन्तु वहाँ खाने के लिए एक दाना भी नहीं मिलता।**' यहाँ ज़रा पन्द्रह मिनिट, दस मिनिट देरी हो जाए तो थनगनाट हो जाए। भाई ! गर्म का ठण्डा हो जाए। वहाँ अनन्तबार ऐसे दुःख सहन किये हैं। एक अनाज का कण नहीं मिलता और तीन लोक का अनाज दो तो एक बिन्दु की तरह समाप्त हो जाए - इतनी भूख (लगती है।) आहा...हा...! यह अतिशयोक्ति नहीं है, हाँ ! कोई ऐसा माने (तो) यह अतिशयोक्ति नहीं है। मित्याश्रद्धा के फल में ऐसे (दुःख) अनन्तबार (सहन किये हैं।) अनादिकाल का (आत्मा) है। अनन्तबार दुःख सहन किये हैं। देखो !

'**उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल...**' शास्त्र तो ऐसा कहता है कि

पहले नरक की आयु दस हजार वर्ष है। वह दस हजार वर्ष (में) अनन्त बार उत्पन्न हुआ। पहले नरक में दस हजार वर्ष और एक समय की आयु में अनन्तबार उत्पन्न हुआ। समझ में आया ? ऐसे दस हजार वर्ष और दो समय में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, ऐसे तीन, चार, पाँच, छह, सात... संख्य, असंख्य अन्तर्मुहूर्त फिर उसके समय-समय में वह एक सागर की स्थिति के जितने समय होते हैं, उतने एक-एक समय में अनन्तबार नरक में उत्पन्न हुआ है। इसमें समझ में आया या नहीं ?

नरक के अन्दर एक दस हजार वर्ष का आयुष्य और सातवें का उत्कृष्ट (आयुष्य) तैतीस सागर हैं तो एक-एक समय के एक दश हजार (वर्ष) अनन्तबार; दश हजार वर्ष और एक समय अनन्तबार; चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, अन्तर्मुहूर्त ऐसे करते-करते पल्योपम और सागरोपम और ऐसे जाए तेंतीस (सागर)। उतने समय होते हैं, उन समय-समय की स्थिति में अनन्तबार परिभ्रमण करनेवाला प्रत्येक जीव उत्पत हुआ है। कहो, समझ में आया कुछ ? उसमें से किसी समय शुभभाव हो जाते हैं। समझ में आया ? तो '**शुभकर्म के उदय से वह प्राणी मनुष्यगति को प्राप्त करता है।**' उसमें से शुभकर्म के कारण मनुष्यगति (में उत्पन्न होता है) शुभ कर्म अर्थात् उसका मूलभाव-शुभभाव हुआ, उससे मनुष्यपना पाता है।

अब मनुष्यपने के दुःख का वर्णन तीन का दुःख हो गया। निगोद, उसमें से तिर्यंच, उसमें से यह नारकी। नारकी... नारकी !

मनुष्यगतिमें गर्भनिवास तथा प्रसवकालके दुःख

जननी उदर वस्यो-नव मास, अंग सकुचतैं पायो त्रास;
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।

अन्वयार्थ :- [मनुष्यगतिमें भी यह जीव] (नव मास) नौ महीने तक (जननी) माता के (उदर) पेटमें (वस्यो) रहा; [तब वहाँ] (अंग) शरीर (सकुचतैं) सिकोड़कर रहने

से (त्रास) दु:ख (पायो) पाया, [और] (निकसत) निकलते समय (जो) जो (घोर) भयंकर (दुख पाये) दु:ख पाये (तिनको) उन दु:खों को (कहत) कहने से (और) अन्त (न आवे) नहीं आ सकता।

भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा; वहा; शरीर को सिकोड़कर रहने से तीव्र वेदना सहन की, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो माता के पेट से निकलते समय माता का अथवा पुत्र का अथवा दोनों का मरण भी हो जाता है।।१३।।

मनुष्यगति में गर्भ निवास और प्रसवकाल के दुःख।

जननी उदर वस्यो-नव मास, अंग सकुचतैं पायो त्रास;

निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।

'**(मनुष्यगति में भी यह जीव) नौ महीने तक माता के (उदर में)...**' एक बार रहा। समझ में आया ? एक बार रहा अर्थात् ? नव महीने तक एक बार, दूसरी बार नव (महीने) - ऐसे अनन्त-अनन्तबार नव महीने तक मनुष्य के गर्भवास में रहा। शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि माता के पेट में पौधे के रूप से रहे तो एक ही भव में बारह वर्ष तक वहाँ रहता है। कोई दृष्टान्त है ? तुम डॉक्टरने नहीं देखा ? पुस्तक में आता है परन्तु कुछ नहीं बोलते। दो-तीन वर्ष छह महीना अधिक वर्ष, दो वर्ष नहीं आता ? आता है। तीन वर्ष तो हमने देखा है, तीन वर्ष तो हमने देखा है। 'सीतापुर' में एक बाई थी, तीन वर्ष तक ऐसे का ऐसा बालक पेट में। शास्त्र तो बारह वर्ष कहते हैं। यह तो हमारे वहाँ तो दृष्टान्त था। यहाँ 'सीतापुर' है न ? 'वढवाण केम्प' के पास। बहुत वर्ष पहले गये थे। वह बहिन बिचारी व्याख्यान में आयी थी, फिर वह कहती - यह कैसे पाप का उदय होगा ? महाराज ! सवा तीन वर्ष हुए, सवा तीन वर्ष हुए ! माता के पेट में एक का एक (जीव) सवा तीन वर्ष (रहा।) शास्त्र तो कहता है कि एक बार एक भव की स्थिति पेट में बारह वर्ष की होती है; एक भव की और कायस्थिति चौबीस वर्ष की होती है। वह का वही जीव मरकर वापस

वहाँ जाए और फिर पौधे ले तो बारह वर्ष रहे। पौधे अर्थात् प्रसव न हो, वह ऐसा का ऐसा रहे। माता के पेटमें ऐसा का ऐसा रहे, वह पौधा कहलाता है। नव महीने में जन्म होना तो सबको साधारण है। वह आता है, 'भगवती सूत्र' में आता है। उसमें, शास्त्र में आता है। इतने वर्षों में सुना नहीं ?

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, बहुतों को होता है। सुना है। यह तो 'भगवती सूत्र' में (आता है।) पौधे अर्थात् ऐसा का ऐसा जीव वहाँ रहे। बारह वर्ष तक एक शरीर। मरे नहीं, बारह वर्ष में जन्म हो और कदाचित् बारह वर्ष में बाहर निकल जाए और वापस वह का वह जीव वहाँ जन्मे। फिर बारह वर्ष दूसरे। चौबीस वर्ष तक माता के पेट में एक कायस्थितिरूप रहे।

मुमुक्षु :- बढ़े नहीं ?

उत्तर :- नहीं, उतना ही बढ़े। बढ़े नहीं, उतना का उतना रहे। पेट कहाँ से फाटे ? तुम्हें डॉक्टर को भी पता नहीं ? आता है आता है, शास्त्र में आता है। हमने तो पहले 'भगवती' पढ़ा था। (संवत्) १९७१, पहले १९७१ में 'भगवती (सूत्र)' पढ़ा था। '७१ कितने वर्ष हुए ? है ? एक्यावन। तब से हमें तो पता है। हैं ? आता है, आता है। यहाँ तो श्वेताम्बर का एक-एक (शास्त्र) देखा है। सब जगह पौधा (होता है।) बहुत दृष्टान्त भी है। बारह वर्ष तक एक माता के पेट में रहे। तथा यह डॉक्टर कहता है, बढ़े नहीं ? बड़ा लड़का हो जाता है न ? नहीं, नहीं; उसमें सिकुड़कर रहता है। देखो ! यहाँ कहेंगे, देखो !

'**जननी उदर वस्यो नव मास, अंगसकुचतैं पाई त्रास।**' देखो ! यह लिखा है। यह दृष्टान्त दिया है न ? देखो ! यहाँ '**अंग सकुचतैं।**' सिकुड़कर ऐसा (पड़ा है।) माता के पेट में होता है न ? ऐसा ! आहा...हा...! (उल्टे सिर) इसमें तो बराबर नहीं किया। उल्टे सिर नव महीने। बारह-बारह वर्ष (तक रहे।) बारह-बारह वर्ष ! और एक साथ (लगातार उपजे तो) चौवीस वर्ष (रहता है।) एक माता के पेट में वह का वह जीव चौबीस वर्ष रहता है। इसलिए कितने ही देव तो... आगे देव में आयेगा। कितने ही देवों को, मिथ्यादृष्टि देव हैं, उस देव का आयुष्य जब लगभग (छह) महीने बाकी रहे, तब उसे ख्याल आता है कि माला मुरझाए, वस्त्र,

आभूषण मुरझाए... अरे...! मैं कहाँ जाऊँगा ? अर..र ! यह मनुष्य के पेट में नव महीने ! आहा...हा...! देव ! उसमें कितने ही वैमानिक देव होते हैं, हाँ ! यहाँ मिथ्यादृष्टि की बात है न ! सम्यग्दृष्टि की बात यहाँ नहीं है। हाँ वैमानिक की भी मिथ्यादृष्टि की बात लेते हैं। भाई ! नव अनुदिश और अनुत्तर की बात नहीं लेते। उसका कारण है कि वे सम्यग्दृष्टि है; यहाँ तो मिथ्यादृष्टि की बात है। मिथ्यादृष्टि तक की मर्यादा की बात लेती है न ! आगे नहीं लेती है - सम्यग्दृष्टि है, नव अनुत्तर, नव अनुदिश और पाँच वैमानिक। समझ में आया ? क्या कहलाता है वह ? अनुत्तर विमान। अनुदिश, अनुत्तर विमान। कुछ समझ में आया ?

उसमें रहे तो देव की ऐसी भी भावना कभी हो जाती है, मिथ्यादृष्टि है तो हाय...हाय..! रोता है, बहुत रोता है। अर...र...र...! यहाँ से जाऊँगा। इसकी अपेक्षा तो एकेन्द्रिय में उत्पत होऊँ तो अच्छा ! ऐसा विचार (करता है।) एकेन्द्रिय के विचारों में हिलोरे चढ़ें तो सीधा ऐकेन्द्रिय में (जाता है।) वैमानिकदेव, दूसरे देवलोक तक का मरकर एकेन्द्रिय में जाता है। ऐसे अनन्त अवतार ऐसे भाव से किये हैं। मिथ्यादर्शन के कारण, एक आत्मा का भान नहीं... समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि सहित व्रतादि भी अनन्त बार किये, उसके फल में यह स्वर्ग आदि प्राप्त हुए और वहाँ से वापस मरकर एकेन्द्रिय में अवतरित हुआ, एकेन्द्रिय में। हाय... हाय..! सवा नौ महीने रहना; उसमें फिर किसी का पता चले कि बारह वर्ष तक अन्दर पैधे रहना... इससे तो एकेन्द्रिय में जाना ठीक। ऐकेन्द्रिय में अनन्तबार उत्पत हुआ। यहाँ कहाँ उसे कुछ पता नहीं होता। पता नहीं है, इसलिए वस्तु की सत्ता चली जाएगी।

कहते हैं - '**संकुचतैं...**' देखो ! अन्दर संकुचन किया है न ? पेट में नौ महिने तक '**शरीर को सिकोड़कर रहने से (त्रास)...**' (प्राप्त हुआ।) एक थोड़ा यहाँ शरीर दो घण्टे सिकोड़कर पड़ा रहे तो ए.... ऐसा अकड़ जाता है, ऐ... अकड़ जाता है। वह बालक नौ महीने तक पड़ा है।

अभी बालक का शरीर कोमल... कोमल... कोमल... कहों श्वास भी कहाँ से लेता होगा ? अन्दर ही अन्दर। ऐसे भव इसने अनन्तबार किये हैं, भाई ! एक आत्मा की विपरीत श्रद्धा (के कारण से) यह अन्तमें कहेंगे, हाँ ! कब आत्मा को पाये ? ऐसी श्रद्धा और ऐसे विपरीतज्ञान में मनुष्य होवे, तब फिर ऐ... यह नीच कहेंगे।

'**निकसत जे दुःख पाये घोर...**' उसमें से '**निकलते समय जो घोर दुःख पाये...**' आहा...हा...! देखो ! यही लिया है, हों ! माता को सुलाया है और लड़के का जन्म होता है। आहा...हा...! शास्त्र कहते हैं कि माता ने जन्म दिया, (उसकी) नज़र तो बाद में जाएगी परन्तु अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया है। अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया है। अब कब नष्ट हो जाएगा (इसका पता नहीं है।) समझ में आया ? अनित्य... अनित्य ! उसको नजर न जाए वहा मर भी जाए। यह लड़का जन्मा कैसा है (ऐसी) नजर जहाँ जाए वहाँ मर भी जाए। ऐसी स्थिति, यह स्थिति। ऐसे मनुष्य के गर्भ के दुःख, जन्म के दुःख, त्रास... त्रास... अनन्तबार हुई। मनुष्यपना प्राप्त हुआ, परन्तु धर्म प्राप्त करने की दरकार नहीं की। सम्यग्दर्शन, वीतराग परमेश्वरने कहा (वह प्राप्त नहीं हुआ।) जिस-जिस मण्डल में जन्मे, उससे अधिकपने जीना - ऐसे (भ्रम में) मर गया। दूसरे से हम कुछ बड़े होवें, ऊँचे होवें, यह होवें, अमुक होवे इसमें मर गया उसमें - जो मण्डल, जो समुदाय, जो रिस्तेदारी, जो सगे, जो परिवार, जो जाति, जो अमुक-अमुक इन सब में अपना जीवन कुछ-कुछ ठीक होवे, उसकी अपेक्षा अधिक (अच्छा होना चाहिए।), परन्तु आत्मा '**णाणसहावादियं मुणदि आदं**' आत्मा ज्ञानस्वभाव, राग से अधिक भित है ऐसे अधिकपने का भाव इसने नहीं किया। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- प्रगति होती है न ?

उत्तर :- प्रगति किसकी ? विपरीतता की ? भान नहीं है, इसे किसकी प्रगति करना है ? बाहर की प्रगति करने की की है। इससे बढ़ें, और इससे बढ़े अधिक (होवें) या पैसे में बढ़ें या प्रतिष्ठा में बढ़ें या ढीकाना (अमुक) में बढ़ें। लड़के ठीक हो तो फिर निर्विघ्न खायेंगे। हम पचास वर्ष के होंगे और चार लड़के हैं (फिर) यह निर्विघ्न... बाद के चालीस वर्ष पद्मासन से बैठकर खायेंगे। मूढ़जीव भी ऐसा जहाँ-तहाँ ऐसे फँस गया है। कहो, समझ में आया ?

अधिक... यह तो मस्तिष्क में क्या आया ? कि यह जहाँ-जहाँ अवतरित होता है - मनुष्य हुआ, वहाँ भी बाहर आकर दूसरे से अधिकपने किसी प्रकार शरीर की महत्ता में, वाणी की महत्ता में, पण्डिताई की महत्ता में, मूर्खाई के उसमें... इस (प्रकार) अनन्त... अनन्तबार (अभिमान किया)। मकान की महत्ता मैं, कपड़ों की महत्ता में, पहनावे की महत्ता में, कण्ठ की महत्ता में, गायन की महत्ता में, नृत्य की महत्ता... बहुत प्रकार हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हो, होता है। उसमें खोटी बात क्या है ? उनसे यह अपना अधिकपना मानता है न ! आहा...हा...!

एक भगवान आत्मा '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' - अधिक अर्थात् पृथक्क उसकी बात है, हाँ ! भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प ओर शरीर से पृथक् है। अपने अनन्त अनन्त गुण से भारी थैली आत्मा है, गुण की थेली है। ऐसा भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त खान पड़ी है। अरे...! एक रत्न की थैली हाथ आवे तो निकालने को उतावला होता है। है ? भगवान आत्मा एक समय में अनन्त आनन्द रत्न की थैली, बोरी है। बोरी... बोरी ! बोरी कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? बोरा ! यह चावल इत्यादि भरते है न ? आहा...हा...!

कहते है, ऐसे आत्मा की इसने दरकार नहीं की। यह अन्तिम शब्द कहेंगे, हाँ ! अन्तिम कहते है न यह ? (सोलहवीं गाथा कहते है न ?) '**सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।**' यह समझे न ? '**कैसे रूप लखे आपनो-**' आयेगा, देखो ! १४वीं (गाथा में) आयेगा। '**कैसे रूप लखे आपनो**' - देखो ! ऐसा कहते हैं। इसमें यह पंचायत में पड़ा है, उसमें आत्मा कौन है ? मेरा

(क्या) स्वरूप है ? निवृत्त कहाँ है यह, भाई ! सत्य है या नहीं ?

'**भयंकर दु:ख प्राप्त किये। उन दु:खो का कहने से अन्त नहीं आ सकता।**' उसमें दु:ख कहे थे न ! करोड़ों जीभों से भी तिर्यंच के दु:ख कहने से पार नहीं आता। यहाँ तो कहते है कि मनुष्य के इस दु:ख का भी पार नहीं आता, क्योंकि आत्मा के आनन्द स्वरूप से विपरीत दृष्टि के राग-द्वेष के भाव में फँस गया है, दब गया है, उसके दु:ख की क्या बात कहना ?

'**भावार्थ :- मनुष्यगति मैं भी यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा; वहाँ शरीर को सिकोड़कर रहने से तीव्र वेदना सहन की...**' यह सिकोड़कर से बात की है, हों ! निमित्त से बात की है। मूल तो वहाँ मिथ्यात्व और कषाय का ज़ोर है और उसका इसे दु:ख है, परन्तु उसके भित-भित निमित्त से उसका कथन किया है, वरना दु:ख की व्याख्या तो यही है कि आत्मा के स्वरूप को भूलकर मिथ्यादृष्टि से राग और शरीर को एकरूप मानता है, बस ! यही महा दु:ख है। कुछ समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप) भगवान आत्मा की एकता में अतीन्द्रिय आनन्द है। उसे राग-द्वेष और विकार की एकता में अनन्त दु:ख है। शास्त्रकार, निमित्त से कथन (करतें हैं) और अज्ञानी निमित्त से दु:ख को देखता है। यह बिच्छु आवे, उसे देखता है कि यह दु:ख आया, परन्तु उस समय कषाय होती है, उसका दु:ख आया, परन्तु उससमय कषाय होती है, उसका दु:ख है, उसे वह नहीं जानता; इललिए आचार्यदेव ने निमित्त और संयोग से कथन [करके] जग को - संयोग से माननेवाले को इस प्रकार से समझाया है। समझ में आया ?

'**कभी-कभी तो माता के पेट से निकलते समय माता अथवा पुत्र का...**' देखो ! मरण होता है। काटकर निकालते हैं। निकालते हैं या नहीं ? किया है तुमने ? प्रसव न हो तो काटते हैं, टुकड़े करके निकालते है। फिर स्त्री (माँ) मर जाती है या वह (बालक) मर जाता है। यदि अन्दर रह जाए और अन्दर मर जाए तो स्त्री मर जाती है। झट निकालो। छुरी डालकर बालक के बारीक टूकड़े करते हैं। आहा...हा...! कहो ! एक महिलाको तो जितने प्रसव हों, वे टुकडे करके ही निकालने पड़ते। एक गाँव में महिला है। जितने बालक (गर्भ में) आवे उतने टुकडे करके निकाले। डॉक्टर कहे, अब बन्द रखो। यह जितने बालक हुए, सबको टूकड़े करके

ही निकालने पड़ते। ऐसा ही कोई पाप का उदय लेकर आये। बालक ऐसा ही (उदय) लेकर आये कि टुकड़े करके ही निकालने पड़ें। यह दशा ! अनन्त बार ऐसे टुकड़े होकर (बाहर) आया। फिर वहाँ से एकदम (मरकर) अन्यत्र वापिस जाए। ऐसे अवतार ! भगवान आत्मा के स्वरूप की कींमत (दरकार) नहीं की; अपने आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य की महत्ता की दरकार नहीं आयी और मिथ्यात्वभाव में परवस्तु की दरकार और महत्ता और महिमा आयी, यह उसके फल में (इस प्रकार) भटका - ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

मनुष्यगति में बाल, युवा और वृद्धावस्था के दुःख

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूपलखै आपनो।।१४।।

अन्वयार्थ :- [मनुष्यगति में जीव] (बालपने में) बचपन में (ज्ञान) ज्ञान (न लह्यो) प्राप्त नहीं कर सका [और] (तरुण समय) युवावस्था में (तरुणी-रत) युवतीस्त्री में लीन (रह्यो) रहा, [बूढापनो] वृद्धावस्था (अर्धमृतकसम) अधमरा जैसा [रहा, ऐसी दशामें] (कैसे) किस प्रकार [जीव] (आपनो) अपना (रूप) स्वरूप (लखै) देखे-विचारे ?

भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव बाल्यावस्था में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया, यौवनावस्था में ज्ञान तो प्राप्त किया किन्तु स्त्री के मोह (विषय-भोग) में भूला रहा और वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गई अथवा मरणपर्यंत पहुँचे ऐसा कोई रोग लग गया कि जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा। इस प्रकार यह जीव तीनों अवस्थाओं में आत्मस्वरूप का दर्शन (पहिचान) न कर सका ।।१४।।

चौदह (गाथा)। '**मनुष्यगति में बाल...**' अवस्था '**युवा, वृद्धावस्था के दुःख।**'

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूपलखै आपनो।।१४।।

आहा...हा...! देखो ! यहाँ मनुष्य में यह लिया, भाई ! उसमें अभी दुःख का ही वर्णन किया था। यहाँ कहते हैं...

मुमुक्षु :-

उत्तर :-- हाँ, इसलिए लिया। वहाँ भी वह मनुष्य है न ? '**(मनुष्यगति में जीव) बालपने में...**' 'बालपन खेल में खोया, जवानी में स्त्री में मोह्या, बूढ़ापन देखकर रोया।' हमारे वहाँ 'पालेज' में छोटी उम्र में (देखा था)। मुसलमानों का रोजा का दिन आता है न ? यह क्या कहते हैं ? वह रात्रि में फकीर आता, निकलता, वह ऐसा बोलता। 'बालपन खेल में खोया, जवानी में स्त्री में मोह्या, बूढ़ापन देखकर रोया।' बूढ़ापा (आया), हाय... हाय... ! अब ?

'**बचपन में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका...**' विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका।शब्दज्ञान अर्थात् उसका क्षयोपशम हो, परन्तु सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका, इसलिए यह विद्या भी ठीक पढ़ा नहीं। उसमें और उसमें खेल में काल गँवाया। बालपने में खेलमें काल गँवाया, लो ! देखो न ! यह गेंद खेलना और यह खेलना और वह खेलना और धूल खेलना... कितना काल जाता है ? एक-एक समय ऐसा- चिन्तामणि रत्न जैसा मिला है, मनुष्य की देह का एक समय, चिन्तामणि रत्न दे तो भी नहीं मिलता - ऐसा मिला; खेलकूद, नाच, हा...हो...! वह गेंद क्या कहलाता है ? फूटबोल ! वह कितना ऊँचा उछला ? कितना उछला ? परन्तु यह क्या है ? तू अन्दर में उछल गया। तेरा समय ऐसा चला जाता है। आहा...हा...! अनन्तकाल में मुश्किल से ...और बाहर आया और उसमें यह मनुष्यपना क्या हुआ इसका तुझे पता नहीं पड़ता।

कहते हैं, और '**युवावस्था में युवती स्त्री में लीन...**' '**तरुणीरत**' - ऐसा कहा है न ? तरुणी अर्थात् स्त्री, युवा स्त्री। स्वयं युवा और युवा स्त्री; हो गया, दोनो आमने-सामने देखा करते हैं, और पूरे दिन एक ही बात। समझ में आया ? एक (व्यक्ति) का विवाह महा कठिनता से हुआ तो वह घर ही बैठा रहता, उसके सामने ही देखा करता। वह सवेरे कलशा करे। क्या कहलाता है वह ? सवेरे कलशा करते हैं न ? रात्रि के बासी हों, उन्हें साफ करते हैं। वे लकड़ी के क्या कहलाते हैं वे ? ब्रश डालकर। तुम्हें ब्रश इतना झट कहना भी नहीं आता ? यहाँ हम तो भूल गये होते हैं, क्यों ? वह ब्रश डालकर ऐसे-ऐसे घिसने बैठे न ? वह पति सामने देखा करे। ऐसे जाए

तो सामने देखा करे। पूरे दिन सामने देखे, मानों महा कठिनतासे रत्न मिला हो। कौन जाने क्या होगा ? चली जाएगी या क्या होगा ? आहा...हा...! ऐसे पापी !

एक व्यक्ति ने घरघरणुं किया। समझ में आता है ? बड़ी उम्र में विवाह किया। बहु मर गयी, तो विषय के लिए बिलखन लगा वह स्त्री कहे - मैं चली नहीं जाऊँगी, हमने विवाह किया है। समझ में आया ? एक-एक रात्रि में भोग में बारह बारह बार ! बारह-बारह बार (भोग करे)। एकदम क्षय हुआ। हमारे तो बहुत दृष्टान्त आये हो न ? बहुत नजर में पड़े हों या नहीं ? आहा...हा...! अधिक दृष्टान्त उत्कृष्ट देने को हो न ! साधारण तो... समझे हो ? आहा...हा...! मर गया। कहते हैं, तरणी रत। तरुणीरत कहा न ? स्त्री में रत हो गया। मानो कि .... आहा...हा...! ऐसा मिलेगा या नहीं ? तल्लीन... तल्लीन... तल्लीन... एक-एक अवयव (देखा करता है।) क्या है ? वह तो हाड-माँस के पिण्ड हैं और उनमें सुख है ? तेरी राग की एकाग्रता है, उसे तू मानता है, वहाँ कहाँ धूल में सुख था ?

'**युवावस्था में... (तरुण समय)**' समय है न ? अर्थात् युवावस्था के काल में - ऐसा लेना। लो न ! तरुणसमय - युवावस्था के काल में - युवावस्था के समय, '**युवा स्त्री में लीन रहा.. (बूँढ़ापनो) वृद्धावस्था**' जहाँ आयी, '**अधमरा जैसा रहा...**' लो ! आहा...हा...! समझ में आया ? इतना विषय सेवन करता है कि वीर्य के बदले खून निकलता है। इतना विषय सेवन करता है। इतना गृद्ध हो जाता है। आत्मा क्या है ? कहाँ है ? कौन है ? - यह समझ ने की दरकार नहीं होती। यह समझ में आता है ? ऐसे जीव सुने है, सब देखे हुए है; सब नाम-ठाम का पता है। आहा...हा...! अन्त में खून गिरता है। शरीर में वीर्य नहीं रहता, (इसलिए) खून गिरता है, तो भी नहीं छोड़ता। क्षय होकर मर जाता है।

कहते हैं, युवावस्था में ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ। बूढ़ापा अर्द्धमृतक जैसा। देखो ! इसमें

दृष्टान्त दिया है न ? देखो ! इसमें दिया है, हाँ ! देखो ! यह बालपन - एक पैर ऊँचा रखा है। खेलता है, खेलता है। है ? भाई ! है या नहीं इसमें ? क्या किया हैं ? एक लड़का खड़ा (रखा है, उसने) ऐसे पैर ऊँचा रखा है। खेलता है। समझे न ? लो ! (दूसरे चित्र में) युवा स्त्री ने हाथ पकड़ा है, उसने हाथ पकड़ा है। देखो ! ऐसे खेलता है। (दूसरे में) स्त्री ने हाथ पकड़ा और (तीसरे में) वृद्धावस्था में लकड़ी पकड़कर ऐसे... ऐसे (चलता है।)... शरीर, यह दशा ! फिर मज़ाक करते हैं, लड़के मजाक करते हैं। बापा ! क्या खोजते हो ? ऐ... युवापन खोजते है, बापा ? बूढ़ी थी न बिचारे ! वृद्धा होती है न ? बिचारे ऐसे (टेडे) हो गये हों, ऐ...से...चलते-चलते (जाते हों।) उसमें बीस वर्ष का युवा लड़का (मिले), बड़ा शरीर लट्ठा जैसा, अंग्रेज जैसा (होवे), (उससे पूछो कि) माँ ! क्या खोजती हो ? (तो कहे) बापू ! जवानी खोजते है, भाई ! हमारे तेरे जैसी जवानी थी, हाँ ! परन्तु वह जवानी चली गई, हाँ ! तू वह नहीं करना। हों ! अब वह युवान मज़ाक करता है। हें ? आहा..हा..! उभरती जवानी हो, मज़ाक करे वह वृद्ध बिचारी ऐसे लार गिरती हो, लकड़ी ऐसे... ऐसे रखे, वरना तो ऐसे गिर जाए। इस तरह लकड़ी से कठिनता से चलते हों, बापू ! ऐसे अवतार अनन्तबार (किये), अनन्तबार किये हैं। फिर यह किसी की बात नहीं चलती। आहा...हा...! शरीर जरा वैसा मिले, वहाँ ऐसा हो जाता है कि हम कायम रहनेवाले हैं।

कहेत हैं - '**(ऐसी दशा में) (कैसे) (जीव) अपना स्वरूप (लिखे)...**' देखो ! आहा...हा...! '**कैसे रूप लखे आपनो।**' भाई ! यहाँ से शुरु किया है। देखो ! इसमें सम्यग्दर्शन की व्याख्या में यहाँ से शुरुकिया है - ऐसा मेरा कहना है। ऐसा नहीं कि वह शुभभाव कैसे करे ओर अमुक कैसे करे ? यहाँ से शुरु किया (है।) देखो, यहाँ पर ग्रन्थकार 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि मनुष्यपने में, बालपन खेलमें खोया, (जवानी में) तरुणी में मोह्या और वृद्धावस्था में (अर्ध मृतक होकर रहा।) इसमें अपना रूप कब लखे ? अपना स्वरूप जानने का नाम ही सम्यग्दर्शन है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो ! स्वयं यहाँ लिखते हैं, भाई ! '**कैसे रूप...**' आया या नहीं ? '**कैसे रूप लखे आपनो।**' ऐसा कहा है। स्वरूप कौन है ? राग कौन है ? शुभराग कौन है ? ऐसा मानो शुभराग किया नहीं ? समझ में आया ? अनन्तभव में शुभराग नहीं किया ? वह तो यहाँ से लेंगे। मनुष्य मरकर स्वर्ग में जाएगा, वहाँ से लेंगे। मनुष्य में से देव लेंगे। शुभभाव तो अनन्तबार किया है, परंतु कहते हैं कि ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके, आत्मा स्वरूपसे भगवान यह अखण्डानन्द शुद्ध चिदानन्द वीतरागमूर्ति आत्मा है, उसके स्वरूप को किस प्रकार लखे ? लखे अर्थात् जाने। ऐसी स्थिति में बालपना ऐसा गया, तरुणी में ऐसा गया, वृद्धावस्था में ऐसा गया। पैसा मिला, वहाँ पैसे में गया, नहीं होवे, वहाँ निर्धनता में रोया। ऐसा ही ऐसे इसने अनन्तकाल होली सुलगाई है। समझ में आया ?

युवावस्था होवे और उसमें पाँच-पच्चीस लाख मिले होवें तो 'मैं चोड़ा और गली सकड़ी' ! ओ...हो...हो...! साथवाले को दबावे। 'खाली करो, आठ लड़के हैं, हमारे मकान चाहिए।' (तब कहे) भाई साहब ! परन्तु हमारे मकान की कींमत मुताबिक कुछ दोगे ? (तब वह कहे) खाली करना है या नहीं ? तुम्हारी सिफारिश नहीं पहुँचेगी, कोर्ट में हमारी सिफारिश पहुँचेगी। ठीक, बापू ! भाई ! आहा...हा...! परन्तु तुझे यह क्या करना है ? ऐसे झगड़े ही खड़े करना है या आत्मा क्या है - इसका कुछ जानने का प्रयत्न करना है ? ऐसी स्थिति में कहते हैं कैसे किस प्रकार यह '**(आपनो) अपना स्वरूप (लखैं)...**' आहा...हा...! अद्भुत व्याख्या की है यहाँ। चौदहवीं (गाथा में) की है। लो, भाई ! है ?

मुमुक्षु :-

उत्तर :- नहीं, नहीं; इस प्रकार पड़ा है, उसमें कहाँ से करे ? - ऐसा (कहते) हैं। उलझ गया। बालकपने में, जवानीमें, लक्ष्मी में, मोह में, परिवार में, कबीले में, देश में, व्यापार में, बड़े करने में (उलझ गया।) समय मिला, वह समय वहाँ गँवाया। अब, इसमें आत्मा का रूप-स्वरूप कब जानने चाहे। ऐसा कहते हैं। आत्मा कौन है ? उसकी क्या चीज है ? उसमें क्या वस्तु है और ये विकारादि क्या मेरे से प्रत्यक्ष हैं ? यह जानने की दरकार (नहीं की।) **'कैसे रूप लखे आपनो।'** अपनी जाति को जानना - यह इसमें कैसे मिले ? यह बाहर में रचा-पचा है उसमें। कहो, ठीक है या नहीं ? आहा...हा...! निर्धनपना होवे, तब ऐसा मानता है कि भई ! हमारे पास साधन (नहीं है, इसलिए) कमाने के (लिए) समय चाहिए। पैसे मिले तब कहता है बापा ! पैसेवाले को कैसे निवृत्ति मिले - यह तुम्हें पता नहीं पड़ेगा। ऐसे ही ऐसे अभिमानी ! एक व्यक्ति कहता था, कहा न वह ? उसदिन तो साठ लाख थे, (वह कहे) महाराज ! वह तो हमारे जैसा समय होवे तो पता पड़े। अरे...! परन्तु तुम मर गये इसमे ? क्या हो गया अब तेरे पास साठ लाख और दो करोड़ और पाँच करोड़ धूल में ? मरते समय निवृत्ति मिलेगी और टांगा पड़े (रहेंगे) ऐ... ऐसा करके। उसमें और उसमें (समय जाता है। या मिल या जीन और या प्रेस का संचा। बाहर में उसमें फँस गया है।

कहते हैं, अरे...! ऐसा मनुष्यपना पाया, वहाँ इन्होंने लिखा, देखो ! मनुष्यपने में, हाँ ! आहा...हा...! अन्य की अपेक्षा हामारी दुकान अच्छी चलती है, दूसरे की अपेक्षा हम ऊँचे हैं, हमने पैसा, पूँजी बढ़ाई है। हमारे लड़के आज्ञाकारी, ऐसे दूसरों के नहीं; हमारे जैसा साधन (किसी को नहीं), सब सही। अभी हमारे बहुत अच्छा है। किसका ? धूल का। भाई ! आहा...हा...! **'कैसे रूप लखे आपनो।'** वाह...! मनुष्यपना पाकर यहाँ उलझ गया। भाई ! यह फिर मस्तिष्क में आया। आहा...हा...!

'भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव बाल्यावस्था में विशेषज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया...' ऐसा। विद्या-विद्या नहीं सीखी, विशेष ज्ञान नहीं। मूढ़ जैसा मूर्ख रहा। कहा नहीं था एक लड़के को ? तीस वर्ष की उम्र, दश वर्ष पढ़ाया तो सौ की गिनती सीखा था। सौ तक गिनती। पाठशाला में दस वर्ष पढ़ाया तो सौ तक गिनती सीखा। वह भी यह दशाश्रीमाली बनिया और तू

यह ? (संवत्) १९७० के पोष महीने की बात है। कितने वर्ष हुए ? बावन हुए। अमरेली के उपाश्रय में उतरे थे दईडा का लड़का था। दईडा...दईडा है। पास का गाँव है। वह लड़का मजदूरी करता था। कोई लड़का था, छोटा था। उस दिन की ५२ वर्ष पहले की बात है। .... परन्तु तू यह क्या करता है ? यह तीन आने का .... तीन आना, ढ़ाई आना होंगे, उस दिन तो कौन जाने (कितने होंगे ?) ऐसे सिर पर (उठाये)... चोरणी पहिनकर। .. तू दशाश्रीमाली बनिया है। तो कहे, हाँ; तो यह क्या ? मेरे पिता ने दश वर्ष तक पाठशाला में पढ़ाया, सौ तक गिनती आती है, कहा। आहा...हा...! ऐसा मूढ़ भी अनन्तबार हुआ। यह कही इसके लिए एक की बात नहीं है, ऐसे अनन्त-अनन्त मनुष्य के अवतार किये। समय आया, तब भूल गया। उसे बुद्धि नहीं, हमारे तो बुद्धि है, हम तो बुद्धिवाले हैं। किसकी बुद्धि है ? भटकने की ? यह कमाने की और यह अमुक व्यवस्था करने की, हमारे हाथ में व्यवस्था आवे, हमारे हाथ में डौर आवे तो दुकान सही चले; उसके हाथ में आवे तो वह सब डूबो देगा...।

मुमुक्षु :- होता है।

उत्तर :- होवे, धूल में भी (नहीं) होता, वह तो पुण्य के कारण होता है। भाई ! क्या होगा ? हमारे हाथ में दुकान की डोर लें तो ठीक प्रकार से चले, उसमें हमारी आमदनी कम नहीं हो, बढ़ती ही जाए। धूल में बढ़ती जाती होगी तेरे कारण। वह तो पूर्व का पुण्य होवे तो बढ़ती है, उसमें तूने क्या किया ? व्यर्थ ही ऐसे ही ऐसे अभिमान में मर गया। आत्मा क्या है ? - (यह) पहिचानने का अवसर नहीं लेता।

'यौवनवस्था में ज्ञान तो प्राप्त किया, किन्तु स्त्री के मोह (विषय-भोग) में भूला रहा...' लो ! ऐसा लिया। ज्ञान किया, पढ़ा, विद्या (प्राप्त की), भोग में भूल गया (कि) इस समय में मुझे यह आत्मा की पहिचान, ध्यान, ज्ञान करना है। **'वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गयी...'** शिथिल हो गयी। भई ! सुनाई नहीं देता, कान बहेरे हो गये। आँख से नहीं दिखता, मोतिया आ गया। है या नहीं ? मोतिया आया, कुछ नहीं दिखता, बहुत पढ़ने का मन हो जाता है, परन्तु सही समय में पढ़ा नहीं हाँ ! और अभी पढ़ने का मन हो तब आँख नहीं मिलती। ओ...य...! भाई ! तुम्हारे तो आँखे हैं और सोते सोते पढ़ना हो तो पढ़ सको ऐसा है।

परन्तु फुरसत कब है ?

मुमुक्षु :- उसे क्या काम है ?

उत्तर :- यह चिन्ता करने का। क्यों ? भाई ! हम इसकी सही बात करते हैं या नहीं ? चिन्ता करने का। लड़का क्या करता होगा ? और वह... क्या नाम है दूसरे का ? वह क्या करता होगा ? (इस भाई के) लड़के कितने बढ़ गये और कितने किये ? यह चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता में होली (सुलगती है।)

कहते है, वह भूल गया। 'विषय' शब्द से तो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं, हाँ ! स्त्रीका मोह (है) परन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों में (भूल गया)। प्रतिष्ठा प्राप्त करना, कीर्ति प्राप्त करना, रूप देखना... एसा का ऐसा गया। '**वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गयी अथवा मरणपर्यंत पहुँचे - ऐसा कोई रोग लग गया...**' वहाँ रोग लग गया। ऐसा कोई टी.बी. हो गया। हाय... हाय...! साठ वर्ष बाद... साठ वर्ष में सत्तर वर्ष में अभी टी.बी. होती है। लो ! है ? उस भाई को टी.बी. नहीं थी ? (उस भाई को) टी.बी. थी, पचहत्तर वर्ष में टी.बी. (हुई)। वह तो अब डॉक्टर इनकार करते हैं, अब कुछ लेना नहीं, हाँ ! क्या खाना ? मक्खन... मक्खन (खाओ) भाई साहब ! हम गरीब आदमी कहाँ से (लायें) ? पैसे वाले तो खाये। खायें तो उसमें वही की वही उसकी लोलुपता होती है, कब ठीक होगें ? कब ठीक होंगे ? ठीक होकर फिर कोई धर्म करना है - ऐसा नहीं है। ठीक होकर वापस दुकान पर जाकर जमकर बैठना है। है ?

कहते हैं, देखो न ! अर्धमृतक हुआ, अर्धमृतक। है ? अर्धमुरदे जैसा; ऐसा कहते हैं। उस हालत में '**रोग हो गया, जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा।**' पलंग में पड़ा रहा। कपड़ा ढाँककर पड़ा हो। एक वृद्ध मनुष्य था। दो-दो वर्ष, तीन-तीन वर्ष (पलंग में), दूसरा कोई रोग नहीं, हां ! परन्तु फिर अवस्था के कारण चल नहीं सके, फिर चद्दर ढ़ँककर पड़ा हो। खाने का समय होवे तब दे, परन्तु चद्दर ढँककर पड़ा रहे और फिर किसी समय चिड़चिड़ाये।अपेक्षित न मिला होवे तो ऐसा चिड़चिड़ाये, ऐसा चिड़चिड़ाये... आहा...! फिर अन्दर लड़के भी मारे। हमने देखा है, हाँ ! चद्दर ढँका रखकर मारे। बोलना नहीं... वह वृद्ध गाली दे... ऐसी कठोर गाली दे।

... उसके लड़के के लड़के घर में हो और गाली दे... लड़का बाप को ... परन्तु क्या करे ? भाई ! आहा...हा...! अरे...! ऐसा का ऐसा इसका समय गया, फिर उसे आर्तध्यान (होता है।) अर..र..! हमने तुम्हारा पालन किया, पोषण किया, बड़ा किया, हमने ऐसा किया-वैसा किया और अब तुम ऐसा (करते हो) ? परन्तु तू इतनी गालियाँ (देता है), माँ-बहिन को गालिया (देता है)। ऐसा गालियाँ (दे), हाँ ! सुनी नही जाए और बाजार में दुकान, इसलिए बाहर लोग निकले, (वे) सुने, इतनी शर्म लगे; लड़को के लड़के घर में, उसे अन्दर से मारे। कहो, '**अर्धमृतक जैसा पड़ा रहा।**'

'**ऐसी दशा में प्राणी तीनों अवस्थाओं में...**' देखो ! अब कहते हैं। बालकपने में आत्मा का ज्ञान किस प्रकार करे ? जवानी में (स्त्री में मोह्या), वृद्धावस्था में (अर्धमृतक हुआ।) (उसमें) '**आत्मास्वरूप का दर्शन (पहिचान) नहीं कर सका।**' लो ! आत्मा का क्या स्वरूप है ? भगवान आत्मा ? उसकी महत्ता इसने नहीं की; दूसरे की कीमत में मर गया, परन्तु उसकी (आत्मा की) कीमत (महत्ता) नहीं की।

देवगति में भवनत्रिक का दुःख

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै;
विषय-चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।।१५।।

अन्वयार्थ :- [इस जीवने] (कभी) कभी (अकामनिर्जरा) अकामनिर्जरा (करै) की [तो मरनेके पश्चात्] (भवनत्रिकमें) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी में (सुरतन) देवपर्याय (धरै) धारण की, [परन्तु वहाँ भी] (विषय-चाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी (दावानल) भयंकर अग्नि में (दह्यो) जलता रहा [और] (मरत) मरतेसमय (विलाप करत) रो-रोकर (दुख) दुःख (सह्यो) सहन किया।

भावार्थ :- जब कभी इस जीवने अकाम निर्जरा की तब मरकर उस निर्जराके प्रभावसे (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमें से किसी एकका शरीर

धारण किया। वहाँ भी अन्य देवोंका वैभव देखकर पचेन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी अग्निमें जलता रहा। फिर मदारमाला को मुरझाते देखकर तथा शरीर और आभूषणों की कान्ति क्षीण होते देखकर अपना मृत्युकाल निकट है ऐसा अवधिज्ञान द्वारा जानकर 'हाय ! अब यह भोग मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे !' ऐसे विचार से रो-रोकर अनेक दु:ख सहन किये।।१५।।

अकाम निर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्मके उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता, किन्तु चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुरुषार्थ कर सकता है।

'**देवगति में भवनत्रिका का दु:ख।**' लो ! मनुष्य के दु:खों का इतना साधारण वर्णन किया, वरना दु:ख तो बहुत प्रकार का है न ? मनुष्य में बहुत प्रकार के (दु:ख हैं।) छेदाजाए-भेदाजाए, अँगुलिया टूटे, कुष्ट होवे। देखो न ! बहुत रोग होते हैं न ? पीड़ा। कण्ठ में वह होता है। क्या कहलाता है ? केन्सर। है ? आहा...हा...! केन्सर का पता पडे, पेट में भूख का पार न हों और यहाँ केन्सर, पानी उतरे नहीं। अभी कोई कहता ता, पानी नहीं उतरता। यहाँ पर पानी जाने से दु:खता है। पेट में भूख का पार नहीं होता, यहाँ पानी डाले तो (जले)। पानी ठण्डा हो, कैसा भी हो, परन्तु जलन होती है। वह ... हो गया हो न ? .. बापा ! वह अवस्था गयी। आत्मा कौन है ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ भगवान, इस आत्मा के स्वरूप की महिमा जिनकी वाणी में पूर्ण नहीं आती, ऐसा आत्मा कौन वह यह अन्दर है ? ओ..हो...हो...! उसके स्वरूप को जानने, पहिचानने की दरकार नहीं की। उसमें क्या करे ? कहते हैं, वहाँ फँस गया भाई ! पुस्तक छपावे, उसमें रोके, फिर छपाया होवे, उसे समाप्त होवे वहाँ तक रोके, फिर समाप्त होने पर उसकी राशि संग्रह करने में रुके, भाईयों को कोई विवाद उठे, उसमें रुके... रुकने के साधन कितने ? भाई ! यहाँ तो वह मनुष्य का पूरा करते हैं न, इसलिए जरा लिया। मनुष्य में बहुत बहुत दु:ख (भोगे।)

ओ...हो...! एक स्त्री तो उस दिन (संवत्) १९८२ के चातुर्मास में पोरबन्दर में थी। हमारा चातुर्मास था न ? एक बाई थी, उस ओर थी, मन्दिरमार्ग की ओर। साड़े तीन वर्ष से ऐसी उल्टी

पड़ी रहती थी, बहुत दु:ख ! चिल्लाये ! महाराज ! दु:ख नहीं सहा जाता। ऐसे के ऐसे उल्टे सिर, हाँ ! कुछ स्न्चे ऐसा होगा ? साड़े तीन वर्ष से !

'जामनगर' में ऐक साधु था, मन्दिर मार्गीसाधु। हाथ में कीड़े पड़ गये थे। मन्दिरमार्गी साधु था, गये थे, उसके पास गये थे। बिचारा (कहता), महाराज ! साठ वर्ष की बड़ी उम्र थी, सुन्दर शरीर था, परन्तु कौन देखे वहाँ ? फिर करे (कौन) ? एक व्यक्ति रख दिया था। शिष्य था, परन्तु क्या करे ? अब, सहन नहीं होता, इसलिए क्या करना ? कहा। उसमें कहीं मर जाने से छुटकारा है ? वह तो आयु पूर्ण होगी, तब होगा। शरीर में कीड़े पड़े, हाँ ! मन्दिरमार्गी साधु, कीड़े पड़े। कारण कि बहुत घिसता था न ! कीड़े पड़े। सुन्दर शरीर था। उसमें मर गया। ऐसे-ऐसे मनुष्य के अनन्त अवतार किये। समझ में आया ? एक की बात नहीं। ऐसे-ऐसे जितने जितने दृष्टान्त दें ऐसे अनन्तबार मनुष्यपने में इसने अवतार धारण किया है।

अब, कहते हैं, वहाँ से कदाचित् (बाहर निकलता है।)

'**देवगति में भवनत्रिक का दु:ख**' आया, हाँ ! पन्द्रहवीं (गाथा)

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै;
विषय-चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।।१५।।

यहाँ सब दिया है, हाँ ! चित्र दिया है।

विमानवासी

भवनपत्ति में जन्में और सब है न ? '**(इस जीवने) कभी अकामनिर्जरा की...**' अकाम निर्जरा माने, समझ में आता है ? इच्छा बिना, खाने-पीने का भाव है, तथापि मिलता नहीं उसमें कोई राग की मन्दता करे, यह स्त्री विधवा हो और भाव होने पर भी मिले नहीं और उसमें फिर राग की मन्दता करे तो अकामनिर्जरा से भवनपति, व्यन्तरदेव

होवे। ऐसी अकामनिर्जरा अनन्तबार की है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष - तीनों के कारण अलग-अलग हैं, परन्तु होते सब मिथ्या दृष्टि हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में जन्म लेने वाले सब मिथ्यादृष्टि होते हैं, सम्यग्दृष्टि वहाँ जन्म नहीं लेते हैं। (मिथ्यादृष्टि ही) ऐसे भवनत्रिक में (जन्म लेते हैं।) भवनत्रिक अर्थात् भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष।

'कभी अकामनिर्जरा करके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी में (सुर-तन)...' सुर अर्थात् देव का शरीर धारण किया, '**(परन्तु वहाँ भी) (विषय चाह) पाँचो इन्द्रियो के विषयों की इच्छारूप...**' विषय की चाह। देवियों के विषय उनमें व्यवन्तर हुआ तो कोतूहल किया। कोतूहल किया, किसी की देहमें प्रवेश करके (देह में प्रवेश नहीं करते हैं, मात्र लोक कहावत है।) धुनाते है न ? धुने-धुनावे ऐसे कौतूहल करके जिन्दगी व्यतीत की है। कुमार कहलाते हैं न ? उन्हें कुमार कहते हैं, समझ में आया ? जवान लड़के जैसे खेलकूद में समय विताते हैं, ऐसे ये असुरकुमार आदि देव, व्यन्तर देव क्रीड़ा में काल गँवाते हैं। विषय की चाह, क्रीड़ा में काल गँवाते हैं। मरकर फिर जाते हैं, पशु आदि में चले जाते हैं। समझ में आया ? ऐसे अनन्तबार भवनपति (के अवतार किये।) उनकी एक सागर की स्थिति है। दश हजार (वर्ष की जघन्य) आयु है। दश हजार वर्ष की आयु में अनन्तबार जन्मा; फिर एक समय अधिक की आयु अधिक (प्राप्त करके) उसमें जन्मा। भवनपति, व्यन्तर प्रत्येक में (इस प्रकार जन्मा)। दश हज़ार वर्ष की आयु में भवनपति में अनन्तबार जन्मा; एक समय अधिक आयुष्य में (अनन्तबार जन्मा, दो समय अधिक में (अनन्तबार जन्मा)। ऐसे अकाल निर्जरा के फलरूप में ऐसे अवतार किये। ऐसे व्यन्तर, भूत होते हैं न ? समझ में आया ?

नीचे नरक के भाग हैं। पहले नरक में दश जगह भवनपति हैं। समझ में आया ? असुरकुमार, नागकुमार आदि। नीचे नरक और व्यन्तर ऊपर के भाग में हैं। उनमें अनन्त बार एक-एकपने जन्मा है। व्यन्तर देव दुःखी हैं - ऐसा नहीं है, हाँ ! वहाँ बाहर का बड़ा साधन है, परन्तु कौतूहल करके हाथमश्करी करने का धन्धा (किया करते हैं।) अभी वे लोग नहीं होते ? हाथ करनेवाले नहीं (होते), क्या कहलाते हैं ? मश्करा। 'राजकोट' का एक ब्राह्मण आया ? बस ! वाक्य-वाक्य में उसकी मश्करी ही होती है। हास्यवृत्ति, हास्य ही करे। अभी एक आया

था, वह भी हास्य ही करता था। यही सीखा हो। बड़े राजा-महाराजा की सभा इकट्ठी करके ऐसे शब्द बोले, स्वयं हँसे नहीं, भाषा ऐसी बोले कि हँसी ही आवे। ऐसे मरकर व्यन्तर हुए हों, कोई शुभभाव हो और अकामनिर्जरा से (वहाँ जाकर) वहाँ भी वापस ऐसे ही ऐसे ढोल बजाये। समझ में आया ? व्यन्तर में ऐसा ही ऐसा किया करे। आहा...हा...!

नपुसंक होते हैं। ये देखो न, नहीं होते ? मुसलमान और सब नपुसंक ढोलक बजाते हैं। पैसे माँगने के लिए बजाते है न ? वह इसमें है न ? कहीं आयेगा, इसमें आयेगा। स्त्री, पुरुष और नपुसंक आता है न ? आता है, आता है। इसमें चित्र आता है। वह नपुसंक बराबर ठीक किया है। हमारे यहाँ 'पालेज' में बहुत मुसलमान आते थे। मुसलमान ने लेंहगा पहना हो, फिर ऐसा बोले, खराब भी बोले पैसा लेने के लिए। छ आना, आठ आना ले, पैसा-वैसा न ले।

कहते है, ऐसे देव...यहाँ भी ऐसी अकामनिर्जरा में कोई राग मन्द हो गया हो और उसमें अवतरित होता है। वहाँ भी वापिस वही की वही कौतूहल वृत्ति करता है। वहाँ विषय-चाह की दाह में जला-जला करता है। समझ में आया ? '**(दावानल) भयंकर अग्नि में जलता रहा...**' कौनसी अग्नि ? विषय की चाह, चाहना, चाहना। '**मरते समय रो-रोकर दुःख सहन किया।**' वह भवनपति, व्यन्तर मरते समय हाय... हाय.. कहाँ जाऊँगा ? रोता है। कुछ सुख नहीं होता, अपमान बहुत होता है। देव में भी रोता है, चिल्लाकर रोता है, वहाँ अरे...रे...! अब मेरा कोई मालिक नहीं है; हमने इन देवों के साथ, इन्द्र के साथ बहुत काम किया है, मरने का समय आया, कोई हमारा सहायक नहीं है। रोता है, फिर रोता है। हाय... हाय.. कहाँ जाऊँगा ? ऐसे अवतार ! यह आत्मा का ज्ञान और आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना, आत्मस्वरूप की पहिचान बिना अनन्तबार ऐसे (अवतार) मिथ्यादर्शन के कारण किये है।

'**जब कभी इस जीव ने अकामनिर्जरा की, तब मरकर उस निर्जरा के प्रभाव से (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में से किसी एक का शरीर धारण किया।**' तीन का कोई एकसाथ नहीं होता, ऐसा। '**वहाँ भी अन्य देवों का वैभव देखकर**'... देखो ! दूसरे देवों का वैभव देखर '**पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूप अग्नि में जलता**

रहा...' और यहाँ जैसे दूसरों का वैभव देखकर जलते है न ? सुलगते हैं न ? मेरे पास पचास हजार, उसके पास पाँच लाख; मेरे पास दो लाख, उसके पास दस लाख एसे की ऐसी होली सुलगती ही है। वहाँ देव में भी ऐसी जलन है। अन्य देव बहुत सुन्दर हो, बड़ी पदवी का देव हो (उसके नीचे नोकर हो), आहा...हा...! हम नोकर, यह बड़ा देव। उसने क्या किया ? हमारा हाल किया - यह जलन।

यहाँ दो भाई हों और उनमें (एक) पाँच करोड़, दस करोड़ का (स्वामी) हो जाए तो दूसरे का जलन होती है। गाँव में एक मुसलमान बढ़ जाए - उसकी जलन इसे नहीं होती। है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ वह बाहर का आदमी है - ऐसा कहता है। बाहर के आदमी के कारण (नहीं जलता।), घरके आदमी (देखकर जलता है।) डॉक्टर ठीक कहता है। कारण कि बाहर के आदमी के साथ हमे क्या संबंध हो ? तुम्हारे क्या ? लड़का नहीं मिलता। सबके लड़के कमाते है, परन्तु यदि एक बढ़ गया होवे तो, अब नहीं रहूँ साथ, तुम्हारे आमदनी बड़ी है, सरखाई है, इसलिए हम शामिल नहीं। ए...ई ! जलन होती है। अरे...! इस पाँच लाख इकट्ठे हुए। हमारे तो पूरी जिन्दगी में एक एक को पाँच लाख आवे ऐसा तो हुआ नहीं। ऐ... जलन होती है।

'**मन्दारमाला मुरझाते देखकर...**' लो ! इन भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष को यहाँ भी माला होती है, हाँ ! शरीर प्रमाण माला। माला, फूल की माला (होवे), ऐसी कोई माला मुरझाते देखकर, उन्हें ऐसी माला ही होती है। अभी बड़े-बड़े (लोग) नहीं (पहनते) ? पूरे शरीर प्रमाण बड़ी लम्बी माला होती है। वह मुरझाये तब दिखता है कि पुण्य क्षीण हुई, आयुष्य पूरा हो गया। ओ..हो..! यह देव कहते कि यह मुरझाये तब आयुष्य पूरा होता है।

'**शरीर तथा आभूषण की कान्ति क्षीण होती देखकर...**' लो ! शरीर भी क्षीण होता दिखता है। अन्दर दिखे ऐसा, हाँ ! हाय... हाय... बस ! चले अब !

मुमुक्षु :- माला।

उत्तर :- ऐसा होता है कुछ। बड़े शुभभाव वालों को होता है। पूरे शरीर प्रमाण बड़ी माला होती है। स्वयं की कान्ति हीन देखकर आभूषणों की कान्ति भी मन्द दिखती है। देखो ! पुण्य के

कारण, देखो ! आभूषण शाश्वत् है, परन्तु आभूषण शाश्वत (होने) पर भी वह पुण्य घटा न ? पुण्य का दिखाव ऐसा मन्द दिखता है। देखो ! विशेषता देखो ! आभूषण शाश्वत है। वे कहाँ तुम्हारे यहाँ के घड़े हुए है ? उनकी आँख में ही ऐसा दिखता है। कर्म का उदय मन्द हो गया, अब यहाँ से मरकर जाना है। आभूषण ऐसे दिखते हैं। देखो न ! यहाँ गहने पहनते हैं, तब कैसे पहनते हैं ? देखो न ! समान करके ऐसे ऐसे ऐसे ऐसे लटकते झूलते, लटकते झूलते, यहाँ डाले यह, यहाँ डाले। वे मारवाड़ी तो फिर क्या करे, नहीं करते ? मारवाड़ी नहीं ? उनमें कुछ भान न हो और उसमें से कुछ गिर गया होवे तो हाय... हाय... और यही ऐसे ऊपर (चोट) लगी हो शोभा में खड़े... कहते हैं। ऐसे (अवतार) अनन्तबार किये।

उनकी शोभा मन्द देखकर '**अपना मृत्युकाल निकट है - ऐसा अवधिज्ञान द्वारा...**' अवधि अर्थात् विभंग। मिथ्यादृष्टि को तो विभंग होता है। समझे ? उस विभंग ज्ञान द्वारा '**जानकर हाय ! अब यह भोग मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे।**' हाय... हाय...! अब यहाँ से चला जाऊँगा। अरबों वर्ष यहाँ रहा, असंख्य वर्ष रहा... अब ? चले जाओ अन्यत्र... करते है न देव भी हाय... हाय.. करते हैं। नारकी हाय, मनुष्य हाय, देव और तिर्यंच। निगोद तो बिचारे हाय कहाँ कर सकते हैं ? महादुःख में लीन हो गये हैं।

'**ऐसे विचार से रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये।**' लो ! समझ में आया ? भवनत्रिक का (चित्र) किया है, हाँ ! ऐसे अवतार भव के किये। '**अकामनिर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्म के उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता...**' ऐसा कहाँ से आया ? कर्म के उदय-प्रमाण होवे तो यह इच्छा मन्द करके पुण्य किस प्रकार बाँधे ? जितना कर्म का उदय है, उस प्रमाण यहाँ विकार होवे तो यह अकामनिर्जरा सिद्ध नहीं होती। लोग समझे बिना कहते हैं। '**चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुरुषार्थ कर सकता है।**'

देवगतिमें वैमानिक देवोंका दु:ख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय;
तहँतें चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरेकरे।।१६।।

अन्वयार्थ :- (जो) यदि (विमानवासी) वैमानिक देव (हू) भी (थाय) हुआ [तो वहाँ] (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन (बिन) बिना (दुख) दु:ख (पाय) प्राप्त किया [और] (तहँते) वहाँसे (चय) मरकर (थावर तन) स्थावर जीव का शरीर (धरैं) धारण करता है, (यों) इसप्रकार [यह जीव] (परिवर्तन) पाँच परावर्तन (पूरे करै) पूर्ण करता रहता है।

भावार्थ :- यह जीव वैमानिक देवों में भी उत्पन्न हुआ किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शन के बिना दु:ख उठाये और वहाँ से भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों* के शरीर धारण किये; अर्थात् पुन: तिर्यंचगतिमें जा गिरा। इस प्रकार यह जीव अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और पाँच परावर्तन कर रहा है।।१६।।

'**देवगति में वैमानिक देवों का दु:ख**' अब अन्तिम बड़ा देव।

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय;
तहँतें चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरेकरे।।१६।।

देखो ! इसमें दिखाव कैसा दिया है, देखा ? एक देव है, वह मरकर वनस्पति में जाता है, देखो ! दिखा ? इस और यह देव है। वह मरकर... वनस्पति में जाता है। है ? भाई ! वैमानिक का देव, बड़ा दो सागर का आयुष्य होता है। दो सागरोपम। असंख्यात अरब वर्षों का पल्योपम और ऐसे दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम का सागर; ऐसे दो सागर; वह मरकर देखो ! इस वृक्ष में उत्पत

---

* मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

हुआ, देखो ! यह वृक्ष। वनस्पति के वृक्ष का कहीं अच्छा फूल होता है न ?वहाँ मरकर अवतरित होता है झट से ! आहा..हा..! अवतरित होता है न ? यह जीव अवतरित हुआ होगा या नहीं ? यह अवतरित हुआ, उसकी तो बात चलती है। अनन्तबार देव मरकर एकेन्द्रिय हुआ। हाय... हाय...! ऐसे अनन्त अवतार मिथ्यादर्शन के प्रभाव से किये।

'**यदि वैमानिकदेव भी हुआ (तो वहाँ) सम्यग्दर्शन बिना...**' सम्यग्दर्शन से रहित जीव की बात है, हाँ ! वैमानिकदेव में सम्यग्दृष्टि है, वे तो फिर एकावतारी होकर मोक्ष जाते हैं। सम्यग्दर्शनवाला (देव की) बात इसमें नहीं है। '**सम्यग्दर्शन के बिना दुःख प्राप्त किया। वहाँ से मरकर (थावर तन) स्थावरजीव का शरीर धारण करता है...**' एकेन्द्रिय होता है, एकेन्द्रिय ! आहा...हा...! पृथ्वी में उत्पन्न हो, हीरा-माणेक में उत्पन्न हो, जल में उत्पन्न हो, ऊँचा-अच्छा पानी होता है न ? स्वातिबिन्दु आदि, मोती पकते और होते हैं न ? उसमें उत्पन्न होता है। फूल में अवतरित होता है, अच्छे चम्पाके, गुलाब के फूल होते है न ? देव मरकर वहाँ अवतरित होता है। एकेन्द्रिय वनस्पति होता है। ऐसे अवतार अनन्तबार किये हैं। समझ में आया ?

'**(परिवर्तन) पाँचो परावर्तन (पूरे करै)**' लो ! यह अन्तिम श्लोक है न ? इस प्रकार निगोद, तिर्यंच, मनुष्य, देव...। अनन्त बार द्रव्य में सभी रजकण ग्रहण किये - ऐसे अनन्त अवतार द्रव्य से किये; क्षेत्र में अनन्त अवतार किये; काल में एक-एक समय में अनन्त अवतार किये। अनन्त चौबीसी में एक-एक चौबीसी के एक समय में अनन्त अवतार किये। ऐसे एक भव

के अनन्त अवतार और भाव के अनन्त अवतार। भाव अर्थात् शुभाशुभभाव, उस शुभाशुभभाव के भी अनन्त अवतार किये। समझ में आया ? भव अनन्त... भाव अनन्त, द्रव्य, क्षेत्र और काल प्रत्येक में अनन्त-अनन्तभव किये। जितने रजकण हैं, उतने लिये, छूटे। अनन्त बार। क्षेत्र में एक-एक क्षेत्र में अनन्तबार जन्मा और मरा। अनन्त चौबीसी में एक-एक चौबीसी पहले से शुरुकरो तो एक समय में जन्म, दूसरे समय में जन्म, तीसरे समय ऐसे अनन्तबार जन्म, अनन्तबार मरण एक-एक चौबीसी मे। ऐसे एक-एक भव (गति) में अनन्तभव और एक-एक शुभ-अशुभ में अनन्तभाव। ऐसे अनन्तबार शुभभाव, अनन्त बार अशुभभाव किये और परिवर्तन पूरे किये - ऐसा यहाँ अन्त में कहते हैं। इस चार गति के दुःख मिथ्यादर्शन के प्रभाव से, आत्मदर्शन के बिना, सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना इसने ऐसे चार गति के दुःख और परिभ्रमण पूरा किया। लो !

'**भावार्थ :- यह जीव वैमानिक देवों में भी उत्पत हुआ, किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शन के बिना दुःख उठाये और वहाँ से भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों में...**' इत्यादि अर्थात् पृथ्वी, जल और वनस्पति, तीन ही/ तीन लेना। '**शरीर धारण किये अर्थात् फिर से तिर्यंचगति में आ पड़ा। इस प्रकार यह जीव संसार में अनादिकाल से...**' यह पहली ढ़ाल में पूरा किया। इस प्रकार '**अनादि काल से भटक रहा है और पाँच पाँच परावर्तन कर रहा है।**' सब दुःखों की व्याख्या आ गयी। अब, इसके बाद दूसरी ढाल में सीधे लेगें - '**ऐसे मिथ्यादृग...**' ऐसा लेंगे, लो ! है ?

इस प्रकार चार गति के भव अनन्तबार मिथ्यादर्शन के कारण, मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के कारण (किये)। इसलिए पहले यह बात की। भटका है मिथ्यादर्शन के कारण। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि का क्या स्वरूप है ? - यह दूसरी ढाल में कहेंगे। (विशेष कहेंगे।)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

दूसरी ढाल

(पद्धरि छन्द) १५ मात्रा

संसार (चतुर्गति) में परिभ्रमणका कारण :-

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।

अन्वयार्थ :- ढयह जीवज (मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर (ऐसे) इस प्रकार (जन्म-मर्ण) जन्म और मरण के (दुख) दुःखों को (भरत) भोगता हुआ [चारों गतियों में] (भ्रमत) भटकता फिरता है। (तातैं) इसलिये (इनको) इन तीनों को (सुजान) भली भाँति जानकर (तजिये) छोड़ देना चाहिये। [इसलिये] (तिन) इन तीनों का (संक्षेप) संक्षेप से (कहूँ बखान) वर्णन करता हूँ उसे (सुन) सुनो।

भावार्थ :- इस चरण से ऐसा समझना चाहिये कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान, चारित्रसे ही जीवको दुःख होता है अर्थात् शुभाशुभ रागादि विकार तथा परके साथ एकत्व की श्रद्धा, ज्ञान और मिथ्या आचरण से ही जीव दुःखी होता है; क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता - ऐसा जानकर सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिये। इसलिये मैं यहाँ संक्षेप से उन तीनोंका वर्णन करता हूँ।

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल १, शनिवार
दि. २२-१-१९६६, श्लोक १ से ३, प्रवचन नं. ५

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी पहली ढाल पूर्ण हूई। (अब), दूसरी ढाल। ढाल को चाल भी कहा जाता है और ढाल अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि से आत्मा के स्वभाव की रक्षा करने की आड़ में छहढाला कहा जाती है। पहली ढाल में चार गति के दुःखो का वर्णन किया। वह दुःख क्यों भोगा ? - ऐसा कहते हैं।

'**संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण का कारण।**' अर्थात् चार गति है - ऐसा फिर सिद्ध किया। पहले बात आ गयी है। निगोद, वहाँ से निकलकर तिर्यंच हुआ, वहाँ से नरक में गया, वहाँ से मनुष्य हुआ, देव हुआ - इसने मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से ऐसे अनन्त अवतार किये हैं। स्वर्ग के भव भी अनन्त किये हैं। पाप किये तो नरक-निगोदादि में गया, पुण्यादि किये हों तो मनुष्य और स्वर्ग में (गया)। इस प्रकार अनन्त काल से चार गतियों में (भटकता है।) इसलिए मिथ्यादर्शन शब्द लिया है। देखो !

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।

'**(यह जीव) (मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्यादर्शन- मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश...**' इसका स्पष्टीकरण करेंगे। '**ऐसे-**' यहाँ वजन है। पूर्व में कहा ता न कि अनन्त कालनिगोद में रहा, एक श्वास में अठारह भव किये। कितने ? अठारह, अठारह भव एक श्वास में ! ऐसे-ऐसे अनन्तकाल निगोद में रहा। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थंकर ने देखा कि इस मिथ्याश्रद्धा और ज्ञान के ज़ोर से यह निगोद में भी इनके कारण रहा, भाई ! कर्म के कारण नहीं - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है, देखो !

'ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत मरत दुख जन्म-मर्ण।' उस निगोद में अनन्तकाल रहा। एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वे भी अपनी मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के कारण रहे हैं। कहो, ठीक है ? इसमें से निकलता है। निकलता है न ? '**ऐसे**' यह शब्द कहकर, पूर्व में पहली ढाल में जो चार गति के दुःखो का वर्णन किया है - उसका कारण बतलाते हैं। देखो ! ऐसा कहा है न ? '**संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण की कारण।**' यह कारण है। कर्म कारण नहीं है; कर्म तो जड़, मिट्टी-धूल है। वे यह जड़ मिट्टी तत्त्व है, अजीवतत्त्व है। इसे चार गतियों में भटकने का कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग-द्वेष परिणाम (है।) इनके कारण यह जन्म-मरण के दुःख सहन किये हैं। कहो, भाषा कैसी सरस की है ! देखो न ! है ? अन्य (लोग) कहते हैं - कर्म के कारण (परिभ्रमण किया है।) कर्म तो जड़ है, मिट्टी-धूल है; तू भाव करे, तदनुसार कर्म बँधते हैं। तेरे भाव के कारण चारगतियों में भटका है। कहो, ठीक है ? भाई ! या कर्म के कारण ?

मुमुक्षु :- नहीं, नहीं; प्रभु !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं ? यह क्या कहते हैं ? '**ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत, मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' यह '**वश**' ऐसे डाल देना चाहिए। छपने में भूल पड़ गयी है। चर्ण ऐसे चाहिए वश ऐसे चाहिए। '**वश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' ऐसे चाहिए। चरण है और सामने '**मरण**' चाहिए। समझ में आया ?

अनादि से एकेन्द्रि, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (हुआ।) मनुष्य के भव ऊपराऊपर करे तो आठ करे, ऐसे अनन्त भव किये। स्वर्ग के भी ... महा दया, दान, व्रत, भक्ति - ऐसे पुण्य किया, (उसके कारण) स्वर्ग में भी अनन्त भव किये; परन्तु मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र क्या है ? - उसका ज्ञान इसने नहीं किया। इस मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या राग-द्वेष के कारण अनन्त काल से ऐसे निगोद से लेकर (देव तक के) भव किये। समझ में आया ?

उनके वश '**इस प्रकार से जन्म और मरण के दुःखो को...**' जन्मना और मरना ऐसे

दुःखो को '**भोगता हुआ...**' जन्म-मरण की व्याख्या संयोग से की है। वस्तुतः तो ऊपर कहा, मिथ्यादर्शन, ज्ञान और विकार - यह दुःख के कारण हैं, ये दुःखरूप है; संयोग दुःखरूप नहीं है। समझ में आया ? प्रतिकूल संयोग, वह दुःख का कारण नहीं है, वह तो मिट्टी-धूल-पर है। इसी तरह अनुकूल संयोग, सुख नहीं है। मूढ़ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को उसे अनुकूल होवे तो मुझे ठीक और प्रतिकूल होवे तो अठीक - ऐसा मिथ्याश्रद्धा से मानकर दुःखी हो रहा है। समझ में आया ?

'**जन्म और मरण के दुःखों को भोगता हुआ (चारों गतियों में)...**' देखो ! यह चार गतियाँ इसमें दी है, हैं ! इसमें दी है, चक्र बनाया है न ? देखो ! यह चक्र है इसमें ? भाई ! चार गतियाँ है, देखो ! मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र, इन तीनों के कारण निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक, अन्तिम ग्रैवेयक (में) मिथ्यादृष्टि देव होकर प्रत्येक जीव ने अनन्त अवतार किये है। उनमें सब से कम मनुष्य के किये, अनन्त अवश्य परन्तु मनुष्य के थोड़े (किये हैं।), उससे असंख्यगुने नारकी के; अनन्त तो दोनों ही है परन्तु असंख्यगुने नारकी के; उससे असंख्यगुने देव के अभी तक किये है; उससे अनन्त गुने तिर्यंच के किये हैं।

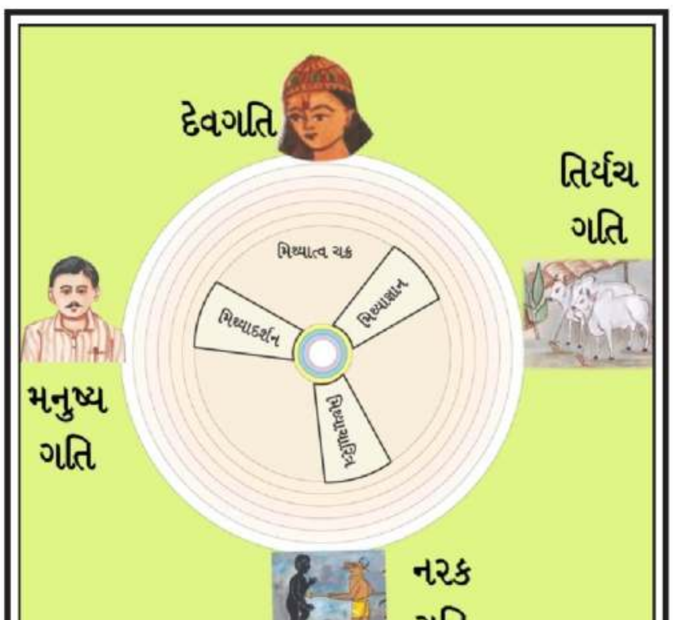

भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में परमेश्वर तीर्थंकरदेवने (जीव) चारगति में कहाँ-कहाँ कितना काल रहा - यह उनके केवलज्ञान में भासित हुआ है, तदनुसार ऐसा अनन्त काल चारो गतियों में रहा परन्तु अनन्त अनन्त में अन्तर है। बहुत काल तो निगोद

और पशु में व्यतीत किया। मिथ्यादर्शन क्या है और सम्यग्दर्शन क्या है ? इसकी इसने कभी पहिचान ही नहीं की है।

'**(चारों गतियों में) भटकता फिरता है; इसलिए इन तीनों को भलीभाँति जानकर...**' देखो ! तीन अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, इन्हें जानकर, '**छोड़ देना चाहिए।**' जानकर छोड़ेगा न ? जाने बिना क्या छोड़े कि यह मिथ्याश्रद्धा क्या है ? यह स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! स्वयं करेंगे। '**(इसलिए) इन तीनों का संक्षेप से (कहूँ बरवान)...**' मैं वर्णन करता हूँ। तीनों का संक्षेप में वर्णन करंगे। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो शास्त्र में बहुत कहा है।सन्तों ने, मुनियों ने परम्परा में बहुत (कहा है) परन्तु मैं इस बात को संक्षेप में कहूँगा; इस प्रकार ग्रन्थकर्ता 'दौलतरामजी' कहते हैं। '**सुनो !**' इस शब्द का वजन है। है न ? '**सुन...सुन...**' सुनो ! कहते हैं कि मिथ्यादर्शन - विपरित मान्यता, विपरित ज्ञान और विपरित राग-द्वेष से चारगति में कैसे भटका है ? यह बात सुनो। सुनाते हैं।

'**भावार्थ :- इस चरण से ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही जीव को दुःख होता है...**' देखो ! इनसे दुःख होता है। इनसे परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है - दो बातें लेना है। क्या कहा ? मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है, (इस प्रकार) दो बातें लेना। '**शुभाशुभ रागादि विकार...**' देखो ! '**शुभाशुभ रागादि विकार तथा पर के साथ एकत्व होता है...**' लो ! दुःखी होने का कारण - एक तो शुभ-अशुभ पुण्य-पाप का भाव, वह विकार है। वह मेरा मानता है - यही मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- परिभ्रमण का दुःख है ?

उत्तर :- यह भटकता है, इससे और दुःख भी यही है, ऐसा। यहाँ तो परिभ्रमण का कारण सिद्ध किया है न ? फिर तो अर्थ में ज़रा दुःख कहा। उन जन्म-मरण के दुःख से (अधिक) करते यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान का दुःख है ऐसा कहा, परन्तु उनके कारण ही भटकता है और वही दुःख का स्वरूप है, ऐसा। समझ में आया ? आहा...हा...!

कहते हैं - शुभ और अशुभ पुण्य-पाप के भाव, वे मेरे हैं - ऐसी जो श्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। वह शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव-दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव (अशुभभाव) ये दोनों विकार हैं। वह विकार मेरा स्वरूप है, मुझे लाभदायक है अथवा वे मेरे हैं - ऐसी मान्यता को भगवान मिथ्यादर्शन कहते हैं। वह मिथ्यादर्शन और उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं, कारण कि उस पर ज्ञान करके आत्मा का ज्ञान छोड़ दिया, उसे ही मिथ्याचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया ?

शुभाशुभभाव अथवा पर के साथ (अर्थात्) देह, मन, वाणी - यह सब तो जड़ मिट्टी है, अजीव है। दो तत्त्व लिये - एक अजीवतत्त्व और (दुसरा) आस्रवतत्त्व। शरीर, वाणी और जड़ कर्म, यह अजीवतत्त्व है तथा पुण्यऔर पाप का भाव, वह आस्रवतत्त्व (है)। नव तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष है। उनमें यह शरीर, वाणी, कर्म-मिट्टी, यह तो अजीवतत्त्व है। उसे अपना माना कि इस देह की समस्त क्रिया में करता हूँ, यह वाणी मैं बोलता हूँ, देह से काम चले, वह मुझसे होता है - यह सब अजीव को अपना माना है, यह मिथ्यादर्शन-ज्ञान है। समझ में आया ? नवतत्त्व भित-भित हे; जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अतः अजीवतत्त्व तो पृथक्तत्त्व है। इस पृथक् तत्त्व की क्रिया होती है, वह आत्मा से होती है - ऐसा मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग है। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आता है ? और दूसरा शुभाशुभराग - आस्रव, पुण्य-पाप का भाव (है।) नवतत्त्व है न ? शुभ - दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प (होवे), वह शुभभाव है, वह पुण्य है; हिंसा, मूढ, वह पाप है - ये दोनों ही आस्रव है, और दोनों में भटकना बन्धभाव है। इस पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध को अपना स्वरूप मानना, (यह मिथ्यादर्शन - मिथ्याज्ञान है।) स्वयं ज्ञानस्वरूप चिदानन्द भगवान आत्मा है, उसे नहीं मानकर इस प्रकार को अपना मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। आहा...हा...! समझ में आया ?

दो को भित-भित न मानकर एक माना; जीव और अजीव को एक माना तथा आस्रवतत्त्व और जीव को एक माना। है भिन्न तत्त्व; वरना नौ किस प्रकार होंगे ? समझ में आया ? भाषा

थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है न ? थोड़ी-थोड़ी समझ लेना। आहा...हा...! कहते हैं कि आस्रव और पर अजीव के साथ एकत्व की श्रद्धा, मिथ्यादर्शन शल्य है। आहा...हा...! वह मिथ्याज्ञान है, ऐसे मिथ्या आचरण से, यह चारित्र कहा। इस प्रकार पर को अपना मानना, आस्रव को अपना मानना, देह को अपना (मानना), देह की क्रिया मुझसे होती है - ऐसा मानना, यह वाणी निकलती है - वह भी मैं बोलता हूँ - ऐसा मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है। इनसे ही '**जीव दुःखी होता है।**' कहो, समझ में आया ?

कर्म परिभ्रमण नहीं कराता और कर्म से दुःखी नहीं होता, दो बात सिद्ध करना है, भाई ! आहा...हा...! कर्म तो जड़ है, अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व से आत्मा परिभ्रमण करे ? अपनी भूल से भ्रमता है या अजीव से भ्रमता है ? और अजीव से दुःख होता है ? स्वयं विपरीत मान्यता और विपरीत भाव करे तो दुःख होता है। क्या जड़ से आत्मा को दुःख होता है ? समझ में आया ? भाई !

मुमुक्षु :- जी हाँ !

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ जी, परन्तु धीरे-धीरे आया। यह विपरीत मान्यता है, कहते हैं। यह शरीर में ऐसा हुआ, इसलिए दुःखी हूँ, मूढ़ है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु :- साक्षात् दुःख दिखता है।

उत्तर :- धूल में भी दुःख नहीं है। मिट्टी में क्या है ? यह मिट्टी है, यह तो अजीव है, जड़ है, चैतन्य के होंशरहित तत्त्व है, अजीव रजकण हैं। अ-जीव (अर्थात्) रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाला। इसमें कुछ दुःख है ? उसमें दुःख है ? अथवा इसमें आनन्द है या आनन्द की विपरीत दुःखदशा हो ? आनन्द तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान आत्मा है। आहा...हा...! (जिसे) नवतत्त्व का पता नहीं होता, उसे श्रद्धा-मिथ्यादर्शन कैसे जाए ? भाई ! आहा...हा...!

मुमुक्षु :- नव तत्त्व तो मानता है !

उत्तर :- क्या धूल भी नहीं मानता (नाम भी नहीं आते होंगे; नाम आते हों तो उनके भाव का पता नहीं होता। समझ में आया ?

कहते है - यह मिथ्याश्रद्धा, यह आस्त्रवतत्त्व अथवा पुण्य-पापतत्त्व अथवा भावबन्ध; भावबन्ध, हाँ ! अटकरूप बिकार को और अजीव - कर्म, शरीर, वाणी, मन; यह पुद्‌गल, पैसा-धूल आदि पर, यह सब मेरे हैं - ऐसा मानने का नाम मिथ्याश्रद्धा, उसका नाम मिथ्याज्ञान और यह राग-द्वेष और मिथ्या आचरण कहा, उससे जीव परिभ्रमण करता है और उससे ही स्वयं दुःखी होता है। दो बातें लेना। कहो, ठीक होगा इसमें ? भाई !

'**क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**' निर्धनता, शरीर में रोग या स्त्री मर जाना, मकान नहीं होना, विवाह न होना, बाँझपन - यह चीज़ दुःख का कारण नहीं है, यह तो पर संयोगी वस्तुएँ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यह जीव संयोग में तो गुम गया है।

उत्तर :- गुम नहीं गया, मान्यता में गुम गया है, संयोग में नहीं गुमा, मान्यता में गुम गया है। जहाँ ऐसी प्रतिकूलता आती है, वहाँ यह... मुझे हो गया ! तुजे क्या है ? वह तो जड़ में है भाई ! शरीर में रोग (आता है।)

देखो ! यहाँ कहा वह '**संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**' क्योंकि भगवान ने अजीवतत्त्व को आत्मा से भित कहा है। यह आत्मा जीवतत्त्व है और यह सब मिट्टी अजीवतत्त्व है। यह रोग, पैसा, स्त्री, पुत्र, शरीर; शरीर, हाँ ! - यह अजीवतत्त्व, आत्मा को दुःखरूप नहीं होता, (क्योंकि) यह तो जड़-मिट्टी है; दुःख तो विकारभाव है, अतः अजीव कहीं विकारभाव नहीं कराता। स्वयं भूलकर 'मुझे इसमें दुःख है' - ऐसी मिथ्याश्रद्धा खड़ी करके दुःखी होता है। कुछ भान नहीं होता, भान। एक भी तत्त्व का पता नहीं होता। तब क्या उबता जाता है ? सवेरे में ऐसे अन्दर से आकर चिल्लाहट करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा...हा...!

देखो न ! एक गाथा में कितना रख दिया है ! यह '**चर्णवश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण**' इसके कारण भ्रमा और मरत दुःख (अर्थात्) इसके कारण जन्म-मरण का दुःख भोगा। इसमें दोनों ही भाषा आ गयी। इसमें आया न ? '**मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत...**' और '**मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' कितना स्पष्ट किया है ! 'दौलतरामजी' ने एक सादी हिन्दी भाषा में किया

है। लो ! है ? पढ़ा है तुमने ? समझ में आया ?

कहते हैं - संयोग सुख-दु:ख का कारण नहीं है। यह धूल-पैसा पाँच-पच्चीस लाख-सुख की कारण नहीं है; यह तो जड़-मिट्टी है। जड़ सुख का कारण होगा ? क्या कहते हैं ? संयोग है, वह तो धूल - अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व सुख का कारण है ? अजीव में सुख है ? परन्तु 'मुझे सुखरूप होगा' - ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता, मिथ्यादर्शन की शल्य को खड़ा करके भ्रम रहा है और दु:खी हो रहा है - ऐसा है। समझ में आया ? अनुकूल निरोग शरीर हो तो अपने की ठीक (रहे !) निरोग अर्थात् क्या ? वह तो शरीर की दशा है, जड़ की -मिट्टी की (दशा है।) संयोग से कोई प्रतिकूलता और संयोग से अनुकूलता है ही नहीं। सातवें नरक का नारकी, जिसे भगवान भंकर नरक कहते हैं, वह जीव भी इतनी प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, लो ! संयोग कहाँ रोकता है ? ऐसे सातवें (नरक में पाता है।)

मुमुक्षु :- तो रोकता कौन है ?

उत्तर :- यह विपरीत मान्यता, यह अड़चन (है।) यह क्या कहा ? यह क्या कहते हैं ? इसकी (ऐसी) विपरीत श्रद्धा इसे रोकती है। यह बाहर के साधन मुझे दु:ख (रूप) है और यह मुझे सुख(रूप) है। मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, उसकी श्रद्धा का भान नहीं और यह मेरा और यह तेरा - इस पर को माना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है; फिर त्यागी हुआ हो और भोगी हुआ हो और सामायिक-प्रौषध करके बैठा हो परन्तु यह मान्यता है तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। समझ में आया ? उसे मिथ्यादर्शन है, उसे जरा भी धर्म-बर्म नहीं है। समझ में आया ?

'**ऐसा जानकर सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए।**' समझ में आया ? '**इनको तजिये**' हे न ? '**तातैं इनको तजिये सुजान...**' सुजान (अर्थात्) भलीभाँति जानकर; बिना जाने किस प्रकार छोड़ेगा ? यह सुख है, यह दु:ख है - पर के कारण माना है - यह मिथ्याश्रद्धा है; पर के कारण सुख-दु:ख नहीं है। तूने सुख-दु:ख की मान्यता करी; इसलिए सुख-दु:ख कल्पना है, वस्तु में (सुख-दु:ख नहीं है।) भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। केवली ने तो ऐसा देखा है कि तेरा आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति से

भरपूर आत्मा है, उसे भगवान ने आत्मा देखा है। भगवान ने उसे आत्मा कहा और देखा है। अन्दर ज्ञान, आनन्द और शान्ति भरी हुई है, उसका नाम भगवानने आत्मा देखा है। पुण्य-पाप भाव को तो भगवानने आस्रवतत्त्व देखा है; कर्म, शरीर को भगवान ने अजीवतत्त्व देखा है और इस अजीव तथा आस्रव को अपना माने और आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे अपना नहीं माने - यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए। समझ में आया ? अनन्त काल से परमेश्वर होते आये है या नहीं ? वर्तमान में केवलीरूप से सीमन्धर भगवान विराजमान है (और) लाखों केवली तथा बीस तीर्थंकर (बिराजमान है, उन्होंने) तो तेरे आत्मा को ऐसा देखा है - शुद्ध ज्ञानस्वरूप (देखा है), फिर इसमें (आगे) आयेगा। देखो ! '**विनमूरत चिनमूरत...**' फिर आयेगा। भगवान ने तो यह देखा है कि आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति की मूर्ति है, अरूपी है। भगवानने तो ऐसा देखा है। वे पुण्य-पाप के भाव उत्पत हो - दया, दान, काम, क्रोध को तो आस्रवतत्त्व देखा है और कर्म, शरीर को भगवानने अजिवतत्त्व देखा है और (यदि) तू अजीव और आस्रव को अपना मानता है तो भगवान की मान्यता से तेरी मान्यता (विपरीत) हो गयी और तेरे तत्त्व से भी तेरी मान्यता खोटी हो गयी। समझ में आया ? '**सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए। इसलिए मैं यहाँ संक्षेप से उन तीनों का वर्णन करता हूँ।**' लो !

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।

अन्वयार्थ :- (जीवादि) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (प्रयोजनभूत) प्रयोजनभूत (तत्त्व) तत्त्व है, (तीनमांहि) उनमें (विपर्यत्व) विपरीत (सरधैं) श्रद्धा करना [सौ अगृहीत मिथ्यादर्शन है।] (चेतनको) आत्मा का (रूप)

स्वरूप (उपयोग है) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है [और वह] (विनमूरत अमूर्तिक) (चिन्मूरत) चैतन्यमय [तथा] (अनूप) उपमारहित है।

भावार्थ :- यथार्थरूप से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये इन सात तत्त्वों को जानना आवश्यक है। सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप अर्थात् ज्ञातादृष्टा है। अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमा रहित है।।२।।

'**अगृहित मिथ्यात्व...**' अर्थात् अनादि की मिथ्याश्रद्धा। अगृहीत अर्थात् नयी नहीं ग्रहण की हुई। जन्म के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र मिले और विपरीत श्रद्धा ग्रहण करे, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, परन्तु अनादि के निगोद से लेकर निसर्ग अर्थात् स्वाभाविक विपरीत मान्यता अनादि से की है, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। '**अगृहीत मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण।**' इसमें दो व्याख्या करेंगे। अगृहीत समझ में आया ? अनादिकाल से उन पुण्य और पापभावों को अपना माना; ज्ञानानन्दस्वरूप को भूला ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, वह अगृहीत मिथ्यात्व है, नयी ग्रहण नहीं की है। अनादि के निगोद एकेन्द्रिय वे जीव से लेकर स्वर्ग में देव हुआ, अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, साधु होकर पंच महाव्रत की क्रिया पालन कर (वहाँ गया) परन्तु इसने अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं किया। वह अगृहीत अर्थात् वह पुण्य और दया, दान, व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकार है, उसे अपना मानना, अगृहीत मिथ्यादर्शन है। आहा...हा...! समझ में आया ?

प्रश्न :- अनादिकाल का है, इसलिए तो मजबूत है ?

उत्तर :- यह मजबूत तो अगृहीत उपरान्त गृहीत हो, वह मजबूत है। अगृहीत का अर्थ इतना कि अनादि से ग्रहण किया है, नया नहीं। यह मिथ्यादर्शन अनादि का है और जन्मने के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की विपरीत मान्यता करने का नाम गृहीत मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्व को

अधिक पुष्ट किया। आयेगा, इसमें सब आयेगा। समझ में आया ? किसी दिन, पढ़ा है कभी ? ऊपर-ऊपर से मान्यताएँ चला रखी हैं। इसने तो पुस्तक छपायी है, कोई गप्प छपाई हो।

अब, अगृहीत मिथ्यादर्शन की व्याख्या करते हैं -

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।

देखो ! वह पहले कहा था न ? वह, आत्मा का...ए...ई... देवानुप्रिया ! कहाँ गया ? ए...ई... क्या कहा था ? पहले इसमें आत्मा का रूप कहा था न ? 'आत्मा का रूप नहीं जाना' - नहीं आया था ? '**कैसे रूप लखे आपनो...**' चौदहवी, चौदहवी (पहली ढाल की चौदहवी गाथा)। '**कैसे रूपलखे आपनो**' - यह रूप अर्थात् आत्मरूप है। देखो ! यहाँ ले लिया, देखो ! '**चेतन को है उपयोगरूप**' है न ? '**बिनमूरत, चिनमूरत, अनूप**' बहुत सरस बात। संक्षिप्त में बहुत अच्छी की है। अब, क्या कहते हैं ?

देखो ! इसका अर्थ - '**(जीवादि)...**' नव तत्त्व है न ? यों संक्षेप में सात कही, '**जीव, अजीव...**' आस्रव में पुण्य-पाप साथ ही आ गये। '**आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष...**' भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं। इस प्रकार भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं; छह द्रव्यों के अन्तर्भेद नव तत्त्व कहे। इन नव तत्त्वों का भिन्न भिन्न स्वरूप है। वे कैसे है ? - यह सब व्याख्या अन्दर आयेगी, हाँ !

जीव, उसे कहते हैं चैतन्यरूप को। अजीव उसे कहते है कि शरीर, कर्म, धर्मास्ति आदि को; आस्रव उसे कहते हैं - जीव में होनेवाले शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव को आस्रवतत्त्व कहते हैं; बन्ध उसे कहते हैं, इनमें (रागादि मे) आत्मा का अठकना। चैतन्य मूर्ति ज्ञानान्द, राग में अटका, उसे भावबन्ध कहते हैं। संवर उसे कहते है कि शुभाशुभ विकार रहित आत्मा के चैतन्य के आनन्द का भान और शुद्ध आनन्द के भान में स्थिर हो, तब जो शुभाशुभ परिणाम रुक जाएँ, उसे संवर कहते हैं। समझ में आया ? यह संक्षिप्त व्याख्या ! आगे

सब आयेगा, हाँ !

चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा भान करके आनन्द में, ज्ञान में स्थिर हो, पुण्य-पाप के विकल्प से हटे, उतनी आत्मा की अनाकुल शान्ति उत्पन्न होती है, उसे भगवान, संवर कहते हैं। निर्जरा - पूर्व की शुद्धि से अधिक शुद्धि की शान्ति बढ़े, वीतरागता बढ़े, शुद्ध उपयोग की शुद्धि बढ़े; पुण्य-पाप भाव का उपयोग घटे; शुभाशुभ परिणाम घटे और शुद्ध उपयोग बढ़े उसे भगवान, निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? और मोक्ष-सर्वथा विकाररहित होकर आत्मा की पूर्णानन्द दशा की प्रगट दशा (होवे), उसे भगवान, मोक्ष कहते हैं। लो ! सात (व्याख्या हुई।) सात में आस्रव में पुण्य और पाप दो आ गये।

ये सात तत्त्व अथवा नव तत्त्व प्रयोजनभूत है, मतलब के हैं, स्वयं को इनका ज्ञान उपयोगी है। इन नौ का ज्ञान अपने को उपयोगी है। समझ में आया ? यह स्वयं को काम आवे ऐसा है। यह कहते हैं। समझ में आया ? यह नवतत्त्व मतलब के हैं, अपने उपयोग के हैं, अपने हित के हैं और स्वयं को प्रयोजनभूत भगवान ने सात (तत्त्व) कहे हैं, उन्हें भलीभाँति जानना चाहिए। भगवान जाने, कैसे होंगे ? गाडी भगाता (चलाया) जाता है, भाई ! ये सब पुराने मनुष्य हैं, सामायिक, पौषध और प्रतिक्रमण किया करते हैं, भगाते रहते है गाड़ी ! किसे संवर कहना और किसे आत्मा कहना ? (इसका कुछ पता नहीं हो।)

मुमुक्षु :- संवर नहीं होता ?

उत्तर :- धूल भी संवर नहीं है, वहाँ संवर कहाँ था ? आत्मा, पुण्य-पाप के राग से रहित-भिन्न भासित हुए बिना, आनन्द में स्थिर हुए बिना संवर और सामयिक होगा कहाँ से ? समझ में आया ? है ?

मुमुक्षु :- मतलब के हैं, इसलिए संग्रह कर रखना।

उत्तर :- हाँ, हाँ ज्ञान में सुरक्षित रखना। क्या कहते हैं ? कहो, ज्ञान में इसे सुरक्षित रखना, उपयोग के। पहले कहा न ? नहीं कहा ? लाभदायक है। जीव ज्ञानानन्द स्वरूप है; अजीव शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़ की क्रिया उसकी स्वतन्त्र है। दया, दान, व्रत के परिणाम उत्पत होते हैं, वह शुभ-पुण्य बन्ध और आस्रव है और इन पुण्य-पाप के परिणाम रहित भगवान आत्माका ज्ञान

करके आनन्द में, शुद्धता में पुण्य-पाप से रहित दशा आनन्द में स्थिरता, वह संवर और निर्जरा है। पूर्णानन्द की प्रगट दशा का नाम मोक्ष है। वह आत्मा को संग्रह योग्य है। लो ! उसका ज्ञान; 'सुजान' कहा न ? क्या भाषा कही ? देखो न ! उसमें 'सुजान' कहा था न ! जानने को कहा था। यहाँ कहा कि उसे जानना।विपरीत श्रद्धा, मिथ्यात्व है, सुलटी (सम्यक् श्रद्धा) लाभदायक है। समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त में गागर में सागर भर दिया है। - गागर में सागर ! हिन्दी में संक्षिप्त में बहुत भर दिया है।

यह '**(प्रयोजनभूत)**' प्रयोजनभूततत्त्व है। देखो ! पहला यह कि स्वयं क्या तत्त्व है ? - यह जाने बिना स्व में स्थिर कैसे होगा ? अजीवतत्त्व को अजीवरूप से जाने बिना उसमें से लक्ष्य किस प्रकार छोड़ेगा ? समझ में आया ? मोक्ष को जाने बिना, पूर्ण मुक्ति परमानन्द को जाने बिना मोक्ष का प्रयत्न किस प्रकार करेगा ? और प्रयत्न करना, वह तो संवर-निर्जरा है। इन पुण्य-पाप के भाव-आस्रव को जाने बिना, आस्रव को जाने बिना उससे हटना, ऐसा संवर का ज्ञान किस प्रकार होगा ? समझ में आया ? भाई ! यह तुम्हारे यहाँ 'नागनेश' में कहाँ था ? नहीं ? सब उल्टी-उल्टी बातें है, एक-एक बात ! किसी एक भी तत्त्व की - क्या तत्त्व है और उसका क्या स्वभाव है ? कुछ भी भान नहीं है और कहे हम धर्म करते हैं। धूल भी नहीं है। बकवास में जिन्दगी चली जाएगी और चौरासी के अवतार में चला जाएगा।

'**उनमें विपरीत श्रद्धा करना...**' देखो ! ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा, उसे रागवाला, पुण्य-दया, दानवाला मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। उस पुण्य-पाप के भाव से आत्मा को लाभ मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है। यह अजीव की क्रिया - देह-मन-वाणी की होती है, वह मुझसे होती है; यह पर जीव की दया चलती है, वह मैं पाल सकता हूँ - यह मिथ्यादर्शन ! कारण कि अजीवतत्त्व भिन्न है। (पर) जीव और अजीव मुझसे भिन्न है, उनकी दशा मुझसे नहीं होती, फिर भी 'मुझसे होती है' (- ऐसा माने तो) वह मिथ्यादर्शन - अगृहीत मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? तथा संवर और निर्जरा... आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप, उसकी अन्तर निर्मलता में ध्यान में एकाकार होना, उसका नाम संवर है। उसे नहीं मानकर, शुभभाव- दया, दान के होते हैं, उन्हें संवर मानना, यह मिथ्यादर्शन। समझ में आया ? और अकेले उपवास करके निर्जरा

मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन। शुद्ध आत्मा का भान होकर अन्दर में - आनन्द में स्थिर हो, अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद आवे, उसका नाम निर्जरा है। उसे नहीं मानकर, एक उपवास किया, मुझे निर्जरा हुई (- ऐसा माने), उसका नाम मिथ्यादर्शन। ऐ.... देवानुप्रिया ! ये हमारे पुराने लोग हैं। कहो, सेठिया व्यक्ति है और पुराने हैं, वहाँ 'वडाल' के। सब सुना है न ! इन्होंने जिन्दगी में बहुत सुना है, उपाश्रय के अग्रेसर। मरे तब रोवे। अरे...! भगवान, बापा ! भगवान क्या कहते है - उनके तत्त्व का पता नहीं हो तो उसे सच्ची श्रद्धा कहाँ से हुई ? आहा...हा...!

यह विपरीत श्रद्धा, उसे अगृहीत मिथ्यात्व (कहते हैं।) अगृहीत अर्थात् यह मान्यता अनादि की है, नयी नहीं है। कहो, अनादि से चला आया कहो - (सब एकार्थ है।) ओ...हो...! दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया, हाँ ! नाम मुनि (होकर) हजारों रानियाँ छोड़कर, पंच महाव्रत के परिणाम, दया के ऐसे परिणाम (पालन किये कि) ऊपर से देवलोक के देवी आवे तो भी चलित न हों ऐसे। भान नहीं होता, तत्त्व अन्दर आनन्दकन्द ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है और यह दया, दान का विकल्प उठता है, वह आस्रव और पुण्य व विकार है - इन दोनों का भेदज्ञान नहीं था, इससे मिथ्यादर्शन के कारण नौवें ग्रैवेयक में रहा। यह कहा न ? उसके कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान के कारण चार गतियों में भटका है, देवलोक में भी भटका है - ऐसा आया न इसमें ? समझ में आया ?

'**(चेतन को)...**' अब चेतन की व्याख्या करते हैं। पहले सात की व्याख्या लेनी है न ? '**(चेतन को) आत्मा का (रूप)...**' देखो ! ऐ.. देवानुप्रिया ! आत्मा का रूप आया। रूप अर्थात् स्वरूप। भगवान आत्मा अन्दर देह में विराजमान है, चैतन्य प्रभु। उसका स्वरूप कैसा है ? '**देखना - जानना...**' है। उसका स्वरूप तो देखना और जानना है। देह की क्रिया करना या राग करना, यह उसका स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? जानना-देखना, दर्शन-ज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा, दृष्टा-ज्ञाता; चैतन्य प्रतिभास। उसमें दूसरा ज्ञात हो, वह जाननेवाला। राग-द्वेष हों, वह ज्ञात हो, शरीर की क्रिया ज्ञात हो; स्वयं जाननेवाला, करनेवाला नहीं। समझ में आया ? ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने देखा कि यह तो ज्ञान और दर्शन का पिण्ड आत्मा है। जैसे, शक्कर का शक्कर और मिठास का दल है; वैसै ही

यह भगवान आत्मा जानना और देखना, उसका दल/ सत्व उसकी सम्पूर्ण शिला है। जानने-देखने के सत्व की शिला आत्मा है। अरूपी भगवान आत्मा है। उसे न मानकर, ऐसा न मानकर उसे पर की क्रिया करनेवाला मानना, उसे पुण्य के - पाप के भाववाला मानना यह चैतन्य की विपरीत मान्यता मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह तो अब पुस्तक सामने रखा है, उसका अर्थ होता है। ... में क्या लिखा है ?

'आत्मा का (रूप) स्वरूप देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है...' जिसे यहाँ भगवान आत्मा कहते हैं (उसका स्वरूप जानना-देखना है)। बाकी पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह तो आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन और यह जड़, वह तो अजीवतत्त्व है। ऐसे अजीव को अजीव; आस्रव को आस्रव; जीव को जीव इसने नहीं जाना है। गड़बड़ की है, ईधर से ऊधर और ऊधर से ईधर। जानने-देखने के स्वरूप को विकारवाला माना और विकार से आत्मा को लाभ होता है ऐसा माना है। अजीव की क्रिया जीव करता है - ऐसा माना है। जीव, अजीव की क्रिया करे, जानना-देखना नहीं परन्तु अजीव की चलना-बोलना आदि (क्रिया करे - ऐसा माना है।) ऐसा चैतन्य तत्त्व को जानने-देखने के स्वरूप से न मानकर विपरीत मान्यता की, उसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया ? है या नहीं पुस्तक ? ऐ... ई...! है ? उसमें लिखा है ? यह क्या कहा ?

'चेतन को रूप उपयोगरूप' कहा ? लो ! भाई ने क्या कहा ? **'चेतन को है उपयोगरूप, चेतन को है उपयोगरूप, बिनमूरत चिनमूरत अनूप।'** बिनमूर्ति अरूपी है वह तो; उसके रंग, गन्ध, स्पर्श (नहीं है।) बिनमूरति (अर्थात्) उसमें रंग, गन्ध कहाँ है ? यह धूल का रंग है। वह तो अरूपी है और चिन्मूरति है। बिनमूरति और चिनमूरति। बिनमूरति (अर्थात्) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित की भी चिनमूरति है। वह तो भगवान ज्ञान का तेज है, अकेले ज्ञान के प्रकाश का चन्द्र है। ज्ञान-दर्शन का पिण्ड भगवान आत्मा है। उसे भगवान ने आत्मा कहा है। उसे काम सोंपना, विकार के और पर के काम सोंपना, (वह) मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है - ऐसा कहते हैं। कहो भाई ! यह समझ में आता है या नहीं ? (पुस्तक) है न हाथ में ? हेड मास्टर है। आहा...हा...! क्या कहते हैं ? देखो !

भगवान आत्मा जानना-देखना अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा का पिण्ड है। उसमें आनन्द आदि सब है, परन्तु यह मुख्य गुण है न ? उपयोग लेना है न ? उपयोग लेना है। उपयोग अर्थात् जानना और देखना, बस ! यह जानना-देखना भगवान आत्मा का लक्षण अनादि-अनन्त भगवान न देखा है। 'उवओग लक्षणो निश्चम्' भगवान आत्मा को भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जानने-देखने के उपयोग स्वरूप से भगवान आत्मा को देखा है। उसे आत्मा कहते है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से आत्मा के लिए मानना (अर्थात्) शरीरवाला और कर्मवाला और अमुकवाला और सुखी दुःखी मानना और राजा-रंक (मानना) सब मिथ्यादर्शन शल्य है। यह आयेगा, यह बाद में आयेगा। चौथी (गाथा में) आयेगा समझ में आया ?

विपर्य श्रद्धा की बात है न ? देखो न, क्या कहा ? '**सरधैं तिनमांहि विपर्यत्व।**' इन नव तत्त्वो में विपरीतरूप मानना, उसे भगवान अगृहीत मिथ्यात्व अनादि की उल्टी मान्यता कहते हैं। अब इसमें तो दीपक जैसी बात है, इसमें कुछ सीखने का (या) बहुत लम्बे पड़खे की बात नहीं है। ऐसे जो नवतत्त्व है, उन्हें विपर्यत्व - विपरीतरूप से श्रद्धा करे; जैसे है वैसे न माने, उससे उल्टा माने। आत्मा ज्ञानस्वरूप-जानना-देखना, उसे न माने; उसे रागवाला माने, पुण्यवाला माने, कर्मवाला माने, शरीरवाला माने। वे तो भित तत्त्व हैं। यह मिथ्याश्रद्धा है। अजीव को आत्मा का कार्य करता माने। अजीव अपने आप नहीं कर सकता (ऐसा माने)। अजीव में कहाँ शक्ति है ? शरीर, वाणी जड़-मिट्टी है, उसमें शक्ति है ? वह तो आत्मा होवे तो उन्हें हिला सकता है। इस तरह मूढ़ अजीव की शक्ति को नहीं मानता। वह अजीवतत्त्व जड़ है। हिले-चले, वह जड़ के कारण है; आत्मा-फात्मा नहीं हिलाता। अजीव अर्थात् जड़। उसमें कहाँ शक्ति (है) ? उसमें अनन्त शक्ति है। आहा...हा...!

अजीव, तत्त्व है। अजीव कहीं अवस्तु नहीं है। एक-एक रजकण में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक पोईन्ट, यह तो बहुत रजकण (का पिण्ड है।) यह कहाँ मूल चीज है ? बहुत रजकण इकट्ठे होकर हुआ है। भगवान ने तो इसका अन्तिम, अन्तिम, अन्तिम टुकड़ा। उस एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। रूपी-रंग, गन्ध, स्पर्शवाले अनन्त गुण हैं, उसमें जड़ में। उसके कारण से गति करता है और उसके कारण से स्थिर होता है और उसके कारण से वर्गान्तर होता है - ऐसी

उसमें शक्ति है। ऐसा अजीवतत्त्व को ऐसा न मानकर, आत्मा उसका कुछ करदे - ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याश्रद्धा में मानता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने दी है।

उत्तर :- भगवानने जाना है, दे कौन ? भगवान ने कहा है कि जितने गुण तुझ में है... पहले कहा नहीं था ? आकाश सर्व व्यापक है न ? आकाश है या नहीं ? भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य है या नहीं ? धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। उनमें आकाश सर्वव्यापक है न ? ऐसा और ऐसा चला है न ? यह चौदह ब्रह्माण्ड तो थोड़ा है। चौदह राजू लोक तो असंख्य योजन में है, परन्तु खाली भाग है न ? अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त चला जाता है, उसे भगवान आकाश कहते हैं, आकाश। फिर कहीं (पूरा) हो रहता है ? आकाश कहीं किसी दिशा में हो रहता है ? अमाप... अमाप... अमाप... अमाप... कहीं मर्यादा नहीं आती। उसके एक-एक पोईन्ट का रजकण रखो तो एक प्रदेश कहलाता है। इतने अधिक प्रदेशों की संख्या से भी एक जीव में अनन्तगुने गुण हैं। इतने ही अनन्त गुण उस परमाणुं में है। सुना है या नहीं कभी इसने ?

यह आकाश नामक पदार्थ ऐसा का ऐसा अव्यापक अर्थात् व्यापक कहीं नहीं रूकता, न मर्यादा रहती, अमर्यादित ऐसा का ऐसा चला ही गया, चला ही गया। उसके जितने प्रदेश हैं, उससे तुलना में एक रजकण में अनन्तगुने गुण हैं। एक रजकण, हाँ ! पोईन्ट ! ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने जाना और कहा है। जाना वैसा कहा और कहा वैसा है। भगवान ने कहाँ किया था ? किया है भगवान ने ? भगवान कुछ कर्ता-धर्ता नहीं है। समझ में आया ? उस अजीव में शक्ति नहीं है - ऐसा मानता है। अपने आप शरीर चलता है ? अपने आप वाणी निकलती है ? अपने आप निकलती है। तुझे भान नहीं है, यह कहते हैं। उसमें विपर्यय श्रद्धा करता है। समझ में आया ?

चैतन्यमय आत्मा अमूर्तिक है। देखो ! एक तो ज्ञानदर्शन कहा। '**(विनमूरत)**' अर्थात् '**अमूर्तिक...**' उसमें कोई रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भगवान आत्मा में नहीं है, वह तो अरूपी है। '**(चिन्मूरत) चैतन्यमय...**' है। चैतन्य ज्ञानदर्शनमय भगवान आत्मा है और '**(अनूप)...**'

है (अर्थात्) '**उपमारहित है।**' चैतन्यमय है न ? अभेद हो गया न ? ज्ञानदर्शनमय है। अकेले ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरा हुआ और अनूप (अर्थात्) उसे कोई ऊपमा नहीं। क्या ऊपमा देना ? वह चीज़ ही महान पदार्थ है। सर्वज्ञ स्वभावी भगवान, जिसमें सर्वज्ञस्वभाव अनादि का पड़ा है; सर्वदर्शीस्वभाव अनादि का पड़ा है। यह कहा न ज्ञानदर्शन ? अनादि का अन्दर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शक्तिरूप से पूरा स्वभाव पड़ा है। उसे क्या ऊपमा देना ? ओ...हो...हो...! इस भगवान आत्मा को किसकी ऊपमा देना ? ऐसी महान चीज़ ! जो रजकण में न हो, कर्म में न हो, शरीर में न हो, पुण्य-पाप के भाव में वह चीज़ नहीं। ऐसी वह चीज़ स्वयं वर्तमान, हाँ ! अरूपी, चिन्मूरति, अमूर्तिक, चिन्मूरति, ऊपमारहित। अरे...! इसने आत्मा को सुना नहीं कि आत्मा कैसा है ? है ?

मुमुक्षु :- ऊपमा देकर (समझाओ।)

उत्तर :- उसे ऊपमा किसकी देना ? यह इसके जैसा ! इसे रूपी की ऊपमा किस प्रकार देना ? अनुपम पदार्थ, अलौकिक पदार्थ... किसकी देना ? कहो ! घी का स्वाद चखा है या नहीं ? घी का स्वाद चखा है या नहीं ? तुम्हें तो पहले से ही मिला होगा ? घर में भेंसे थी। हैं ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु उसे पता पड़े तो ऊपमा देकर बताओ। घी का स्वाद ऊपमा देकर बताओ।

मुमुक्षु :- वह तो खाकर बतायें।

उत्तर :- यह तो खाकर हुआ। यह तो जानकर हुआ। ऊपमा देकर बताओ - मैंने तो ऐसा कहा है। घी का स्वाद तुम्हारे ख्याल में है, ऊपमा देकर बताओ। किसी पदार्थ के साथ ऊपमा देकर बताओ। तुमने तो घर में भेंस का घी खाया है। हैं ? इनके घर तो भेंसे -भैंसे थी। इनके पिताजी को थी न ? इनके पिता के पिता भी (थे), घरठीक था (समझ में आया ?) ऐ।..ई...! भाई ! ... घर में रखते होंगे या नहीं पहले ? हैं ? रखते थे न ? बड़ा घर था वहाँ। कहो, समझ में आया ? क्या कहते है ? लाओ,बताओ, घी का स्वाद बताओ। लाओ, किसी पदार्थ की ऊपमा। शक्कर जैसा ? गुड़ जैसा ? कैला जैसा ? ... जैसा ? नहीं आते ? तालाब में होते हैं। कैसा ? अरे...! जिसे जड़ की ऊपमा ख्याल में होने पर भी दी नहीं जा सकती। यह तो भगवान आत्मा,

इसे क्या ऊपमां देना ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? होशियार डॉक्टर घी की ऊपमा दे सकता है या नहीं ? नहीं ?

मुमुक्षु :- वह तो इंजेक्शन देता है।

उत्तर :- धूल भी इंजेक्शन नहीं देता, राग कर सकता है। यहाँ तो भगवान कहते हैं, राग कर सकता है। इंजेक्शन तो जड़ की क्रिया है। अरे..! कहाँ की कहाँ बाते ? तत्त्व का पता नहीं चलता, श्रद्धा विपरीत और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। कहते हैं, '**(अनूप) ऊपमारहित है।**

भावार्थ :- यथार्थरूप से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा...' स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् शुद्धात्मज्ञान क्या, उस द्वारा जीव को जानना, उस द्वारा अजीव को जानना। वह अजीव मुझसे भित है, ऐसा। आस्रव को जानना। पुण्य-पाप का भाव शुद्धात्मदृष्टि से जानना कि वह आस्रव पुण्य-पाप का भाव है, वह मुझ में नहीं है, परन्तु जानना ऐसा। बन्ध (अर्थात्) अटका हुआ अथवा जड़का बन्ध। संवर-निर्जरा कहे वह, शुद्धात्म दृष्टि द्वारा शुद्धपर्याय निर्मल होवे, रागरहित, पुण्य-पाप रहित शुद्धता का नाम संवर है और शुद्धात्मदृष्टि द्वारा निर्जरा-शुद्धि होवे, उसका नाम निर्जरा है और पूर्ण मोक्ष शुद्धात्मदृष्टि द्वारा इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। कहो, समझ में आया ?

शुद्धस्वरूप ज्ञायक मूर्ति की दृष्टि द्वारा, फिर आस्रव-बन्ध यह तो विकारी पर्याय है; संवर-निर्जरा-मोक्ष, यह निर्विकारी (पर्याय) है। यह द्रव्य का ज्ञान होवे तो इन निर्विकारी विकारी पर्याय का ज्ञान होता है। समझ में आया ? फिर यह क्या ? शुद्धात्म दृष्टि द्वारा (अर्थात् क्या) ? अद्भुतता लगती है। वीतराग की वाणी प्रथम ही मुद्दे की पहली रकम की है, परन्तु कभी सुनी नहीं है।

शुद्धात्म दृष्टि - आत्मा ज्ञान, चैतन्यरूप अनूप आनन्दकन्द है। ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि द्वारा अजीव को भिन्न जानना, पुण्य-पाप के भाव को विकारी भिन्न जानना और संवर-निर्जरा को अपनी शुद्ध, इनसे भिन्न अपनी निर्मल पर्याय हुई, वह अभेद जानना। पूर्ण निर्मल पर्याय को मुक्ति जानना। इस प्रकार यथार्थ जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। पहले सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के

बिना चारित्र या व्रत-तप नहीं। कोरे कागज़ पर सब शून्य है। समझ में आया ?

इसलिए इन सात द्रव्यों को जानना आवश्यक है। वहाँ मतलब के कहा था न ? मतलब के कहो, प्रयोजनभूत कहो, उपयोगी कहो, काम के कहो या जरूरत के कहो। '**सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना, उसे अगहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।**' ऐसी मान्यता बतलायी। इस सत्य से विपरीत (मान्यता) करना, वह अनादि का अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है।

'**जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...**' लो ! पहली जीव की व्याख्या की, हाँ ! फिर अजीव की करेंगे। स्वयं एक-एक की व्याख्या करेंगे। '**जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...**' भगवान तो आँखे - चैतन्यदृष्टा, ज्ञान-दर्शन उसकी आँख है। उसमें पुण्य-पाप का भाव, वह कोई उसके स्वरूप नहीं है, वह तो विकल्प, बढ़े हुए नाखून है। समझ में आया ? वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। शरीरादि पर है।

'**अमूर्तिक चैतन्यमय...**' है, अभेद है। भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनमय अभेद है। शक्कर जैसे सफेद और मिठासमय है; वैसे ही भगवान आत्मा जानने-देखने के ज्ञानदर्शन के स्वभावमय है। आहा...हा...! मात्र एक व्याख्या की जीव की। चेतनरूप, विनमूरति, अमूर्त, अनूप।

जीवतत्त्व के विषयमें मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

अन्वयार्थ :- (पुद्गल) पुद्गल (नभ) आकाश (धर्म) धर्म (अधर्म) अधर्म (काल) काल (इनतैं) इनसे (जीव चाल) जीव का स्वभाव अथवा परिणाम (न्यारी) भिन्न (है) है; [तथापि मिथ्यादृष्टि जीव] (ताकों) उस स्वभाव को (न जान) नहीं जानता और (विपरीत) विपरीत (मान करि) मानकर (देहमें) शरीर में (निज) आत्माकी (पिछान) पहिचान (करे) करता है।

भावार्थ :- पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-यह पाँच अजीव द्रव्य है। जीव त्रिकाल ज्ञानस्वभाव तथा पुद्‌गलादि द्रव्यों से पृथक् है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा न करके अज्ञानवश विपरीत मानकर; शरीर ही मैं हूँ, शरीरके कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ - ऐसा मानकर शरीरको ही आत्मा मानता है। [यह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।]।।३।।

'जीवतत्त्व के विषय में मिथ्यात्व (विपरित श्रद्धा)।'

पुद्‌गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

इस जीवतत्त्व में मिथ्यादृष्टि का मित्यात्वभाव (कहते हैं।) यह '**पुद्‌गल...**' यह शरीर, वाणी, कर्म ये पुद्‌गल हैं, यह मिट्टी, धूल है। समझ में आया ? इससे भगवान जीव की चाल अर्थात् उपयोग - ज्ञान-दर्शन भिन्न है। ऐसा न मानकर शरीर मेरा और इसकी क्रिया मेरी - (ऐसा माने) वह मिथ्यादृष्टि जीव है। यह जीव की विपरीत मान्यता है। पुद्‌गल शरीर, कर्म, पैसा, स्त्री, पुत्र, सब - यह देहादि, हाँ ! उनका आत्मा अन्दर अलग है। यह सब दिखता है, धूल, एक-एक धूल जितनी यह सब है, उस पुद्‌गल को अपना मानना, कहो समझ में आया ? इस जीव के स्वभाव और परिणाम से वह जाति भिन्न है। क्या कहा ?

'**इनतै न्यारी है जीव चाल;**' शरीर, कर्म की दशा से जीव की चाल अर्थात् उपयोग ही अलग प्रकार का है। आहा...हा...! चाल ली है, जीव की चाल। यह उसका उपयोग ही अलग प्रकार की गति का है, कहते हैं। आहा...हा...! जानने-देखने का उपयोग उससे-जीव के परिणाम से वह भिन्न चीज है। यह शरीर वाणी, कर्म जड़ मिट्टी यह भिन्न है, उसे अपना मानना, अथवा उसकी जो क्रिया होती है उसकी पर्याय को अपना मानना इसका नाम मिथ्यादृष्टि, जीव के विषय में उसे मिथ्यात्व है। जीव की श्रद्धा का ज्ञान नहीं है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- गरज़ नहीं की।

उत्तर :- तुमने ऐसी गरज़ नहीं की। बात सत्य है। बात तो स्वयं इसने गरज नहीं की ! ऐसा कहा न ? स्वयं से भटकता है न ? स्वयं भूल की है न ?

मुमुक्षु :- दूसरा क्या करे ?

उत्तर :- नहीं, नहीं, नहीं, यह बात नहीं। स्वयं कहा था न पहले ? मिथ्यादर्शन के वश (होकर) दुःखी (होता है।) और परिभ्रमण करता है, ऐसा कहा था। उसे सत्य सुनने को नहीं मिला था, इसलिए परिभ्रमण करता है - ऐसा नहीं कहा था।

मुमुक्षु :- कर्मने किया है।

उत्तर :- यह तो बात ही नहीं है। जड़ तो क्या करे बिचारा ? 'कर्म बिचारै कौन भूल मेरी अधिकाई' - जड़ बिचारा कौन ? मिट्टी, उसे तो पता ही नहीं है कि हम जगत की चीज़ है या नहीं ? उसे कब पता होगा कि हम शरीर हैं ! बिचारा मिट्टी जड़ है, उसे तो यह ज्ञान जानता है कि यह जड़ है। उसे तो पता ही नहीं कि हम कौन हैं ? कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मिट्टी जड़ रजकण धूल है। उसे तो पता ही नहीं है कि हम कर्म हैं, या हम रूपी है या रजकण हैं ? ज्ञान उन्हें जानता है कि यह रूपी रजकण जड़ मिट्टी है। आहा...हा...! अद्‌भुत किन्तु मण में आठ पसेरी की भूल की है न ! कहते हैं पूरी-पूरी (भूल की है।)

जीव की चाल इस पुद्‌गल से अलग है। उसे कहते है कि नहीं, नहीं; मेरी चाल उसके कारण है अथवा वह मेरे कारण चलता है, यह सब अजीव मेरे कारण चलते हैं, बोलते हैं। देखो ! वर्ण बदलता है, ऐसा होता है, निवाला लेते हैं, दाल-भात लेते हैं, सब्जी लेते हैं, पानी पीते हैं - यह सब हम करते हैं... परन्तु इस जड़ की क्रिया से इसकी (जीवकी) चाल अलग है। यह तो जानने-देखनेवाला है। यह क्रिया आत्मा की कहाँ से आयी ?

मुमुक्षु :- मानता है न ?

उत्तर :- यह ऐसा ही मानता है न ! न माने तो इसका मिथ्यात्व टिके कैसे ? अनादि से मिथ्यादृष्टि रहा है। अनन्त बार त्यागी हुआ, परन्तु मिथ्यादर्शन क्या कहलाता है - इसका ज्ञान इसने नहीं किया। उसमें बाहर में क्या है ? वह तो अनन्त बार हुआ। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो कहते हैं, पाँच से जीव का उपयोग और परिणाम अलग है, ऐसा कहना है। शरीर में या कर्म में आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप में आत्मा नहीं है। '**(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...**' यह पुण्य-पाप का राग और शरीर, वाणी, मन और यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति तत्त्व, इनसे पृथक् हूँ - ऐसा नहीं जानता। पृथक् जानने का/ भेदज्ञान का प्रयत्न कभी नहीं किया।

मुमुक्षु :- कहने में तो...

उत्तर :- कहना क्या ? वह तो जड़ की पर्याय है। भाषा जड़की अवस्था है; आत्मा कहाँ बोलता है ? कठिन बात है, भाई ! आहा...हा...!

'**(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...**' इन सब से पृथक् चीज़ है, परन्तु पृथक् नहीं जानता। परस्पर, परस्पर ... जैसे छलाछल हो गया। शरीर अच्छा तो मैं अच्छा; शरीर ठीक नहीं तो मुझे ठीक नहीं; उसे रोग आवे तो मैं रोगी हो गया, उसे निरोगता होवे तो मैं निरोगी हो गया। मूढ़, वह मूढ़ है। कहे कि शरीर की क्रिया ठीक होवे तो मुझे ठीक; अठीक होवे तो मुझे अठीक। इस प्रकार यह शरीर की चाल से जीव की चाल पृथक् है - ऐसा नहीं जानता। आहा...हा...! भाषा भी कैसी की है ! काल चाल, आता है, नहीं ? भाई ! काल चाल आता है। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, 'बनारसीदास' में नहीं ? काल चाल आता है। काल को चाल कहा है। वहाँ काल को चाल कहा है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लिया है। सत्य बात है।

कहते हैं, भगवान आत्मा, ये पाँच द्रव्य जितने हैं - धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और पुद्गल, इनसे उत्पन्न पृथक् (है।) पुद्गल का एक रजकण से रजकण पृथक् है - ऐसा पृथक् स्वरूप है - ऐसा ज्ञान इसने नहीं किया है। '**उल्टा मानकर...**' विपरीत मानकर, '**शरीर में आत्मा की पहिचान कराता है।**' लो ! यह शरीर की क्रिया में; और यह मैं और यह मैं - ऐसा मानता है, इसका नाम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहा जाता है। इसने अनादि का यह मिथ्यादर्शन पकड़ा है, इसने छोड़ा नहीं; इसलिए भटक रहा है। इसकी व्याख्या करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल २, रविवार
दि. २३-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ३, ४ प्रवचन नं.-६

'दौलतरामजी' कृत दूसरी ढाल चलती है। तीसरी गाथा है न ?

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

है, तीसरी गाथा ? '**जीवतत्त्व के विषय में...**' मिथ्याश्रद्धा - विपरीत मान्यता। यह विपरीत मान्यता दुःखरूप है। विपरीत श्रद्धा, यह दुःख का कारण है और विपरीत श्रद्धा ही परिभ्रमण का मूल है। कुछ समझ में आया ? विपरीत श्रद्धा, वह दुःखरूप है, असत्यरूप है, भ्रमणा का कारण है; इसलिए उसे बताते हैं कि जीव में क्या विपरीतता/ श्रद्धा है ? कि पुद्गल इस जगत में शरीर, कर्म आदि सब पुद्गल है। यह चित्र है, उसमें किया होगा। किसी का चित्र होगा। यहाँ की एक पुस्तक थी न ? वह किसीने लिया लगता है। यहाँ की एक चित्रवाली पुस्तक थी। वह यहाँ की पुस्तक है, वह किसी न परसों ली है। सागर में गया। यहाँ की पुस्तक है न एक ?

वह मुझे चाहिए नहीं वह तो यहाँ की एक पुस्तक है, वह कहाँ है ? ऐसा। ले गया था, किसी ने लिया होगा। उसमें चित्र है। देखो ! उसमें चित्र है न ? पुद्गल, देखो ! चित्र है उसमें पुद्गल। वह ऊपर लिखा है न ? वह। क्या

कहलाता है ? (ग्रामोफोन) गुजराती शब्द कहो न, बाजा ! देखो, ऊपर बाजा है। है न ? वह पुद्गल है। यह बतलाने में क्या आशय है ? कि यह आवाज आदि पुद्गल है। आवाज और निकलती है, वह पुद्गल है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा से आवाज नहीं निकलती। भाषा, वह पुद्गल है, जड़ है - ऐसा कहा है। देखो ?

'**धर्म...**' देखो ! उसमें धर्म में मछली की है। चित्र में पानी में मछली चलती है, उसमें पानी निमित्त है। ऐसे धर्मास्तिकाय, जड़-चैतन्य गति करे, उसमें निमित्त है। अधर्मास्तिकाय है। देखो ! अन्दर वृक्ष के नीचे आदमी बैठा है, वृक्ष के नीचे...। भगवान तीर्थंकर ने देखा हुआ अधर्मास्तिकाय एक पदार्थ है कि जो जड़ और चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं, उन्हें वह स्थिर (होने में) निमित्त कहलाता है। जैसे चलते हुए पंछी को वृक्ष (स्थिरता में) निमित्त है। ऐसा एक अधर्मास्तिकाय नामक तत्त्व है।

फिर देखो अन्दर वह पूरा लोक रखा है और वह घड़ियाल किया है। यह घड़ियाल, वह काल, कालचक्र है। वह द्रव्य है। देखो ! धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आकाश वह पूरा लोक रखा है न अन्दर, उसके आस-पास का सब आकाश है। ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। जीव की चाल... अन्दर चाल आया था न ? '**इनतैं न्यारी है जीव चाल...**' यह शरीर, भाषा, कर्म - इनसे जीव की चाल पृथक् है। वह तो जानने-देखनेवाला है। उसका स्वभाव जानने देखने का है और उसकी पर्याय अर्थात् परिणमन भी जानने-देखने की पर्याय है, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे आत्मा, त्रिकाल ज्ञानस्वभाव और वर्तमान परिणमन, उसकी चाल-गति-परिणमना ऐसा उसका जानना-दखना स्वभाव है। आत्मा को ऐसा न मानकर... आत्मा, पाँच द्रव्यों से जिसकी चाल भित है। जानना-दखना और जानने-देखने की पर्याय-ऐसी उसकी गति (अर्थात्) स्वभाव, पाँच द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है।

शरीर, कर्म, वाणी आदि से उत्पत उसकी जीव की चाल पृथक् है - ऐसा न मानकर... कहा है न ? '**ताकौ न जान विपरीत मान...**' वह पुद्गलादि द्रव्यों से पृथक् है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उस आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। यह शरीर, कर्म और भाषा यह सब मैं हूँ, अन्दर यह आत्मा जानने-देखनेवाला और जानने-देखने की दशा, वही आत्मा है। पुण्य-पाप

के विकल्प, वे आस्रव में जाएंगे। दया, दान, काम, क्रोध के शुभाशुभभाव, वे आस्रवतत्त्व में जाएंगे। यह सब-कर्म, भाषा, यह सब अजीवतत्त्व में जाता है। इनसे, भगवान आत्मा-जानने देखने के जिसके परिणाम और स्वभाव, उसे ऐसा मानकर, उसे इस शरीर, वाणी, मन की क्रियावाला और ये क्रियाएँ आत्मा करता है - ऐसा मानना, यह जीव में मिथ्यादृष्टि की मिथ्याश्रद्धा है।

मिथ्यादृष्टि आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। '**अज्ञानवश विपरीत मानकर...**' है न इसमें ? '**विपरीत मानकर...**' मूल पाठ में ऐसा है। विपरीत मान करके '**शरीर ही मैं हूँ...**' समझ में आया ? उस चित्र मे किया है, देखो ! चैतन्य और शरीर दो बताये हैं। चैतन्य तो अरूपी ज्ञानघन जानने-देखनेवाला, उसके परिणाम वे चैतन्य है। वह शरीर बताया है, वह पुद्गल शरीर बताया है। शरीर पृथक् और चैतन्य पृथक्। दो न मानकर शरीर, वह मैं, शरीर की पर्याय (वह मैं)। इसे भी पर्याय कहते हैं। .. नहीं ? और उसकी होती जो पर्याय-स्थिति, वह मैं इस प्रकार जीव की भिन्न चाल को - जानने-देखने को न मानकर इसे (शरीर को) आत्मा मानता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव दुःख के भाव का सेवन करता है; परिभ्रमण के कारण को करता है और वर्तमान दुःखस्वरूप जो मिथ्याभाव, वह उत्पन्न करता है।

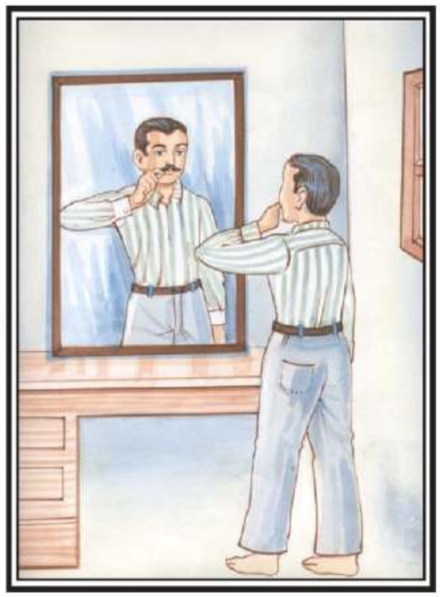

देखो ! एक दृष्टान्त इसमें दिया है। हम बहुत बार उस दर्पण का दृष्टान्त दैते हैं न प्रातः में ? यह मैं हूँ, यह मैं यह रहा। लिखा है इसमें ? देखो ! उस चित्र में है, देखो ! स्पष्ट दृष्टान्त देते हैं। इसने पहले से किया होवे तो क्या पता ? परन्तु मैं तो दृष्टान्त देता हूँ। देखो ! यह दर्पण। दर्पण में दिखता है, देखो ! दर्पण में, मूँछ ऐसे करके ऐसे देखता है। यह मैं हूँ। सवेरे देखता है न मुँह में ? ऐसे करे, ऐसे करे और टीका करे, टपका करे। वह अन्दर जो वस्तु दिखती है, वह तो पुद्गल है, जड़ है।

यह शरीर जड़ है, परन्तु दोनों को अपना मानता है कि यह सब क्रिया मेरी और यह मैं। यह जीव के विषय में इसकी बड़ी मिथ्यादृष्टि की भूल है। कहो, कुछ समझ में आया ? देखो ! किया है .... हाँ ! यह तो पहले से छपा होगा न ? यह तो यहाँ का दिगम्बर का है, हों ! अपने तो बहुत बार दृष्टान्त (देते हैं।) इन्होंने ऐसा दृष्टान्त दिया है। 'दर्पण में प्रतिबिम्ब को अपना ही स्वरूप समझता है' - अन्दर लिखा है, हाँ ! तुमने तो पढ़ा ही कहाँ है ?

यह भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला त्रिकाली ज्ञानस्वभावी वस्तु है और उसकी चाल अर्थात् वर्तमान परिणाम भी उसके ज्ञान के, दर्शन के ही परिणाम, वह आत्मा है। ऐसे जीव को न मानकर, उस जीव को शरीर की क्रियावाला, भाषावाला, बोलनेवाला, उन कर्म को जड़ को बाँधनेवाला (मानता है)। समझ में आया ? जीव को ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि की जीवतत्त्व में बड़ी भूल है। आहा..हा..! कहो, यह तो अभी पहले की बात है, जीवतत्त्व की श्रद्धा की बात है। समझ में आया ?

'**विपरीत मानकर शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ...**' हाथ हिलाना, बोलना, ऐसे करवट बदलना यह करना मुझसे होता है - ऐसा माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। कहो, यह बात सही होगी ?कौन घुमाता (परिवर्तित करता) होगा इस शरीर को इधर से उधर करवट ? हैं ? यह पैर ऊँचे कौन करता होगा ? यह पैर तो जड़-मिट्टी है। अन्दर जाननेवाला आत्मा तो ज्ञानचालवाला है। जाननहार...जाननहार... जाननहार... उस समय देह में जैसी क्रिया होती है, वैसी उसे जाननेवाला आत्मा है। जाननेवाला है, उस क्रिया का करनेवाला नहीं। परन्तु वह शरीर की क्रिया पैर घुमाया, ऐसा किया, ऐसा किया, ऐसा किया, खाते समय भी जीभ ऐसे फिराये, ऐसे (करे) यह सब क्रियाएँ शरीर की पर्याय जड़ की अवस्था है। उसे अज्ञानी मूढ़, जीवतत्त्व को भिन्न न मानकर, उसी (शरीर की) क्रिया को करनेवाला मानता है। कहो, समझ में आया ?

'**मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ...**' अर्थात् ? ठीक पथ्य-आहार लेता हूँ, ठीक से दूध पीता हूँ, दवा ठीक से लेता हूँ, सवेरे में खाते समय भी थोड़ा हिंगाष्टक ठीक से लेता हूँ और चबा-चबाकर खाता हूँ (कारण कि) पेट में दाँत नहीं हैं इसलिए।

शरीर की स्वच्छता रखना मेरा अधिकार है, इस कारण मैं शरीर की स्वच्छता रख सकता हूँ। वह मूढ़ जीव है। इस शरीर की इस प्रकार की दशा रहना, वह जड़ के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। आत्मा की चाल तो अलग है। ऐसा यहाँ पर कहा है न ? क्या कहा है ? देखो न ! भिन्न चाल है - ऐसा कहा है। 'जीव चाल' - '**इनतैं न्यारी है जीव चाल...**' समझ में आया ? किनसे (न्यारी है) ? यह सब परमाणु, कर्म, शरीर, वाणी, दाल, मात, सब्जी, पैसा सब चीजे, इनसे तो (जीव) पृथक् चीज़ है पृथक् चीज़ पृथक् की पर्याय को अपनी मेने तो उसे पृथक् वस्तु की श्रद्धा नहीं है। मैं आत्मा हूँ - उसे ऐसी मान्यता का भी पता नहीं है। मूढ़ अपने जीव के स्वभाव को ही भूल गया है। कहो, कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, '**मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ...**' अभी खुराक छोड़ दी है क्योंकि ठीक व्यवस्था (रहे), हमेशा शेर-दो शेर दूध पीऊँ। दो शेर सवेरे, दो शेर शाम का। इसलिए शरीर की अवस्था यह रखी रखाई है। नहीं आता, नहीं आता ऐसा अज्ञानी मूढ मानता है। मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि, जीव के स्वभाव को नहीं जानकर, पर का विकारी दशा, शरीर की अवस्था को मेरे से रहती है और मैं ध्यान रखता हूँ, इसलिए शरीर ऐसा रहता है। भाई ! धूल में आरोग्य उसके घर रह गया। वह तो शरीर का जो परमाणु का पुद्गल है, वह पुद्गल है उससे जीव की चाल न्यारी कही है। उसकी चाल - वह चलता है, उसकी पर्याय तो उससे चलती है। वह आत्मा से चलती है, आत्मा निरोग रख सकता है, आत्मा सरोग कर सकता है, आत्मा बाल तोड़ सकता है, आत्मा हाथ ऐसे-ऐसे कर सकता है, आत्मा बोल सकता है, आत्मा जीभ फिरा सकता है - (ऐसा) तीन काल में नहीं है। क्या है ? वह तो जड़ की पर्याय होती है। आत्मा तो जानता है कि एसा होता है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- .. का अर्थ क्या ? बात क्या कही ? देखो ! '**इनतै न्यारी है जीव चाल...**' जितने पुद्गल की पर्याय वर्तमान वर्तती है, उससे भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न है - ऐसा न मानकर, इन सब क्रियाओं का मैं करनेवाला हूँ - ऐसा माननेवाले जीव की दृष्टि विपरीत है, मिथ्यात्व है, असत्य है, दुःखस्वरूप है, परिभ्रमण का कारण है। चौरासी के अवतार के परिभ्रमण का कारण

यह मिथ्याश्रद्धा है। ओ..हो..हो..! कहो, समझ में आता है कुछ ?

‘**ऐसा (मानकर) शरीर को ही आत्मा मानता है।**’ अर्थात् किसी भी प्रकार से शरीर की, वाणी की दशा, वह मेरा ही कार्य है; वह मैं हूँ। मेरा चैतन्य भित ज्ञानानन्द है - ऐसा न मानकर उसे ही (शरीर को ही) आत्मा मानता है। इस प्रकार हाँ ! मैं कर सकता हूँ अथवा मेरे अस्तित्व में - होनेपने में वह चीज है। इससे वह मेरे होनेपने में वह होने से मैं उसका अधिकारी हूँ, व्यवस्थित कर सकता हूँ। कहो, समझ में आया ? कितने ही लोग ऐसे होते है न कि ऐसे धीरे-धीरे चलते हैं (क्योंकि) नाभि में दबाव न लगे। है ? यह सब देखा है। यह सब नाम-ठाम का सब पता है। एक वृद्ध था, वह बहुत धीरे-धीरे क्यों चलता है ? (तो उसने कहा) - धीरे धीरे चलेंगे तो नाभि में दबाव नहीं लगेगा और श्वास कम रहे तो आयुष्य बढ़ता है। ऐ...ई...! मूढ़ है। कहा ऐसा का ऐसा। बुद्धि के लट्ठ जैसे गाँव-गाँव में भरे हैं। समझ में आया ? ऐसे कहलाये, फिर बाहर के होशियार व्यक्ति कहलायें, हम ऐसे हैं। धीरे-धीरे (चलते हैं)। श्वास अधिक आ जाएंगे तो आयुष्य कम हो जाएगा। श्वास थोडे ज्यादा धीरे-धीरे लेंगे, थोड़े लेंगे तो श्वास बढ़ जाएंगे। इस प्रकार शरीर की अवस्था को आत्मा रख सकता है।- ऐसा मानता है। भाई !

मुमुक्षु :- रख सकता है।

उत्तर :- उसके समक्ष तो दृष्टान्त दिया है। यहाँ क्या कहते हैं ? देखो !

पुद्‌गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

ऐसा करके। मान और करि साथ लेना है। ऐसे शब्द में मान ऐसे लाना - ‘**ताकों न जान विपरीत मान, मान करि करै देह में निज पिछान।**’ विपरीत मानकर देह में मैं हूँ, शरीर मैं, वाणी मैं - ऐसा अज्ञानी मूढ़ अनादि से आत्मा को न पहिचानकर पर को अपना (मानता है) क्योंकि अस्तित्व स्वयं ज्ञानस्वरूप कौन है - उसका पता नही है, इसलिए कहीं इसका अस्तित्व - होनापना स्वीकार करना पड़ता है। यह इन्द्रिय से ज्ञान करता है, इसलिए यह सब, यह सब, यह सब (मैं करता हूँ) - ऐसा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, भले जैन नामधारक हो; सामायिक और प्रौषध आदि क्रियाएँ करनेवाला हो, परन्तु इस प्रकार शरीर की क्रिया ऐसी (होवे)... भाई ! यह शरीर

की क्रिया मैंने की - ऐसा करके, कहते हैं कि मूढ़ है। वह शरीर को ही आत्मा मानता है। समझ में आया इसमें ?

अनादि से जीव की चाल ही पाँच द्रव्यों से भिन्न है। है ? पुस्तक है ? वहाँ बोर्डिंग में भी नहीं ? पता नहीं यहाँ बढ़ जाती है, सब वहाँ से लाते थे न पहले। अब कल कहाँ... ? कल तो सोमवार है। सोमवार को छुट्टी है ? कहो, कुछ समझ में आया ? जब यहाँ सवेरे ऐसा चलता है, तब तक सवेरे आने वाले वहाँ से लेते आना। यहाँ कितने पूरे करे ? वहाँ पड़े वह वहाँ संग्रहित करना हो ? कहो, समझ में आया इसमें ?

'**देह में निज पिछान,...**' पुद्गल में अपनी पहिचान करता है। यहाँ यह किसलिए लिया ? वे चार तो अरूपी है न ! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल अरूपी है, इसलिए उनमें तो इसकी नजर पड़ती नहीं। यह नजर पड़ती है इस शरीर में। इस शरीर की स्वच्छता और यह रखें, और यह करे और यह किया, मैंने किया, अमुक किया... भाई ! अपने रखने से शरीर रहता है, और मिटाने से मिटता है - ऐसी बातें लोग करते हैं। स्त्री भी ऐसी सरीखी होती है। हम खाने-पीने में ध्यान रखेंगे तो शरीर निरोग रहेगा और यह अभी तक अमुक को निरोग शरीर रहा है (क्योंकि) उनकी हिफाजत बहुत अच्छी थी। भाई ! यह ठीक होगा ? तुम्हारी मा का बहुत शरीर है। देखो ! इतने वर्षों में भी। है ? यह जानकारी होगी इसलिए न ?

मुमुक्षु :- काम करते है।

उत्तर :- धूल में भी काम करे इसलिए नहीं। काम करे वह तो राग किया, दूसरा क्या किया इसने ? घीसता (कार्य के बोझ में) रहा है। भेंस और गोबर के (संभालने/देखभाल में) ... वह तो जड़ की क्रिया है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहो, ठीक ! यह अपनी पोल खोल रहा है। यह बात भी मिथ्या है। काम अर्थात् क्या ? यह तो अन्दर राग और द्वेष करता है। देह की क्रिया जो होती है, उससे यहाँ शरीर में भूख लगती होगी ? समझ में आया ? यह भी लोग बोलते हैं, भई ! सवेरे उठकर दस शेर दल डालना, भूख लगेगी - ऐसा करके सास को बहू को काम सौंपना होता है न (इसलिए) अन्दर ललचाती

है। शरीर ऐसा होता है। जल्दी सवेरे चार बजे उठकर दस शेर दल डालिये। चने की दाल दले तो अन्दर बहुत कस रहे... करे तो बहू... यह सब सुना है, हाँ ! एक-एक बात, है ? हमने कहाँ कर लिया ? परन्तु यह तो सुना हो कि लोग ऐसा बोलते हैं। बोलते हों, सासु बहू को कहे, जल्दी उठ बा, जल्दी उठ, शरीर हल्का रहे, पूरी रात (सोते हो इसलिए) जल्दी दस शेर गेहूँ दल डालें तो काम भी हो और शरीर भी अच्छा रहे।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में भी उसके कारण नहीं होता। दोनो जन मूर्ख हैं, ऐसा यहाँ तो कहेत हैं। दुनिया की बहुत सारी बातें सुनी हो न ? हमने तो अनेक प्रकार की (सुनी है।) तुम सब तो नाचे हो, यहाँ तो हमने तो नाच को देखा है। कैसा नाचते है ? ... कितनी बाते भी अन्दर भ्रमणा करावे ! आहा..हा..! यही यहाँ कहते हैं, देखो !

किसी प्रकार विपरीत मान करके, - ऐसा कहते हैं। '**करे देह में निज पिछान -**' कारण कि देह दिखती है; इसलिए देह, वाणी, अन्दर कर्म आदि सब कार्य मेरे हैं और यह सब काम हम करें यह तो अपना कर्तव्य है न ! - ऐसा करके, जीव को जाति ज्ञानानन्द-जाननेवाला-देखनेवाला है, उसके अस्तित्व को नहीं मानता, मूढ़ मिथ्यादर्शन का सेवन करता है। भाई ! यह प्रौषध, सामायिक करनेवाले भी यदि ऐसा माने तो वे मिथ्यादृष्टि और मूढ़ है - ऐसा कहते हैं, उन्हें प्रौषध और सामायिक नहीं है - ऐसा कहते हैं, भाई !

मुमुक्षु :- मिथ्यादर्शन ...

उत्तर :- मिथ्यादर्शन अर्थात् असत्य मान्या, झूठी मान्यता। इसलिए तीन बोल वर्णन किये। असत्य मान्यता अर्थात् दुःख का कारण अर्थात् दुःखरूप और परिभ्रमण का कारण। ऊपर आया था न ? भाई ! भ्रमत, नहीं ? उसमें से सब कहा है। '**भ्रमत मरत दुःख जन्म मरण...**' एक तो भ्रम करता है, इससे चार गतियों में भ्रमेगा; और स्वयं दुःखरूप है और दुःख का कारण है। मिथ्याश्रद्धा, यही महान पाप है। इस पाप का त्याग न करे, तब तक दूसरी किसी चीज़ का त्याग, अन्दर राग का त्याग नहीं हो सकता। तीन (गाथा) हुई, तीन। (अब), चार।

मिथ्यादृष्टि का शरीर तथा परवस्तुओं सम्बन्धी विचार

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण।।४।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शनके कारण से मानता है कि] (मैं) मैं (सुखी) सुखी (दुखी) दु:खी, (रंक) निर्धन, (राव) राजा हूँ, (मेरे) मेरे यहाँ (धन) रुपया-पैसा आदि (गृह) घर (गोधन) गाय, भैंस आदि (प्रभाव) बड़प्पन [है; और] (मेरे सुत) मेरी संतान तथा (तिय) मेरी स्त्री है, (मैं) मैं (सबल) बलवान (दीन) निर्बल, (बेरूप) कुरूप, (सुभग) सुन्दर, (मूरख) मूर्ख और (प्रवीण) चतुर हूँ।

भावार्थ :- (१) जीवतत्त्वकी भूल :- जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसे अज्ञानी जीव नहीं जानता और जो शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल संयोगोसे मैं सुखी और प्रतिकूल संयोगोसे मैं दु:खी, मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप, मैं सुन्दर-ऐसा मानता है; शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है-इत्यादि[1] मिथ्या अभिप्राय द्वारा जो अपने परिणाम नहीं है उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है वह जीवतत्त्व की भूल है।।४।।

---

१. जो शरीरादि पदार्थ दिखाई देते हैं वे आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं, उनके ठीक रहने या बिगड़ने से आत्मा का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं होता; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इससे विपरीत मानता है।

मिथ्याद्रष्टि का शरीर तथा परवस्तुओ सम्बन्धी विचार। है इसमें ?

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण।।४।।

देखो इसमें द्रष्टान्त भी दिया है अन्दर, हाँ ! एक स्त्री है और एक जवान ऐसे कोट पहनकर, एक सरीखे बटन यहाँ से यहाँ तक है न ? देखो न, अन्दर है। उसके जेब में हाथ, स्त्री साथ खड़ी है, वह लड़की है, हाथ ऐसा पकड़ा है। ओ...हो..! मेरी स्त्री है।

'**मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यादर्शन के कारण से...**' विपरीत मान्यता-मिथ्याशल्य के कारण से '**मैं सुखी...**' देखो, लो ! ऐसा सरीखा कोट-बोट पहिना हो, शरीर निरोग हो ऐसे निकले, शाम को खा-पीकर घूमने निकले। घण्टे-दो घण्टे फुरसत हो और स्त्री साथ हो और लड़का-लड़की साथ हो, अज्ञान की हिलोरे मारता है ! मिथ्याश्रद्धा-मान्यता करके और मैं सुखी (हूँ) - ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव है, कहते हैं। कहो, भाई ! हम सुखी हैं। सुखी की व्याख्या क्या ? सुखी का स्वरूप क्या ? सुख तो आत्मा के आनन्द में है। आत्मा के आनन्द में सुख है। यह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान निकाल दे, तब आत्मा का आनन्द आयेगा। उसमें आनन्द है और बाहर के संयोगों मैं सुखी हूँ - ऐसा माननेवाला जीवतत्त्व को भूलता है। लो ! यह मिथ्यादृष्टि, शरीर को और परवस्तु को अपनी मानता है। यह सब समझने योग्य बात है। पढ़ा है तुमने किसी दिन ? भाई !

'**मैं सुखी...**' देखो ! ऐसे कोट-बोट, पेन्ट ठीक से (पहिने हो) व्यवस्थित मोटर-बोटर नहीं हो, वरना उसमें रखे। यह सब डाला तो बहुत है, हाँ ! देखो ! यह सब मकान और मकान का वह

होता है न ? चोखंडे; अच्छा मकान बनाया हो न ? ऐसा चौखंडेवाला है न ? ऊपर जाली, इसके ऊपर बहुत दृष्टान्त अन्दर दिये हैं, हाँ ! तिजोरी की है, हं, ऐसे, देखो ! यह सब मकान और सब पड़ा हो, फर्नीचर। चारों तरफ सुसज्जित, सब ... समझे न ? लकड़ी कोमल की हो, पालीस ... पालीस। यह सीडियों में लकड़िया बिछायी हो और कपड़े ऐसे बिछाये हों और ऐसी आती है न ? कुर्सियाँ। हम सुखी है, सब प्रकार से सुखी हैं। हमारे हाम, दाम और ठाम है। हाम-हमारे कमाई का पुरुषार्थ भी है; दाम-पैसा भी है; ठाम-मकान और वखार और घर भी है। मूर्ख है, कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

'**मैं सुखी ...**' ऐसा माननेवाला जीव को भूल गया है। मैं एक आनन्दकन्द ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसे जीव को भूलकर बाहर की सामग्री से (अपने को) सुखी मानता है, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। '**मैं दुःखी...**' अरे...! मेरे जैसा कोई दुःखी नहीं, हाँ ! दूसरे सब निरोगी घूमते हैं, अस्सी-अस्सी वर्ष का शरीर और यह मुझे पचास वर्ष में रोग आया; महादुःखी हूँ, बापा ! बहुत दुःखी हूँ; मुझे कोई संभाल करनेवाला नहीं होता, घर में लड़का नहीं होता, दो लड़के कमाने गये, स्त्री ठीक नहीं; दुःखी.. दुःखी (हूँ।) मूढ़ हो, भाई ! भगवान ! तू तो जानने-देखनेवाला आत्मा है और इस संयोगी चीज तथा प्रतिकूलता में मुझे दुःख होता है - ऐसा मानता है (तो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ असत्य श्रद्धा का सेवन करता है और असत्य दुःख के भाव का सेवन करता है और दुःख के कारण का सेवन करते हुए दुःख उत्पन्न करता है और परिभ्रमण का कारण करता है। कहो, समझ में आया ?

'**मैं रंक, गरीब...**' हम तो भाई गरीब मनुष्य है; पाँच पैसे भी नहीं मिलते। देखो ! उसमें लिखा है, हों ! देखो ! गरीब लिखा, गरीब लिखा है अन्दर, देखो ! गरीब मनुष्य। मैं गरीब हूँ। किस प्रकार ? पैसे में ? की नहीं। शरीर से, स्त्री, पुत्र और सब प्रतिकूलता (है), इसलिए गरीब-गरीब हूँ। मूढ़

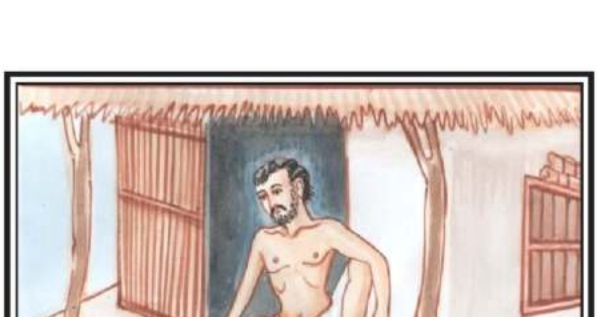

है,..! बाहर की सामग्री कम (हो,) इसमें गरीबी कहाँ आ गयी ? महा मूल्यवान ज्ञानानन्दस्वभाव सम्पत्ति का स्वामी आत्मा, वह बाहर की प्रतिकूलता की सामग्री से (अपने को) गरीब माने (तो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है, कहते हैं। उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। आहा..हा..! बहुत कठिन बात, भाई ! ऐसी बात लोगों को सुनना कठिन पड़ती है। वे (तो) लोग (ऐसा कहते हैं) ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। करे नहीं (कुछ), एक रजकण बदल नहीं सकते; करो, करो करते हैं। स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करते हैं और दूसरों को मिथ्यात्व को सेवन कराते हैं। कहो, समझ में आया ?

मैं गरीब, मैं राजा-ऐसा सब डाला है न ? इतना अधिक कहाँ से डाले ? एक दृष्टान्त दिया। मैं राजा हूँ। मेरे घर एक वर्ष की (एक) लाख की तो आमदनी है। इतनी हमारे जागीर है। लाख तो अभी बहुत काम नहीं आते। क्यों ? (इन भाई के) लड़के जैसों को तो अभी लाख-बाख की क्या गिनती ? परन्तु पाँच लाख, दस लाख की हमारी आमदनी है, हमारे ऐसा है, हमारे सब सुविधा है; हमारा पुण्य अभी बहुत फिरा है। पुण्य कब तेरा था ? वह तो रजकण था, धूल और धूल के (निमित्त से) प्राप्त हुई सामग्री धूल है। वह मेरे और हम राजा (है), कहते हैं कि वह जीव भूला है। जो चीज संयोग में आयी, उसे अपनी मानकर असंयोगी चीज को भूला है। कहो, समझ में आया कुछ ? दुःखी, गरीब, राजा।

'मेरे रुपये...' लो ! **'मेरे धन...'** मेरे रुपये, मेरे रुपये, मेरे रुपये...। हैं ? एक साधु था। त्यागी हो गया। रुपये कोई ले गया होगा। उसके नाम से संथारा किया, मर गया। ऐसे के एसे मूढ़। बाहर निकला तब दूसरे प्रकार से निकला था, फिर छोड़ा। ममता (तो थी, यह मेरा पैसा, कोई खा गया होगा। क्योंकि घर में तो कुछ रखे नहीं न ? जहाँ रखे वह खा गया। फिर संथारा किया; नहीं आवे तब तक खाऊँ नहीं। मर गया। वहाँ कहाँ उसके पास थे कि दे। समझ में आया ?

कहते हैं, **'मेरे रुपये.. पैसे...'** इतना संग्रह करके रखा है, गुप्त रखा है। पत्नी को भी पता नहीं और पुत्र को भी पता नहीं, इतना रखा है। मरणपूंजी रखी है अन्दर। मूढ़ ! पैसे के रजकण, वह तो जड़-मिट्टी है। मेरे पैसे, मेरे रुपये-यह माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। यह तो बहुत कठिन पड़ता है, हाँ ! तब (क्या) हमें बाबा हो जाना चाहिए ? परन्तु बाबा ही है, सुन न ! रजकण कब तेरे हैं ? एक रजकण भी तेरा नहीं है और उसे

अपना माने तो महामिथ्यादृष्टि दुःख के भाव को करता है और दुःख के भाव में परिभ्रमण करेगा।

'**(गृह)...**' हमारे घर है, घर। महीने में पाँच हजार का किराया हमारे सहज में आता है - इतने हमारे मकान हैं, ऐसा है, वैसा है। बात करे तो मीठाश से करे। हमारे इतना है। हमारे घर है, हमारे घर है। पहले ! तेरा घर तो यहाँ रहा। वहाँ तेरा घर कहाँ था ? जड़ का घर तेरा (है) ? इतने बंगले बनाये हैं। इन्हें तो तीन बड़े बंगले हैं। एक बंगले में रहते हैं और दो बंगले किराये पर देते हैं। सब उसमें क्रम से आना चाहिए न ! कहो, समझ में आया ? गरीब मनुष्य को गरीब लो न एक झोपड़ी होवे, उसे श्रृंगार करता है। पुत्र का विवाह हो तब उसे जरा ऐसा श्रृंगार करता है। ऊपर कपड़े का क्या कहलाता है वह ? तोरण ! अर..र..र..! मूढ़ ! यह जीव भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। जानने-देखने के स्वभाव से भरपूर और जानने-देखने की परिणतिवाला तत्त्व है। उसे एसे 'घर मेरा' (माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है - (ऐसा) कहेत हैं।

'**(गोधन) गाय-भैंस...**' लो ! समझ में आया ? गोधन का (चित्र) बनाया है न ? नहीं ? इसमें नहीं होगा। गोधन है। गोधन-गाय और भैंस आदि। इतना शब्दार्थ है। गाय, बैल आदि। नीचे शब्दार्थ है। गाय, भैंस, बकरा, ऊँट, हाथी, तोता, कबूतर।

मुमुक्षु :- इसमें कहीं मोटर नहीं है।

उत्तर :- वह मोटर इसमें आ जाती है, इतनी तो हमारे मोटर है। लाख-लाख रूपये की मोटर आती है या नहीं ? ऐ...ई ! उसका क्या नाम आता है ? शेरोलेट ! शेरोलेट अर्थात् क्या ? कौन जाने ? उसमें एक भी अक्षर अपनी गुजराती का नहीं है। लाख रुपये की मोटर। हमारे चार मोटर लाख (-लाख) की है और चालीस-चालीस हजार की... है और वह धूल है। हमारे है, हमारे है, मर गया। परन्तु तेरा कब (था) ? एक रजकण भी नहीं। जीव में परवस्तु को अपनी मानना, वही महामिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है। यह बात जीव को कठिन पड़ती है। उसमें अभी की हो..हा और मौजमस्ती का काल। ऐसा कमाना और ऐसा खाना और ऐसा पीना और ऐसा करना। धूल में भी नहीं कर सकता। सुन न !

मुमुक्षु :- खाना या नहीं खाना ?

उत्तर :- कौन खा सकता है ? धूल है, यह तो जड़ है। उसके रजकण आते और जाते हैं।

आत्मा को राग होता है। यह जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। खाने-पीने की (क्रिया) कभी नहीं कर सकता। यह सब तो ऊपरी है। कहो, समझ में आया ?

'**(प्रभाव) बड़प्पन...**' हमारा। संघ के सेठ है, संघ के प्रमुख हैं, संघ में हमारा पहला नाम (होता है), संघवी रूप से,सेठ रूप से, प्रमुखरूप से, मन्त्री रूप से। क्या नाम होगा ? सेनापति रूपसे, दीवानरूप से। हम दीवानसाहब के घर के हैं। यह हमारा बड़प्पन (है।) भगवान ! इससे तू बड़प्पन माने यह तो मिथ्यात्व है, भाई ! आत्मा का बड़प्पन तो अन्दर ज्ञानानन्द स्वभाव से बड़प्पन है। पर वस्तु से बड़प्पन माने यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। समझ में आया ? देखो ! 'दौलतरामजी'ने गृहस्थदशा में भी बात कितनी स्पष्ट की है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह रहा न ! अन्दर लिखा है, यह क्या कहते हैं ? '**मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव...**' है या नहीं ? पड़ा है या नहीं इसमें ? आठ लड़को का पिता हूँ, बारह पुत्रो का (पिता हूँ), हम बारह भाई हैं, अमुक हैं, हमारे इतने पैसे हैं, धूल है। अभिमान... पर वस्तु का अभिमान करके चैतन्य को भूल गया। भगवान आत्मा तो इस वस्तुओ का जानने-देखनेवाला है - ऐसा कहना, यह व्यवहार है। समझ में आया ? स्वयं स्वयं का जानने देखनेवाला ऐसा चैतन्यस्वरूप, उसे भूलकर पर को अपना माने, वह असत्य, मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। इस प्रकार मूढ़ जीव चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है।

'**मेरी सन्तान...**' बोले तो अन्दर से ऐसा (बोले कि) महाराज ! मेरा पुत्र है। दस हजार वेतन है। एल.एल.बी.में कितने वर्ष से पास हुआ है और बहुत दिमाग, बहुत दिमाग। एक व्यक्ति तो कहता है, यह मेरी पुत्री ऐसे पढ़ी है... परन्तु अब क्या तुझे दिखावा कितना करना है ? वे इस भाई के मित्र थे। बहुत वर्ष की भी थी न ? यह मेरी पुत्री, यह मेरी पुत्री-इतना पढ़ी है.. परन्तु हमारे पास तुझे कितनी बात करनी है ? पुत्री भी तेरी नहीं है और पढ़ी तो उसमें भी तुझे क्या है ? और पढ़ी है वह मूढ़ता की - अज्ञान की पढ़ाई है सब। सब संसार की पढ़ाई अज्ञान की, मूढ़पने की पढ़ाई है। समझ में आया ? यह तो सब पोल खोल देते है, हाँ !

मुमुक्षु :- यह खोलने जैसा है।

उत्तर :- ऐसा है। हैं ? भाई ! हमारी सन्तान। भई लो ! अच्छा पुत्र हो तो मनुष्य को पोरस तो चढ़ता है न ! है ?

मुमुक्षु :- मीठास...

उत्तर :- मीठास अलग होती है। स्त्री बैठी होवे तो बातें करे, यह हमारे ऐसे है। हमारी मौसी का लड़का है और बहुत पैसेवाला है। यहाँ भले ही पाई न देता हो परन्तु उसे अन्दर ... है। हमारे साले की बहू है, यह गाँव की बड़ी आयी है... परन्तु तुझे क्या ? हमारे साले की बहू। ओहो...हो..!

मुमुक्षु :- नशा चढ़ गया है।

उत्तर :- नशा चढ़ गया है। देखो ! हमारी नात-जाति की स्त्री इतनी बड़ी ! परन्तु तू कौन ? तू स्त्री नहीं और स्त्री का शरीर है, वह तो उसका आकार है। शरीर का आकार स्त्री है। आत्मा स्त्री है ? भगवान आत्मा (तो) स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, देह नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं। आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई !

'मेरी सन्तान...' मेरी सन्तान। समझे न ? पुत्र-पुत्रियाँ। **'मेरी स्त्री...'** दूसरे घर में भले होगी दूसरे की स्त्री, परन्तु मेरी स्त्री अलग प्रकार की, खानदान की... खानदान की... क्या है परन्तु ? तेरी सेवा बहुत करती है इसलिए किसकी सेवा करती है ? धूल की, शरीर की ? समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! यह सब खुल्ला किया होगा, भाई !

मुमुक्षु :- सत्य है।

उत्तर :- सत्य है ? लो ! फिर सेठिया सत्य कहते हैं।

'मेरी स्त्री...' आहा...हा...! अरे...! बापा ! तेरी स्त्री कैसे ? भाई ! तेरी होवे तो तुझसे भित रहे नहीं। या तो उसे छोड़कर तू जाए या वह तुझे छोड़कर जाए। हें ? तेरी चीज़ कहाँ थी ? चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा ज्ञानानन्द सम्पदा से भरपूर है, उसे स्वयं का न मानकर ऐसी वस्तु को (अपनी) माने, वह चैतन्य को भूल गया है। अपने चैतन्य की श्रद्धा उसे नहीं है। ऐसे आत्मा... आत्मा माने- ऐसा नहीं। हम आत्मा (बोले) - ऐसा नहीं। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव है और यह सब चीजें मेरी नहीं हैं। मैं मुझमें हूँ और मेरा आनन्द और ज्ञानस्वभाव मेरा है - ऐसा माने, उसे आत्मा है। ऐसा सब माने, पर को अपना माने और फिर मैं आत्मा (हूँ ऐसा)

माने - ऐसा हो नहीं सकता। समझ में आया ?

'**मैं बलवान...**' देखो न ! शरीर में बलवान होता है न ? तीन-तीन, चार-चार लड्डु चढाता (खाता) हो, एकदम पचा दूँ - ऐसा कहो समझ में आया ? एक व्यक्ति, पाँच-छह व्यक्तियों का दूधपाक किया, वह खा गया। भाई फिर उसे शोच.. समझे न ? एक था, गाँव में एक था। तुम्हारे था ? ए..इ..! सब पता है। नाम तो सबके सुने होंगे न ? पाँच व्यक्तियों का बनाया समाप्त। फिर रोटी नहीं, दूधपाक नहीं। ... परन्तु... मुझे किसलिए पहले खाने बैठाया ? आहा...हा...! एसे सब। और फिर (ऐसा कहे हम) दो सामायिक करते हैं और प्रोषध करते हैं... परन्तु तुझे किसकी सामायिक आयी ? अभी आत्मा कौन है ? पर का अभिमान मिटा नहीं, पर से भितता का भान नहीं, सामायिक आयी कहाँ से ?

मुमुक्ष :- सामायिक...

उत्तर :- सामायिक कहना किसे ? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसमें राग भी मेरा नहीं है, देह भी मेरी नहीं है, कोई जड़ की क्रिया मेरी नहीं है - ऐसे स्वरूप की श्रद्धा करके, अनुभव करके उसमें स्थिर हो, आनन्द में स्थिर हो, उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक क्या आँखे (बन्द) करके दो घड़ी बैठ गये (तो) उसे सामायिक हो गई ? (वह तो) मिथ्यादृष्टि की सामायिक है।

'**मैं बलवान...**' एक मुक्का मारूँतो खून निकाल दूँ ऐसा कितने ही बोलते हैं न ? एक मारूँ न ऐसे ठीक से... परन्तु तू कौन है जो मारेगा ? वह तो जड़ है, मिट्टी है भाई ! एक मारूँ तो खून ऊगलवा दूँ, खून ऊगलवा दूँ, मूर्ख तो अभिमान भी (कितना) ? हमारे (यहाँ) एक लड़का था, हाँ ! 'पालेज' में साथ में दुकान थी। लड़का हम दो को उठाले,... ! अठारह वर्ष का था परन्तु हम बारह-बारह, चौदह वर्ष के, दोनों को ऐसे हाथ से उठाले और ऊँचा करके ऐसे घूमाये, हाँ ! .. ऐसा ! और जब मरने पड़ा... हाय...! मैंने नजरों से देखा है। दुकान के साथ रहता था। 'पेटलाद' का था। दुकान के साथ तम्बाकू की दुकान थी। एक जवान दो व्यक्तियों को उठाये, हाँ ! ऐसे हाथ से ऊँचा करे और घुमाये। वह बीमार पड़ा। विवाह किया और फिर बीमार पड़ा, मरने की तैयारी... मैं देखने गया था। कैसे हो ? बोलने की शक्ति नहीं, मरने की तैयारी। रात्रि में मर गया। फिर... बोल गया था। वहाँ है न 'पालेज' ? एक गाँव है, कैसा ? नदी के किनारे। वहाँ ले गये। आहा...हा...! उसे देखा। एक बार रात्रि में लड़को को ऊँचा करनेवाला और वह फिर ऊँचा

हो गया। बापा ! यह शरीर तेरा नहीं है, यह शरीर का बलवानपना तेरा नहीं है।

'**(दीन)...**' हम निर्बल है, बापू ! हममें मक्खी उड़ाने की ताकात नहीं है। परन्तु यह कमज़ोरी तो जड़ की है, इसमें तेरी कहाँ आई ? आहा...हा...! समझ में आया ? '**(बेरूप) कुरूप...**' कुरूप। छोटी उम्र से यह शीतला निकली और यह सब घंटा दो घंटा जैसा मेरा रूप हो गया। मेरा रूप - ऐसा बोलता है, परन्तु यह तो जड़ का है; तेरा कहाँ से आ गया ? शर्माता है। किसी की आँख ज़रा फूटी हो तो चश्मा-वश्मा आड़े रखता है। स्त्री होवे तो फिर जरा साड़ी आड़े रखती है। वह सो रही होवे तो न दिखे (इसलिए) साडी ठीक से रखती है। परन्तु उसमें जड़ के कारण तुझे क्या है ? आहा...हा...! बापू ! धर्मदृष्टि तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, भाई ! उस ज्ञानस्वरूप में श्रद्धा करे, उसे ज्ञान और शान्ति के परिणाम प्रगट होते हैं। उसे ऐसी मिथ्याश्रद्धा नहीं होती और (जिसे) ऐसे मिथ्याश्रद्धा हो, उसे शान्ति और सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्यों, भाई ! ऐसी श्रद्धा रखकर सामायिक, प्रौषध करे तो ? नहीं होते ? ऐसे बैठे। किसकी हो सामायिक, प्रौषध ? मिथ्यादृष्टि की विषमदृष्टि और विषमज्ञान होता है।

बैरूप हूँ, कुरूप हूँ। '**(सुभग) सुन्दर...**' सुन्दर हूँ। देखो तो ! एक-एक अवयव ऐसे देखो, किसीके साथ मिलाओ। नाक देखो तो गरूड़ के उस (चोंच) जैसी; कान देखो तो कुण्डल जैसी; आँख देखो तो हिरण की आँख जैसी; मुँह देखो तो ऐसा मानो... लाल क्या कहलाता है वह ? अरीठा और ऐसा नाम आता है। शास्त्र में महिमा करे। टिंडोरा और लाल नहीं आता बड़ा ? ऐसा लाल; होठ ऐसे लाल, नैसर्गिक। नैसर्गिक हों ! नागरवेल के पान खायें और लाल-लाल रखे - ऐसा नहीं और अभी यह बहिने-बहिने ऐसा जरा लाल चोपड़ती है, वह भी नहीं और ये लड़के रात्रि में सफेद चोपड़ते हैं, उसकी लाली ऐसी आती है। हें ? सब सुना है और सब देखा है। लोग बातें करते हैं, वह सुनते है कि यह चोपड़ा लगता है... परन्तु यह ऐसा लाल कहाँ से ? शरीर साधारण है और लाल कैसे ? लाल चोपड़ा है। आहा...हा...! मुरदे का श्रृंगार करके (मानता है कि) मुझे श्रृंगार हुआ। मुरदे को श्रृंगार करके मुझे श्रृंगार किया (मानता है)। मूढ़ है, कहते हैं। तुझे आत्मा का भान नहीं है। आहा...हा...!

'**(मूरख)...**' हूँ। लो ! एक भी नहीं आता, बापा ! बहुत मूर्ख ! परन्तु तू मूर्ख नहीं है, बापू !

तू तो ज्ञानानन्द, केवली को प्रगट करे ऐसा (तू है।) मूरख-बूरख पर्याय में जानता हूँ, उसमें मूरख मने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! एक समय में ज्ञान में कभी होवे तो क्या है ? वस्तु भगवान आत्मा है। ऐसे एक समय की पर्याय को मूर्खरूप माने, वह आत्मा को नहीं मानता, आत्मा को नहीं जानता, उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है।

ऐसे '**चतुर हूँ।**' गाँव के सब हमारे यहाँ पूछने, सलाह लेने आते हैं। समझ में आया ? हम गाँव खबरिया हैं, ठीक ! जितने गाँव के लोग हों, वे सब हमें पूछने आते हैं। भाई ! गाँव में... वह होशियार व्यक्ति कहलाता होगा या नहीं ? 'करांची' रहते थे। सब पूछने आते। भाई ! चतुर व्यक्ति को सब पूछने आते हैं। लो ! सगाई करना हो, लड़की का करना, अमुक पूछना, पूछने आते हैं, भाई ! इसका तुम क्या कहते हो ? ये सब चतुर कहलाते हैं। कहते हैं, हम चतुर है - ऐसा माननेवाले जीव मूढ़ है - यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह सब तो देखा होगा या नहीं ? पूरी दुनिया (देखी है।) कितने वर्ष से, यहाँ (संवत्) १९५३ से तो देखते हैं और दुकान पर भी देखते थे। दुकान पर भी बहुत अधिक देखते थे। समझ में आया ? आहा...हा...!

'**(प्रवीन)**' हैं। कोई बात पर से संबंधित हमारी। भाई ! ऐसा कितने ही कहते हैं।

मुमुक्षु :- यह सबमें होशियार है।

उत्तर :- हाँ, सबमें होशियार। एक व्यक्ति कहता था। गायें देखनी हो तो इतना... यह, भेंस को देखना हो तो यह, स्त्री को देखना हो तो यह, आदमी को देखना हो तो यह, मकान को देखना हो तो यह - इनकी सब परीक्षा होती है। सब संबंधित को लगती। सोनेकी अँगुठी ऐसी होती है, अमुक ऐसा होता है, वर्ण ऐसा होता है, गहना ऐसा होता है, गहने में ऐसा पोला होता है। एक-एक सब से संबंधित। धूल में भी होशियार नहीं है, कहते हैं। व्यर्थ का आत्मा के भान बिना ऐसी चतुराई को अपनी मानना मूढ जीव है, कहते हैं। आहा...हा...! भाई ! ठीक होगा यह ? तुमने वहाँ होशियारी नहीं की होगी ?

मुमुक्षु :- सब खुल्ला ...

उत्तर :- क्या कहते हैं ? खुल्ला करते हो.. सत्य बात। देखो न ! किन्तु यह तो

'दौलतरामजी'ने लिखा है। देखो ! शास्त्र का सार करके (लिखा है।) इस अजीव को ही अपना मानता है। यह सब मूर्खता अजीवता है। यह कहाँ आत्मा का स्वभाव है ? और चतुर (होवे), बाहर का ज्ञानावरणीय का कुछ उघाड़ होवे, लौकिक कला और ज्ञान होवे, चतुराई होवे, पाँच पूछने बैठे ही होवें, पाँच-पच्चीस इसके घर में पूछने (बैठे होवें) और सम्बन्ध-बबन्ध करने में होशियार होवे तो इसे हमेशा लापसी मिले। किसी की सगाई करे न ! कितने ही ऐसे होशियार होते हैं। वे पड़े तो वहाँ एकदम सगाई हो जाए, दूसरा पड़े तो सगाई नहीं हो। ऐसे के ऐसे। कितने ही ऐसे सब देखे हैं, हाँ ! आहा...हा...! यह सब मात्र लापसी खाने के अभिलाषी हैं। मानते ऐसा है कि हम जहाँ पड़ते हैं, वहाँ सब व्यवस्थित हो जाता है... कहते हैं कि, हम चतुर (-ऐसा मानना), वह जीव की बड़ी भूल है। आहा...हा...! भाई !

'**भावार्थ :- जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है...**' भावार्थ है न ? त्रिकाल भगवान चैतन्य ज्योत है। ज्ञान जिसकी चाल, ज्ञान जिसका स्वभाव, ज्ञान जिसका रूप, ज्ञान जिसकी सम्पदा, ज्ञान जिसका भाव - ऐसा आत्मा है। उससे अतिरेक करके परवस्तु को, किसी भी क्रिया को अपनी मानना, वह जीव की भूल की बड़ी मिथ्यादर्शन / श्रद्धा है। जहाँ तक मिथ्यादर्शन होता है, (वहाँ तक किसी प्रकार का धर्म-बर्म कोई त्याग वैराग्य उसे सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया ? भाई ! यह हेडमास्टर सब होशियार कहलाते हैं या नहीं ? सबको हाथ में रखते हैं। वे कितने ही ऐसा रखें। आहा...हा...! अभिमान (करे)। उसे शरीर-बरीर ठीक (इसलिए ऐसा माने कि) मालिक को दबाना और मालिक को वश रखना, यह तो अपनी कला है। आहा...हा...! हें ?

मुमुक्षु :- अखबार में आया था।

उत्तर :- आयो होगा, परन्तु यह तो मैंने हमारे यहाँ नजरों से देखा था। 'गारियाधार' की बात है। यह तो बहुत वर्ष (पूर्व की) बात हाँ ! ५५-६० वर्ष पहले की बात है। साथ में एक गंजा रहता गंजा। वह गंजा रहता भाई ! वह सामने रहता न ? उसकी दुकान बाहर बाजार में थी। उस समय मेरी उम्र छोटी, शरीर बहुत सुन्दर और सब बातें ऐसी करे कि ऐसा ओ..हो...हो...! कहा, क्या करता है यह ? महिलाये निवृत्त होकर ऐसे गप्पे लगायें ! और माने कि हम धर्मी है, प्रतिक्रमण करते हैं, सामायिक करते हैं, प्रौषध करते है, प्रतिक्रमण करते है। बहुत अच्छी बात है। धर्म का भान नहीं हो कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसके ज्ञान बिना यह अज्ञानी जीव, वह

त्रिकाल स्वरूप है उसे/ स्वयं को नहीं जानता।

'**जो शरीर है, वही मैं हूँ; शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ; शरीर स्वस्थ होवे तो मुझे लाभ हो...**' निरोगता होवे तो धर्म किया जा सता है - ऐसा माननेवाले मूढ़ जीव हैं। सब व्यर्थ आता है इसमें। देखो ! '**बाह्य अनुकूल संयोग से मैं सुखी...**' बादशाही है, अभी सब व्यवस्थित है। लड़के व्यवस्थित, लड़किया व्यवस्थित; दामाद मिले तो ऐसे; मकान लेने जाएं तो पच्चीस हजार में लेने जाएं तो पचास हजार में मिल जाता है। सब प्रकार से कौन जाने... उलटा डालें तो सुलटा पड़ता है। भाई ! यह होता है, वह तो पुण्य के कारण होता है, इसमें तेरे कारण क्या है ? तू कहाँ वहाँ घुस गया तो व्यवस्थित करे ? (ऐसे) '**मैं सुखी...।**'

'**प्रतिकूल संयोग से मैं दुःखी...**' कहो, समझ में आया ? मूढ़ है, कहते हैं। मिथ्यादृष्टि पापी है। पाप को करता है, दुःख को करता है, दुःख को भोगता है, भविष्य के दुःख के परिभ्रमण के भाव को उत्पन्न करता है। समझ में आया ? '**मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप...**' मनुष्य कैसा ? वह तो जड़ है। '**मैं कुरूप, मैं सुन्दर - ऐसा मानता है। शरीराश्रित उपदेश...**' लो ! मोक्षमार्ग प्रकाशक का डाला। शरीराश्रित उपदेश होता है, यह आत्मा उपदेश करता है - ऐसा मानता है। वह तो वाणी-जड की क्रिया है। आत्मा उपदेश कर सकता है ? आत्मा में शब्द है, वह कर सकता है ? बहुत मानते हैं। अभी सम्प्रदाय के कितने ही साधु (कहते हैं कि) हम उपदेश देकर धर्म प्राप्त कराते हैं। अपने को वह नहीं करना, उसे जिलाना-ऐसा नहीं करना; उपदेश देना कि भाई ! किसी को मारना नहीं, किसी को ऐसा नहीं करना - ऐसा उपदेश दें तो धर्म होता है। उपदेश तो जड की भाषा है। आहा...हा...! यह शरीर की क्रिया उपदेश, उसे अपनी माने और मैंने उपदेश दिया, इसलिए मुझे लाभ होता है और उस उपदेश से जगत धर्म प्राप्त करता है और उससे मुझे लाभ होता है। मूढ़ जीव है; मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं जानता। समझ में आया ?

'**उपवासादि क्रिया...**' इस शरीर में रोटियां नही खाई, वहाँ उपवास हुआ, वहाँ मुझे धर्म हुआ-ऐसा मानता है। रोटियाँ, वह तो इतना जड़ नहीं आता था। शरीर में नहीं पड़ा, इसमें तुझे धर्म कहाँ से हो गया ? समझ में आया ? आहा...हा...! कठनि लगता है।

मुमुक्षु :- लड़के तो...

उत्तर :- यह सब किसके लिये है ? लड़के छोटे होते हैं, वे ऐसे बड़ाई करते है कि मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं उछाल सकता हूँ, गैंद ऐसे कर सकता हूँ, अमुक ऐसा कर सकता हूँ, एक हाथ मारुं तो गेंद ऐसे कर सकता हूँ... वह भी मूढ़ है। कहो, समझ में आया ? यह लात (पैर) मारना चाहिए, मेरा पैर लगे तो गेंद ऐसे उड़ती है। आहा...हा...! पैर की ठोकर मारता हूँ, पूरा पैर नहीं मारता, कहे। जाए ऊँचे... ओ..हो...हो...! पैर कहाँ तेरा है कि तू ठोकर मारे ? सुन न ! समझ में आया ? क्या कहा ?

'**यह उपवासादि...**' अर्थात् शरीर में आहार कुछ थोड़ा आया, लिया, उनोदर किया, समझ में आया ? रात्रि में... ऐसा मुझे प्रायश्चित दो यह सब धर्म है - ऐसा मानते हैं। यह भाषा तो शरीर की क्रिया है, उसमें कोई राग मन्द हुआ हो तो वह पुण्य है और उसमें धर्म मानता है। '**अपनापन मानता है...**' यह क्रिया मेरी है। कठिन बात है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में 'टोडरमलजी' ने लिखा है। समझ में आया ? कि अनादि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु था, उसकी क्या भूल रह गयी ? उसने पुरुषार्थ तो बहुत किया था। वह शरीर की क्रिया और उपवास की जड़ की क्रिया (हो), उसे अपनी मानता है... राग मन्द हो, वह शुभ है, परन्तु देह की क्रिया में आहार नहीं मिला और उसे अपनी क्रिया मानता है। वह तो जड़की क्रिया हुई। समझ में आया ? है न यह ? हें ? देखो ! यह इसमें है, हों ! 'उसी प्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभ कार्य का कर्ता, तद्रुप परिणमें तो भी उस प्रकार का अन्तरंग श्रद्धान है कि यह कार्य मेरे... परन्तु यदि देहाश्रित व्रत, संयम को भी अपना माने....' देहाश्रित। 'टोडरमलजी' मोक्षमार्ग प्रकाशक (में कहते हैं।) 'देहाश्रित व्रत-संयम को भी...' अपने देह की क्रिया हो। दया पालने की हो, देह से, हाँ ! उसे अपनी मानकर कर्ता हो, वह मिथ्यादृष्टि है। वह अज्ञानी है, उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। आहा...हा...! बहुत कठिन बात, भाई ! देखो, यह है। ३५५ पृष्ठ पर है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया।

'**अपनापना मानता है - इत्यादि अभिप्राय द्वारा...**' है न ? नीचे लिखा है, हाँ ! इसने इसमें लिखा है, पुरानी प्रत में से। '**जो शरीरादि पदार्थ दिखायी देते हैं, वे आत्मा से त्रिकाल**

भित है...' यह पुरानी प्रत में लिखा है। '**उन पदार्थों के ठीक रहने या बिगड़ने से आत्मा का तो कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं होता, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उससे विपरीत मानता है।**' इसमें लिखा है, हाँ ! इसने स्वयं ! पुरानी प्रति है न ? पहली हिन्दी (प्रति में।)

'**इत्यादि मिथ्या अभिप्राय द्वारा...**' इत्यादि अर्थात् जितने सब हैं, उनमें कहीं-कहीं किसी रजकण में, किसी स्कन्ध में, किसी पर्याय में, किसी खाने-पीने की क्रिया में, कहीं भी अपनापना मानता है, मुझसे होता है - ऐसा मानता है। ऐसे '**अभिप्राय से जो अपने परिणाम नहीं है, परन्तु सब परपदार्थ के ही परिणाम है...**' समझ में आया ? उस परपदार्थ की अवस्था को आत्मा की माने, आत्मा की सत्ता से होती है - ऐसा माने, '**उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है, वह जीवतत्त्व की** (महा) **भूल है।**' मिथ्यादृष्टि की बड़ी भूल है। वह जीवतत्त्व को नहीं जानता। कहो, समझ में आया वह ? यह तो समझ में आये - ऐसी बात है अब, आहा...हा...! इतनी सी भी पता नहीं होती। जैन में जन्मा होवे तो ऐसा का ऐसा उल्टा का उल्टा चला जाता है।

यह जीवतत्त्व में अपना ज्ञानानन्द त्रिकाल स्वरूप है, वह तो जानने - देखने की ही क्रिया को करनेवाला है। यह शरीरादि की क्रिया का या रागादि क्रिया उसकी नहीं। उसका कर्ता स्वभाव नहीं हो सकता - ऐसा जिसे भान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि जीव की बड़ी भूल करता है।

अब, पाँचवे में '**अजीव और आस्रवतत्त्व का विपरीत श्रद्धान**' बतलायेंगे। अजीव, अजीव, अजीव, की भूल। यह जीव की भूल कही थी। अब अजीव की भूल (कहते हैं।) शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ। इसमें दृष्टान्त दिया है, हाँ ! और मर गया। देखो ! मुर्दा। अर्थी निकाली, देखो ! दोनो दिये हैं, है न ? देखो यह ! मुँह और... शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ, शरीर मर गया तो मैं मर गया - ऐसा (जो) मानता है, वह अजीव की (भूल है) और आस्रव की (भूल अर्थात्) पुण्य-पाप का भाव दुःखरूप है, शुभाशुभभाव दुःखरूप है, उनकासेवन करके सुखरूप मानता है, वह मिथ्यादृष्टि की आस्रवतत्त्व की भूल है।

इसकी विशेष व्याख्या करेंगे। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव।)

✲

अजीव और आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।।५।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (तन) शरीर के (उपजत) उत्पन्न होने से (अपनी) अपना आत्मा (उपज) उत्पन्न हुआ (जान) ऐसा मानता है और (तन) शरीर के (नशत) नाश होने से (आपको) आत्मा का (नाश) मरण हुआ ऐसा (मान) मानता है। (रागादि) राग-द्वेष-मोहादि (ये) जो (प्रगट) स्पष्ट रूप से (दुःख देन) दुःख देने वाले हैं (तिनही को) उनकी (सेवत) सेवा करता हुआ (चैन) सुख (गिनत) मानता है।

भावार्थ :- (१) अजीवतत्त्वकी भूल :- मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति (संयोग) होने से मैं उत्पन्न हुआ और शरीर का नाश (वियोग) होने से मैं मर जाऊँगा, (आत्मा का मरण मानता है;) घन, शरीरादि जड़ पदार्थों मे परिवर्तन होने से अपने में इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीर में क्षुधा-तृषारूप अवस्था होने से मुझे श्रुधा-तृषादि होते हैं, शरीर कटने सें मैं कट गया - इत्यादि जो अजीव की अवस्थाएँ हैं उन्हें अपनी मानता है यह अजीवतत्त्व की भूल है[१]।

(२) आस्रवतत्त्वकी भूल :- जीव अथवा अजीव कोई भी पर पदार्थ आत्माको किंचित् भी सुख-दुःख, सुधार-बिगाड़, इष्य-अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर में कर्तृत्व ममत्वरूप मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि शुभाशुभ आर्स्वभाव-यह प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, बन्ध के ही कारण हैं तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है; और शुभभाव भी बन्धका ही कारण है - आस्रव है, उसे हितकर मानता है। परद्रव्य जीवको लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें

१. आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र, असत्र अथवा अन्य किसी से नही मरता और न नवीन उत्पन्न होता है। मरण (वियोग) तो मात्र शरीर का ही होता है।

इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है; मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता; पर पदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं - ऐसा मानता है - यह आस्रवतत्त्व की भूल है।।५।।

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ३, सोमवार
दि. २४-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ५, ६ प्रवचन नं.-७

दूसरी ढाल। चार गाथा हुई, पाँचवी (गाथा)। '**अजीव और आस्रवतत्त्व का विपरीत श्रद्धान।**'

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।।५।।

एक गाथा में दो की भूल (दिखायी है।) '**(मिथ्यादृष्टि जीव)...**' अज्ञानी। अपना चैतन्यस्वरूप कभी जन्मता नहीं और कभी मरता नहीं। चैतन्य कभी जन्मता नहीं और मरता भी नहीं - ऐसे आत्मा को नहीं जानता हुआ '**शरीर के उत्पन्न होने से अपना आत्मा उत्पन्न हुआ - ऐसा मानता है।**' इसमें दृष्टान्त दिया है, देखो ! इसमें है। लड़का जन्मा न ? शरीर ऐसा हुआ, इसलिए मैं जन्मा ऐसा। शरीर उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न हुआ - इस प्रकार अज्ञानी, अजीव को अपना स्वरूप मानता है - यह अजीव की भूल है - ऐसा कहना है। उसमें यह

आया था। आत्मा पर को - देह को माने, आत्मा देह में स्वयं को माने तो यह जीव की भूल है। यह देह उत्पत होने से मैं उत्पन्न हुआ - यह माने, वह अजीव की भूल (है।) कुछ समझ में आया ?

शरीर के उत्पत होने से अपना... है न ? '**अपनी उपज...**' स्वयं तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, आनन्द है; उसे-आत्मा को जन्म और मरण नहीं है। संयोगी चीज़ का - शरीर का योग होने पर मैं उत्पन्न हुआ शरीर का वियोग होने पर मैं मर गया। इसमें दोनों दृष्टान्त दिये हैं, देखो ! अर्थी बाँधी है न ? उसमें मुर्दा किया है, शरीर किया है। यह उसमें दिया है। पुराने में दिया है, नये में दिया है। यह जन्म का दृष्टान्त है और यह मरण का है - दो। है ? भाई ! है या नहीं इसमें ? मैं मर गया। मरते हुए गहरे-गहरे उतरता है न ? मरने के काल में ऐसे मानो आत्मा उतरता हो अर्थात् मानो ऐसे अभाव हो जाता हो, सारा शरीर दुर्बल पड़ जाता है, अन्दर नसों में चर्बी घट जाती है। ऐसा गहरा-गहरा लोग नहीं कहते ? मरते गहरा-गहरा उतर जाता है। यह दूसरा सूंघता है न ? तब उसे ऐसा लगता है कि गहरे-गहरे उतरता है। गहरा कहाँ उतरे ? वह तो है वहाँ है परन्तु पर के कारण मानो पर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ और गहरे-गहरे उतरे मानों मेरा ही अभाव हो गया। अभाव होता जाए। उसे आत्मा पर से भित ज्ञानानन्द है, उसमें उपजना नहीं और मरना भी नहीं - ऐसा न मानकर इस देह में उपजा, वह मैं उपजा, देह में सब मन्द पड़ गया। यह सब ऐसा हो गया और यह मेरा अर्थात् मैं मर गया - यह अजीवतत्त्व की बड़ी भूल (है।)

'**शरीर का नाश होने से...**' अपना नाश '**अथवा मरण हुआ - ऐसा मानता है...**' यह अजीव की भूल संक्षेप की, निशेष स्पष्टीकरण अन्दर अर्थ में करेंगे। '**राग-द्वेष-मोह इत्यादि (प्रकट)...**' प्रकट-ऐसा शब्द (प्रयोग किया) है। शुभ-अशुभ, राग-द्वेष और पर के प्रति मेरे(पने का) मोह, यह '**स्पष्टरूप से (दुःखदेन) दुःख देनेवाले हैं...**' शुभ-अशुभराग और यह मेरा-ऐसा मिथ्यात्वभाव, यह प्रकट दुःख देनेवाले हैं, तथापि '**उनकी सेवा....**' करता है, अर्थात् उनमें ही एकाग्र होता है। पुण्य और पाप के भाव की सेवा करता है। सेवा अर्थात् उनकी सेवा करे, उनमें ही एकाग्र हो, उनसे मुझे लाभ होता है - ऐसा माने, उसे आस्रवतत्त्व की भूल होती है। देखो ! यह बड़ी भूल।

अजीव उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न हुआ और इन पुण्य-पाप के भाव में एकाग्रता (करता है)-

यह सेवन करने योग्य है, भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप सेवा करने योग्य नहीं है (-ऐसा मानता है।) यह संवर-निर्जरा में आयेगा। यही सेवन योग्य है। शुभ और अशुभ ठीक है, हित है, श्रेय है, उसमें से ही मेरे आत्मा की सब सम्पदा प्राप्त होगी। ऐसे शुभाशुभ राग में दुःख देनेवाले शुभ और अशुभपरिणाम दोनों है, तथापि उन्हें अपना भाव मानकर सेवा करता है।

'**सेवा करता हुआ (चैन) सुख मानता है।**' फिर ऐसा कहा है न ? सुख मानता है। शुभाशुभभाव दुःखरूप है, अहितकर है, हेय करने योग्य है; दुःख के देनेवाले को सुखरूप मानता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह शुभ और अशुभराग होता है, वह दुःख देनेवाला है।

मुमुक्षु :- शुभ से तो लाभ है, उससे तो स्वर्ग मिलता है।

उत्तर :- स्वर्ग मिला, इससे आत्मा को क्या हुआ ? यह कहेंगे। वेष बदला, शरीर बदला। अघाति के कर्म का वेष पलटा - इसमें आत्मा को क्या ? समझ में आया ? शुभभाव से वह तो बन्धन में आयेगा। बन्धन के फल में शुभ का अनुकूल फल देखकर उस बन्ध में रचेगा। यह बात बन्ध में आयेगी। यहाँ तो अभी मात्र शुभ या अशुभ विकल्प जो हैं, वे दुःख के देनेवाले हैं, इसलिए आत्मा के अमृत से विपरीत अवस्थारूप विकार है। आत्मा अमृतस्वरूप शान्त, आनन्द (स्वरूप) आत्मा है, तब उससे विपरीत पुण्य-पाप का भाव दुःखरूप है। उसे सुखरूप चैन मुझे मजा है (- ऐसा मानता है)। शुभभाव में मजा और अशुभभाव में मजा (है) ऐसा माननेवाले आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा करते हैं। कहो, इसमें समझ में आया ? कहाँ गये ? भाई ! इसमें समझ में आया ?

कहते हैं, शुभ और अशुभ और मोहभाव प्रगट दुःखदेन है, ऐसा शब्द प्रयोग किया है। '**प्रकट दुःखदेन**' ऐसा। उनमें ज़रा भी शान्ति नहीं है; शुभ या अशुभभाव में ज़रा भी शान्ति नहीं है, तथापि उन्हें सुखरूप (मानता है।) चैन लगती है, मजा लगता है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम-क्रोध, मान, माया, लोभ भाव करके मजा... मजा, है; हमारे मज़ा है। मूढ़ है, कहते हैं। दुःखरूप भाव को सुखरूप मानना, मूढ़ है। ऐसे ही शुभभाव का भाव, वह भी विकारभाव स्वयं वर्तमान दुःखरूप है।

(समयसार) कर्ता-कर्म (अधिकार की) ७२वीं गाथा में आ गया है। आस्रवभाव-पुण्य-

पाप स्वयं वर्तमान दुःखरूप भाव है और दुःख का कारण है, उसे होंश करके उसकी सेवा करता है। उसे सुखरूप मानकर रुचि से - प्रीति से उसकी सेवा करता है, इसका नाम आस्रवतत्त्व में मिथ्यादृष्टिपना है। कहो, इसमें समझ में आया ? लड़के पुस्तक लाये हैं या नहीं ? देखो ! इसमें सूक्ष्म बात है।उसमें गेंद खेलते हैं या नहीं ? उसमें राग होता है और राग में मजा माने, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। हें ? क्या कहा ? कहते है कि, अशुभराग होता है। किसमें ? इसमें बाह्य के उसमें (खेल में) अशुभराग होता है। उस अशुभराग में चैन मानता है, मजा मानता है, हर्ष मानता है। कहते हैं कि, वह मूढ़ है, भाई ! आज आये है। (मुझे कहाकि) हिम्मत दो। ऐसे अस्ति से बोले; परन्तु इसका अर्थ कि हिम्मत हार गया हूँ - ऐसा बोले। ऐसा था न ? मैं समझ गया। हिम्मत दो, कहे। बहुत उलाहना मिलता है न, इसलिए सीधी भाषा ऐसी कि हिम्मत हार गया हूँ। किसमें से हिम्मत हारना ?

पाप का भाव आवे, उसे मजा मानना, उस दुःखदायक (भाव को) सुखदायक मानना, वह मूढ़ता है - ऐसा कहते हैं। प्रतिकूलता में, प्रतिकूलता के कारण नहीं; स्वयं के कारण से हुआ पापभाव, उसमें मजा मानना कि यह मुझे ठीक है, इसका नाम मिथ्यादृष्टि असत्य पाप का सेवन है। कठोर बात ! समझ में आया ?

'**भावार्थ :- अजीवतत्त्व की भूल :- मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति (संयोग) होने से मैं उत्पन्न हुआ...**' शरीर का संयोग होने से मैं जन्मा। जन्मे तब शरीर का तो संयोग होता है, कहीं आत्मा नहीं जन्मता। '**और शरीर का नाश (वियोग) होने से मैं मर जाऊँगा, (आत्मा का मरण मानता है।)**' जहाँ शरीर छूटने लगे, बस ! अब मैं मर गया। अब हम मर गये। कौन मरे ? मर गया - ऐसा बोले। अब हम मर गये। कौन मरे इसमें ? शरीर मरे या आत्मा मरे ? मरे कौन ? यहाँ तो शरीर का वियोग होता है - इतनी बात है। मरता तो न शरीर है, न आत्मा मरता है। शरीर के वियोग से आत्मा की मृत्यु माने, वह मूढ़ जीव, अजीवतत्त्व की बड़ी भूल सेवन करता है। समझ में आया कुछ ? अथवा आत्मा का मरण मानता है।

'**धन, शरीरादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से...**' उसमें ऐसा था कि यह परिवर्तन मैं

करता हूँ। यहाँ परिवर्तन होने पर वह परिवर्तन अपने में मानता है। जैसे, शरीर के उत्पन्न होने से अपना उत्पन्न होना मानता है; वैसे शरीर की अवस्था पलटने से मैं वृद्ध हो गया, मैं यह हो गया, मेरे सब हथियार हल्के पड़ गये। शरीर व्यवस्थित न हो, वहाँ (ऐसा मानता है।) समझ में आया ? मूढ़ है। भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। शरीर की कमजोरी से कहीं आत्मा को कमजोरी नहीं आती। शरीर की अवस्था के परिवर्तन से कही आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। कहो, भाई !

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द अनादि-अनन्त स्वरूप है। उसे बाह्य के परिवर्तन से स्वयं का परिवर्तन / पलटना मानना, वह अजीव की बड़ी भूल है। अजीव में परिवर्तन होने से यहाँ परिवर्तन मानना, वह बड़ी भूल है। वहाँ शरीर में, आबरुमें, कीर्ति में, मकान में, स्त्री-पुत्र में परिवर्तन होवे, उसमें तुझे क्या हो गया ? समझ में आया ? पैर टूटा, पैर कम हो गया, ऐसा हो गया, लूला हो गया, लो ! तब कहे, मैं लूला हो गया। भाई ! आहा...हा...! है ? कान टूटा तो मैं टूट गया, नाक टूटा तो मैं टूट गया, आँख फूटी वहाँ मैं फूट गया। आँख जरा फूटे न ? हाय... हाय... हम तो भई अन्धे हो गये अब। शरीर की अवस्था के परिवर्तन से आत्मा में परिवर्तन मानता उसे अजीव की मिथ्यादृष्टि की भूल कहते हैं। समझ में आया ?

'**शरीर की उष्ण अवस्था होने पर मुझे बुखार आया...**' यह शरीर में उष्णता आती है। इस शरीर में - यह रजकण मिट्टी है, उसमें एक स्पर्श नाम का गुण है। इस गुण के कारण उसमें उष्ण अवस्था होती है। वह उष्ण अवस्था शरीर में होने पर आत्मा 'मुझे बुखार हुआ' - ऐसा मानता है। उसकी अवस्था अपने में मानी, वह मिथ्यादृष्टि, अजीव को भूलता है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक सैकण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीनलोक प्रत्यक्ष देखा, वे भगवान कहते हैं कि इस शरीर में जो उष्णता होती है, वह इस रजकण के स्पर्शगुण की एक पर्याय है। वह पर्याय होने पर मुझे हुई - ऐसा माना है, उसने अजीव को जीव माना है। वह अजीव की भूल है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

'**शरीर में क्षुधा...**' लगने पर मुझे क्षुधा लगी। मर गया। मुझे इतनी भूख लगी है, हाँ ! ऐसा नहीं कहते ? हे ? झट दो, ऐसी भूख लगी है। परन्तु किसे ? शरीर की क्षुधा। भगवान आत्मा तो

अरूपी आत्मघन है। आत्मा तो अरूपी ज्ञानघन है, उसे क्षुधा नहीं होती। शरीर की क्षुधा को अपनी क्षुधा मानना यह अजीव की भूल है। मिथ्यादृष्टि को अजीवतत्त्व की भूल है। आहा...हा...! वीतराग के नौ तत्त्व भगवान ने कहे हैं। जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इसे यथार्थ नवतत्त्व का पता नहीं होता, इसे धर्म होगा कहाँ से ? धूल में धर्म बाहर से होता होगा ? समझ में आया ? कहते हैं, शरीर की क्षुधा की अवस्था होने पर मुझे हुई; तृषा अवस्था (हुई) मुझे कण्ठ में खुस्की पड़ती है, हाँ। आत्मा को खुस्की पड़ती होगी ?

मुमुक्षु :- डॉक्टर...।

उत्तर :- डॉक्टर को होंश कब था वहाँ ? नहीं, डॉक्टर ?

मुमुक्षु :- (उन्हें) आत्मा नाम की चीज नहीं

उत्तर :- ठीक, इसलिए फिर मानते नहीं। आत्मा ही पूरा उड़ाया, आत्मा नाम की चीज नहीं होती, फिर यही सब है। यहाँ यही कहते हैं।

क्षुधा, तृषा अवस्था होने पर मुझे क्षधा, तृषा हुई। शरीर की अवस्था में क्षुधा, तृषा होने पर, जैसे शरीर के उत्पन्न होने पर मैं उत्पन्न हुआ; वैसे ही शरीर की क्षुधा, तृषा होने पर मुझे क्षुधा, तृषा हुए। यह मिथ्या, अजीवतत्त्व की मिथ्याश्रद्धा की भूल है। ऐसा मिथ्यात्व जहाँ हो, वहाँ उसे धर्म किसी प्रकार नहीं हो सकता। ये सामायिक और प्रोषध करनेवाले इसप्रकार माने तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें सामायिक प्रौषध है ही नहीं, भाई !

मुमुक्षु :- बुखार आये तो कहे मुझे बुखार आया।

उत्तर :- बुखार किसे आवे ? धूल को। बुखार अर्थात् क्या ? उष्ण; स्पर्शगुण की एक उष्ण पर्याय। बुखार अर्थात् क्या ? बुखार की व्याख्या। बुखार (शब्द) वाचक, उसका वाच्य क्या ? यह रजकण-परमाणु है, उनमें एक स्पर्शन नाम की शक्ति है, गुण है, उसकी बुखार एक अवस्था है। वह अवस्था जड़ में - परमाणुओं से होती है। उसके बदले कहता है - मुझे बुखार आया - मूढ़ है।

मुमुक्षु :- बोले तो कैसे ?

उत्तर :- बोले तो कहा न कि पहिचान के लिए कहते हैं। वह नहीं कहता था ? एक राजा का डॉक्टर था। 'रतलाम' का डॉक्टर था। हें ? वह 'रतलाम' का डॉक्टर आया था न फिर (राजा

को) आमदनी तो बारह महीने में दस लाख की साधारण, परन्तु उसे बुखार आया - ऐसा नहीं कहा जाता; तब क्या (कहा जाता) ? अन्नदाता ! आपके दुश्मन को बुखार आया है तो वैद्यको बुलाऊँगा ? आपके दुश्मन को बुखार आया - ऐसा बोला जाता। आपको बुखार (आया है ऐसा) बोला जाता है ? ... सुन नहीं सकता। राजा इसलिए ! हम राजा, महाराजा। ....! ऐ...दरबार ! यह दरबार तो बनियों के दरबार हैं। वे तो जगीरदार। समझ में आया ? लो ! वे कहते, हाँ ! यहाँ आये थे। हमारे दरबार को बुखार आवे तो ऐसा नहीं कहा जाता। अन्नदाता ! आपको बुखार आया - ऐसा नहीं कहा जाता। तब क्या कहा जाता है ? अन्नदाता ! आपके दुश्मन को बुखार आया है, बुखार आया है, तो किसी वैद्य को बुलाऊँगा ? ऐसा बोला जाता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- दरबार को बीमार कहा जाता है ?

उत्तर :- दरबार बीमार नहीं। आत्मा ही दरबार है, वह कहाँ दरबार था ? आहा...हा...!

मुमुक्षु :- दवा कौन पिलाये ?

उत्तर :- कौन पिलाये ? शरीर में पड़े, उसे दवा पिलाये ऐसा कहा जाता है। राजा मरे तब मर गये - ऐसा नहीं कहा जाता, सो गये हैं - ऐसा कहा जाता है। बड़े राजा, महाराजा, करोड़-करोड़ पाँच करोड़, दस करोड़ की आमदनी हो, उनके ऐसे बड़े बंगले, हीरा-माणिक से श्रृंगारित हो; अब उन्हें ऐसा नहीं कहा जाता कि मर (गये हैं)। बाहर में यह आवाज नहीं निकलती। महाराज साहब सो गये हैं, बस ! इतना बाहर कहे। तब लोग समझ जाते हैं कि मर गये हैं, ऐसा। अरे...अरे..! अभिमान, वह भी कितना ? (यह तो) एक साधारण राजा, दस लाख की आमदनी वाला, 'रतलाम'का।

वे तो चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा, महाराजा, हजारों बड़े श्रेणिक राजा जैसे जिनको चामर (पंख) ढोलते हैं - ऐसे राजाओं को भी सम्यग्दर्शन होता है। वह जानते हैं कि यह जड़ की अवस्था है, हमें इसमें कुछ नहीं; हम तो उसके जाननेवाले हैं - यह कहना (भी) व्यवहार है, हमारा मानना - यह तो बात ही नहीं है। आहा...हा...! वे राग में पड़े, छियानवे हजार रानियों के वृन्द में पड़े दिखलायी दै। अरे...! हम तो हमें देखनेवाले हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

इनके देखनेवाले कहना, यह व्यवहार (है) तो वे हमारे हैं - यह बात तो उनमें है नहीं। आहा...हा...! ऐसे देखो तो बड़े चक्रवर्ती ऐसे दिखे। सोलह हजार देव सेवा करते हों; समझ में आया ? और उनकी ऋद्धि, उनके पुण्य फेलाये समावे नहीं, इतना उनका पुण्य। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। हम तो अपनी आनन्द ऋद्धि, शान्ति ऋद्धि, एक-एक ऋद्धि की अनन्त शक्ति ऐसा तत्त्व-आत्मा है। हम उनमें कही नहीं आये, वे हमारे में नहीं आते। कुछ समझ में आया ?

कहते हैं कि यह मुझे क्षुधा, तृषा (होती है।) '**शरीर कटने से मैं कट गया...**' नाक फट जाए तो कहे, मैं नककटा हूँ। ऐसा मानता है न ? मैं तो पहले से ही नककटा हूँ, भाई ! मेरी एक आँख पहले से फूटी है। मेरी एक आँख फूटी हूई है (- ऐसा कहता है)। (आँख) शरीर की है या तेरी है ? कान में होता है न ? कितने ही कनकटा वे ऐसा ही मानते है कि मैं ऐसा हूँ, बस ! समझ में आया ? वह क्या कहलाता है ? गाँठ होती है, बड़ी गाँठ होती है। तुम्हारे भाई को इतनी बड़ी रसोली थी न ? ऐसा हो, छोटा-छोटा वह होते है न ? मस ! उसे ऐसा ही हो जाता है। मेरे दो वर्ष बाद मस हुआ। मुझे मस हुआ है। यहाँ मोटा हो जाता है, यहाँ मोटा हो जाता है। यहाँ इतना मोटा था। वह मसा हो जाए, फिर वह कटे नहीं, काटे तो खून निकलता है। फिर ऐसे का ऐसा रहे। देखो न ! भाई को आँख में है न जरा ? आँख के ऊपर ज़रा मसा बढ़ जाए, पलकों के ऊपर; कटे नहीं, मिटे नहीं। वह तो जड़ की दशा है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! यह पलकों में मसा होता है। है न ? यह पलकें है न ? उसमें से इतना बढ़े, ऐसा टूकड़ा बढ़ जाता है, मूँग के दाने जितना। भाई को है। कुछ समझ में आया ? वह जड़ की अवस्था है, आत्मा नहीं, परन्तु उसे ऐसे ही मानता है। उसे स्वप्न भी ऐसे आते हैं, यह मैं। आहा...हा...! भूला, वह भी पूरी भींत को भूला है न ! कहो ! यह अजीवतत्त्व की भूल है।

नीचे भाईने - ग्रन्थकारने अर्थ करनेवाले लिखा है - '**आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र-अस्त्र या दूसरे किसी से नहीं मरता... 'नैनं छिदन्ति'**' आता है न यह ? '**नया उत्पन्न नहीं होता। मरण (वियोग) तो मात्र शरीर का ही होता है।**' मरण नाम शरीर का वियोग है - इसका नाम मरण कहा जाता है। आत्मा को आत्मा का वियोग नहीं होता। आत्मा को आत्मा का वियोग होता है ? अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यदल ... समझ में आया ? ऐसा का ऐसा

पूर्वजन्म से यहाँ आवे और यहाँ से अन्यत्र जाए तब शरीर यहाँ पड़ा रहे और वहाँ गया। शरीर के कारण आत्मा को जन्म मरण मानना, यह बड़ी अजीव की भूल है।

अब, आस्रव की भूल - '**जीव अथवा अजीव कोई भी परपदार्थ आत्मा को कुछ भी सुख-दुःख, बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर में कर्तृत्व, ममत्वरूप...**' पर में कर्तृत्व, ममत्वरूप '**मिथ्यात्व...**' अर्थात् ? पर का कार्य कर नहीं सकता, तथापि पर का कार्य करूं- ऐसी मान्यता या ममता मिथ्यात्व की है। मिथ्यात्व की ममता है, विपरीत श्रद्धा (है।)

'**और राग - द्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले है...**' वह प्रगट का अर्थ किया है। शुभ और अशुभ पुण्य-पाप के भाव; यह दया, दान, भक्ति, व्रत पूजा का शुभभाव, वह दुःखरूप है। आहा...हा...! आवे सही, होवे भले ही, पाप से बचने के लिए (आवें) परन्तु वे शुभभाव, अमृत को लूटकर उत्पन्न हुए हैं। आहा...हा...! कभी घर देखने के लिए निवृत्त नहीं हुआ। 'न देखा अपना रूप' नहीं आया ? पहले आ गया है। है ? चौदहवीं गाथा आ गयी है। 'न देखा अपना रूप।' अपना रूप आया था, देखो ! '**कैसे रूप लखे आपनो -**' पहली ढाल की १४ वीं (गाथा) को अन्तिम लाईन है।

बलपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।

अपना स्वरूप अखण्डानन्द ज्ञान है। इसमें रच-पच गया। फुरसद कब हैं ? मैं कौन हूँ ? अन्दर देखने, अन्दर ढूढने, अन्दर अवलोकन करने, खोजने को निवृत्त कब होगा ? कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? इन सब अवस्थाओं को अपनी माने और उसी-उसी में संभाल करने में रचपच गया। उसमें अन्दर यह आत्मा कौन चीज है। क्या है ?

कहते हैं कि, यह शुभाशुभभाव बन्ध के ही कारण हैं। अभी बन्धतत्त्व की भूल नहीं बतानी है; यहाँ (तो) आस्रव की भूल बतानी है, परन्तु यह पुण्य-पाप के भाव बन्ध के कारण हैं, दुःख के कारण हैं, उन्हें सुखरूप मानता है - इतना बताना है। बन्ध का (स्वरूप) बाद में आयेगा। '**बन्ध**

के ही कारण हैं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है।' भाव का सेवन करता है। समझ में आता है ? शुभ और अशुभभाव। यह विषय भोग, प्रतिष्ठा-कीर्ति, सुनने से इसे अशुभभाव हो, (उसमें) मजा माने, चैन... चैन...चैन... (लगे)। पाँच हजार या पच्चीस हजार मिले, वहाँ (कहता है) हलुआ का गर्म पानी रखो ! हर्ष मानता है। यह हर्षभाव, यह पापभाव है, (उसमें) मजा मानता है। क्या होगा इसमें ? भाई ! अरे... अरे..! कठिन बात। घर में पच्चीस लोग हों और पाँच लाख कमाय तो सब प्रसन्न होते हैं, लो ! लड़का कर्मी हुआ है।

मुमुक्षु :- कर्मी न ? धर्मी नहीं न !

उत्तर :- वह फिर अलग (बात) परन्तु यह तो कर्मी हुआ है अर्थात् वह जो अशुभभाव करता है और उसमें मजा मानता है - ऐसा, इतना कहना है। भाई ! क्या होगा इसमें ? क्या कहते हैं ?

शुभ और अशुभभाव, यह पुण्य-पाप के भाव दुःख के देनेवाले हैं। प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं। प्रत्यक्ष, हाँ ! यहाँ तो ग्रन्थकार ने स्वयं बात (-शब्द) प्रयोग की है - प्रगट दुःख देनेवाले। पता नहीं (इसे), वहाँ कहाँ शान्ति थी ? - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! शान्ति तो भगवान आत्मा में है। उसमें से बाहर निकलकर शुभाशुभभाव में प्रगट दुःख देनेवाले है और '**बन्ध के ही कारण है, उन्हें अज्ञानी जीव सुखकर जानकर सेवन करता है।**' है न ? '**सेवत गिनत चैन।**' यह चैन की व्याख्या की। मजा है, अभी तो हमारे मज़ा है। आहा...हा...! खाने-पीने के साधन, बंगला और गाड़ी सब अनुकूलता है। उसमें भाव होता है पाप और मानता है कि हमको मज़ा है। अबी सुखी है, सुखी हैं, बादशाही है।

मुमुक्षु :- एक माँगे और इक्कीस मिले...

उत्तर :- यह तो पूछो, इस भाई को। धूल में भी सुख नहीं है। फँसे एक में से दूसरे में, दूसरे में से तीसरे में फँसता है, वह राग, राग, राग, राग, राग, राग... समझ में आया ? आहा...हा...! कठिन बात, भाई ! ऐसा (हो) तब इसमें हमें करना क्या ? अब धर्म किस प्रकार करना ? अच्छे साधन होवे तो धर्म होता है। अच्छे साधन न हो तो धर्म होता है ? साधन अच्छे-बुरे कहना किसे ? कहते है। पर के साधन को अच्छा-बुरा मानना, वही मूढ़ जीव है। पर के साधन का आत्मा से सम्बन्ध क्या है आहा...हा...!

'**और शुभभाव भी बन्ध का ही कारण है...**' कारण की बात है, हाँ ! आस्रव की बात है। वह '**आस्रव है...**' पुण्य-दया, दान, व्रत के शुभभाव। '**उन्हे हितकर मानता है। परद्रव्य, जीव को लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है...**' परपदार्थ, आत्मा को लाभ - हानि करनेवाले नहीं है, वे तो ज्ञेय है।

'**मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता...**' विपरीत मान्यता; इसे इस मान्यता का पाप ही दिखायी नहीं देता। किसी की ... मर जाए, पाँच-पचास लाख इकट्ठा करे तो यह पाप करता है - ऐसा लगता है; समझ में आया ? परन्तु यह सम्पूर्ण आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध है, उसे भूलकर, मुझे पर से सुख-दुःख होता है- ऐसा मानता है, वह महापाप है। उस पाप को नहीं पहिचानता। यह क्या पाप ? उसमें क्या जीव मर गया ? बापू ! ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य, उसे पर की अनुकूलता से सुख अथवा शुभभाव में सुख माना, वही मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि मिथ्यात्व और राग-द्वेष का स्वरूप नहीं पहिचानता। इसमें क्या राग हुआ ? इसमें क्या राग हुआ ? - ऐसा कितने ही कहते हैं। यह भगवान की भक्ति करें, इसमें क्या राग हुआ ? लो ! हमारे तो वीतरागता चाहिए है।

मुमुक्षु :- यह तो बहुत पुरानी बात है।

उत्तर :- हाँ, परन्तु ऐसा कहते है न ? सब मानते हैं। (संवत्) १९९५ में वहाँ 'जूनागढ' गये थे न ? वहाँ एक था। हम भगवान के भक्ति (करते हैं), हमें राग नहीं चाहिए, हमें तो वीतरागता चाहिए है। लो ! तुम कहते हो कि भगवान कि भक्ति, वह राग है, परन्तु हम कहते हैं कि हमारे राग है कहाँ ? हमारे राग करना कहाँ है ? परन्तु तू भक्ति करे यही राग है। सुन अब ! समझ में आया ? परन्तु वह राग को स्वयं सुख का कारण मानता है। बन्ध के कारण को, अबन्ध परिणाम को न जानकर बन्ध के कारण को सुख माने तो अबन्ध कारण के परिणाम को नहीं जानता। आहा...हा...! समझ में आया ? ऐसा मानता है कि हमारे (राग) कहाँ चाहिए है ?

एक व्यक्ति कहता था, लो ! एक बार (संवत्) १९९७ में वकील कहता था। इसमें परजीव की दया के भाव (हुए) उसमें क्या पाप आया ? उसमें राग कहाँ आया ? उसमें राग कहाँ आया ? - ऐसा प्रश्न किया था, लो ! भाई ! ज्ञानस्वरूप वह अपना लक्ष्य छोड़कर अन्य के विषय का लक्ष्य

करके विषय बदलता है, वही राग है भाई ! यहाँ कहा न ? राग के स्वरूप को नहीं पहिचानता। राग-द्वेष के स्वरूप को नहीं पहिचानता। ऐसे की परजीव की दया पालन करें, उसमें राग कहाँ आया ? भाई ! तू ज्ञानस्वरूप है, उसका विषय तो ज्ञान, स्वविषय है। उसके बदले यह (है), दूसरे का भाव था, उसमें से ऐसा बदला, ऐसा बदला यह बदलना वही अन्दर राग है। आहा...हा...! उसमें क्या राग आया ? दान में क्या राग आया ? अमुक में क्या (राग) आया ? भाई ! आत्मा-स्वविषय ज्ञानस्वरूप है। उसके विषय को छोड़कर, जितना परविषय में लक्ष्य बदलता है, फिर द्वेष हो या राग, परन्तु विषय बदलता है, यह ठीक नहीं; यह ठीक - यह सब राग है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? राग कैसे होता है और राग का क्या स्वरूप है ? - इसे नहीं जाने, यह आस्रव की बड़ी भूल है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह कहा न ! पहिचानता नहीं। वस्तु जो चैतन्य है, वह तो इसका स्वविषय तो अन्दर है और देखने के लिए यह विषय बदलता है तो बदलता है। यह क्या है ? विकल्प बदलता है, राग बदलता है, अन्दर विकार बदलता है। विकार बदलता है, फिर राग हो या द्वेष हो परन्तु ऐसा बदलता है - यह... यह... यह... यह... हिंसा का भाव था, फिर दया का भाव (आया), इसलिए विषय बदलता है। विषय बदले अर्थात् अन्दर राग बदलता है ज्ञान बदले तो ज्ञाता होकर बदले। उसमें पर का विषय आया ही नहीं।

यहाँ तो जरा ऐसा आया न कि '**मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता...**' जानता ही नहीं। यह शास्त्र पढ़ने में क्या राग आया ? ऐसा कोई कहते हैं, लो ! बापू ! यह लक्ष्य है न ऐसे, ऐसे जो लक्ष्य है, उसमें से ऐसे लक्ष्य गया है, वह विषय बदलता है। आहा...हा...! है ? कुछ समझ में आया ? राग-द्वेष का विषय पर होता है; राग-द्वेष का विषय स्व नहीं होता; इसलिए जो यह विकल्प ऐसे चक्कर खाता है, वह सब विकार है; इसलिए जो यह विकल्प ऐसे चक्कर खाता है, वह सब विकार है; फिर शुभ का चक्र बदले या अशुभ का बदले, दोनों ही आस्रव हैं। कुछ समझ में आया ? ऐसे आस्रवतत्त्व को नहीं पहिचानता।

'**परपदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं...**' ऐसा मानता है। अब हैरान हो गये। इतने वर्ष से

दुःख और इतने महीनों से पलंग पर पड़े हैं! क्या है परन्तु ? यह तेरे विकल्प दुःखरूप है; वह परवस्तु दुःखरूप नहीं है। पर को सुख-दुःखरूप मानता है; '**अथवा राग-द्वेष मोह कराते हैं...**' परपदार्थ मुझे राग-द्वेष मोह कराते हैं। समझ में आया कुछ ? भूल है, विभाव भी परलक्षी निज परिणमन है। स्वभाव स्वलक्षी निज परिणमन है। उसमें दूसरे के कारण कुछ नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? '**ऐसा मानता है - यह आस्रवतत्त्व की भूल है।**' लो ! यह एक गाथा में अजीव और आस्रव की दोनों भूलें कहीं।

अब, छठवीं गाथा।

बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा

शुभ-अशुभ बन्धके फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान।।६।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (निजपद) आत्मा के स्वरूप को (विसार) भूलकर (बन्धके) कर्मबन्ध के (शुभ) अच्छे (फल मंझार) फल में (रति) प्रेम (करै) करता है, और कर्मबन्ध के (अशुभ) बुरे फलसे (अरति) द्वैष करता है; [तथा जो] (विराग) राग-द्वेषका अभाव [अर्थात् अपने यथार्थ स्वभावमें स्थिरतारूप[१] सम्यक्चारित्र] और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान [और सम्यग्दर्शन] (आतमहित) आत्मा के हित के (हेतु) कारण हैं (ते) उन्हें (आपको) आत्मा को (कष्टदान) दुःख देनेवाले (लखै) मानता है।

भावार्थ :- (१) बंधतत्त्व की भूल: अघातिकर्म के फलानुसार पदार्थोंकी संयोग-वियोगरूप अवस्थाएँ होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है। धन योग्य स्त्री,

१. अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

पुत्रादिका संयोग होने से रति करता है; रोग, निंदा, निर्धनता, पत्र वियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता है, किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकर मानता है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही है; परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धाररूप नहीं मानता - वह बन्धतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) संवरतत्त्वकी भूल :- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जीव को हितकारी है; स्वरूप में स्थिरता द्वारा रागका जितना अभाव वह वैराग्य है; और वह सुख के कारणरूप है; तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है - यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है। ।।६ ।।

'**बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा।**' देखो ! इसमें आस्त्रव का दृष्टान्त क्या दिया है ? देखो ! एक सेठ है न ? क्या है यह ? तिजोरी। तिजोरी बतायी है न ? तिजोरी है न ? भाई ! क्या है ? तिजोरी में पैसा रखता है या निकालता है - यह सब राग है, ऐसा कहना है। है न इसमें ? भाई ने छपाया है न सब ? (उन्हें) पता है। तिजोरी है न यह ?

तिजोरी में ऐसा बताया है कि पैसा रखना। परन्तु वास्तव में रखना और लोगों को देना या निकालना - यह सब राग है। तिजोरी में 'मेरे' मानकर रखे अथवा यह मैं रखता हूँ - ऐसा भाव, वहभी पाप-आस्त्रव है और किसी को देने के लिए निकालने का भाव, वह पुण्य-आस्त्रव है, परन्तु दोनों आस्त्रव हैं। कहो, समझ में आया ? देखो ! यहाँ एक सेठ बैठा है। सिरहाना है, सिरहाना ... क्या कहलाता है तुम्हारा ? इसे तकिया कहते हैं। यह तकिये पर ऐसे बैठा है, उघाड़ शरीर, ऐसा कि वस्त्र ओड़ने का ठिकाना नहीं। इतनी पैसा... पैसा... पैसा... पैसा... कमाने, रखने, संग्रह में लवलीन हो गया है। है ?

मुमुक्षु :- है।

उत्तर :- नहीं, नहीं, वह व्यवस्थित करने में। यह व्यवस्थित .... और जो पैसा हो तथा गुप्तरीति से पैसा रखना हो तो मजदूर को अन्दर नहीं ले जाए। एक-एक हजार की लाख, दो लाख थेली हो। कहा था न एकबार ? एक सेठ का पुत्र था। नाम-ठाम नहीं देते। वह 'पूना' में पढ़ता था। उसके पिता तीन भाई साथ थे। (लड़का कहता), बापूजी ! महीने के दो सो रूपये खर्च के लिए भेजना, जेब खर्च; और दूसरा रसोई का खर्च वह तो है ही, वह तो तुम भेजते ही हो परन्तु दो सौ भेजना। यदि आपको ठीक न लगता हो तो चाचा के नाम में नहीं परन्तु तुम्हारे नाम से भी भेजना। क्यों ? कि हम गृहस्थ के यहाँ पैदा हुए हैं, गरीब के घर पैदा नहीं हुए और जब घर में लाख, दो लाख थेलियाँ आती है, तब मजदूर बाहर तक रख जाते है और फिर हम उठाकर कमरे में रखते हैं। उस दिन नगद रुपये थे न ? रोकड़ थे। समझे न ? अब तो तुम्हारे थोक सब हो गये। क्या कहलाता है यह ? नोट हुई। उस दिन रोकड़ा नगद (थे।) आदमी को अन्दर नहीं ले जाए। जिस जगह तिजोरी हो, उसमें उसे नहीं ले जाए, बाहर रखे। दरवाजे में बाहर दूसरा दरवाजा (हो), वहाँ (रखे) फिर घर के लड़के उठाकर वहाँ रखे। कड़ी तोड़े अन्दर। गृहस्थ के लड़के दस-दस लाख के आसामी हो तब भी, हाँ, लिखा था, बापा ! यह पैसा छोड़े उस समय हमें बल पड़ता है, इसलिए तुम्हें ठीक पड़े, चाचा ने नाम से न आवे तो तुम्हारे नाम में लिखकर (भेजना।) खर्च के दो सो (रुपये) चाहिए। हम गरीब के घर पैदा नहीं हुए, जन्मे तब घोड़ागाड़ी के घर पैदा हुए है। भाई ! परन्तु यह तो पाप के परिणाम हैं।

यहाँ तो यह कहना है, समझ में आया ? परन्तु उस लड़के को भाव होते हैं, वह पाप का है, ऐसा यहाँ कहना है। वह तो आस्रव है। यहाँ तो तिजोरी की बात नज़र में आयी, इसलिए जरा (बात की)। तिजोरी में अन्दर कौन रखने जाए ? वह तो यहाँ सब (बदल गया।) वह तो घर के लोग रखने जाए-ऐसा कहना है। गहराई में दूर हो। दो-दो लाख पड़े हों, पाँच-पाँच लाख की थैलियां (पड़ी हों), हजार-हजार रोकड़, हाँ ! नगद ! रुपये रोकड़। 'सायला' में दालान में रुपये की थैलियाँ पड़ी थी।

'सायला' दरबार थे और यह सेठ थे। सेठ परिवार था। उनका लड़का नहीं था ? हमारे साथ घूमता। गरीब व्यक्ति हो गया था। उसके स्वयं के विवाह के समय कहते थे। नाम भूल गये।

बिचारा हमारे साथ घूमता, हाँ ! (संवत्) १९८१ के साल में। अस्सी वर्ष की उम्र। उसके विवाह में वहाँ उसका विवाह जब था, वह दरबार आये, थैलियाँ भरी हुई। दरबार थे और दरबार का छोटा लड़का था। दालान में रुपये की थैलियाँ (पड़ी थी), रुपये की थैलियां ! तब तो रोकड़ था न ! थैलियाँ... थैलियाँ ! जैसे गुण भरे ऐसे।

राजकुरमार कहता है, पिताजी ! बापूजी ! यह क्या सेठ के घर में यह क्या है ? तो राजा कहता है, भाई ! अपने सेठ पैसेवाले है और सेठ को अपना भरोसा है। इसमें से कुछ जाए तो अपने को घर का देना पड़े, इसलिए खुल्ला पड़ा है। वे राजा ऐसे थे। समझ में आया ? उस विवाह के समय राजा आये थे, फिर अंजली (दोनों हथेलियों द्वारा रचित) भर-भर खारेक (खजूर सूखा हुआ) पूरी बोरी भर के... 'लीमड़ी'में उपाश्रय है। वह राजकुमार पूछे तो राजा ऐसा बोला। वे रूपये खड़खड़े तो सही न ! थैलियाँ हाँ ! रूपयों की भरी हुई, बोरियाँ भरी हुई। तब कहाँ तिजोरी-फिजोरी थी। बापूजी ! यह क्या ? (तो कहा) अपने सेठ पैसेवाले हैं और इन्हे अपना विश्वास है। यदि इसमें से कुछ जाए तो अपनी तिजोरी में से देना पड़े - ऐसा इन्हें भरोसा है। इन्हे - राजा को ईर्ष्या नहीं थी - ऐसा कहना है। ईर्ष्या नहीं थी। अपने सेठ ऐसे पैसेवाले हैं। समझ में आया ? अब ठीकठाक करने लगे तो अंदर दूर गए और अब तो यह आपके कागज-रद्दी (हो गए) इसलिए वह कहता है कि इतना खर्च देना पड़ेगा। हम पाप के भाव, मजदूरी बहुत करते हैं। लड़के को शिक्षा मिलती है।

यहाँ तो कहते है कि देने-लेने का भाव बन्ध दोनों का कारण है। ऐसी बात कहनी है। देखो न, यह दृष्टान्त दिया है न, इस पर से जरा (बात की)। इन्हे तो रखने के लिए दिया होगा, मैं तो अन्दर खेंचने के लिए (कहता हूँ)। दान देने के लिए निकाले तो भी शुभभाव है। समझ में आया ? अब, छठवीं गाथा :-

'बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा -'

शुभ-अशुभ बन्धके फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान।।६।।

देखो ! आया। सब जगह यह आता है। क्या कहते हैं ? '**(मिथ्यादृष्टि जीव)**' अज्ञानी

'**(निजपद)**' अर्थात् '**आत्मा के स्वरूप को भूलकर...**' भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है। जिसके स्वभाव में तो अकेली शान्ति और आनन्द पड़ा है। उसकी नजर करने पर निधान में से आनन्द झरता है। ऐसा भगवान आत्मा है, उसे नहीं पहिचानता। जिसके सामने देखने से समता प्रकट होती है और पर के सामने देखने से विषमता प्रगट होती है। कुछ समझ में आया ?

ऐसा भगवान आत्मा निजपद, ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दप्रभु, उसे भूलकर, उसका उसे पता नहीं, है कि मेरे स्वभाव में निजपद में क्या है। उसे भूलकर '**कर्मबन्ध के अच्छे फल में प्रेम करता है...**' समझ में आया ? पूर्व का कोई पुण्य बंधा हुआ हो और उसका अनुकूल फल देखर उसमें प्रेम करता है। हमें बहुत बादशाही है, सामग्री की बहुत सुविधा है, बहुत सुविधा है। इस शुभराग के अनुकूल फल को ठीक माननेवाले बन्ध की श्रद्धा को भूलते हैं। वह बन्ध पुण्य का हो या पाप का (हो), दोनों बन्ध अहितकर हैं। ऐसा न मानकर शुभभाव के फलरूप से बँधे हुए पुण्य, उसके फलरूप से धूल आदि सामग्री-स्त्री, पुत्र, परिवार की सुविधा (मिले), उसमें ठीक मानता है। '**अच्छे...**' है न ? '**(शुभ) फल में प्रेम करता है...**' प्रेम करता है, प्रेम।

'**और कर्मबन्ध के बुरे फल में द्वेष करता है...**' यह अघाति का फल, उसके पाप बाँधे-शरीर में रोग आवे, निर्धनता आवे- गरीबी आवे, बांझपना, कुँवारापना हो, शरीर में रोग होवे, जन्म से ही रोग हो - उन्हें बुरे मानता है। बन्ध के प्रतिकूल फल खराब और अनुकूल फल अच्छे - ये दो चीजें है ही कहाँ ? कहेत हैं। यह तो संयोग की चीज़ है, उसमें यह अनुकूल और यह प्रतिकूल; यह अच्छा और यह बुरा-ऐसा मानना यह बन्धतत्त्व की भूल है। अबन्धतत्त्व जो निजपद, सामने ऐसा कहा। समझ में आया ? '**शुभ-अशुभ बन्ध के फलमझार, रति-अरति करै निजपद विसार;...**' निजपद तो अबन्धस्वरूप है। समझ में आया ? आहा...हा...! यह बारीक चिमटे से भूल पकड़ाई है। है ? आहा...हा...!

कहते हैं, पाप का फल आवे, तब द्वेष करे कि अर..र..र..! यह कहाँ (आया) ? और पुण्य का फल आवे, तब प्रेम करता है। भगवान ! तुझे बन्धतत्त्व का पता नहीं है। बन्धतत्त्व तो आत्मा के अबन्ध परिणाम से अत्यन्त विरुद्ध भाव से हुआ तत्त्व बन्ध है। उस बन्ध के एक भाग को ठीक

और दूसरे भाग को अठीक (मानना), यह तेरी बन्धतत्त्व की भूल है। आहा...हा...! समझ में आया ?

भगवानने तो आठ कर्मों को विषवृक्ष का फल कहा है। ज़हर के वृक्ष का फल ! चिल्लाते है न यह लोग ? देखो न ! मीठास है न ! है न अपने, देखो अन्दर। 'जिस पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है।' ... उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं। आहा...हा...! भगवान आत्मा बन्धरहित, वह तो अबन्ध स्वरूप है। आत्मा अर्थात् मुक्तस्वरूप; उसमें आस्रव या कर्म है ही नहीं, इसलिए मुक्त स्वरूप ही आत्मा है अथवा अबन्ध परिणाम को उत्पन्न करे-ऐसा मुक्त स्वभाव आत्मा का है। बन्ध के परिणाम कारणरूप और उसके फलरूप से बन्ध करे यह आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? है न अन्दर ? पुस्तक-बुस्तक लिया या नहीं ? कल तो लेकर नहीं आया था ? पता पड़ता है या नहीं ? सवेरे (चलता) है। सवेरे चलेगा, अभी थोड़े समय चलेगा, लम्बा तो नहीं चलेगा; चले तब तक तो लाना या नहीं ? राजा, तलवार घर रखता होगा ? बहार निकले तब कन्धे पर रखता है। पुस्तक तो साथ में चाहिए या नहीं ?

'कहते हैं, **कर्मबन्धन के बुरे (फल) मैं द्वेष करता है...**' यह इतनी बन्धतत्त्व की भूल की व्याख्या है। समझ में आया ? किसी रोग की प्रतिकूलता आवे तो द्वेष.. द्वेष (करने लगता है) और कोई अनुकूलता आवे (तो), हर्ष, उल्लास, उल्लास मुँह पर (दिखता है।) भाई ! यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों बन्ध के फल (हैं), उनमें एक अच्छा, (एक) बुरा है ही नहीं। आहा...हा...! इस बन्ध के फल को, शुभ को अच्छा माने तो तूने भगवान अबन्ध परिणामी चैतन्य को झूठा माना। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- दुनिया तो ऐसी ही होती है न ! पागलों में पागलों की ही बातें होती है। दुनिया तो पागल है।

मुमुक्षु :- हर्ष के समय हर्ष तो करे न ?

उत्तर :- परन्तु हर्ष किसका ? हर्ष के समय तो आत्मा में आनन्द है, उसका हर्ष करे या इसमें हर्ष करे ? किसका हर्ष ? पुत्र का विवाह हो, उसमें दस लाख की पूँजी हो, स्वामीने कहा हो कि इसबार लाख खर्चना है, हाँ ! एक लाख बराबर ठीक से, खर्चना हो तो तुझे छूट है, जा ! फिर

पीहरवालों को बुलावे और अमुक को बुलावे और उसे बुलावे, बस ! आ..हो..हो...! आवाज बैठ जाए तो भी इसे शांति नहीं आती, तब भी बोलकर अन्दर जबरदसती होंश करता है। क्या है परन्तु यह ? किसका लाभ ? अग्नि का। अग्नि का लावा होता है, नहीं पता ? यह परदेश में जो ज्वालामुखी निकलता है। बापा ! यह राग के लावा की मीठास, बन्ध में अनुकूलता की मान्यता, मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। कठिन बात, भाई ! यह तो सादी भाषा में रखा है। सर्वथा सादी हिन्दी भाषा में है। गागर में सागर भर दिया है। कहो, समझ में आया ? इसमें कोई शास्त्र, बहुत सूक्ष्म या 'परमात्मप्रकाश' या 'समयसार' (जैसा नहीं है।)

मुमुक्षु :- इसमें निकालते हैं।

उत्तर :- परन्तु इसमें है न, देखो न ! क्या कहते है ? देखो ! '**शुभ-अशुभ बन्ध के फल मझार, रति-अरति करै निजपद विसार;**' भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर शुभ बन्ध में हर्ष करता है, रति करता है; अशुभबन्ध बँधे, उसमें अरति करता है। अरे...! तुम्हें बन्ध हुआ, पुण्य का बन्ध हुआ... 'समयसार'में आता है न ? परजीव की दया में पुण्यबन्ध, पर की हिंसा में पापबन्ध। पुण्यबन्ध होता है न ? परन्तु वहाँ तो गाली देते है कि परजीव की दया में अहंकार है न ? वहाँ मिथ्यात्वसहित का पापबन्ध है। उसके साथ वह घाति का पाप है, अघाति का ज़रा पुण्य है। किसमें प्रसत होता है ? ऐसा कहते है। पुण्य है न उसमें ? हमारे पुण्य तो बँधेगा न ? परन्तु पुण्य बँधता है न ? तेरा अबन्धस्वरूप है, उसे ऐसे बन्ध में तुझे हर्ष किसका ? कुछ समझ में आया ? ऐसा बन्धन होगा और फिर बड़ा अच्छा फल मिलेगा-चक्रवर्ती होगा वासुदेव, और बलदेव और अमुक राजा होगा और सेठ होगा यह कहते हैं, शुभबन्ध में जिसे रति और प्रेम है, (वह) बन्धतत्त्व को भूला है। कोई बन्ध अच्छा है ही नहीं।

अबन्ध परिणाम भगवान आत्मा, मुक्त चैतन्यस्वरूप, उसकी दृष्टि, ज्ञान, शान्ति-ऐसे अबन्ध परिणाम (होवें) वे अच्छे हैं। इसके अतिरिक्त कोई बन्ध का कारण और बन्धरूप भाव या बन्धतत्त्व, वह अच्छा नहीं है और बन्ध का फल एक भी अच्छा नहीं है। अद्भुत बात, भाई ! ओ..हो..हो...! यह तो सात तत्त्व की भूल की व्याख्या चलती है। कुछ समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि की भूल। तथा त्याग तो फिर, मुनिपना और वह तो कहीं रह गया। यह तो अभी सात

तत्त्व की भूल में अटका, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे धर्म-बर्म, त्याग-बाग नहीं होता। ओ..हो..हो..! यह बन्ध(की) बातकी।

'तथा जो (विराग)...' अर्थात् **'राग-द्वेष का अभाव...'** अर्थात् चारित्र। समझ में आता है ? संवर.. संवर है न यह ? यह संवर है। आत्मा में राग-द्वेष का रूक जाना, वह संवरभाव है। पुण्य-पाप के विकल्प रूकना और आत्मा में से शान्ति प्रगट होना, वह संवरतत्त्व है। संवरतत्त्व कहो या सम्यक्चारित्र कहो; सम्यक्चारित्र कहो या विराग कहो। यह सम्यक्चारित्र जो आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसमें स्थिर होना, उसका नाम सम्यक्चारित्र (है)। कहते हैं, वह **'हित का (हेतु)...'** है। **'उसे दुःख देनेवाला मानता है।'**

जैसे मुसाफिर एक गाँवसे दूसरे गाँव जाता है तो पाथेय साथ लेकर जाता है, तो दूसरे भवमें जानेके लिये भी कुछ कलेवा चाहिए या नहीं ? श्रद्धाज्ञानरूपी पाथेय साथ लेकर जाना चाहिए। पत्नीकी ओर देखे तो पाप, पुत्रकी ओर देखे तो पाप, लक्ष्मीकी ओर देखे तो पाप, पर ओर देखते सभी पाप ...पाप और पाप है । अरे ! तुझे कहाँ जाना है ? राग और मैं एक हूँ ...क्या ऐसा मिथ्यात्वका कलेवा साथ लेकर जाना है ? मैं रागसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ ...ऐसा कलेवा साथ ले जाए तो धर्ममार्गमे बढ़नेमें यह काम आएगा। अन्तरके असंख्य प्रदेशोंमें गहरे, अति गहरे ध्रुव तलको थाह लेना है । (पर्यायको ले जाना है ।) यह तो धीरोंका-वीरोंका काम है । ९०

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ४, मंगलवार
दि. २५-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ६, ७ प्रवचन नं.-८

बन्धतत्त्व की भूल। आत्मा का निजस्वभाव अबन्धस्वरूप है। पुण्य-पाप का भाव, वह भावबन्ध है और जड़कर्म का बन्ध, वह निमित्त, व्यवहार निमित्तबन्ध है। दोनों से रहित आत्मा का अबन्धस्वरूप है। उस निजपद को भूलकर, यह इसका-छठवीं गाथा का पहला शब्द पड़ा है - '**निजपद विसार।**' अपना पद है, वह ज्ञानानन्द शुद्ध अबन्धस्वरूप है। उसे भूलकर '**अघातिकर्म के फल-अनुसार...**' कोई पुण्य-पाप के भाव किये हों, उसका बन्धन हुआ हो, उसका संयोग मिले-ऐसा यहाँ कहना है। संयोग में '**अनुकूल-प्रतिकूल...**' संयोग-वियोग अवस्थायें होती है। मिथ्यादृष्टि उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर '**उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ - ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है।**'

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप निजपद है। (उसे) भूलकर अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष (करता है।) देखो ! इसमें चित्र में भी दिया है। चित्र में है ? शुभ-निरोगी शरीर और भोजन करने बैठा है और व्यवस्थित ऐसा सब प्याला-ब्याल लगा है। नहीं है ? है ? इसमें नहीं होगा। है ? देखो ! प्याला, बर्तन, जगह, वह ऊर क्या कहलाता है तुम्हारे ? बैठने

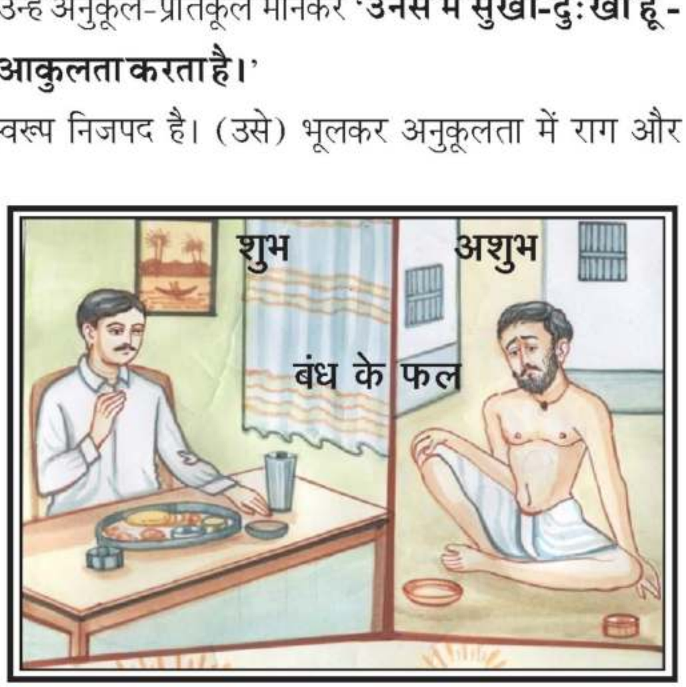

की यह (कुर्सी) रखने का टेबल। ऐसे खाता है। शुभ-पुण्य का फल है, उसे अपना मानता है। टेबिल-बेबिल अच्छा रखा है। थालियाँ-सोने की थाली, चांदी की थाली, उसमें व्यवस्थित कटोरी हो; उसमें बादाम, पिश्ता, पापड़ और सब (रखा हो)। खाने बैठा है ऐसे...प्रसत...प्रसत...।

अशुभ में वह एक गरीब बताया है। देखो ! साधारण लंगोटी, जीर्ण शरीर और ऐसे (बैठा है)। ये दोनों अघातिकर्म, पुण्य-पाप के भाव, इनसे बँधा हुआ अघातिकर्म, उनसे प्राप्त हुआ यह संयोग - उसे अपना स्वरूप मानता है। अनुकूलता में रति माने और प्रतिकूलता में अरति-खेद करे, उसे बन्ध तत्त्व की भूल है। दोनों एक प्रकार के हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। पुण्य से अनुकूल संयोग हो या पाप से प्रतिकूल (संयोग हो), दोनों संयोग तो एकसे ही हैं। बाहर के वेष शरीर आदि जड़ के हैं, वह कोई आत्मा का वेष नहीं है। यह आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को भूलकर ऐसे संयोग में रति-अरति करता है। इसे बन्ध तत्त्व का मिथ्यादृष्टिपना कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

'**धन, योग्य स्त्री...**' लक्ष्मी कुछ ठीक मिली हो, अनुकूल स्त्री हो, पुत्रादिक अनुकूल हो, (उनका) '**संयोग होने से रति करता है...**' उनमें रति करनेपना कहाँ है ? आत्मा में आनन्द है, उसे भूलकर, उनमें प्रेमवृत्ति करता है-यह बन्धतत्त्व की और आत्मा की दोनों की भूल यह है। निजपद को भूलकर बन्ध के फल में रति करता है, उसे बन्ध के तत्त्व का पता नहीं है। समझ में आया ? शरीर में रोग हो, '**निन्दा, निर्धनता, पुत्रवियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता है...**' पुत्र का वियोग हुआ, वहाँ दुःख मानता है। वह तो संयोग की चीज है। अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, वह तो संयोगी फल (है।) स्वभाव वस्तु नहीं है। स्वभाव तो ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान के निजपद की दृष्टि और रुचि, ज्ञान और लीनता चूककर, बन्ध के दो भाग करके एक में रति और (एक में) अरति करता है - यह मिथ्यादृष्टि का बन्ध बन्धतत्त्व की भूल का लक्षण है। यह तो बहुत सादी भाषा में, हिन्दी में सादी भाषा में (वर्णन किया) है।

मुमुक्षु :- रति करता है ?

उत्तर :- रति करता है। अच्छी निद्रा ले तो रति करता है, निद्रा न आवे तो अरति करता है। नींद न आवे तो नहीं करते ? पूरी रात चिल्लाता है। अरे... पूरी रात.. आज तो ज़रा भी नींद नहीं आयी, भाई ! अपने दृष्टान्त यहाँ है न ! वह तो कहने के लिए। दूसरे बहुत होते है न ? रात्रि में अच्छी नींद न आवे तो यह करवटे बदले। एक सेठ था। उसके बारह हाथ का कमरा और बारह हाथ चौड़ा गद्दा, पूरा कमरे के बराबर। फिर ऐसे से ऐसे, ऐसे से ऐसे ठेठ तक नींद ही नहीं आवे। हमारे गाँव मे एक ब्राह्मण था। (उसे) ३३ वर्ष से नींद नहीं (आती थी।) यह तो गद्दे में नींद नहीं आवे - ऐसा कहना है। ऐसे में कसर-मसर, कसर-मसर करे और वह नींद नहीं आवे, इसलिए उसमें अरति-खेद, खेद किया करे। अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती। फिर वह गौलियाँ खाये। नींद की (गौलियाँ) नहीं आती ? ऐ...ई..! बहुत आती है। आवे तो सब पता होवे न ! नींद की गौलियाँ आती हैं। बहुत खाये फिर शक्तिहीन हो जाए।

कहते है, नींद इत्यादि में दुःख वेदे, दुःख। आहा...हा...! देखो न ! यह गरीब मनुष्य निश्चिन्ता से खर्राटे लेता है और हमारे पास पैसे होते भी नींद नहीं - ऐसा करके चीखे-चिल्लाए। अंदर में चिल्लाए, हों ! यह बन्ध की भूल है। अब नींद न आवे तो दुःख क्या ? और नींद आवे तो सुख क्या ? ऐसा कहते हैं। नींद आयी तो उसमें सुख कहाँ से आया ? छह घण्टे, आठ घण्टे ऐसी मधुर-मीठी नींद आयी - फिर ऐसा बोलता है। बोलता है या नहीं ? है ? ऐसी मधुर-मीठी नींद (आयी कि) छह घण्टे तो आँख ऊँची नहीं हुई। पता नहीं सपने में, फिर दो घण्टे ऐसी मीठी नींद आयी (कि) साड़े छह बज गये, लो ? हमें पता नहीं रहा। है ? पिछले प्रहर की शीतल हवा, थके-हारे, ऐसी नींद आयी। नींद आयी, उसमें सुख क्या माना ? ऐसा कहते हैं। भाई ! मूढ़ हो, कहते हैं। नींद आयी - सुख किसका ? उसमें तुने किसकी रति की ? यहाँ तो ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- दुःख...।

उत्तर :- परन्तु दुःख की व्याख्या क्या ? मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान, वह दुःख है। वह दुःख कहाँ भूल गया है, वह तो अन्दर पड़ा है। कुछ समझ में आया ? नींद से दुःख हों। उसमें नींद नहीं ली कि नींद आवे तो सुख हो। उसमें सब ले लेना।

'पुण्य-पाप दोनों बन्धन कर्ता है किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकारी मानता

है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धारित्स्प नहीं मानता...' अर्थात् निजस्वरूप को जाने बिना-यह पद अन्दर सबमें लेना। मूल है न ? '**रति-अरति करै निजपद विसार।**' अपना पद ज्ञाता-दृष्टा है। यह धर्मी तो नींद में भी ज्ञाता-दृष्टा है। आहा...हा...! समझ में आया ? वह नींद में सुख नहीं मानता। आहा...हा...! है ?

मुमुक्षु :- नींद में।

उत्तर :- वह अन्दर ज्ञाता-दृष्टा है। भान सदा ही वर्तता ही है। उसमें, कहीं निद्रा से सुख है और न आवे तो दुःख है - ऐसा नहीं मानता। सूक्ष्मबात है, भाई ! आहा...हा...! जागृतभाव में सो रहा है, उसे सोते में भी ज्ञाता-दृष्टापना ही है। ऐसी बात है, भाई ! अन्य तो सोता हो तो (मानो) बेभान (हो गया हो), कोई भान नहीं होता। भगवान तो तीन ज्ञान के स्वामी, माता के गर्भमें भी नो महीने जागृत हैं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? मति-श्रुत और अवधि-तीन ज्ञान सहित तीर्थंकर माता के गर्भ में आवें परन्तु अन्दर भान-ज्ञाता-दृष्टापना सदा ही वर्तता है। यह तो कैसी (बात है) ! चैतन्य स्वयं जगा तो फिर वहाँ दूसरे साधन उसे बाधक कहाँ है ? कुछ समझ में आया ? बाहर के अनुकूल साधन उसे अनुकूल है या प्रतिकूल-यह है ही नहीं। जरा प्रमाद आ जाए तो भी अन्दर ज्ञाता-दृष्टापना नष्ट नहीं हो जाता। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

मुनि को तो निंद्रा बहुत कम (होती है)। उसमें भी ज्ञाता-दृष्टिपना रहकर थोडी नींद होती है। छठ्ठे गुणस्थान में भी चारित्र, दर्शन और ज्ञान सहित में जरा सा प्रमाद आवे। वह घण्टा-घण्टा नींद न ले। आहा..हा..! चारित्र किसे कहना ? मुनिपना चारित्र किसे कहते हैं ? लोगों को पता नहीं चलता। बाह्य मानी हुई क्रिया में नग्न हुए (वह) चारित्र। भाई ! चारित्र तो आत्मा की जागृति के साथ आनन्द इतना प्रवाहित होता है नींद भी बहूत कम (होती) है। छठ्ठे गुणस्थान का हिस्सा (भाग) ही पौनी सेकण्ड है। जरा सी इतनी निंद आवे तो भी भीतर में जागृत है। आहा..हा..! तुरंत सातवाँ आवे, तुरंत छठ्ठा आवे, तुरंत छठ्ठा आवे। वह भी रात्रि के पिछले प्रहर के अमुक भाग में (थोड़ी नींद आवे)। ऐसी चारित्रदशा सम्यग्दर्शन सहित हो उसे साधुपद और भावलिंग कहा जाता है। दुनिया को बाहर से मापने, भीतर तत्त्व क्या है, श्रद्धाज्ञान का पता नहीं। आहा..हा..! क्या कहा समझ में आया ?

अज्ञानी अपने स्वरूप को भूलकर '**निर्धाररूप नहीं मानता...**' निर्णय नहीं करता कि नींद में सुख नहीं है और अनिद्रा में दुःख नहीं है। इस जगत से सब उल्टा है, भाई ! यह बन्धतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है, लो ! समझ में आया ?

अब '**(२) संवरतत्त्व की भूल :-**' यह इसमें आ गया है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इसमें आया था न ? देखो ! वैराग्य, ज्ञान उसे दुःखदायक मानता है। आया था न ? देखो ! इसमें भी फोटो है। देखो ? देखो ! इसमे फोटो है। मुनि ध्यान में ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्दर रमते हैं। उन्हें फिर एक दीपक से उजाला करता है। ज्ञान का होगा। हें ? ज्ञान का दीपक और वह पुस्तक-बुस्तक है ? ठीक ! वह एक युवक खड़ा है। (वह कहता है), नहीं... नहीं... नहीं। ऐसा ज्ञान और ऐसा चारित्र नहीं। ऐसा नहीं। पाठ है सही न ? है ?

'**आत्महित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखै आपकूं कष्टदान...**' यह ज्ञान क्या ? यह दुःखदायक है। आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र, उसे मिथ्यादृष्टि दुःखदायक मानता है। बापा ! चारित्र तो लोहे के चने चबाने (जैसा है), अर्थात् अज्ञानी ने चारित्र को दुःखदायक माना है। चारित्र अर्थात् तो आत्मा के आनन्द में रमणता। अतीन्द्रिय आनन्द का रस। सिद्ध को आनन्द आवे वैसा ही आनन्द इसे आता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आनन्ददाता (है), उसे अज्ञानी दुःखदाता मानता है। समझ में आया ?

'**जीव को हितकारी है, स्वरूप में स्थिरता द्वारा राग का जितना अभाव, वह वैराग्य है...**' अर्थात् वास्तविकरूप से चारित्र है। '**और वह सुख के कारणरूप है...**' जितना आत्मदर्शनपूर्वक राग घटकर स्थिरता हो, वह आनन्ददायक है, हितकारी है, शान्ति का दाता है। '**तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है।**' बापा ! चारित्र तो ओ..हो..हो...! बहुत

कठिन ! हवा से थैली भरना सरल, परन्तु चारित्र पालना बहुत कठिन है। है ! उस 'मृगापुत्र' मैं आता है न ? तराजू में मेरुपर्वत तोलना। तराजू में मेरुपर्वत तोलने की अपेक्षा भी चारित्र कठिन है - ऐसा करके दुःखदायक मानता है। ऐसा नहीं, भाई ! जिसके घर में ठहरना, उसमें दुःख क्या ? कुछ समझ में आया ? चारित्र तो आत्मा के आनन्दस्वरूप में स्थिरता, रमना (है।) भोजन- अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करने का नाम चारित्र है। मिथ्यादृष्टि मूढ़ उस चारित्र को दुःखदायक, कष्टदायक, व्याकुलता... व्याकुलता... व्याकुलता (मानता है)। है न ? देखो ! ऐसा हाथ करता है, नहीं। फोटो ठीक निकाले लगते हैं। यह तो पहले के हैं, हाँ ! हिन्दीवालो के। समझ में आया ? '**यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।**' लो ! यह छठवीं (गाथा पूर्ण) हुई।

निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (निजशक्ति) अपने आत्मा की शक्ति (खोय) खोकर (चाह) इच्छा को (न रोके) नहीं रोकता, और (निराकुलता) आकुलता के अभावको (शिवरूप) मोक्षका स्वरूप (न जोय) नहीं मानता। (याही) इस (प्रतीतिजु) मिथ्या मान्यता सहित (कछुक ज्ञान) जो कुछ ज्ञान है (सो) वह (दुखदायक) कष्ट देनेवाला (अज्ञान) अगृहीत मिथ्याज्ञान है ऐसा (जान) समझना चाहिये।

भावार्थ :- निर्जरातत्त्व में भूल :- आत्मा में आंशिक शुद्धि की वृद्धि तथा अशुद्धि की हानी होना उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है; वह निश्चयसम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। ज्ञानानन्दस्वरूपमें स्थिर होनेसे शुभ-अशुभ इच्छाका निरोध होता है वह तप है। तप दो प्रकार का है : (१) बालतप (२) सम्यक् तप; अज्ञानदशामें जो तप

किया जाता है वह बालतप है, उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती; किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यकप्रकार से स्थिरता-अनुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छा का अभाव होता है वह सच्ची निर्जरा है - सम्यक्तप है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर पराश्रयमें सुख मानता है, शुभाशुभ इच्छा तथा पांच इन्द्रियोंके विषयों की चाहको नहीं रोकता - यह निर्जरातत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) मोक्षतत्त्व की भूल :- पूर्ण निराकुल आत्मिकसुख की प्राप्ति अर्थात् जीव की सम्पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष का स्वरूप है तथा वही सच्चा सुख है। किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

मोक्ष होने पर तेजमें तेज मिल जाता है अथवा वहाँ शरीर इन्द्रियाँ तथा विषयों के बिना सुख कैसे हो सकता है ? वहाँ से पुनः अवतार धारण करना पड़ता है - इत्यादि। इस प्रकार मोक्षदशामें निराकुलता नहीं मानता वह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(३) अज्ञान :- अगृहीत मिथ्यादर्शन के रहते हुए जो कुछ ज्ञान हो उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं, वह महान दुःखदाता है। उपदेशादि बाह्य निमित्तों के आलम्बन द्वारा उसे नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अनादिकालीन है, इसलिये उसे अगृहीत (स्वाभाविक-निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं। ।।७।।

अब, '**निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान।**' सातवीं (गाथा में) तीन की बात आती है। वह 'छहढाला' तो तुम्हारे सब बहुत बार (पढी गयी) होगी। यह 'छहढाला' तो तुमने पढ़ी होगी न ? हिन्दुस्तान में (दिगम्बरों के) घर में चलती होगी (परन्तु) अर्थ नहीं आते होंगे।

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।

'**रोके न चाह निज शक्ति.. मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माकी शक्ति...**' आनन्दरूप

शक्ति है, उसे खो बैठता है। अकेली अभिलाषा के, इच्छा के वेग में, इच्छा के वेग में आत्मा के आनन्द की शान्ति को खोता है और मानता है कि मुझे इच्छा मैं मजा है - यह निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया ? इच्छा उत्पन्न नहीं होना और आत्मा के आनन्द की, शान्ति की उत्पत्ति होना, शक्ति की व्यक्तता होना, उसका नाम निर्जरा है। ऐसी भाषा है, भाई ! क्या कहा ?

'**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' अर्थात् निजशक्ति को प्रगट करना, उसका नाम निर्जरा है। आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञान और अतीन्द्रिय की मूर्ति है। उसमें एकचित्त होकर उस शक्ति की व्यक्तता, शुद्ध का प्राकट्य होना उसका नाम निर्जरा है। आहा..हा..! निर्जरा की व्याख्या, देखो ! कहा न ? '**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' इसका अर्थ यह कि निर्जरा की भूल है। तब निर्जरा किसे कहना ? कि निजशक्ति की व्यक्तता प्रगट करे, उसे निर्जरा कहना। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य, पुण्य-पाप की इच्छारहित वस्तुमें अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक स्वरूप में शक्ति की प्रगटता का पुरुषार्थ (होना), ऐसी शुद्धता की व्यक्तदशा (होवे), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा-ऐसा नहीं करके अकेली इच्छाओं में घिरकर शक्ति को प्रगट नहीं करता। वह उसमें ठीक मानता है, इच्छा में ठीक मानता है। (जो) इच्छा में ठीक मानता है, उसे निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया।

'**इच्छा को नहीं रोकता...**' इसका अर्थ कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है - ऐसी शक्ति की उसे प्रतीति नहीं है। उसकी प्रतीति शुभ की अभिलाषाओं में सब-सर्वस्व मानता है। जो शुभ-अशुभ की इच्छाएँ होती हैं, उसमें सब सर्वस्व मानता है। ओ..हो..! आखिर बहुत तो शुभ इच्छा हुई, हमने बहुत काम किया, बहुत काम किया... परन्तु इस इच्छा में तो आत्मा के आनन्द की शक्ति, व्यक्तता रुक गयी है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो इच्छा में शुभ इच्छा भी इच्छा है। आहार न करूँ- ऐसी भी जो इच्छा, उस इच्छा के पीछे आत्मा कौन है ? - इसका पता नहीं। आत्मा इच्छारहित चीज है। ऐसी आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, पुरुषार्थ से शक्ति का व्यक्तपना प्रगट होना, इसका नाम निर्जरातत्त्व कहते हैं। वह (अज्ञानी) इस शुभ इच्छा में सर्वस्व मानता है। शुभ इच्छा हुई न ! आहार नहीं करने की या किसी प्रकार से प्रायश्चित की (या) अमुक (इच्छा), शुभराग। भाई ! यह शुभराग हुआ,

उसे ही निर्जरा और लाभ मानता है। आहा...हा...! समझ में आया ? भगवान आत्मा पूर्ण निरोध, इच्छा-निरोध तत्त्वस्वरूप है - ऐसे स्वरूप में से जो तत्त्व पूरा अखण्डानन्द प्रभु, उसकी प्रतीति, ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता होने से जो शुद्धता के अंश प्रगट होते हैं, उसका नाम निर्जरा अथवा शुद्ध उपयोग निर्जरा अथवा शुद्धिकी वृद्धि, वह निर्जरा है। अज्ञानी शुभ इच्छा में सन्तुष्ट हो गया है। ओ..हो..! वहाँ शक्ति रुक गयी है और उसे मानता है कि हम धर्म करते है और निर्जरा करते हैं। कुछ समझ में आया ?

'**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' इन शब्दो में से बहुत अर्थ भरा है.. हाँ ! कहो, समझ में आया कुछ ? उस शक्ति को खोकर बैठा है, अर्थात् इच्छा में ही जो अभिलाषा - इच्छा है कि यह करूँ, यह नहीं खाऊँ, यह नहीं लूँ, यह नहीं दूँ, यह छोड़ूँ, यह रखूँ - ऐसी इच्छा में ही यह सब मान बैठा है। यह तप है और यह निर्जरा है, यह संवर है और यह धर्म है। इच्छा तो आत्मा की शान्ति को, शुद्धता को रोकनेवाली है। इसकी इच्छा द्वारा मुझे निर्जरा होती है और मुझे तप हुआ - ऐसा मानना, यह निर्जरातत्त्व की भूल है। आहा...हा...! कहो, है इसमें ? है या नहीं इसमें ? इसमें पाठ भरा है, इसका भी पता नहीं चलता।

फिर '**शिवरूप निराकुलता न जोय...**' यह निराकुलता तो मोक्षदशा है। इसके अतिरिक्त कहीं निराकुलता नहीं होती, परन्तु कहीं राग की मन्दता या ऐसे भाव में निराकुलता मानकर वहाँ सर्वस्व मोक्ष मानता है, उसे मोक्षतत्त्व की भूल है। सर्वथा निराकुलता हो जाने का नाम मोक्ष है। यहाँ ऐसी व्याख्या की है। पूर्ण निराकुलता और पूर्ण अनाकुल का आनन्द का प्रगट होना, इसका नाम मोक्ष है। ऐसे अनाकुल आनन्द को नहीं जानकर अनाकुल आनन्दरूपी मुक्तदशा को नहीं मानकर, कोई मन्दराग की आकुलता घटी तो हमारी हमारी आकुलता तो कम होती है न ! आकुलता तो कम होती है न ! - ऐसा मानकर मोक्षतत्त्व को नहीं जानता। समझ में आया ?

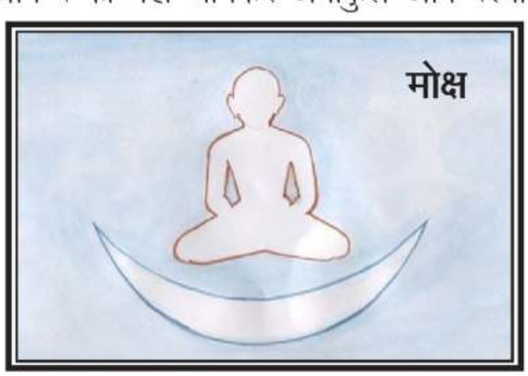

जिसने शुभ इच्छा से मोक्ष माना है, उसने

आकुलता से निराकुलता का फल माना है, अर्थात् (उसे) निराकुलतारूप मोक्ष की प्रतीति का पता नहीं। आहा...हा...! अनाकुलरूप चैतन्यस्वरूप, उसकी पर्याय में अनाकुलरूप प्रगट पर्याय का प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष है। ऐसी अनाकुलता में उसकी भूल होती है। कोई बन्ध करे तो अपने को लाभ होगा, शुभभाव में भी अपने को मुक्ति होगी उससे परम्परा मुक्ति होगी (-ऐसा मानता है।) समझ में आया कुछ ? उस निराकुलता का कारणरूप भी निराकुलता का ही भाव होना चाहिए। ऐसे भाव को नहीं जानकर, निराकुलता की पूर्णता अर्थात् मोक्षतत्त्व को भी वह नहीं जानता। कुछ समझ में आया ?

'याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान,...' ऐसी विपरीत श्रद्धापूर्वक-समस्त सातों ही तत्त्व आ गये। आ गये ? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। साततत्त्व की भूल हो गयी। **'याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।'** सात है न, सात ? देखो ! वह लिया है उसमें हों ! देखो ! अथाह चाह देखो ! नीचे एक लड़का या युवक बैठा है। अथाह याह। क्या करूँ? स्त्री, पुत्र, यह, यह अभिलाषा... अभिलाषा... अभिलाषा। अन्दर बहुत अधिक (चित्रित किया) है। मकान है और मनुष्य है... है या नहीं ? है ? गाड़ी है। मोटर सदा ही कहाँ थी ? परन्तु बंगला...बंगला हो उस ओर मोटर है - ऐसा न यह ? बंगला हो लो, न सब। यह... देखो न, ऐसे बैठा है। ऐसा करके। विचार में चढ़ गया है। कैसे कमाना ? कैसे पैदा करूँ? कैसे सट्टा करना ? देखो ! विचार में चढ़ गया है। लंगोट जैसा वस्त्र पहिना है, एक पैर ऐसे पड़ा है, एक हाथ ऐसे रहा (है)। है ? और फिर मैं कुछ ठीक करता हूँ - ऐसे भाव में पड़ा है वह। मैं कुछ ठीक करता हूँ कमाने का भाव करता हूँ, अमुक करता हूँ, अमुक करता हूँ - यह सब ठीक करता हूँ, ऐसे भाव में

चढ़ गया है, जीव की शक्ति रोकता है और मानता है कि कुछ हित करता हूँ, अर्थात् ठीक करता हूँ।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह भी इच्छा का अर्थ समझना चाहिए न ! भाषा तो सब बोल देते हैं। यह रेकोर्डिंग बोलते है। भाई ! यह इसे प्रतिकूलता में दुःख होता है, उसकी इच्छा का कहाँ भान है इसे ?

मुमुक्षु :- अब क्या करना - यह तो कहो ?

उत्तर :- यह कहते हैं, वस्तु की श्रद्धा-ज्ञान करके और इच्छा को रोकना, स्वरूप में स्थिर होना ही शान्ति का उपाय है; दूसरा कोई उपाय तीन काल में नहीं है। यह तो ज़रा प्रतिकूलता (आवे, वहाँ) रोता है। हाय...हाय... हिम्मत हार गये, अब क्या करना है ? मर जाएँ। कहां जाना है यहाँ से ? भाई ! यह तुम्हारे भाई का सब खुल्ला करते हैं। यह तो ऐसे बहुत होते है न ! एक नहीं, ऐसे तो बहुत होते हैं। मर जाएँगे। यहाँ से कहाँ जाओगे ? ज़हर पीने का मन हो जाता है। हमारे तो गुप्त पत्र भी बहुत आते हैं। बहुत दुःखी के पत्र आते हैं। महाराज ! कुछ भेजो, हों ! वरना अब जहर पीने का समय आया है। यहाँ कौन जाने रुपयों के ढ़ेर पड़े हैं - ऐसा लोगों को हो गया है, हाँ ! वहाँ ऐसा कि इनके पास करोड़ो रुपये पड़े हैं और सेठों का जरा आदेश करें - इतनी देर है। ज़रा एक पाँचसौ भेजो, एक पाँच हजार भेजो और मेरी दुकान भी चलने के बाद में आपको धीरे-धीरे दे दूँगा। यहाँ दुकान और धन्धा होगा। आहा...हा...! वरना पाँच दिन में हमारी बात प्रसिद्ध हो गयी तो हमारे जहर पीने का समय है, ऐसा आता है, हाँ ! उसे मानो कि सब सेठ ही है। यह भाई, इनके लड़के बड़े-बड़े सेठ हैं, बहुत बड़े हैं।

कहते है, देखो ! विचार में चढ़ गया है; और यह मोक्ष है, देखो ! यह। मोक्षशिला है न ? निराकुल। देखो ! कैसी स्थिति है ? अकेली अनाकुलता, विकल्पमात्र नहीं, वह मोक्ष है। यह पूरा होने के बाद अगृहित मिथ्याज्ञान की बात आयेगी। फिर कहते हैं, '**याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।**' इस मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान सहित। सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा और सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा रहित। देखो ! प्रतीति लिया न ? इन सातों तत्त्वों की प्रतीति सहित - मिथ्यामान्यता, कछुक ज्ञान, जो कोई ज्ञान है, वह कष्ट को

देनेवाला अगृहित मिथ्याज्ञान है। पूर्व में मिथ्याश्रद्धा की व्याख्या थी। वहाँ अगृहीत सात तत्त्वों की श्रद्धा की भूल बतानी थी। अगृहीत अर्थात् अनादि की श्रद्धा-निसर्ग मान्यता, अनादि की भूल, किसी से सीखी हुई नहीं। वह अनादि को पकड़ी हुई साततत्त्व की भूल निसर्ग है। उसके साथ कुछ ज्ञान विपरीत '**कष्ट को देनेवाला अगृहीत मिथ्याज्ञान है...**' इसमें भाई ने लिखा है। क्या कहलाता है ? यह 'छहढाला' में 'बुधसागर' है न, 'बुध' उसमें से यह बनायी है। 'बुधजन' लिखा है। ऐसी सब बातें तो अपने 'समयसार' आदि शास्त्रो में आ गयी है। यह तो ये लोग ढाल का कर्ता दूसरा भी इस प्रकार कहते हैं।

'सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।' 'सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनंती बार प्रधान, निपट कठिन अपनी पहिचान, ताको पावत है कल्याण।' यह शास्त्र का ज्ञान और दूसरी क्रिया का ज्ञान और दया, दान, व्यवहार ज्ञान और यह ज्ञान, यह ज्ञान - ऐसा अनन्त बार किया। सब व्यवहार क्रिया - दया, अहिंसा और ऐसा व वैसा और ऐसा पालन करना और यह खाना, और यह लेना, यह लेना - ऐसी क्रियाएँ, उनका ज्ञान 'भयो अनन्ती बार प्रधान।' प्रधान अर्थात् ऊँचा ऐसा फिर। शास्त्र में से व्यवहार का ज्ञान निकालकर बहुत पढ़ा। ऐसे प्रायश्चित लिया जाता है और ऐसे दिया जाता है और दया चलती है, ऐसे देखकर चला जाता है, ऐसा होता है। ऐसी व्यवहार क्रिया का ज्ञान अनन्ती बार प्रधान किया।

'निपट कठिन अपनी पहिचान' - भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप का ज्ञान, वह महाकठिन है; बाकी ऐसा सब ज्ञान तो अनन्तबार किया है। मिथ्याश्रद्धासहित ऐसा मिथ्याज्ञान भी अनन्त बार किया। वह अगृहीत मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ? 'ताको पावत है कल्याण।' लो ! 'धर्म सुभाव आप श्रद्धान' - देखो ! सम्यग्दर्शन रहित बाह्यक्रिया और चारित्र का ज्ञान किया, देखो ! अर्थ में (लिखा है)। तथा धर्म का स्वरूप तो आत्मा का श्रद्धान है। पहले यहाँ से प्रारम्भ किया है। 'धर्म सुभाव आप श्रद्धान, धर्म न शील, न स्नान, न दान।' कषाय की मन्दता आदि शीलस्वभाव या न स्नान या दान धर्म-बर्म नहीं है। पुकार तो करते हैं यह 'बुधजन' पहले से, लो ! और यह लोग कहते हैं, 'सोनगढवालों' ने ऐसा किया, 'सोनगढवालो' ने ऐसा किया, कहते हैं। समझ में आया ?

'बुधजन गुरु की सीख विचार, गहो धाम आतम हितकार।' भगवान अनन्त गुण का स्वामी

प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द से भरचक भरा हुआ छलाछल - ऐसे भगवान आत्मा के धाम की श्रद्धा कर ! कहते है. उसके सन्मुखदेख और उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है। उसके सन्मुख देख, उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है; बाकी व्यवहार क्रिया आदि का ज्ञान प्रधानरूप से किया। प्रधान अर्थात् बहुत ऊँचा मिथ्याज्ञान, वह कोई ज्ञान-ब्यान नहीं है। समझ में आया कुछ ? देखो ! यह यहाँ (रखा) है। ऐसे बैठा है। मिथ्याज्ञान का है न ? टेबिल है न ? मिथ्या पुस्तकें पढ़ी होगी। कुछ है अवश्य ऐसा सब लम्बा-लम्बा। अगृहीत मिथ्याज्ञान हुआ। लो !

भावार्थ :- कहते हैं कि वह दुःखदायक कष्ट को देनेवाला है। ठीक ! यह आत्मज्ञानरहित जो बाह्य क्रिया का ज्ञान, वह तो दुःखदायक और दुःख का देनेवाला है। भगवान आत्मा का ज्ञान, वह सुखदायक है। उसके बिना अकेली क्रिया का, व्यवहार की बात, सब व्यवहार लिया है - व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार ज्ञान और व्यवहारचारित्र और व्यवहार व्रत और उसका तप और उसका सब ज्ञान - आत्मज्ञान के बिना यह सब कष्टदायक है। आहा...हा...! ऐसा तो यह लोग गृहस्थाश्रम (रहकर) दिगम्बर कह गये हैं, दिगम्बर गृहस्थ ! उसमें सनातन मार्ग था। परम्परा वीतराग केवलज्ञानी को जो बात है, वह बात परम्परा (से) दिगम्बर सन्तों में चली आयी है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ऐसा विपरीत चला आता था, विपरीत मानते हैं, यह कहते हैं न, देखो न ! सर्वज्ञ परमेश्वर से कथित मार्ग दिगम्बर में अनादि से सत् चला आता है - ऋषभदेव भगवान से। यह देखो न, तब से यह चला आता है। क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान, वह वस्तु ही बन्ध का कारण है। अब, उसमें धर्म कहाँ आया ? यह व्रत, नियम और क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा...!

आत्मा के ज्ञान से रहित का जो ज्ञान...आहा...हा...! कथानुयोग का ज्ञान, करणानुयोग का व्यवहारज्ञान - यह सब, सम्यक् आत्मज्ञान के बिना, वह ज्ञान कष्टदायक है, ऐसा कहते हैं। अभिमान हो गया कि मुझे बहुत जानकारी है। हमें सब आता है। चारों अनुयोग में से व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, परन्तु वह व्यवहार - आत्मज्ञान रहित का व्यवहारज्ञान तो दुःखदायक है। आहा...हा...! अद्भुत डाला है, हाँ ! बात तो ऐसी ही है।

ऐसी प्रतीति, अर्थात् सात तत्त्वों की भूल कही न ? पहली जीव अपने उपादान से कार्य हो - ऐसा न मानकर पर से माने, यह जीव की भूल है। अजीव के उपादान से काम हो, उसे जीव से होता है - ऐसा माने, वह अजीव की भूल है। समझ में आया ? पुण्य-पाप दोनों आस्रवतत्त्व हैं, उनमें से एक को ठीक और अठीक माने, वह आस्रवतत्त्व की भूल है। बन्ध में शुभ और अशुभ एक प्रकार के संयोग हैं, उनमें एक ठीक और एक अठीक माने, यह बन्धतत्त्व की भूल है। निर्जरा की भूल - इच्छा को रोकना, उसमें लाभ है, उसके बदले अकेली शुभ इच्छा करने में लाभ है - इसका नाम निर्जरातत्त्व की भूल है।

परिपूर्ण निराकुल मोक्षतत्त्व है। उसमें कुछ भी वहाँ अन्दरखाने-पीने का नहीं, अमुक नहीं, वहाँ ऐसा नहीं, वहाँ यह नहीं - ऐसा कितने ही चिल्लाते हैं न ? यह क्या कुछ नहीं मिलेगा ? लाड़ी नहीं, वाड़ी नहीं, गाड़ी नहीं, घोड़ी नहीं, बोलना नहीं, सुनता नहीं, लो ! ऐसा का ऐसा (रहना)। इस निराकुल सुख का - मोक्षसुख का उसे पता नहीं है। आकुलता से छूट जाने का नाम मोक्ष है। उसके बदले (ऐसा माने कि) खाना नहीं, पीना नहीं, लड्डु नहीं, चूरमा नहीं, दाल-भात नहीं, सब्जी नहीं, बघारे हुए करेला नहीं। है ? यह तो करेला के अन्दर मसाला भरते हैं न ? और रस होवे, ऊँचा रस, भाई ! आम का बड़िया रस। वहाँ था न, देखो न ! ऐसी बड़िया से बड़िया आम। वहाँ भी आम लाये थे। वह कौनसा गाँव ? 'खड़... खड़...' यह कौनसा गाँव कहा ? वे उठकर गये थे 'शंकर' के देवालय में। पहले नहीं 'कुण्डले' से उठकर। वह 'खड़' कौनसा गाँव ? गाँव का क्या नाम ? 'खड़कालु।' 'खड़कालु ?' हाँ, वह। वह शंकर का देवालय नहीं ? 'कुण्डले' से उठकर। तब की बात है। कहों, समझ में आया ? नहीं रस, पुड़ी... गर्म-गर्म पुड़ी घी में तली हुई और बड़िया में बड़िया मीठारस निकाला हुआ, ऐसा कटोरा भरकर एसा फर्स्टक्लास ! उसके साथ मीठा साठा / फिका है ? कहते है, एसा कुछ नहीं, उस मोक्ष का हमें क्या करना है ? समझ में आया ? मूढ़ ! तुझे मोक्ष का पता नहीं है। यह सब इच्छायें - खाने, पीने की, वह तो आकुलता है। होली है वहाँ। वहाँ दुःख का ढेर है। यह खाऊँ, और यह लूँ और वह लूँ और पतरवेलियाँ और श्रीखण्ड व पुड़ी और... सभी इच्छायें दुःखरूप हैं। ऐसा तो वहाँ नहीं है, कहते हैं। परन्तु वहाँ नहीं किसका ? वहाँ तो निराकुलता आनन्द है। तुझे दुःख है, इसलिए इच्छा होती है।

यह वर्णन किसलिए किया ? यह आकुलता है - ऐसी आकुलता वहाँ नहीं है। उसे मानता है

कि ऐसा कुछ नहीं। ऐसी आकुलता किसकी हो, परन्तु वहाँ ? समझ में आया ? अकेला अनाकुल रसकन्द में ऐसा पड़ा है अन्दर से। आहा...हा...! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान सहित जो।' - श्रीमद् ने कहा है न ? ऐसा आनन्दस्वरूप मोक्ष, उसे नहीं मानकर, कोई इच्छा करें, इच्छा करे, इच्छा करें, कुछ नहीं मिलता, साधन नहीं मिलता, इच्छायें नहीं मिलती, यह नहीं मिलता - ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

एक व्यक्ति फिर ऐसा कहता था। बिचारा मर गया। वह कहता - मोक्ष में वे सिद्ध क्या करते हैं ? कहा - कोई हराम कुछ करे तो। तब वह कहता - यह सिद्ध हमें नहीं चाहिए। कहो, ठीक ! 'हीराभाई' के मकान में 'नारणभाई' के मित्र थे, कितनी ही बार आते थे, परन्तु दृष्टि इतनी विपरीत। सिद्ध परमात्मा मोक्ष (में जाकर) क्या करते हैं ? मैने कहा - आत्मा के आनन्द को करते हैं, बस ! दूसरा कुछ नहीं। हराम है किसी का कुछ करे तो; एक छिलका भी नहीं फिराते। (तब वह कहता), ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए। उसका अर्थ कि हमें ऐसा मोक्ष चाहिए ही नहीं। बापा ! तुम्हें, मोक्ष अर्थात् क्या ? - इसका (पता ही नहीं है।) यहाँ भी जितने अंश में राग घटे और स्वरूप में स्थिर हो, उतने अंश में शान्ति है। राग होवे और प्रवृत्ति अनुकूल होवे, उसमें शान्ति है - ऐसा नहीं है।

मानों दूसरों को सुधार दे और सब सुखी दिखें, बस ! अपने को शान्ति... मूढ़ है। वह तो राग है, मूर्ख ! समझ में आया ? पर का कर दें, वह तो आकुलता की बुद्धि महामिथ्यात्व है - मिथ्यात्व है। ज्ञानस्वरूप में राग का करना है ही कहाँ ? उसके बदले जहाँ कर्तृत्व स्वीकार किया है, (वहाँ) तीव्र आकुलता है, मिथ्यात्व की तीव्र आकुलता है। मिथ्या अर्थात् असत्य दृष्टि की तीव्र आकुलता है। अब ऐसा उसे वहाँ नहीं दिखता। कहा - पर का अच्छा करने की इच्छा मोक्ष में नहीं होती। ऐसा मोक्ष ? है ? कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसी मान्यता सहित जिसका उल्टा ज्ञान है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यह सातों तत्त्वों के भूल की व्याख्या हो गयी। निर्जरातत्त्व में आत्मा के आंशिक शुद्धि की वृद्धि। यहाँ कहा न ? 'निज शक्ति खोय' - अपना आत्मा आनन्दमूर्ति श्रद्धा सम्पन्न केवलज्ञान का कन्द, ऐसी उसकी शक्ति है। उसकी शक्ति की श्रद्धाज्ञान द्वारा प्रगट होना चाहिए, प्रगट होना चाहिए, उस शक्ति की प्रगटता होनी चाहिए, उसके बदले इसने अकेली इच्छा में लाभ माना है।

आंशिक शुद्धि की वृद्धि अथवा अशुद्धि की हानि होना, उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है। वह निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक हो सकती है। वह निर्जरा, आत्मा के परिपूर्ण शुद्ध आनन्द की प्रतीति के अनुभवपूर्वक ही निर्जरा होती है; वरना निर्जरा नहीं हो सकती। क्योंकि शक्ति परिपूर्ण है, उसका प्रतीति और ज्ञान में तो भान आया नहीं। (भान) आये बिना स्थिर कहाँ हो और निर्जरा हो कहाँ ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शनपूर्व जो कहा, उसका अर्थ यह कि जहाँ आत्मा एकत्वस्वरूप से अखण्डानन्द पूर्ण आनन्द, पूर्णज्ञान का कन्द आत्मा है - ऐसा जहाँ अन्तर ज्ञान में प्रतीति ही नहीं आयी, भान ही नहीं आया तो उसमें स्थिरता कहाँ से हो ? इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना उसे निर्जरा नहीं हो सकती। समझ में आया कुछ ?

ज्ञानानन्द स्वरूप में स्थिर होने से... देखो ! शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, उसे तप कहा जाता है। अकेला उपवास करे और इच्छा है, वहाँ तो राग का भाग है। इच्छा रहित चीज़, निराकुल आनन्दकन्द - ऐसे आत्मा की तो प्रतीति नहीं हुई कि उसमें स्थिरता से मेरा चारित्र होगा; उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी। क्या कहा ? यह स्वरूप अखण्डानन्द ज्ञान का पुंज प्रभु है, वही मेरा तत्त्व है। उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी - ऐसी प्रतीति का भान तो हुआ नहीं; उसे निर्जरा कहाँ से हो ? समझ में आया ? वह तो बाहर की इच्छा के वेग में खिंच गया है। यह कर दूँ और यह कर दूँ, दूसरे का कर दूँ। दुनिया का उद्धार कर दूँ... परन्तु पहले तेरा तो कर !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, एसा कितने ही कहते हैं। कितने ही कहते हैं (भले ही) हमारे दो भव बढ़ें, परन्तु यदि दुनिया का कल्याण होता होवे तो, भले ही दो भव बढ़ें। उस मूढ़ को न तो आत्मतत्त्व की श्रद्धा है, न मुक्ति अनाकुल होती है - इसकी श्रद्धा है। उसे आकुलता करके दुनिया को सुधारने का भाव है।

मुमुक्षु :- मोक्ष हो जाए...

उत्तर :- धूल में भी नहीं। बात नहीं कही ? लोककल्याण कर ही कौन सकता है ? यह (संवत्) १९८२ के साल में हमारे बड़ी चर्चाचली थी। कहा नहीं था ? 'तिरे वह तारे।'- ऐसा सुत्र लिखा था। 'वढ़वाण' में चातुर्मास में। (एक मुमुक्षु) है न ? 'तिरे, वह तारे।' एक वकील आया। कंदोई वकील है। वकील आया-महाराज ! ऐसा न करो। तब क्या करना चाहिए इसमें ?

'तारे वह तिरे' भाई ! कितना ढूँढ़ने जाना ? कहा - एक भी व्यक्ति न होय तो उसे केवलज्ञान हो नहीं न ? समझ में आया ? (संवत्) १९८२ केसाल की बात है। व्याख्यान चलता हो न ? सिर पर चाक बाँधते। सूतका, हाँ ! क्या कहलाता है ? भरकर, धागों से भरा हुआ। 'तिरे, वह तारे' - ऐसा लिखा था। वकील आया। महाराज ! ऐसा नहीं चाहिए। 'तारे वह तिरे।' कहा - कितनों को ढूँढ़ना ? कितनों को ढूँढ़ने जाना ? यहाँ ढूँढ़ना या वहाँ ढूँढ़ना ? भाई ! दुनिया तो ऐसे की ऐसे चली ही जाती है। यह तो १९८२ की बात है, लो ! चालीस वर्ष हुए। 'तारे वह तिरे।' कहा - एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे, सुन न ! निमित्त तो, उसकी स्वयं की सामनेवाली की योग्यता हो और इसे पुण्य का योग हो तो निमित्त होता है। निमित्त नहीं भी होता, एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे।

अपना आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना - यह एक ही इसे मुक्ति का उपाय है। यह तो दुनिया ऐसा कहे, ओ..हो...हो...! दश-दश हजार, बीस-बीस हजार, पच्चीस-पच्चीस हजार मैं इसका व्याख्यान (होता है) और लोग ... धूल में क्या है ? परन्तु है क्या ? यह वाणी ही आत्मा की नहीं है, इच्छा होती है, वह आत्मा की नहीं है। अब, इसमें कल्याण किसका करना ? ऐ..ई..! वाणी जड़ है, उसमें से आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा हुई कहा, वह इच्छा राग है, आकुलता है। (उससे) आत्मा को लाभ नहीं है। किससे लाभ करना है इसे ? पूरी दृष्टि की मूल में भूल है। कुछ समझ में आया ?

अशुभ इच्छा और शुभ का निरोध हो, उसे तप कहते हैं। यह इच्छा जो हुई, इसे ही न होने देना और स्वरूप को शान्ति और अनाकुल आनन्द को प्रगट शक्ति का व्यक्त भाव होना यही धर्म और तप और निर्जरा है। आहा...हा...! ऐ.... 'तपस्वी !' यह तपस्वी कह गया। महीने के उपवास करे तो उससे दूसरा विशेष भले हो परन्तु कहीं तपस्वी कहलाये ? बाहर में वह गिना जाता है। (एक भाई की) बहु से कहा। यह कहे तुम डिग्रीवाले होकर हमारी सेवा करते हो (तो वह कहे) हमारी डिग्री से तुम्हारी डिग्री ऊँची। वे विचारे यहाँ के गिने जाते। (एक भाई की) बहू डॉक्टर है न ? तुम्हारी डिग्री ऊँची। यह कहे - परन्तु तुम ऐसे ऊँचे और हमारी सेवा करते हो, हम साधारण मनुष्य।

यहाँ तो बात यह है कि जिसे आत्मा में इच्छा ही नहीं करना। इच्छा होती है, वही बन्ध का

कारण है। बोलने-फोलने की बात थी कब ? यह वाणी तो जड़ की है। समझ में आया ? कहते हैं, सम्यग्दर्शनपूर्वक और सम्यक् ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होने से शुभ-अशुभ का इच्छा का रूक जाना, उसे सच्चा तप और निर्जरा (कहते हैं।) दुनिया को उपदेश दो तो अपने को निर्जरा होगी। धूल भी नहीं होगी, सुन न ! उपदेश तो वाणी है, वाणी से आत्मा को निर्जरा होती होगी ? और इच्छा उत्पत होवे, वह पुण्य है, उससे जीव को निर्जरा होती है ? दुनिया धर्म प्राप्त करे। तू (स्वयं) समझा नहीं और अन्य को तू कहाँ से निमित्त होगा ? धर्म का स्वरूप क्या है, यह तो अभी तुझे ही पता नहीं। तू जाने कि यह इच्छा करूँ और यह उपदेश दूँ तो धर्म होगा... मूढ है तू। अब ऐसा किस प्रकार से तू दूसरों को करेगा ?

मुमुक्षु :- आता है।

उत्तर :- परन्तु कहाँ से आता है ? इच्छा रहित, वाणी रहित आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे, उसे धर्म होता है। लायेगा कहाँ से ? समझ में आया ? अद्भुत बात, भाई !

प्रश्न : मूल में से भूल ही नीकली ?

उत्तर :- मूल में से भूल बड़ी मणकी, मणमें आठ पंसेरी की भूल (शत् प्रतिशत भूल) है। आहा...हा...!

'शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, वह तप है। तप दो प्रकार का है - (१) बाल तप, (२) सम्यक्तप।' देखो ! **'अज्ञान दशा में जो तपकिया जाता है,...'** देखो ! उनोदर की वृत्ति, रस परित्याग (करे), त्याग भले करे परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का भान नहीं है। वह इच्छा मात्र का कर्ता नहीं। वाणी का कर्ता नहीं, किसी को समझावे और दूसरा समझे - यह भी वस्तु में है ही नहीं। आहा...हा...! अधिक समझें तो अधिक लाभ होता है, थोड़ा समझे तो उसे मोक्ष थोड़ा दुष्प्राप्य हो - ऐसा होगा न ? जिससे बहुत समझे, उसका मोक्ष झट हो जाए और जिससे थोड़े (भी) नहीं समझे तो उसका मोक्ष नहीं होता ! ढूँढ़ना पड़ता है न अधिक को ? अरे...! चल..चल...!

भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसे खोजकर उसमें एकाग्र होता है, उसका मोक्ष होता है।

लाख बातें (हों), इच्छा हो या उपदेश हो, उसके घर, उसके घर रहे। उसके साथ आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोगों को धर्म प्राप्त कराये, उसे कितना लाभ होता है ? धूल भी नहीं होता, सुन न ! अभी दूसरों को प्राप्त नहीं करा सकता, वे तो स्वयं के कारण से समझते हैं और तेरी श्रद्धा में तो ऐसा है कि यह दूसरे समझे तो उसमें कुछ थोड़ा भाग मुझे मिलेगा... मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- व्यापार में बढ़ोतरी होवे तो व्यापार ही सूझेगा न ?

उत्तर :- यह ठीक, परन्तु इच्छा के साथ पर का सम्बन्ध क्या ? जीव बोले तो जीव को लाभ होता है - यही बात मिथ्यादृष्टि मानता है। भाषा जड़ की है और जीव को उपदेश देने की इच्छा होती है तो आत्मा को लाभ होता है, वही मूढ़ है। इच्छा तो राग है, उसमें से लाभ कैसे होगा ? और दूसरे समझे तो इसे लाभ होता है - तो दूसरे के समझ ने की उसकी योग्यता है। उसमें तुझसे समझा कहाँ है ? और वह समझे, इसमें तुझे ज़रा भी लाभ कहाँ ? आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! परन्तु भाई ! आता है न ? 'सर्व जीव करुँ शासन रसि' - यह तो विकल्प आया, उसका बन्ध पड़ता है - ऐसा कहा है। 'श्रीमद्' ने ऐसा कहा है। यदि एक जीव को भी धर्म प्राप्त कराये तो तीर्थंकर पुण्य बाँधे। अर्थात् ? वह इच्छा हुई, उसमें तुझे बन्ध होगा - ऐसा वहाँ कहा है। भाई ! ऐसा कहा है, हाँ उन्होंने ! अन्य क्या समझे ? आहा...हा...! परन्तु ऐसा लिखा है। उनकी - 'श्रीमद्' की शैली तो अलग प्रकार की। अर्थात् जो धर्म समझा है और ज़रा इच्छा हुई; अब उसमें कोई समझे न समझे उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इच्छा आयी तो इच्छा से उसे सम्यग्दर्शन है (-ऐसा नहीं मानता)। इच्छा मेरा कर्तव्य नहीं है; मुझसे दूसरा समझता नहीं; यह वाणी निकलती है, वह मेरी चीज़ नहीं - ऐसी इच्छा में निषेध वर्तता है, आत्मा का आदरभाव है और उसका आदर नहीं है, इसलिए उसे तीर्थंकर प्रकृति बँधेगी। वह बँधेगी, उसमें आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा से लाभ नहीं है और बँधने से लाभ नही है - ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है। उस इच्छा को तोड़कर स्थिर होऊँगा तब मुझे चारित्र और केवल(ज्ञान) होगा। इच्छा से प्रकृति बँधी, इसलिए मुझे केवल होगा - ऐसा ज्ञानी नहीं मानता और ऐसा हो (भी) नहीं सकता। आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! कुछ समझ में आया ?

सात तत्त्व की भूल कहकर कहा कि यह भूलवाला जितना दूसरा ज्ञान करता है, वह सब ज्ञान

कष्टदायक है। समझ में आया ? '**अज्ञानदशा में...**' अर्थात् आत्मा के भान बिना, इच्छा से लाभ माननेवाले, शरीर की क्रिया से लाभ माननेवाले ऐसे अज्ञानी को यह जो कुछ रागादि मन्द हो और कोई तपस्या, उनोदर हो, वह सब बालतप है। '**उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती...**' उसे सच्ची अर्थात् शक्ति की प्रगटता (नहीं होती), क्योंकि उसमें सामने तो पर के सामने देखने का है, स्व के सन्मुख देखने का नहीं और स्वसन्मुख (देखकर) प्रतीति करे तो फिर स्वसन्मुख देखकर स्थिर होवे। चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, मैं ज्ञाता-दृष्टा परिपूर्ण हूँ - ऐसी प्रतीति और अनुभव होवे तो उसके सन्मुख देखकर स्थिर होवे, परन्तु उसकी प्रतीति का तो पता नही हो, स्थिर कहाँ होना ? इसलिए अज्ञानी के जितनी तपस्या आदि होती है, वह सब बालतप है, (उससे) पुण्यबन्ध आदि भले हो, परन्तु मिथ्यात्वसहित है, इसलिए अज्ञानतप है। ओ..हो..हो...!

'**किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छाओं का अभाव...**' अर्थात् ? आत्मा विकल्प, इच्छा और वाणी रहित है - ऐसा अन्तर अनुभव और दृष्टि हुई है, उसे '**सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार...**' उसमें जितनी स्वसन्मुख स्थिरता हुई, उसके अनुसार जितना शुभ-अशुभ का अभाव हो गया, वह सच्ची निर्जरा है, उसे सच्चा तप कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? '**किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता।**'

'**अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर...**' मेरी शक्ति मुझ में है; इच्छा से प्रगट नहीं होती, निमित्त से प्रगट नहीं होती बोलने से प्रगट नहीं होती। मेरा स्वरूप तो पूर्णानन्द है, उसके सन्मुख देखने से, एकाग्र होने से शक्ति प्रगट होती है। जिसमें भरी है, उसमें एकाग्र होने से होती है - उसका इसे पता नहीं है। जिसमें पूर्णानन्द केवलज्ञान, आनन्द पड़ा है - ऐसे स्वरूप की प्रतीति हुई है, उसमें एकाग्र होने पर (शक्ति की प्रगटता) होती है - ऐसा भान तो अज्ञानी को नहीं है। इस कारण उसके समस्त तप को अज्ञानतप कहा गया है। कुछ समझ में आया ?

'**पराश्रय में सुख मानता है...**' इच्छा हुई है न ? वाणी निकलती है, त्यागादि या उपवास करे, उसमें लाभ मानता है, वह पराश्रयभाव है। '**शुभाशुभ इच्छा और पाँच इन्द्रियों की**

विषयों की इच्छा को नहीं रोकता।' परन्तु रोके कहाँ से ? जिसे इच्छा रहित स्वरूप ही क्या है - उसका भान नहीं और इच्छा में ही सर्वस्व माना है - परसन्मुखता के वेग की वृत्तियों में सर्वस्व माना है। चीज़ दूसरी है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं है। अद्‌भूत बात की है। देखो न ! एक श्लोक में यह सब है, हाँ !

मुमुक्षु :- जब इच्छा का नाश...

उत्तर :- यह बात तो पहले आ गयी। कहा न ? पहाड़ा बोलता है यह, इसे जमता कहाँ है ? ज्ञान में निर्णय होना चाहिए न ? तो ऐसा राग नहीं करे - ऐसी बात पहले कही थी। भाई ! प्रातः ऐसी प्रकार करके आता है - आज हिम्मत दो। क्या है ? हिम्मत हार गये हैं। हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोले। समझ गये। सफाई भाषा की थोड़ी। है या नहीं ? पहले भाषा ऐसी करते कि अब तो ऐसा है और सवेरे ऐसा है। फिर परसों आये तो (कहा) हिम्मत दो, महाराज ! ऐसी सफाई से भाषा बदली उन्होंने। अर्थात् हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोला। उसने भाषा बदली। है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं। यह तो अन्दर बनियागिरी की। मैंने तुरन्त कहा, है हिम्मत हार गये की भाषा; हिम्मत दो - तुम बोलते हो, फिर दांत निकालने लगा (हँसने लगा) ऐसा नही होता उसे। लाख प्रतिकूलता हो तो क्या ? परन्तु मुझे क्या है ? वह तो जड़ की अवस्था है। मुझे वह स्पर्श करती है ? तब उसे अन्तर आत्मा की प्रतीति होती है, तब इच्छा रूकती है। उसके बिना कहाँ से रूकती थी ? जिसमें इच्छा नहीं है - ऐसी चीजकी प्रतीति के बिना इच्छा का अभाव किस प्रकार करेगा ? इच्छा अर्थात् राग का नाश करनेवाला आत्मा-इसका अर्थ कि उसमें इच्छा नहीं है। नाश करनेवाला कहा। करने और रखने वाला है यह ? तो उसका अर्थ क्या हुआ ? भले नाश करनेवाला वास्तव में तो नहीं है। इसका अर्थ यह कि यह रागादि उसके स्वभाव में है ही नहीं। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान बिना राग को रोकना, इच्छा को रोकना कभी भी तीन काल में नहीं होता।

❋

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ५, बुधवार
दि. २६-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ७ से १२ प्रवचन नं.-९

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' (चलती है।) उसमें दूसरी ढाल की सातवीं गाथा का अन्तिम थोड़ा-सा बाकी है। अन्त में अज्ञान की व्याख्या है न ? अनादि से मिथ्यादर्शन सहित अगृहीत मिथ्यादर्शन कहा है न ? सात तत्त्व की भूल कहकर, अब यह मिथ्याज्ञान उसके साथ बताते हैं। जीव, पाँच द्रव्यों से जिसका उपयोग स्वरूप अत्यन्त भिन्न है - ऐसा न जानकर पर के कारण मैं हूँ, ऐसा अन्तर में चिदानन्द ज्ञानानन्द के स्वभाव को भूल-शरीर, मन, वाणी, राग से मैं हूँ - ऐसी मान्यता, यह जीव की भूल, यह मिथ्याश्रद्धा अनादि की अगृहीत निसर्ग से है। कुछ समझ में आया ?

जीव, पाँच द्रव्यों से उसकी चाल सर्वथा भिन्न है - ऐसा आया था न ? ज्ञानस्वरूप, चिदानन्द स्वरूप उसका है, वह तो उपयोग जानने-देखनेवाला शक्ति और पर्याय, उसकी वह है। ऐसा न मानकर दूसरे पदार्थ के संग से मैं हूँ - ऐसे अपने उपादान में मानना, उसे जीव की अगृहीत मिथ्यादर्शन की भूल कहा जाता है, जो कि अनादि की - अगृहीत, किसी के उपदेश बिना (ग्रहण की हुई है), उसे अगृहीत, जीव की भूल कहते हैं।

अजीव की भूल - शरीर आदि उत्पन्न हो तो मैं उत्पन्न हुआ हूँ। यह पर के क्रिया आदि में मेरा अधिकारपना है - ऐसे अजीवतत्त्व के उपादान की स्वतन्त्र पर्याय में आत्मा ऐसा माने कि यह मुझसे है, उसे अजीवतत्त्व की भूल कहा जाता है। यह अगृहीत मिथ्यादर्शन का अजीवतत्त्व की भूल का स्वरूप है। कुछ समझ में आया ?

आस्रव - जो आत्मा में पुण्य और पाप के भाव दुःखदायक है, आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, उन्हें यह प्रेम से आकुलता का सेवन करे, प्रेम से उनकी प्रवृत्ति की, पुण्य पाप के भाव की रुचि रखे... समझ में आया कुछ ? उसे आस्रवतत्त्व की अनादि की अगृहीत मिथ्याश्रद्धा कहा

जाता है। समझ में आया ?

बन्ध की भूल - अनुकूल सामग्री मुझे ठीक पड़ती है; प्रतिकूल, वह अठीक पड़ती है। बन्ध के फलरूप से प्राप्त सामग्री, यह सब बन्ध का फल यह मुझे अनुकूल - ठीक है, प्रतिकूल ठीक नहीं है - ऐसी जो मान्यता है, उसे बन्धतत्त्व की भूल है क्योंकि वह बन्ध स्वयं ही प्रतिकूल-अनुकूल संयोग का कारण एक भी हितकर नहीं है। ऐसे साधन होवे तो मुझे ठीक; ऐसे साधन होवे तो मुझे ठीक नहीं - ऐसी उसे बन्धतत्त्व की अनादि की अगृहीत निसर्गरूपसे - उपदेश के बिना ग्रहण की हुई श्रद्धा है। समझ में आया ?

संवर की इसकी यह भूल है कि आत्मा का ज्ञान और आनन्द... आनन्द, अर्थात् चारित्र, वह आत्मा का ज्ञान और चारित्र, आत्मा को शान्ति देनेवाला है। आत्मा का ज्ञान और आनन्द; आनन्द अर्थात् चारित्र, वह शान्ति देनेवाला (है, तथापि) उसे दुःखदायक मानता है। यह क्या ? आत्मा का फिर ज्ञान और उसमें चारित्र (क्या ?) उसे ज्ञान और वैराग्य को दुःखदेन माने, दुःखदायक माने, उसे संवरतत्त्व की अनादि की - अगृहीत मिथ्यादर्शन की श्रद्धा है। कुछ समझ में आया ?

(निर्जरातत्त्व की भूल) - अपनी शक्ति शुद्ध आनन्दकन्द है। उस शक्ति की प्रगटता न करके, इच्छा को प्रगट करके उसमें सन्तोष मानता है। कुछ समझ में आया ? इच्छा फिर शुभ या अशुभ कोई भी हो; उस इच्छा की प्रवृत्ति मैं जिसे सन्तोष है, उसे शक्ति का निरोध होता है, शक्ति प्रगट नहीं होती और (उसमें) सन्तोष मानता है, वह निर्जरातत्त्व की भूल है। समझ में आया ? एक मोक्ष रहा।

मोक्ष, वह निराकुल परमानन्द का स्वभाव, उसका नाम मोक्ष है। वह मोक्ष इसे नहीं रुचता। यह क्या ? अकेले रहना, नहीं कोई खाने-पीने का साधन, नहीं बोलने का साधन, नहीं कुछ राग-द्वेष के विकल्प या मन का साधन, अकेले (रहने का) ? इस प्रकार जिसे निराकुल आनन्द के मोक्षतत्त्व की प्रीति नहीं है, उसे अनाकुल तत्त्व नहीं रुचता। आकुलता बिना अकेला रहे - यह फिर क्या ? शरीर के बिना आत्मा रहता है ? इन्द्रियों के बिना आत्मा ज्ञान करता है ? ऐसे जिसे अनाकुल तत्त्व मोक्ष की प्रतीति का पता नहीं है, उसे मोक्षतत्त्व की भूल अनादि की अगृहीत, निसर्ग-उपदेश बिना स्वभाव से मानी हुई है। उसे अनाकुल में मोक्ष न मानकर, सर्वथा निवृत्ति हो

जाना, इसका नाम मोक्ष की निवृत्ति को न मानकर प्रवृत्ति को कुछ माने, उसे मोक्षतत्त्व की भूल कहते हैं।

यह 'अगृहीत मिथ्यादर्शन हो...' इस एक शब्द की व्याख्या में सात की संक्षिप्त (व्याख्या) पहले कर दी। समझ में आया ? ऐसा अगृहीत मिथ्यादर्शन जहाँ हो, वहाँ जो कुछ ज्ञान होता है, उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं। जो कुछ जानपना-शास्त्र का जानपना हो, दूसरे का जानपना होवे, उस समस्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। आहा...हा...! जहाँ मूल साततत्त्व की अन्दर की दृष्टि में भूल है, उसका चाहे जितना जानपना, क्षयोपशम ज्ञान हो; उस ज्ञान को, भगवान कहते हैं (कि) हम उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं। वह मिथ्याज्ञान भी उपदेश के बिना उसने स्वतः प्रगट किया है। समझ में आया ? उसे निसर्ग मिथ्याज्ञान कहा जाता है। निसर्ग मिथ्याज्ञान कहो या अगृहीत् मिथ्याज्ञान कहो।

अनादि से स्वरूप के साततत्त्व के विवेक की श्रद्धा की अन्तर खबर नहीं होती, उस सहित का जितना जानपना है, उतने को (मिथ्याज्ञान कहते हैं।) देखो ! कहा न ? 'जो कुछ ज्ञान हो...' वह ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान कैसा है ? 'महान दुःखदाता है।' दुःखदाता है और वह ऐसा मानता है कि इस ज्ञान से मुझे लाभ होगा। अगृहीत मिथ्यादर्शनपूर्वक जिसे अन्तर इस ज्ञान का उघाड़ होता है, उस उघाड़ से वह लाभ मानता है। मैं कुछ बढ़ा-चढ़ा हूँ, मेरी कला है, मुझे आता है - ऐसा जो अन्दर मिथ्याज्ञान का अभिमान महा दुःखदायक है, तथापि उसे लाभदायक मानता है। समझ में आया ?

'महान दुःखदाता...' ऐसा कहा है न ? देखो न ! **'सो दुःखदायक अज्ञान जान।'** - ऐसा है न ? **'याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान...'** ऐसा है न ? **'कछुकज्ञान...'** यह शब्द ही इसमें पड़ा है। इससे **'कुछ ज्ञान'** लिखा है। मूल पाठ में ऐसा लिखा है। है न ? **'रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय; याही प्रतीतिजुत कछुकज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।'** लो कुछ समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त शब्दो में बहुत भाव भर दिये हैं। गृहस्थाश्रम में भी, इन्होंने शास्त्र के मर्म की बात है, उसे बहुत संक्षेप में कहा है।

भाई ! जिसे अन्दर आत्मा का पक्ष नहीं हुआ है और जिसे अन्दर मैं ऐसी भूल है - प्रवृत्ति की

इच्छा में सन्तोष मानता है, वह प्रवृत्ति-इच्छा करके निर्जरा मानता है। इच्छा से उसमें ज्ञान हुआ, उसे सच्चाज्ञान मानता है, वह ज्ञान अकेला दुःखदायक है। समझ में आया ?

'वह उपदेशादि बाह्यनिमित्तो के अवलम्बन से नया ग्रहण नहीं किया है; अनादि का...' यह परालम्बीज्ञान, तत्त्व की श्रद्धा विरुद्ध, परालम्बी पकड़ा हुआ उघाड़, वह उसके कारण प्रगट हुआ है, वह अनादि का है, **'इस कारण उसे अगृहीत (स्वाभाविक निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं।'** तीनों का एक ही अर्थ है। अगृहीत कहो, निसर्ग कहो, स्वाभाविक कहो। देखो ! यह मुद्दे की रकम की बात चलती है। समझ में आया ? जिसने, आत्मा अखण्डानन्द ज्ञानमूर्ति प्रभु की अन्तर में विकल्परहित प्रतीति नहीं की, उसका आत्मज्ञान प्रगट नहीं किया और आत्मज्ञान में स्थिरता का चारित्र प्रगट नहीं किया, उसे इस प्रकार के बोल अनादि के हैं। वह संसार में महादुःखदायक है। अब, इसके साथ **'अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र) का लक्षण'** (कहते हैं।)

अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र)का लक्षण

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह।।८।।

अन्वयार्थ :- (जो) जो (विषयनिमें) पांच इन्द्रियोंके विषयों मैं (इत जुत) अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित (प्रवृत्त) प्रवृत्ति करता है (ताको) उसे (मिथ्याचरित्त) अगृहीत मिथ्याचारित्र (जानो) समझो। (यो) इसप्रकार (निसर्ग) अगृहीत (मिथ्यात्वादि) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका [वर्णन किया गया] (अब) अब (जे) जो (गृहीत) गृहीत [मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र] है (तेह) उसे (सुनिये) सुनो।

भावार्थ :- अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के

विषयमें प्रवृत्ति करना उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इन तीनों को दुःख का कारण जानकर तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिये।।८।।

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह।।८।।

देखो ! क्या कहते हैं ? यह विषय - '**पाँच इन्द्रियों के विषयों में (इन जुत) अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित...**' ऐसा। पहले साततत्त्वों की भूल कही न ? और उस सहितका जो ज्ञान, उस सहित का ज्ञान और उससहित की विषयों में प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... शुभःअशुभराग की प्रवृत्ति। शुभ-अशुभ राग की प्रवृत्ति दोनों मिथ्याचारित्र है - ऐसा कहते हैं। 'विषय' शब्द से मात्र 'भोगादि' - ऐसा नहीं; जिसे आत्मा का विषय नहीं है, इस कारण उसे मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान में जो अनादिका पड़ा है, उसका जितना झुकाव ऐसे शुभ-अशुभराग में जाता है, वह सब मिथ्याचारित्र है। भाई ! अद्भुत बात, भाई ! कुछ समझ में आया ?

कहते है, उस अगृहीत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित '**प्रवृत्ति करता है...**' यहाँ वजन 'प्रवृत्ति' पर है। वह मिथ्याश्रद्धा थी, मिथ्याज्ञान था, उसमें शुभ-अशुभ परिणाम किसी भी प्रकार के हों, सब मिथ्याचारित्र है, क्योंकि स्वविषय नहीं आया और पर विषय की श्रद्धा और ज्ञान किया है। उस सम्बन्धित प्रवृत्ति के परिणाम ही, उसका नाम मिथ्याचारित्र कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया ? '**उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र समझो।**' प्रवृत्ति, हाँ ! इस प्रकार शुभाशुभ परिणाम की एकत्वबुद्धि है, शुभाशुभ परिणाम का ही ज्ञान और स्वभाव का ज्ञान नहीं और यह शुभाशुभ की प्रवृत्ति, उसे मिथ्याचारित्र कहा जाता है। समझ में आया ?

अब कहते हैं, '**इस प्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का (वर्णन किया गया)।**' बहुत सरस वर्णन है। समझ में आया ? इसकी कहाँ सूक्ष्म भूल है, अनादि की, उसके साथ अब गृहीत मिथ्यात्व आदि की बात करते हैं। मिथ्यात्व तो है परन्तु बाह्य

से अब कुदेव-कुगुरु की सेवा करके, आदर, विनय करके उस मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। अगृहीत है, उसके साथ मिथ्यात्व की पुष्टि करे, उसे मिथ्यादर्शन आदि कहा जाता है। '**अब, जो गृहीत (मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र) है, उसे (सुनिये)।**' देखो ! उसे भी यहाँ कहा, '**सुनिये।**' अब, वह सुनो, कहते हैं।

'**भावार्थ :- अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में...**' ऐसा। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति, '**उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इन तीनों को दुःख का कारण जानकर...**' इन तीनों को दुःख का कारण जानकर जीव उनसे वापस हटे और अपने तत्त्वज्ञान को पाये, इसके लिए यह बात कही जाती है। '**तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिए।**' देखा ? '**तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिए।**' (मैं) ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, राग, वह (मैं) नहीं हूँ। संवर-निर्जरा मुझे शुद्धरूप है, आनन्ददायक है; पूर्ण निराकुलता मोक्ष, वह सुखरूप है। शुभ-अशुभ, वह बन्ध सब एक ही प्रकार का है, अहितकर है। आस्रव का भाव पुण्य हो या पाप, वह दुःखदायक है; आत्मा आनन्ददायक है। ऐसी अन्तर तत्त्वज्ञान पूर्वक ऐसे तीन बोल का त्याग करना - उसके लिए यह कथन किया गया है। समझ में आया ? आहा...हा...! नौंवी (गाथा।)

गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरु के लक्षण

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव;
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर घन अम्बरतैं सनेह।।९।।

गाथा १० (पूर्वार्द्ध)

धारै कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;

अन्वयार्थ :- (जो) जो (कुगुरु) मिथ्या गुरु की (कुदेव) मिथ्या देव की और (कुधर्म) मिथ्या धर्म की (सेव) सेवा करता है, वह (चिर) अति दीर्घकाल तक

(दर्शनमोह) मिथ्यादर्शन (एव) ही (पोष) पोषता है। (जेह) जो (अन्तर) अन्तरमें (रागादिक) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि (धरैं) धारण करता है और (बाहर) बाह्यमें (धन अम्बरतैं) धन तथा वस्त्रादिसे (सनेह) प्रेम रखता है; तथा (महत भाव) महात्मापने का भाव (लहि) ग्रहण करके (कुलिंग) मिथ्यावेषों को (धारें) धारण करता है वह (कुगुरु) कुगुरु कहलाता है और वह कुगुरु (जन्मजल) संसाररूपी समुद्र में (उपलनाव) पत्थर की नौका समान है।

भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करनेसे दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का ही पोषण होता है अर्थात् कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

परिग्रह दो प्रकारका है; एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग; मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि अंतरंग परिग्रह है और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरंग परिग्रह हैं। वस्त्रादि सहित होने पर भी अपनेको जिनलिंगधारी मानते हैं वे कुगुरु हैं। 'जिनमार्गमें तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं। एक तो जिनस्वरूप-निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवी-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिंग और तीसरा आर्यिकाओं का रूप-यह स्त्रियों का लिंग, - इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शनरूप नहीं है; इसलिये इन तीनके अतिरिक्त अन्य लिंगो को जो मानता है उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। (दर्शनपाहुड गाथा १८)' इसलिये जो कुलिंग के धारक हैं, मिथ्यात्वादि अंतरंग तथा वस्त्रादि बहिरंग परिग्रह सहित हैं, अपने को मुनि मानते हैं मनाते हैं वे कुगुरु हैं। जिस प्रकार पत्थर की नौका डूब जाती है तथा उसमें बैठने वाले भी डूबते हैं; उसीप्रकार कुगुरु भी स्वयं संसार-समुद्र में डूबते हैं और उनकी वन्दना तथा सेवा-भक्ति करनेवाले भी अनन्त संसारमें डूबते हैं अर्थात् कुगुरु की श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय तथा अनुमोदना करनेसे गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करता है। ।।९।।

'गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरु का लक्षण :-'

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव;
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर घन अम्बरतैं सनेह।।९।।

गाथा १० (पूर्वार्द्ध)

धारै कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;

इसमें इन्होंने जरा डाला है। पहले विषय में प्रवृत्ति लिखी है न ? उसमें इन्होंने चित्र रखा है। यह विषय में प्रवृत्ति आयी न ? मिथ्याचारित्र। अपने नये में निकाल दिया है, चित्र नहीं डाला। इसमें जरा डाला है। उसका अर्थ यह है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयोंमें स्पर्श लिया है। वैसे भले अन्धा लिया है। साधारण लकड़ी है। स्पर्श कर ऐसे देखता है न स्पर्श द्वारा। यह क्या चीज है ? उसमें एकाकार हो जाता है, ऐसा। स्पर्श को देखने पर, स्पर्शता एकाकार हो जाता है यह ? एक प्रति में है। इसमें है, देखो ! है ?

एक प्रति में है। इसमें है, देखो ! है ?

मुमुक्षु :- युवक को स्पर्शकर चलता है।

उत्तर :- हाँ, स्पर्शकर चलता है और वह सब स्पर्शता जाता है। एकाकार...यह स्पर्श की इन्द्रिय के विषय में एकाकार हो जाता है, वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन-ज्ञान सहित है। फिर एक रसवाला लिया है। ऐसे खड़ा है, देखो ! खाता है, चाटता है। है ? ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं होगी। है ? चाटता है। ऐसे रास्ते में कितने ही आलू नहीं खाते ? ऐसे चूसते होते है।

मुमुक्षु :- 'मुम्बई' में बहुत होता है।

उत्तर :- हाँ, इसलिए ऐसा बनाया है। उसमें निकाल दिया है। रास्ते में ऐसा नागरबेल का पान खाता होता है। वे चढ़ते जाएँ और ऐसे चबाते जाए न... रस। रस एकाकार रस के अन्दर। सात तत्त्व की मिथ्याश्रद्धापूर्वक, मिथ्याज्ञान, उस कला का अभिमान और उसके साथ यह इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति। समझ में आया ? और एक नाक। देखो ? हाथ में गजरा रखा है।

गजरा है, गजरा। राजकोट में बहुत घूमते है न वे ? क्या कहलाता है वह ? घोड़ा का, घोड़ा का रेसकोर्स। उसमें फिरते होते हैं सवेरे; बहुतो के हाथ में फूल होते हैं। ऐसे करते जाते हैं और घूमते जाते हैं। हैं ? मैने रास्ते में बहुत देखे हैं। रास्ते में से फूल तोड़ते जाते हैं। जब घूमने जाते हैं, (तब) रास्ते में फूल होते है न ? (एक मुमुक्षु के) घर में फूल है। पीछे से बाहर निकले होते हैं। रास्ते में निकले, तब फूल तोड़ते जाते हैं और सूँघते-सूँघते घूमते जाते हैं। एकाकार, मानों दूसरा कोई है ही नहीं - ऐसी प्रवृत्ति में एकाकार (हैं)। कहते हैं कि, मिथ्याश्रद्धा सहित के ऐसे ऐकाकार को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

फिर आँख का लिया है। है न ? ऐसे... आँख से भलीभाँति देखे। ऐसे एकाकार दिखता है, देखो यह ! है ? प्राकृतिक सीन.. देखने के लिए तत्पर हो गया है। प्राकृतिक सरोवर तो यहाँ है, अन्दर पड़ा है। उसे नहीं देखकर दुनिया के रूप को देखने में तल्लीन हो जाता है, उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं। और शब्द... शब्द। वह वाजिंत्र पड़ा है, देखो ! रेड़ियो... तब रेड़ियो कहाँ था ? परन्तु यह तो इन्होंने दृष्टान्त दिया है। रेड़ियो..बेड़ियों, देखो न ! घर-घर में रड़ियो रखते हैं... बड़े-बड़े... आहा...! तल्लीन (हो जाता है।) बाई राँधती, राँधती रोटी बनाती हो, तब रेड़ियो बजाती है। रोटी बनाती जाती है और रेड़ियो सुनती जाती है। अभी तो इतना रस पड़ा है आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ज्ञान बढ़ता है न ?

उत्तर :- धूल में बढ़ता नहीं ज्ञान। एकाकार हो गया है, उसमें आत्मा कहाँ रहा ? यह क्या करता हूँ ? उसका कुछ भान नहीं होता। वहाँ वे मास्टर कहते थे, (मास्टर) नहीं कहते थे ? वह 'महम्मद' कौन ? उन पाँच विषय का नहीं ? बेगड़ो ! वह कहता। कैसा ? 'महम्मद बेगडो।' पाँच इन्द्रियों के विषयों मे तल्लीन वर्ते। खाता हो, वैश्या नाचती हो, फूल के पैड़ में बैठा हो, चारों तरफ एकसाथ पाँच इन्द्रियों के विषय। धूल में भी एक साथ विषय नहीं लिये जाते। वह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान सहित शुभाशुभ परिणाम में प्रवर्तता है। यह तो साधारणरूप से अशुभ का दृष्टान्त दिया है, परन्तु शुभाशुभ प्रवृत्ति में तल्लीनता (होती है) उसे मिथ्याचारित्र अनादि का - अगृहित कहा जाता है।

अब, यहाँ तो कहते हैं, मिथ्यादर्शन। गृहीत (अर्थात्) नया पकड़ा हुआ; जन्मने के बाद ऐसे अगृहीत मिथ्यात्व सहित। जिसे गृहीत मिथ्यात्व होता है, उसे अगृहीत तो होता ही है। अगृहीत हो और गृहीत किसी को न भी हो। समझ में आया ? परन्तु जिसे गृहीत हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है। नौंवे ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, उसने गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा था, अगृहीत नहीं छोड़ा था। अनादि (से) राग से धर्म और संवर, वह दूसरी चीज़, क्या चीज़, उसका कुछ भान नहीं अन्तर में नौ ग्रैवेयक गया। महामुनि.. ऐसा दिगम्बर मुनि (हुआ), हजारों रानियों का त्याग (किया) - ऐसी स्थिति में भी उसने अन्तर में गहरे-गहरे राग को अपना स्वरूप मानकर, देहादिक की क्रिया को अपनी मानकर, अन्दर में आत्मा की शान्ति को दुःखदायक माना। गहरे-गहरे उसकी तत्त्व की श्रद्धा में भूल होती है। समझ में आया ? इन मिथ्या गुरु की, मिथ्या देव की, मिथ्या धर्म की सेवा करे, उसे यह अगृहीत मिथ्यात्व पुष्टि को प्राप्त होता है। है न ? देखो न !

'**सेवे, पोषै चिर दर्शनमोह एव;...**' मिथ्यागुरु, मिध्यादेव, मिथ्या धर्म की सेवा, '**अति दीर्घकाल तक मिथ्यादर्शन ही पोषता है।**' लो ! '**जो अन्तर में (रागादिक) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि धारणा करते हैं...**' पाठ में इतना है - '**अंतर रागादिक धरैं जेह...**' इसका अर्थ कि एकत्वबुद्धि। मिथ्यात्व सहित राग को अपना मानकर ऐसे मिथ्यादृष्टि सहित, मोह सहित जो रागादि धरतें हैं, (वे) मिथ्यात्व आदि धारण करते हैं।

'**बाह्य में धन तथा वस्त्रादि से प्रेम रखता है...**' अन्तर में विकार के प्रति प्रेम है; बाह्य में बाहर की वस्तु के प्रति प्रेम है। समझ में आया ? धन और वस्त्र। '**(महतभाव) महात्मापने का भाव ग्रहण करके मिथ्या वेषों को धारण करता है...**' ऐसे वेष हो तो मेरी महिमा बढ़े, बडप्पन बढ़े, गुरु गिना जाऊँ, साधु गिना जाऊँ, अधिक पद में गिना जाऊँ - ऐसे कारण से अनेक प्रकार के वेष धारण करते हैं, वे सब कुगुरु के लक्षण हैं। कुछ समझ में आया ? देखो ! यह क्या लिखा है ? देखो न ! कितना लिखा है ! तुम्हें तो यह पहले से मिला है, परन्तु विचार कहाँ किया है ? ना करता है। मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि धारण करे और उनमें प्रेम करे, '**महात्मापने**

का भाव ग्रहण करके...' ऐसा कहना है। देखा न ? '**धारैं कुलिंग लहि महत भाव...**' इसका अर्थ यह कि '**धारे कुलिंग लहि महतभाव...**' वेष ऐसे बदले और माने कि इसमें बड़प्पन कहलाता है। समझ में आया ? पण्डितों में भी कितनों को ही ऐसा होता है। ऐसे वस्त्र-वस्त्र ऐसे होते हैं न ? लाल क्या कहलाते हैं ? वे भगवा-बगवा होते है न ? कुर्ता ! ऐसा लाल रंग आता है न ? ऐसा गेरूआ वस्त्र होवे तो उसका बड़प्पन इसे कहा जाता है। अन्दर में कोई दम नहीं होता। यह पण्डित है। ऐसी ज़रा टोपी लाल हो, सिर पर लगाई हो, होवे भले गृहस्थ। भगवा नहीं गोरे रंग जैसी। तो दिखता है कि यह त्याग है अथवा यह पण्डित है अथवा दूसरों की अपेक्षा दूसरे प्रकार का दिखता है - पृथक् लगता है। इसके लिये महंतता के लिये ऐसा वेष पहिनता है, कहते हैं, वे सब कुगुरु हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

'**महात्मापने का भाव ग्रहण करके मिथ्या वेषों को धारण करता है, वह कुगुरु (कहलाता है और वह कुगुरु) (जन्मजल) संसाररूपी समुद्र में...**' जन्मजल (अर्थात्) जन्मरूपी संसार का समुद्र, उसमें '**(उपलनाव)...**' है। वह पत्थर की नाव है। उपल अर्थात् पत्थर। पत्थर की नाव में बैठे, वह पत्थर भी डूबता है और नाव भी डूबती है और नाव मैं बैठनेवाले भी डूबते हैं। कहो, समझ में आया ? जिसे, आत्मा राग रहित शुद्ध चैतन्य क्या है ? (उसका) भान नही है और पुण्य-पाप में धर्म मानता है, ऐसी एकत्वबुद्धि जिसकी है - ऐसे कुगुरु को माननेवाला पत्थर की नाव में बैठा है - ऐसा कहते हैं।

भाई ! जिसे आत्मज्ञान, आत्मदर्शन का भान नहीं है (और) अकेली बाह्यक्रिया तथा राग में धर्म मान बैठा है और इसकी महत्ता उसे लगती है कि हम कुछ महन्त है, हम अधिक है, त्यागादिक में दूसरों से अलग पड़नेवाले हम हैं ऐसा मानकर वेष आदि धारण किया, उसे यहाँ कुगुरु कहा गया है। उस कुगुरु को माननेवाले कैसे हैं ? - यह कहेंगे।

'**भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का ही पोषण होता है, अर्थात् कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।**' यह कुगुरु की सेवा, कुदेव की सेवा... समझ में आया ? या कुशास्त्र

की सेवा या कुधर्म की सेवा, वह अनादि अगृहीत मिथ्यादर्शन को पुष्ट करनेवाले हैं। कहो, समझ में आया ? इसमें ? श्रद्धा-ज्ञान की कींमत नहीं होती, लोगों को बाह्यत्याग की कींमत है। वस्तु अन्तरदृष्टि में कितना अन्तर है ? (-इसका पता नहीं है।) रागादि को धर्म माने, व्यवहार को धर्म माने, परमार्थ धर्म माने, और निमित्त में अपनी, शरीरादिक की क्रिया होती है, उसे अपना कार्य माने, वे सब अन्तर में मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि को गुरूरूप से स्वीकार करना; उस कुगुरु को गुरु मानना - यह अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व की पुष्टि है। यह मिथ्यात्व मैं वृद्धि होती है - ऐसा कहते हैं। कहो, भाई !

मुमुक्षु :- महावीर का नाम तो लेते है।

उत्तर :- हमारे सेठ ऐसे हैं। जरा धीरे-धीरे (बोलते हैं।) 'महावीर' का नाम नहीं लेते। नाम (लेना) उसे कहा जाता है कि जिसने वीर भगवान ने वीरता का स्वभाव प्रगट किया और वीरता - चैतन्य के वीर्य की प्रगट दशा करे, उसे 'महावीर' कहा जाता है और उनका नाम स्मरे ऐसी दृष्टि (होती है), उसने महावीर का स्मरण किया कहा जाता है। (जिसे ऐसा नहीं हैं), वह राग का स्मरण करता है। एक बार कहा नहीं था ? 'समन्तभद्राचार्य' भगवान को वन्दन करते हुए कहते हैं है नाथ ! अभव्य आपको वन्दन नहीं करता। वह किस प्रकार नहीं करता ? आप वीतराग स्वरूप हो, आपकी दशा रागरहित है। - ऐसी दशा उसे (नहीं होती) और राग की रुचिवाला आपको नमस्कार करे, वह (वस्तुतः) नमस्कार करता ही नहीं। आत्मा वीतरागस्वभाव है। ज्ञानस्वरूप आत्मा है, जिसमें विकल्प की गन्ध नहीं - ऐसी दृष्टि नहीं करता, वह वीतराग को नमस्कार करता ही नहीं; वह तो राग को, व्यवहार को, विकल्प को और मेल को नमता है, वह निर्मल को नमन नहीं करता, सूक्ष्म बात है। भाई !

मुमुक्षु :- यह तो नाम लेने का है।

उत्तर :- वह नाम ही नहीं लेता, यही कहा; नाम ही नहीं लेता। नाम का अर्थ - जैसी उनकी दशा है, उसमें नमें, ढले उसे नाम लेना कहा जाता है, ऐसा है। नाम अर्थात् नमना, ढलना। समझ में आया ? उसे कहाँ उस तोता को पता है ? मूँगफली का दाना दे - बोल तोता ! राम। (तोता), राम-राम (बोले) यह कुछ पता नहीं कि यह राम नहीं है। ऐसे बोलो महावीर... महावीर...

(बोले) परन्तु महावीर कैसे हैं ? - उसका पता नहीं है। इसलिए वास्तव में वह महावीर का नाम लेता ही नहीं। समझ में आया ? जिनकी वीतरागता... अन्तरदृष्टि सर्वज्ञता प्रगटी है, उसकी रुचिसहित होवे, उसके चार निक्षेपों का ज्ञान उसे सच्चा कहलाता है। जिसे उसकी रुचि नहीं, उसे एक भी निक्षेप सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया ?

अब, कहते हैं - '**परिग्रह दो प्रकार का है, एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग...**' रागादि कहा था न ? '**अन्तर रागादिक धरैं जेह...**' और बहिरंग '**धन अम्बर तैं सनेह -**' उसकी व्याख्या करते हैं। अन्तरंग बड़ा परिग्रह तो मिथ्यात्व है। यह शुभाशुभभाव की पकड़ और उसकी प्रवृत्ति में लाभ (की) मान्यता, (यह) महा मिथ्यात्व की पकड़ है। समझ में आया कुछ ? भगवान आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प निवृत्तस्वरूप है। उसकी प्रतीति न करके जो विकल्प आदि की शुभभाव की प्रवृत्ति में लाभ मानना, वह महामिथ्यात्व का परिग्रह है। उसने मिथ्यात्व को पकड़ा है। वह बाह्य से अत्यन्त त्यागी हो गया हो तो भी अन्दर में मिथ्यात्व का परिग्रह पड़ा है, उसे महा परिग्रहवन्त कहा जाता है। समझ में आया ?

निष्परिग्रह - ऐसा भगवान आत्मा, उसे न पकड़ कर रागादि के विकल्प को पकड़ कर, वह मुझे लाभदायक है - यही मिथ्यात्वभाव का परिग्रह है। समझ में आया ? बाहर में लँगोटी न हो, नग्न हो परन्तु जिसे यह मिथ्यात्व परिग्रह पड़ा है, (उसे) महा परिग्रहवन्त कहा जाता है। समझ में आया ? 'प्रवचनसार' में थोड़ा आ गया, नहीं ? कितनी वीं (गाथा) ? २३६ गाथा, नहीं ? कायक्लेश, वह सब काय क्लेश है। काया और कषाय, कषाय और काया - ये दो; इसलिए लिया न ? राग को अपना मानता है और शरीरादि की क्रिया मुझसे होती है। यह कषाय और काया दो (हुए।) उसे आत्मा का ज्ञान नहीं है और कुछ भी, जरा भी त्याग नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? (यह) अन्तरंग परिग्रह (हुआ।)

'**और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरंग परिग्रह है...**' अन्तरंग परिग्रह के त्याग सहित बाह्य परिग्रह वस्त्रादि का त्याग न होवे तो उसे मुनिपना सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया कुछ ? '**वस्त्रादि सहित होने पर भी अपने को जिनलिंग धारी मानते हैं...**' जिनलिंग अर्थात् मुनिपना अथवा उत्कृष्ट श्रावकपना अथवा श्राविका, आर्यिकापना - ऐसा जिनलिंगधारी

मानते हैं - ऐसे जिनलिंग तीन है, परन्तु ऐसे स्वभाव के भान बिना वस्त्रादि सहित होने पर भी जिनलिंगधारी - हम जिन-लिंग के धारक हैं। (- ऐसा मानते हैं), वे कुगुरु हैं।

'**जिनमार्ग में तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं...**' धर्मी के लिंगरूप से, हाँ ! '**एक तो जिनस्वरूप-निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिलिंग...**' होता है। जैनदर्शन में मुनिलिंग - आत्मदर्शनसहित दिगम्बरदशा, यह मूल लिंग होता है। '**दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक लिंग...**' होता है (लंगोटी) श्रावक का लिंग होता है। धर्म के लिंग रूप से - वेषरूप से तीन ही वेष हैं। '**तीसरा आर्योकाओं का रूप - यह स्त्रियों का लिंग...**' होता है। आर्यिका अथवा क्षुल्लिका होती है न ? एक वस्त्र आदि (होता है।) '**इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।**' सम्यग्दर्शन में जिनलिंग के तीन प्रकार में वेष की गिनती में तीन लिंग के अतिरिक्त दूसरा वेष नहीं है। समझ में आया कुछ ?

'**इसलिए इन तीन लिंगो के अतिरिक्त अन्य लिंगो को जो मानता है...**' अन्य लिंगो में जो ऐसा मुनिपना या आर्यिकापना आदि मानता है, '**उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है।**' सूक्ष्मबात, अद्भूत बात, भाई ! 'दर्शनपाहुड़' १८वीं गाथा में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने कहा है। '**इसलिए जो कुलिंग के धारक हैं, मिथ्यात्वादि अन्तरंग...**' परिग्रहवाले हैं; '**वस्त्रादि बहिरंग परिग्रहसहित है, अपने को मुनि मानते हैं...**' समझ में आया ?

उन लोगों के शास्त्रों में ऐसा लेख है, साधु आहार लेने जाए (तब) दस पात्र दे, कोई कम्बल दे तो ले लेना। दस कम्बल, दश पात्र, दश .... ऐसा 'भगवतीसूत्र' में लेख है। कौन जाने क्या लिखा है और क्या किया है ? कुछ पता (नहीं पड़ता)। इतना उठाकर (चलें इसलिए) वह मजदूर जेसा लगता है। दस कम्बल, या दस पात्र.. और भगवान के नाम से चढ़ा दिया। 'भगवतीसूत्र' - भगवान ने कहा है, लो ! बड़ा बड़िया में बड़िया वह कहलाता है। यह जब पढ़ते है, तब एक एक - एक रुपया देते है, होता है या नहीं ? तुम्हारे तो कहाँ था ऐसा पैसा-बैसा खर्च करने का ? है ? उन लोगों को ऐसा होता है। 'भगवती(सुत्र)' पढ़े तक चावल के बड़े स्वस्तिक

पूरते हैं। भाई ! देखा है या नहीं ? उसमें यह लिखा है, हाँ ! आहा...हा...! एक बार पढ़ा, कहा, यह क्या करते हैं ? यह भगवान के नाम से दश-दश पात्र (रखते हैं), एक पात्र स्वयं रखे और नौ देवे आचार्यों को। दश ..., एक स्वयं को रखने की और बाकी की उन्हें दे।, दश कम्बल में से एक स्वयं रखे और नौ उन्हें दे। यह क्या, यह फिर क्या ? साथ में बहुत साधु हों, किसी को चाहिए हो तो..।

ऐसे वस्त्रसहित और ऐसे परिग्रहवाले को मुनि मानना, यह मुनि माननेवाले को मिथ्यादर्शन लगता है। गृहीत मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? गृहीत अर्थात् अगृहीत तो है, तदुपरान्त उसे यह गृहीत मिथ्यादर्शन उसे लगता है। मुनिलिंगरूप से दूसरा लिंग नहीं हो सकता। मुनि माने और वस्त्र-पात्र आदि रखे और अभ्यन्तर मिथ्यात्व हो; एकदम कुगुरु है। उसे मानने से गृहीत मिथ्यात्व का पोषण होता है। भाई ! पैर पड़ना चाहिए या फिर सौगन्ध करना ? है ? हाथधुनन भाई चलता है। अखबार में आता है। कल या परसों नहीं लिया ? दिल्ली में सौगन्ध (शपत लिया)। फिर सबने राष्ट्रपति ने और इन्दिराने शपत ली, ऐसे हाथ पकड़ कर। हाथधुनन फिर यह नयी भाषा लगती है। हाथधुनन... हाथधुनन। (हाथ) पकड़ कर ऐसे... ऐसे। ओ..हो..हो..! तुम बड़े प्रधान। इसी प्रकार इस गुरु को न माने (और) गुरु आया होवे तो इसे क्या करना ? है ? परसो ही थोड़ा यहाँ बना था। समझ में आया ? आहा...हा...! परन्तु वह वन्दन ही नहीं है। वह तो जैसे एक प्रेमी व्यक्ति मिले और सम्बन्ध हो वह करे। (उसे ऐसे कि) पैर पड़ेगा, (इसने) हाथ किया। ओफ्फ....! यह तो बदल गया। वह नीचे ऐसे ऐसे करने गया, (उसे ऐसा कि) पैर पड़ेगा। उसने हाथ पकड़ा। आहा...हा...!

कहते हैं, बाह्य मैं परिग्रह - वस्त्र-पात्र (रखे और) अभ्यन्तर स्वयं मिथ्यात्व-रागादि का सेवन करे, उन्हें गुरु मानना - ये हमारे तारण-तरण है, ये साधु हैं - ऐसा मानना, उसे मिथ्यादर्शन गृहीत का, अगृहीत के उपरान्त बड़ा पाप लगता है। समझ में आया ? परन्तु तब अब किसमें करना क्या ? रहना पानी में और मछली के साथ वैर ? ऐसी बातें करते है न लोग ? सबके साथ रहना और सबसे वैर करना क्या ? किसके साथ वैर ? सुन न। आत्मा की सच्ची श्रद्धा हो, वह ऐसे कुगुरु को नहीं मानता। दुनिया में चाहे जो होवे। पलटा होवे तो उसके घर रहा, वह तो पलटा होना होना होगा। दुनिया से डरकर सत् को नहीं बेचें, भाई ! क्या हो, इसमें ? क्या कहा समझ में आया ?

भगवान के मार्ग में तो, आत्मा में राग का कण हो और धर्म-परमार्थ धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि है और फिर मिथ्यादर्शन सहित वस्त्र रखकर मुनिपना माने... समझ में आया ? जैनदर्शन में वस्त्रधारी मुनि तीन काल में नहीं हो सकते और अकेला नग्न हो, परन्तु अन्दर में श्रद्धा, भान न हो - यह क्रिया मैंने की, जड़ की क्रिया मेरी, इन महाव्रत के परिणाम (को) धर्म (माने), वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसे वास्तव में सच्चा लिंग/भावलिंग नहीं है, इसलिए बाह्य द्रव्यलिंग में भी यथार्थपना नहीं हैं। आहा...हा...!

'**जिस प्रकार पत्थर की नौका स्वयं डूब जाती है और उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; उसी प्रकार कुगुरुभी स्वयं संसार-समुद्र में डूबते हैं और उनकी वन्दना, सेवा...**' उन्हें वन्दन करनेवाले, उनकी सेवा करनेवाले, '**भक्ति करनेवाले भी अनन्त संसार में डूबते हैं, अर्थात् कुगुरुकी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय...**' किन्तु कठिन बहुत, भाई ! दुनिया से अकेला अलग-थलग हो जाए, है ? किसी के साथ मेल नहीं, किसी के साथ मिलनसार नहीं, ऐसा मानते हैं। लो !

मुमुक्षु :- पुरानी पहिचान होवे तो क्या करना ?

उत्तर :- वह (इन भाई को) पूछो। पुराने व्यक्ति और वहाँ के बड़े हैं। पुरानी पहिचान होवे तो उसमें क्या करना ? क्या होना ? निडर होना। लो ! भाई यह कहते हैं। सत्य बात होवे, उसमें दूसरा क्या हो सकता है ? इसके लिए कोई बालसखा हो तो कोई ज़हर खाकर बालसखापना रखा जाए ? बालसखा है न, तू साथ में थोड़ा खा ले, अपन बालसखा है न ? - ऐसा कहीं पारिवारिकपना रखा जाता है ? -ऐसा नहीं रखा जाता।

कुगुरु की श्रद्धा, उसकी भक्ति, लौकिक की श्रद्धा बताये और उसमें धर्म माने, उसमें मनावें, वे सब कुगुरु है, उनका विनय, '**अनुमोदन करने से गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करता है। धारै कुलिंग लाहे महतभाव-**' ऐसा लिया न ? समझे न ? '**धन अम्बर तै सनेह-**' ऐकाकार बुद्धि है - ऐसा कहते हैं।

गाथा १० (उत्तरार्द्ध)

कुदेव (मिथ्यादेव)का स्वरूप

जो राग-द्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन;

गाथा ११ (पूर्वार्द्ध)

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव;

अन्वयार्थ :- (जे) जो (राग-द्वेषमलकरि मलीन) रागद्वेषरूपी मैलसे मलिन है और (वनिता) स्त्री (गदादि जुत) गदा आदि सहित (चिह्न चीन) चिह्नों से पहिचाने जाते हैं (ते) वे (कुदेव) झूठे देव हैं, (तिनकी) उन कुदेवों की (जु) जो (शठ) मूर्ख (सेव करत) सेवा करते हैं (तिन) उनका (भवभ्रमण) संसारमें भ्रमण करना (न छेव) नहीं मिटता।

भावार्थ :- जो राग और द्वेषरूपी मैल से मलिन (रागी; द्वषी) हैं और स्त्री, गदा, आभूषण आदि चिह्नों से जिनको पहिचाना जा सकता है वे 'कुदेव' [1]कहे जाते हैं। जो अज्ञानी ऐसे कुदेवों की सेवा (पूजा, भक्ति और विनय) करते हैं वे इस संसार का अन्त नहीं कर सकते अर्थात् अनन्तकाल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता।।१०।।

अब (बाकी का) गाथा - '**कुदेव (मिथ्यादेव) का स्वरूप।**'

जो राग-द्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन;

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव;

'**जो राग-द्वेषरूपी मैल से...**' राग-द्वेष शब्द से मिथ्यादृष्टि ... लेना। समझ में आया ?

---

१. **सुदेव** - अरिहन्त परमेष्टी; **देव** - भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक, **कुदेव**-हरि, हर शीतलादि; **अदेव**-पीपल, तुलसी, लकड़बाबा आदि कल्पितदेव; जो कोई भी सरागी देव-देवी हैं वे वन्दन पूजनके योग्य नहीं हैं।

जिसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान है और राग-द्वेष के मैलसहित अन्दर में मलीन है; (जिसे) निर्मलानन्द भगवान आत्मा का भान नहीं है। यहाँ सर्वज्ञपना बतलाना है। भगवान सर्वज्ञ एक समय में तीनल काल-तीन लोक का ज्ञान हो, वे सर्वज्ञदेव कहलाते हैं। समझ में आया ? एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान और निर्मलता अर्थात् वीतरागता। ऐसे वीतराग-विज्ञानघन सर्वज्ञ परमेश्वर, वे देव कहलाते हैं। उनके अतिरिक्त कोई देव माने, दूसरे का राग-द्वेष सहित, अल्पज्ञान; राग-द्वेष सहित मिथ्यादृष्टि, उन्हें देव माने, वह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह तो दृष्टान्त दिया है।

'**राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन है और (वनिता)...**' अर्थात् '**स्त्री तथा (गदादिजुत) गदा आदि सहित चिह्नों से पहिचाने जाते हैं...**' स्त्री बगल में बैठी हो, हाथ में गदा हो, हाथ में माला हो। समझ में आया ? '**(गदादि जुत) गदा आदि सहित चिह्नों से पहिचाने जाते हैं, वे (हैं कुदेव) झूठे देव हैं...**' वे सच्चे देव नहीं है। सच्चे देव तो सर्वज्ञ-वीतराग परमेश्वर है। जिनकी दिव्य ध्वनि में अकेली वीतरागता झरती होती है। समझ में आया ? तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन लोक का ज्ञान, ऐसे ज्ञान के धारक और जिनके साथ वीतरागता तथा परमानन्द की दशा (हो) - ऐसे देव के अतिरिक्त दूसरे को राग-द्वेष की मलिनतावाले को और मिथ्यादर्शनसहित को देव मानना; बाहर मैं वनिता-स्त्री आदि सहित हो (वह) कुदेव है - मिथ्या देव है। उस कुदेव की शेठ-मूर्ख... इसमें होगा अवश्य ? इसमें होगा है, है। वह पैर पड़ता है, देखो ! वह पैर पड़ता है।

कुगुरु-कुदेव-कुधर्म। समझे न ? कोई आरती उतारता है, देखो ! जटा-बटा है और पीछे एक बाबा है। हाथ मैं कुछ है और वह पैर पड़ता है। कुगुरु-कुदेव और कुशास्त्र तीनो रखे हैं, हाँ ! कुधर्म है न वह घोड़ी ? उस पर कुशास्त्र है। कुशास्त्र है न ? पुस्तक है न पुस्तक। वह पत्थर है, वह कुगुरु है - यह इन सबके पैर पड़ता है। ऐसे कुगुरु-कुदेव-कुधर्म। देखो ! एक लड़का वहाँ पैर पड़ता है। समझ में आया ? सवेरे में ऐसे पत्थर... जिसे देव नहीं, जिसे देव का भान नहीं - ऐसे कुदेव की प्रतिमा बनाये और माने, वह भी मिथ्यादेव का सेवन करनेवाले हैं। समझ में आया ? पत्थर होय तो भगवान की मूर्ति है न ? पत्थर है। (वह) अलग बात है।

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग प्रभु है, जिनका विरह होता है। तब स्थापनारूप से धर्मी को ऐसी भक्ति, शुभभाव, वन्दन, विनय आये बिना नहीं रहता, उसे स्थापना निक्षेपरूप से जानता है। जिन नहीं, परन्तु जिन सरीखी प्रतिमा को जानता है। जिन नहीं, स्वयं वीतराग नहीं। निक्षेप में वीतराग की आकृति देखकर स्मरण में आता है कि ऐसे सर्वज्ञ होते हैं, ऐसे स्थिररुप से स्थित हुए वीतराग होते हैं। पूरी दुनिया(में) चाहे जो फेरफार होता हो तो उनके ज्ञान में, वीतरागता में कुछ अन्तर नहीं पड़ता - ऐसे स्मरण के लिए भगवान की प्रतिमा को सम्यग्दृष्टि भी मानता है, पूजता है। शुभभाव है, वह शुभभाव है, उसे मिथ्यात्व नहीं है। समझ में आया ? आप दूसरे के पत्थर को ऐसा कहते हो तो यह पत्थर है परन्तु इस पत्थर की आकृति वीतराग आकृति है। इस पूरी बात में अन्तर है। समझ में आया ?

सब यह लगाते है कि अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। यह अजीव है, उसे तुम जीव मानते हो - ऐसा कहते हैं... ऐ...ई...! सब सुना तो होगा या नहीं ? क्यों भाई ! भाई ! वह तो अजीव को अजीव ही मानते हैं। यह स्थापना निक्षेप से मानते हैं, उसे कहीं जीव नहीं मानते। इसमें केवली और सर्वज्ञ परमेश्वर साक्षात् हैं - ऐसा इसमें नहीं है। समझ में आया ? मात्र उनकी प्रतिकृति - ऐसे सर्वज्ञ-वीतराग परमेश्वर (होते हैं।) जिनके विरह में ... स्त्री मर जाए तो उसके विरह में स्त्री का फोटो घर में रखते हैं या नहीं ? ऐ...ई...! तुम्हारा 'पोरबन्दर' नहीं उपाश्रय के पास वह कौन...? उसकी पुरानी पत्नी मर गयी थी। घर देखने गये थे तो ऐसा बड़ा फोटो टँगा था। कहा - यह क्या यहाँ ? वे स्थानकवासी कहलाते हैं न ? (वह कहने लगा) - मेरी पत्नी गुजर गयी, उसके प्रति प्रेम है, इसलिए बड़ा फोटो (लगाया है।) बड़ा फोटो, हाँ ! ऐसा कपड़ा ढँका हुआ। उपाश्रय के पास साथ में (मकान था)। कहा, यह क्या ? अरे ! तुम्हे स्त्री का प्रेम है और वह मर गयी तो उसका यह (फोटो) रखते हो और भगवान के प्रति-प्रेम हो और भगवान के फोटो को वन्दन नहीं करना, भगवान का फोटो (प्रतिमा) नहीं मानना, वह अचेतन कहलाये। परन्तु अचेतन से कौन इनकार करता है ? उसे चेतन किसने कहा ? स्थापना निक्षेप से वीतराग की मूर्ति है। सर्वज्ञ परमेश्वर की प्रतिकृति सामने हैं। उसे सम्यग्दृष्टि बहुमान, विनय, भक्ति से पूजा करता है, उसका नाम शुभभाव है; धर्म-परमार्थ धर्म नहीं तथा उसे मानना मिथ्यादर्शन नहीं। बहुत गड़बड़ देखो ! वन्दन करता है, लड़का सवेरे (वन्दन करता है।) और यहाँ देव के वह किये है न,

घोड़े जैसे मुँह... है न ? कुदेव। उसमें लिखा है न ? '**वनिता गदादिजुत चिह्न चीन।**' बड़ी फूल की माला है और हिरण जैसा बड़ा मुँह है। ऐसे देव को देव मानना, वह मिथ्यात्व है। वह देव सच्चा नहीं है। समझ में आया ?

'**मूर्ख सेवा करते हैं, उनका संसार में भ्रमण करना नहीं मिटता।**' ऐसा है न ? उसका चार गति में भटकना नहीं मिटता। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग देव मिले, जिसकी श्रद्धा में सर्वज्ञ परमात्मा रमते हैं। एक समय में तीन काल - तीन लोक का ज्ञान - ऐसे परमेश्वर जिसके ज्ञान में विराजमान होते हैं; समकिती के ज्ञान में परमात्मा विराजते हैं। उनके विरह में प्रतिमा, पूजा आदि होते हैं। मिथ्यादर्शन नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभभाव है।

'**भावार्थ :- जो राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन...**' देखो ! '**और स्त्री, गदा, आभूषण, आदि चिह्नों से जिनको पहिचाना जा सकता है...**' स्पष्टरूप से, ऐसा। '**वे कुदेव कहलाते हैं।**' नीचे व्याख्या की है। पूर्व के शास्त्रकार ने, हाँ ! सुदेव - अरिहन्तपरमेष्ठी; सुदेव अर्थात् मानने योग्य परमेश्वर। देव-भवनवासी इत्यादि देव। वे देव अलग और यह देव अलग। वे सुदेव है। सर्वज्ञ परमात्मा सुदेव हैं और भवनपति व्यन्तर आदि तो एक गति के देव है। कुदेव - हरि, हर आदि कुदेव हैं। (जो) वास्तविक देव नहीं, वे कुदेव कहलाते हैं। अदेव। चार नाम अलग दिये हैं, देखा ? सुदेव, देव, कुदेव, अदेव। अदेव (अर्थात्) यह पीपल, तुलसी, लकड़बाबा इत्यादि। लकड़बाबा, यह तो हिन्दुस्तान में होंगे, अपने हैं कोई ? यह पीपल को पान डालकर नहीं करते ? पीपल के फेरे फिरते हैं, मूढ़ है। महिलायें वहाँ बहुत जाती हैं। पीपल को पानी डाले, (मानती है कि) लड़का होगा, धूल। तुलसी को पानी डालकर (मानते हैं कि) यह मेरे देव कहलाते हैं। वह तो एकेन्द्रिय वनस्पति है। लकड़बाबा कुछ होगा अथवा वह लकड़ी का घड़ा हुआ, अथवा वह पाणियारा पर नहीं रखते ? रूई की आँखे और गोबर के काकाबणिया। उसके उपर वे काकाबणिया रखते है, और माने देव। सवेरे पैर पड़े, मूढ़ है, कहते हैं। ऐसे देव को माननेवाले (मूढ़ है।) समझ में आया ?

जो कोई भी सरागी देव-देवी है, वे वन्दन-पूजन के योग्य नहीं है। पैर लगे, घर में... होता है। क्या कहलाता है इसका ? कुलदेव, कुलदेवी। सब मूढ़ता है, कहेत हैं। उसे सच्चे देव का पता

नहीं है। परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि किसी को नहीं मानता। समझ में आया ? दस गाथा हुई।

'अज्ञानी ऐसे कुदेवों की सेवा, (पूजा, भक्ति और विनय) करते हैं, वे इस संसार का अन्त नहीं कर सकते...' क्योंकि उसको अन्त नहीं है, जिन्हें मानता है, उसे संसार का अन्त नहीं है और उसका अनुमोदन करे तो इसे मिथ्यात्व का पाप लगता है **'अर्थात् अनन्त काल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता।'**

गाथा ११ (उत्तरार्ध)

कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शनका संक्षिप्त लक्षण

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म;
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जौ है अज्ञान।।१२।।

अन्वयार्थ :- (रागादि भावहिंसा) राग-द्वेष आदि भावहिंसा (समेत) सहित तथा (त्रस-थावर) त्रस और स्थावर (मरण खेत) मरण का स्थान (दर्वित) द्रव्यहिंसा (समेत) सहित (जे) जो (क्रिया) क्रियाएँ [हैं] (तिन्हैं) उन्हें (कुधर्म) मिथ्याधर्म (जानहु) जानना चाहिये। (तिन) उनकी (सरधै) श्रद्धा करने से (जीव) आत्मा-प्राणी (लहै अशर्म) दुःख पाते हैं। (याकूं) इस कुगुरु, कुदेव और कुधर्मका श्रद्धान करनेको (गृहीत मिथ्यात्व) गृहीत मिथ्यादर्शन जानना, (अब गृहीत) अब गृहीत (अज्ञान) मिथ्याज्ञान (जो है) जिसे कहा जाता है उसका वर्णन (सुनो)।

भावार्थ :- जिस धर्म में मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भाव-हिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवोंके घातरूप द्रव्यहिंसा को धर्म माना जाता है, उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव उस कुधर्म की श्रद्धा करता है, वह दुःख प्राप्त करता है। ऐसे मिथ्या गुरु, देव और धर्म की

श्रद्धा करना उसे 'गृहीत मिथ्यादर्शन' कहते हैं। वह परोपदेस आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है इसलिये 'गृहीत' कहलाता है। अब गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन किया जाता है।।।१२।।

---

११. **'कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शन का संक्षिप्त लक्षण।'** कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शन का - दो बात

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म;
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जौ है अज्ञान।।१२।।

गृहीत मिथ्यात्व की बात यहाँ तक है। क्या कहते हैं ? **'राग और द्वेष आदि भावहिंसा (समेत) सहित त्रस और स्थावर के...'** घात की हिंसा... वह द्रव्यहिंसा करे। राग-द्वेषसहित बाहर की त्रसहिंसा, उस सहित की क्रियाएँ **'उन्हें मिथ्याधर्मजानना चाहिए...'** देखो ! यहाँ जरा गड़बड़ नहीं होती। कहते हैं कि जिसमें अकेला राग-द्वेष होता है और बहार अकेले त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, उसे धर्ममाना, वह मिथ्यात्व है। भगवान की पूजा में तो एक शुभराग है और उसमें भी एकेन्द्रिय प्राणी (की) अमुक साधारण हिंसा होती है। सावद्यलेश्या हो तो पुण्य बहुत होता है - ऐसा आचार्यों का वचन है। उसे परमार्थ धर्म नहीं मानता।

भगवान की पूजा में किञ्चिंत् स्थावर जीव की, वनस्पति या पानी

के थोड़े जीव हों, घात हो, इसलिए सावद्यलेश्या कहा है, परन्तु शुभभाव हैं, इसलिए उसे पुण्य बन्धन होता है। उसे परमार्थ से वह हिंसा का भाव (नहीं है), अनुबन्ध अहिंसा का है, वीतरागभाव की अनुमोदना का है; और यह तो अकेली हिंसा करता है; परिणाम में राग-द्वेष के भाव (करता है।) बाहर में हिंसा का पार नहीं होता। भगवान के नाम से बाग-बगीचा, फूल तोड़कर पूरे-पूरे जीव मारता है, प्रमाण नहीं रखता, रात्रि में दीपक, रात्रि में फूलवाड़ियाँ, रात्रि में भगवान की पूजा (करता है) और ऐसा मानता है कि मुझे लाभ होता है। - यह सब मिथ्याधर्म है। समझ में आया कुछ ? उसमें धर्म मानना, मिथ्यादर्शन है, गृहीत मिथ्या श्रद्धा है। विवेक चाहिए, देखो न ! पानी की हिंसा। फूल-फल की भी उसकी मर्यादा होती है। समझ में आया ? भाव का ठिकाना नहीं और बहुत हिंसा हो जाए तो उसे धर्म का विवेक नहीं है। यह तो भाई वीतराग का ऐसा मार्ग है। जिसमें राग घटे और बाहर की हिंसा भी घटे, इस प्रकार उसे लेना चाहिए। समझ में आया ?

'**जे क्रिया तिन्हें जानहू कुधर्म...**' ऐसी जो द्रव्यहिंसा और भावहिंसा सहित.., भावहिंसा सहित है न ? उन क्रियाओं को मिथ्याधर्म जानना। '**उनकी श्रद्धा करने से प्राणी (अशर्म)...**' अशर्म अर्थात् '**दुःख...**' शर्म अर्थात् सुख। '**दुःख पाते हैं।**' समझ में आया ? परिणाम का विचार नहीं। मेरे परिणाम कैसे हैं ? यह कितनी हिंसा होती है ? क्या होता है ? इसका पता नहीं चलता। ऐसे तीव्र रागादिभाव हों, बाह्य हिंसादि - त्रस-स्थावर मरें, चींटी, मकोड़ा मरते हैं, भगवान के नाम पर देखो न कितने कीड़े-मकोड़े मरते हैं। दूध और दहीं सिर पर बहाते हैं... कितने जीव मरते हैं ! उसका विचार नहीं करते और अकेली हिंसा होती है - ऐसे कुधर्म को माने तो मिथ्याश्रद्धा है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'इस कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का श्रद्धान करने को गृहीत...' नया मिथ्यात्व नहीं, अनादि का है वह; उसके साथ यह नया मिथ्यात्व। अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व है, वह पहले साततत्त्वों की भूलें कही थी वे, उसके साथ यह दूसरी मिथ्यात्व की श्रद्धा जोड़ दी, इसलिए मिथ्यात्व पुष्ट हुआ, उसे आत्मा का लाभ नहीं हुआ। **'गृहीत मिथ्यादर्शन जानना। अब गृहीत मिथ्याज्ञान (जो है) जिसे कहा जाता है...'** लो ! गृहीत, हाँ ! वह जो अगृहीत मिथ्याज्ञान कहा था, वह दूसरी बात। यह गृहीत मिथ्याज्ञान। अगृहीत मिथ्याज्ञान में भी अदिक पुष्टि करनेवाला। आहा...हा...! समझ में आया ? **'उसका वर्णन सुनो।'**

'जिस धर्म में मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भावहिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवों के घातरूप द्रव्यहिंसा को धर्म माना जाता है, उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव उस कुधर्म की श्रद्धा करता है, वह दु:ख प्राप्त करता है। ऐसे मिथ्या गुरु-देव और धर्म की श्रद्धा करना, उसे 'गृहीत मिथ्यादर्शन' कहते हैं।' उसे मिथ्यादेव कौन है ? - उसकी परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा किये बिना माने, वह वीतरागमार्ग में धर्म नहीं कहलाता है। वह परोपदेश आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है। पहले वह आया था, परसों कहा था न ? अगृहीत में। (वह) उपदेशादि बाह्य अवलम्बन द्वारा नवीन नहीं ग्रहण किया है। अज्ञान में ऐसा आया था, पहले शुरूआत में। यहाँ परोपदेश पढ़ने से, सुनने से, देखने से, कहने से ग्रहण किया गया है, इसलिए उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहा जाता है। **'अब, गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन...'** करेंगे। यह तेरहवीं गाथा। बारह हुई न ? बारह हुई। बारह तक गृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत (मिथ्यात्व को) पुष्टि करनेवाले की बात की। अब अगृहीत (मिथ्या)ज्ञान को पुष्टि देनेवाले मिथ्याज्ञान की बात करेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❊

गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

अन्वयार्थ :- (एकान्तवाद) एकान्तरूप कथन से (दूषित) मिथ्या [और] (विषयादिक) पाँच इन्द्रियोंके विषय आदिकी (पोषक) पुष्टि करनेवाले (रागीकुमतनिकृत) रागीकुमति आदिके रचे हुए (अप्रशस्त) मिथ्या (समस्त) समस्त (श्रुताभ्यास) शास्त्रों को (अभ्यास) पढ़ता-पढ़ना, सुनना और सुनाना (सो) वह (कुबोध) मिथ्याज्ञान [है; वह] (बहु) बहुत (त्रास) दुःखको (देन) देनवाला है।

भावार्थ :- (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उसमेंसे किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।

(२) जो शास्त्र जगतमें सर्वथा नित्य, एक अद्वैत और सर्वव्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवादसे दूषित होने के कारण कुशास्त्र है।

(३) वस्तुको सर्वथा क्षणिक-अनित्य बतलायें अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भित हैं, किसी गुणके संयोगसे वस्तु है ऐसा कथन करें, अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता तथा नियंता हैं ऐसा वर्णन करें, अथवा (६) दया, दान, महाव्रतादिक शुभ राग-जो कि पुण्यास्त्रव है पराश्रय है उससे, तथासाधु को आहार देनेके शुभभावसे संसार परित (अल्प, मर्यादित) होना बतलायें तथा उपदेश देनेके शुभभावसे परमार्थरूप धर्म होता है - अत्यादि अन्य धर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होनेके कारण कुशास्त्र है; क्योंकि उसमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंकी यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्वकी भूल हो वहाँ सातों तत्त्वोंकी भूल होती ही है, ऐसा समझना चाहिए।।१३।।

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ६, गुरुवार
दि. २७-१-१९६६, ढाल-२, गाथा १३ प्रवचन नं.- १०

'छहढाला' की दूसरी ढाल (चलती है।) बारह गाथा पूर्ण हुई। तेरहवीं गाथा। '**गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण।**' ऐसा एक विचार इससे पहले आया कि यह आत्मा जो है, आत्मा, वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप। मिथ्याज्ञान है न इसमें ? आत्मा है, वह ज्ञानस्वभाव है और ज्ञान की जो पाँच पर्याय हैं - मति, श्रुत, अबाधि, मनःपर्याय और केवल; तो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अपने अनन्त गुणोंकी पर्याय और अपनी भी व्यवस्थित पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय भी समय-समय में जो व्यवस्थित है, व होना है उसमें वह... अनन्त काल वह होता है न ? इसलिए केवलज्ञान की पर्याय अपने गुण की पर्याय जो ज्ञान की पर्याय का व्यवस्थितपना और दूसरे द्रव्यों की जो समय-समय की पर्याय है, उसे भलीभाँति व्यवस्थिरूप से जानती है। यह मतिज्ञान भी उसी प्रकार व्यवस्थित जानता है। अल्प, कम उसका प्रश्न अभी नहीं है। श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार जानाता है। ऐसा व्यवस्थित जानने का और सामने व्यवस्थित पर्याय है, उसका व्यवहार से ज्ञान करने का उसका स्वभाव है। श्रुतज्ञान भी अपने अनन्त गुणों की और अपनी भी पर्याय व्यवस्थित होती है, उसको जानने का स्वभाव है। पर की भी व्यवस्थित जो होती है, उस पर्याय को जानने का उसका स्वभाव है। अवधिज्ञान भी वह स्वयं अपनी जो व्यवस्थित पर्याय समय-समय में होती है, उसे जानने का स्वभाव और रूपी आदि पर्याय उसके योग्य है, उसे भी जानने का स्वभाव है। ऐसे ही मनःपर्यायज्ञान(भी) अपनी व्यवस्थित पर्याय (जानता है), अन्य की भी उसके योग्य जितनी जानने की योग्यता है, उसकी व्यवस्थित पर्याय को जानने का स्वभाव है।

अब, यह सब केवलज्ञानादि पर्याय का स्वभाव स्वयं को और पर को जैसा है, वैसा जानना (है।) उसमें कैसे है और कैसे फेरफार करना - यह वस्तु का स्वभाव नहीं है। ऐसी पर्याय एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त पर्याये पड़ी हैं। यह मति, श्रुत, अवधि; मनःपर्यय और केवल की जो

अनन्त पर्याय है, वह ज्ञानगुण में अनन्त अनन्तरूप रही है। ऐसा ज्ञान का धारक आत्मा (है) जिसने वस्तु का स्वरूप ही व्यवस्थित स्वयं अपने को जाने और पर को जाने - ऐसा ही उसका स्वभाव हुआ। एक समय का नहीं, परन्तु पूरा त्रिकाली स्वभाव। भाई ! वस्तु ही ऐसी है। यहाँ तो पर्याय से लेकर गुण में गया और गुण लेकर द्रव्य - ऐसी वस्तु है। यह बात है, यह वस्तु है। कुछ समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा जो कहा - उसका अर्थ ही यह है कि जहाँ ज्ञान का निश्चय किया अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपनी मति,श्रुत, मनःपर्यय की होती है, उसे वह जानता है और दूसरे गुणों की पर्याय भी क्रमसर होती है, क्रमवर्ती होती है, उसे जानता है। उसके योग्य सामने जो द्रव्य है, उसे जानने योग्य, उसे भी उस प्रकार जानता है। एक पर्याय को, एसी तीन काल की पर्यायें या सर्वज्ञ सादि-अनन्त की केवलज्ञान की पर्याय, वह भी जानता है और सामने अवस्था जो अनन्त की होती है, वह जानता है। ऐसी अवस्था का पूरा पिण्ड, वह ज्ञानगुण। उस गुण में स्व-पर का व्यवस्थित जानना-एसी ही उसकी सामर्थ्य है। ऐसे स्वभाववन्त को आत्मा न माने और दूसरे प्रकार से माने तो वह आत्मा ही उसने नहीं माना। भाई ! यह तो सवेरे उठकर फिर यह चला था। कुछ समझ में आया ?

यह भगवान ही आत्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् इसकी कोई भी पर्याय भी व्यवस्थितरूप से परिणमति है और व्यवस्थितरूप से दूसरे को जानती है - इसका नाम ज्ञान ! कुछ समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है ? विचार करते हैं, कहते हैं। बहुत अच्छी बात है।

मुमुक्षु :- फिर से समझाओ।

उत्तर :- यह कहा न, उठते ही एकदम यह बात दिमाग में आयी। वस्तु ही ऐसी है। उसमें विकल्प का अवकाश ही नहीं है। ऐसा कैसे ? पर में या मुझ में ऐसा कैसे ? यह ऐसा कैसे तो व्यवस्थित जानने का स्वभाव, उसमें ऐसा कैसे- यह विकल्प ही नहीं होता। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़े, परन्तु वस्तु आत्मा को ज्ञान कहा है न ? भाई ! ज्ञान, वह आत्मा - ऐसा कहा है न ? इस पर से एकदम फिर विचार की धारा चली कि ज्ञान, वह आत्मा। अर्थात् कि ज्ञान तो जाने, वह आत्मा। अर्थात् उसकी जितनी पाँच पर्यायें हैं, उन प्रत्येक (को) जाने, जाने, जाने, वह आत्मा।

ज्ञान में जानना है। किसी को बदलना या स्वयं का बदलना उसमें है नहीं। आहा...हा...! करे क्या ? समझ में आया ?

यह तुम्हारे मकान का ठिकाना पड़ता नहीं, उस विचार में एकदम यह विचार आये... परन्तु जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से जो पर्याय होनी है, उसे फेरफार करे कौन ? कुछ समझ में आया ? यह ज्ञान का तो स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् उसकी पर्याय का स्वभाव ऐसा, उसके गुण का स्वभाव ऐसा और उस द्रव्य का स्वभाव ऐसा। है ? आहा...हा...! ऐसा ही उसका स्वभाव है। जहाँ निर्विकल्परूप से ज्ञान का निश्चय अनुभव हुआ, जानने का दूसरा कुछ है ही नहीं इसे। समझ में आया ? यह राग आता है, उसे जाने, करे नहीं - यह द्रव्य का ऐसा स्वभाव है, भाई ! इसमें कुछ समझ में आया ?

ज्ञान आत्मा, यह कहो तब तो ज्ञान आत्मा और ज्ञान की पर्याय, वह भी आत्मा, - ऐसा हुआ न ? भाई ! है ? पर्याय, वह पर्यायवान की अर्थात् पर्याय (और) पर्यायवान एक है। गुण और गुणी एक है, अभेद है। वह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है। जो जानने की दशा का ज्ञान और जाने वह व्यवस्थित पर की पर्याय का ज्ञान.. बस ! यह सब जानना ही उसके पिण्ड में पड़ा है। आत्मा के पिण्ड में अर्थात् उसका शरीर ही ऐसा है। शरीर अर्थात् आत्मा का वह शरीर आत्मपिण्ड ही ऐसा है, आत्मशरीर ही ऐसा है अर्थात् चैतन्य शरीर ही ऐसा है। वह स्व-पर की जैसी व्यवस्थित है, ऐसा उसे उस प्रकार से सहज जानना। वह जानना द्रव्य में, गुण में और पर्याय में - तीनों में व्यापक है। समझ में आया ?

इसप्रकार यदि आत्मा को माने तो उसने आत्मा को माना कहा जाता है। दूसरे प्रकार से आत्मा माने तो उस आत्मा की वह स्थिति नहीं है; इससे विपरीत माने तो उसने आत्मा ही नहीं माना। आहा...हा...! भाई ! समझ में आया ? अन्दर गंभीरता तो बहुत आती थी, परन्तु अब वह भाषा में आनी चाहिए न ? भूमिका अनुसार आती है न ! ओ..हो..! यह अकेला चैतन्य गोला, वह ज्ञान - द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में व्यापक है। वह व्यवस्थित अपने को, दूसरे गुणों को, दूसरे द्रव्यों को - इस प्रकार जानने के स्वभाववाला, वह पर्याय, गुण और द्रव्य - तीनों में व्यापक जानना। इस प्रकार उसे अनुभव में आवे, उसने आत्मा जाना और माना कहा जाता है।

आहा...हा...! अरे..! इसमें वाद-विवाद का स्थान कहाँ है ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अर्थात् चैतन्यसूर्य अर्थात् स्व-पर को जानने के स्वभाव से- सत्व से भरपूर तत्त्व। उसकी पर्याय में वह स्वभाव। उसमें पहले-बाद का प्रश्न ही नहीं है कहीं पर्याय में ...आहा...हा...! यह पहले और यह बाद में... ज्ञान में जानने का नहीं रहा, यह तो विषमता हुई। है ? समझ में आया ? इससे ऐसा स्वरूप निश्चय में आया कि यह वस्तु तो ऐसी जानने के स्व-परप्रकाशक के स्वभाव से भरपूर (है) और व्यवस्थित अपने और दूसरे गुणों की और दूसरे द्रव्यों की पर्याय को जानना - इतना ही इसका स्वरूप है, बस ! और यह 'जानना' - उसे आत्मा कहा जाता है। उसने जानने का किया, वही उसने किया - यह क्रिया। कुछ समझ में आया ? भाई ! फिर इससे यह हुआ और इससे ऐसा हुआ - यह वस्तु में नहीं रहता। है ? आहा...हा...! उसके गुण में उसका गुण ऐसा है, गुण, गुण - ज्ञानगुण। ज्ञानगुण, उसका गुण ऐसा, अर्थात् स्वभाव है, बस ! जानना। ऐसा आत्मा मात्र स्व-पर को जानने का केवल अकेला चैतन्यसूर्य (है।) समझ में आया ? उसकी पर्याय मति(ज्ञान की) होवे तो भी जानना, उसमें भी व्यवस्थित जानता है। कम-ज्यादा का प्रश्न नहीं है। श्रुत(ज्ञान) भी ऐसा ही जानता है, क्योंकि उसके गुण में स्व-पर को व्यवस्थित जानने की सामर्थ्य स्वभाव है। इसलिए उसकी पर्याय में भी स्व-पर को जानने की पर्याय को व्यवस्थित जानता है। समझ में आया ? और उसमें से केवलज्ञान पर्याय तो फिर सादि-अनन्त रही। भाई !

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय - यह तो बहुत ही अल्प पर्याय है। अल्प अर्थात् बहुत थोड़े काल रहनेवाली है। है ? और केवलज्ञान पर्याय तो इससे अनन्तगुनी रहने वाली है, भाई ! ध्यान रखना ! केवलज्ञान पर्याय तो अनन्त... अनन्त... अनन्तगुनी है। जो पर्याय चार ज्ञान की हुई, इतने काल में जो काल गया, उससे अनन्तगुना काल केवलज्ञानपर्याय ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। अब, उस कैवल्य की परिपूर्णता में अपना और पर का स्व-पर व्यवस्थित जानना ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए पूरे गुण का ही ऐसा स्वभाव है। भाई ! विवाद-तकरार, चर्चा, वाद-विवाद से पार पड़े ऐसा नहीं है; वस्तु का स्वभाव समझे तो पार पड़े -ऐसा है। इसमें समझ में आता है ?

यह भगवान आत्मा, ऐसा जिसका ज्ञान है, उसे सुशास्त्र का ज्ञान कहा जाता है। इससे विरुद्ध है, उसे सामने सच्चे शास्त्र हो तो भी उसे कुशास्त्र का ज्ञान है - ऐसा कहा जाता है। यह 'कुमति' आया न ? (इसमें से) ज़रा अधिक विचार उठा। मैंने कहा - यह अद्‌भुत, भाई ! कुमति से रचित शास्त्र... परन्तु सुमति से रचे गये शास्त्र हों परन्तु जिसकी मति में स्वयं को कुमतिपना है... समझ में आया ? ... तो उसका शास्त्र अभ्यास होकर उसे कुसूत्ररूप परिणमित हुआ है। शास्त्र क्या करे ? वह तो परवस्तु है। सर्वज्ञ भी क्या करें ? सर्वज्ञ सामनेवाले के जानने की अपेक्षा से तो परवस्तु है। दिव्यध्वनि क्या करे ? समझ में आया कुछ ?

भगवान आत्मा ऐसा सादि-अनन्त केवलज्ञान पर्याय, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण। जिसके गुण के पट (क्षेत्र) में एक समय में वर्तमान सब पड़ा है ऐसा। ऐसे गुण को तो स्व-पर व्यवस्थित जानना - ऐसी जिसकी सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त विपरीत प्रकार से माने तो न तो उसने आत्मद्रव्य को मना, न उसने दूसरे द्रव्य और गुण की पर्याय जैसा है, वैसा माना। समझ में आया ? आहा...हा...! लो ! इतना आया ? उस ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है - ऐसा यहाँ कहना है। उसका परिणमन का स्वभाव ज्ञान का ऐसा (है कि) सबको जानना। वे भी सामने व्यवस्थित होते हैं, तब यहाँ ज्ञान एक समय में जानता है। आहा...हा...! छहो द्रव्यों का व्यवस्थितपना, उनके गुणों का व्यवस्थिपना, उनकी पर्याय का व्यवस्थितपना। पर्याय का व्यवस्थितपना तो उसके गुण की शक्ति में भी व्यवस्थितपने परिणमना, वही उसका स्वभाव है। आहा...हा...! इसमें कुछ समझ में आता है ?

इसमें धर्म क्या आया ? ऐसा लोगों को (लगता है।) हैं ? भाई ! आत्माज्ञान का पिण्ड, इस प्रकार सर्वज्ञ पर्याय की पूर्णता की अनन्त पर्याय की सामर्थ्यवाला ऐसा जो ज्ञान गुण, उस गुण का धारक आत्मा, वह ज्ञान और ज्ञान, वह आत्मा। बस ! उसे तो इस प्रकार स्व-पर व्यवस्थित है, उसे जानना। अर्थात् इसमें व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है - यह बात भी इसमें आ जाती है। है ? भाई ! १२वीं गाथा का जो सिद्धान्त है...ओ..हो..हो...! 'रचना जिन उपदेश की, सर्वोत्कृष्ट तीन काल, इनमें सब मत रहते हैं, तरते जीव सम्हार' - शास्त्र की किसी अपेक्षा से बात लो, उस अपेक्षा से वह सब बात यथार्थ खड़ी होती है। समझ में आया ?

'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव'ने १२वी गाथा में यह वस्तु-व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसमें ही विवाद उठे। वह विवाद '**अपरमें ट्ठिदा भावे।**' अर्थात् कि जो परम में नहीं, उसे व्यवहार करने को कहा -ऐसा है ही नहीं, भाई ! आहा...हा...! जो पूर्णदशा, कैवल्य आदि दशा में स्थित नहीं है, उसे अपूर्णदशा में ज्ञान में वह राग बाकी (रहा है), उसे जानने की ज्ञान की दशा ही ऐसी रहती है। अपनी व्यवस्थित (पर्याय को जानने का) और राग भी व्यवस्थित (होता है) उसे जानना का इतना भाग रह जाता है। इस रूप से (अर्थात्) स्वद्रव्य के पर्याय के रागरूप से केवली को वह नहीं रहता। समझ में आया कुछ ? इससे वहाँ भूतार्थ स्वभाव भगवान आत्मा, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में जो अपूर्णता और रागादि है, उसे जानने का नाम व्यवहार कहा है। उसे व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार जानना। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज ही उसमें खड़ी नहीं होती। समझ में आया ?

एक समय में भूतार्थ भगवान आत्मा ऐसे गुणवाला तत्त्व एकरूप से (बिराजमान है), उसकी दृष्टि होने पर अन्दर उस दृष्टिवाला ज्ञान (होता है), उसे अपूर्णता और न्यूनता है, उस कारण उसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है। केवली को वह नहीं है। उन्हें एकसाथ लोकालोक सब निमित्त है। बस ! इतनी बात है, दूसरा कुछ है नहीं।

अब, यहा पर '**गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण**' (कहते हैं।) इससे उल्टा। दोनों है इसमें। समझ में आया ?

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

'**(एकान्तवाद) अकान्तरूप कथन से दूषित-मिथ्या...**' अर्थात् ? '**वस्तु अनेक धर्तात्मक है...**' नीचे इसका (स्पष्टीकरण) है। '**उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या)...**' आत्मा आदि प्रत्येक वस्तु अनित्य भी है, नित्य भी है ! वस्तु स्वरूप से एक है, गुण-पर्यायों से अनेक है - इस प्रकार वस्तु को न मानकर उसका एक ही पक्ष मानना, तो वस्तु की सर्वांगता उसकी दृष्टि में नहीं रहती और सर्वांग माने

बिना, असर्वांग को सर्वांग माने, उसे अनेकान्त न मानकर उसने एकान्त माना है।

वस्तु के सर्वांग जितने हैं, अंग, जितने नीचे-नीचे के पर्याय के प्रकार है, समझ में आया ? गुण, पर्याय के, पूर्ण गुणपर्याय एक समय के, वे सब नित्य-अनित्य हैं। इस प्रकार उसका सर्वांगपना न मानकर, उसका एक ही अंगपना माने, (अर्थात्) नित्य ही है, तो पर्याय रह जाती है। अनित्य है (- ऐसा एकान्त माने) तो गुण-द्रव्य रह जाता है। समझ में आया ? वस्तु का सर्वांगपना मानने का नाम अनेकान्त है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। वस्तु का एकांग मानना, एक पहलू ही मानना, पर्याय ही मानना और गुण - ही मानना; गुण ही मानना और पर्याय नहीं मानना... समझ में आया ? उसे एकान्तवाद - एक पक्षीय मिथ्याज्ञान कहते हैं। यह सूक्ष्म बात है।

एकान्त कथन से दूषित अथवा विषयादि पोषक अर्थात् क्या कहा ? जो पाँच इन्द्रिय के विषय। परसन्मुखता का भाव, वह परसन्मुख जाता है। समझ में आया ? ऐसे विषयों के पोषक.. स्वविषय जो आत्मा है, उसका अनादर करके पर तरफ के अकेले विषय के भाव, उनका पोषण करनेवाले एकान्तिक कुशास्त्र कहलाते हैं। समझ में आया कुछ ? '**पाँच इन्द्रियों के विषय...**' बाह्य के। उनके लक्ष्य से आत्मा को लाभ माननेवाले, (उसे) यह स्वविषय पूरा आत्मा उसमें रह जाता है। समझ में आया ? (ऐसी पुष्टि) करनेवाले, कुमतिन रचित, कपिल इत्यादि द्वारा बनाये हुए अथवा कुमतियों द्वारा बनाये हुए। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप है, वैसा जाने बिना अपनी कल्पना की तर्ककोटी से, तर्कों के समूह से रचित शास्त्र... समझ में आया ? वे मिथ्या अप्रशस्त है। जिसमें सत्य सिद्धान्त का विरोध आता है। समझ में आया ? उन समस्त शास्त्रों का अभ्यास करना... यह धर्मबुद्धि से अभ्यास करना, उनमें से ज्ञान मिलेगा, उसमें भी सम्यग्ज्ञान के वे शास्त्र हैं - ऐसा जानकर अभ्यास

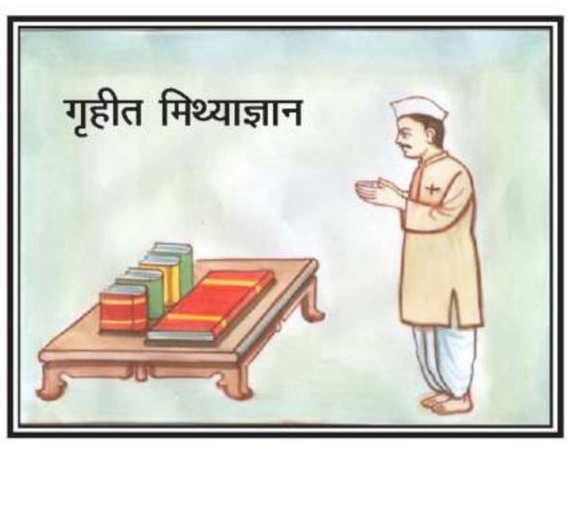

करना। इस प्रकार करता है तो वह तो कुशास्त्र रुचते हैं - ऐसा होता है... समझ में आया ? उन्हें शास्त्र जानकर अभ्यास करना, पढ़ना, दूसरों से पढ़वाना, दूसरों को पढ़ाना, दूसरों से सुनना... अद्भुत बात, भाई !

वे कुशास्त्र, जिनमें एकान्तपना है, जिनमें अनेकान्त वस्तुसिद्ध नहीं होती, उन्हें सुनाना, ऐसे कुशास्त्रों को जगत को सुनाना, वह सब मिथ्याज्ञान का पोषण है। समझ में आया ? वह 'कुबोध' अर्थात् मिथ्याज्ञान है। देखो ! वह बहुत दुःख देनेवाला है। वह त्रासदायक है। '**कुबोध बहु देन त्रास।**' आहा...हा...! समझ में आया ?

इसमें एक यह अर्थ किया है, भाई ! जरा-सा दूसरा है। इसमें तो ऐसा अर्थ किया है, यह तीसरा पूरा होने के बाद, हाँ ! इसमें, कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के रहेत हुए... यह तो अपना नहीं परन्तु पहले के आधार का है, वह जरा इसमें डाला है। परन्तु एक है। जो ऐसे कुशास्त्र का ज्ञान और मिथ्यादर्शन, इनके विद्यमान रहते हुए मनुष्य, चारित्र के नाम पर जो कुछ भी धारण करता है.., चारित्र के नाम से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान है ऐसे उनके ऊपर, चारित्र के नाम पर व्रतादि (पालन करे), - व्रत, नियम, उपवासादि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है। समझ में आया ? ऐसा जो ज्ञान है, वह इस तेरह गाथा में चलता है, वह। इससे पहले मिथ्यादर्शन (का वर्णन) चला। ऐसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसहितवाला जीव, कोई चारित्र धारण करे, अर्थात् व्रत, नियम, उपवासादि धारण करे, वे सब कुचारित्र है। कहो, यहाँ 'सोनगढ़वालो' ने कहा है - ऐसा नहीं। यहाँ तो पहले उसमें छपा है। अरे..! भगवान ! क्या कहता है ?

देखो ! इसमें यह है। इसमें यह लिखा है। समझ में आया ? तथा जिसे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानसहित...। मिथ्या अगृहीत हो या गृहीत हो, उसकेसहित जिसने चारित्र धारण किया है, वह चारित्र कैसा ? कि, व्रत और उपवासादि क्रिया। व्रत, नियम, उपवास, रात्रिभोजन त्याग, सामायिक इत्यादि - वह गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है, उसे तो गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। अब (कहते हैं), फिर जो क्रिया केवल शरीर को दुःख पहुँचानेवाली है... उसकी क्रिया का क्या कहना ? ऐसा। यह पंचाग्नि और (यह सब)। यह तो ऐसी मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान सहित के जैन के नाम धरानेवाले व्रत, तप, उपवास आदि करे तो भी कुचारित्र है, मिथ्याचारित्र है,

गृहीतमिथ्याचारित्र (है), ऐसा।

क्रियाएँ शरीर को दुःख पहुँचानेवाली... आगे आयेगा... मान, प्रतिष्ठा, यश, कामना और पैसे के लाभादि इच्छा से की जाती है; त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करनेवाली है, उनमें तो आत्महित की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इस कारण से आचार्योंने ऐसी क्रियाओं को मिथ्याचारित्र कहा है। कुछ समझ में आया ? और पंचाग्नि तपने में अगणित त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। जटाजुत... जटा रखते हैं न ? जूँ इत्यादि उत्पत होती हैं। शरीर को राख लगाते हैं, तिलक मुद्रा आदि करने से मान-प्रतिष्ठा आदि की भावना स्पष्ट दृष्टि (गोचर) होती है। अनेक प्रकार के आसन लगाने से शरीर को खेदमात्र ही होता है तो आत्मलाभ प्रतीत नहीं होता। (ये) सभी (कार्य) आत्मज्ञ पुरुषों ने मिथ्याचारित्र कहा है। जैन नाम धरानेवाले भी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित जो व्रत धारण करते है, वह भी कुचारित्र है और अन्यमती की ऐसी क्रियाएँ खेदखिन्न होकर करना, वह भी मिथ्याचारित्र है। स्व-पर का विवेक नहीं होता।

यह मार्ग तो अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न विवेक है। इसमें दूसरी कोई क्रिया, राग की क्रिया-फ्रिया उसके स्वरूप में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा ज्ञान और दर्शन (हुए बिना) आत्मा का भान नहीं होता; और जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान रखकर चारित्र के नाम से कोई व्रतादि धारण करता है तो वह सब मिथ्या गृहीत चारित्र है गृहीत मिथ्याचारित्र है, भाई!

'**भावार्थ : (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए...**' कुमतिवालो के रचे हुए शास्त्र। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी, उनके द्वारा कथित और तदनुसार आचार्यों द्वारा रचे हुए (शास्त्रों) के अतिरिक्त कुमतियों द्वारा रचित... आ..हा..! '**सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से...**' है ? ऐसा है न ? ऐसे तो सब पढ़ें, चाहे जो पढ़े नहीं। यह शास्त्र है, इसमें से कुछ तत्त्व निकलेगा - ऐसी बुद्धि से '**लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।**' समझ में आया ?

'**(२) जे शास्त्र जगत में सर्वथा नित्य...**' अर्थात् गुण ही माने और पर्याय न माने; एक ही माने, किन्तु अनेकपना न माने, अद्वैत माने, '**और सर्व व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है...**' ऐसा माने। '**अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवाद से दूषित होने के कारण कुशास्त्र हैं।**' एक ही आत्मा है, दूसरा कुछ नहीं, सर्वव्यापक सभी आत्मा एक ही जाति है। एक जाति अर्थात् संख्यारूप से एक (है) - ऐसा माननेवाले, उनके द्वारा रचे गये शास्त्र, सब कुशास्त्र है। उनका अभ्यास भी कुशास्त्र है। समझ में आया ? आहा...हा...!

'**(३) वस्तु को सर्वथा क्षणिक-अनित्य...**' बौद्ध मानते है न ? यह सामने लिया, उसके सामने। '**अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भिन्न...**' माने। गुणी भगवान (आत्मा) और ज्ञान अत्यन्त भिन्न। भिन्न रहा तो गुणी कहना किस प्रकार ? ऐसे सर्वथा गुणी भगवान और उसका ज्ञानगुण, वह संयोग से कितने ही मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञान अधिक प्रगट होता है न ? अधिक प्रगट कहाँ से हुआ ? कहाँ था ? - ऐसा कहते हैं। अतः बाहर से आया, परन्तु अन्दर शक्तिरूप से था और एकाग्र होने पर अन्दर से आया, वह गुण-गुणी एक थे तो आया - ऐसा उन्हें ख्याल में नहीं आया। समझ में आया ? पर्याय में अधिक (ज्ञान) होता है। अधिक हुआ कहाँ से ? (तो कहें) बाहर से आया है। अर्थात् गुण-गुणी की अभेदता का स्वीकार नहीं है। भगवान गुणी आत्मा, उसकी शक्ति का सत्व पूर्ण गुण उसकी एकाग्रता से पर्याय में दशा आती है। ऐसा अभेद न मानकर एकान्त गुण-गुणी का भेद ही मानना, (वह मिथ्याज्ञान है।)

'**किसी गुण के संयोग से वस्तु है - ऐसा कथन करें...**' किसी गुण के संयोग से वस्तु, ऐसा। यह कहा न ? ज्ञान का संयोग, दर्शन का संयोग बाहर से (होता है।) '**अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता...**' माने। ऐसे शास्त्र सब कुशास्त्र हैं... '**और नियंता है - ऐसा वर्णन करे...**' समस्त वस्तुओं को नियन्त्रित रखनेवाला एक भगवान है। समझ में आया ? वस्तु ही व्यवस्थित/ नियन्त्रित है, उसे कोई नियंता, कर्ता माने - ऐसे जो शास्त्र हों, वे सब कुशास्त्र है। उनका बहुत अभ्यास करना, पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब मिथ्याज्ञान है।

मुमुक्षु :- छापना ?

उत्तर :- यह सब उसमें अनुमोदन आवे न इस अपेक्षा से। उसे छापना (होवे तो) ? उसे छापने का आया, उसने किया न सब ! ऐसी पुस्तके बहुत छपाई है। वह लौकिक बात है। वह एक व्यापार की (बात है।)

तथा.. देखो ! इसमें जरा बात की है न ? कुमति रचित श्रुत का अभ्यास। है न उसमें कपिलादि ? उसमें सब आते हैं। जिस शास्त्र में मात्र पर की दया से संसार का नाश होता है - ऐसा बताया हो, वह शास्त्र भी कुशास्त्र है। तब उसमें से तर्क करे कि उसमें दया को धर्म बताया है न ? यह दयाधर्म व्यवहारधर्म बताया है। समझ में आया ?

सर्वज्ञ के शास्त्र में पर की दया का शुभभाव... निश्चय अपना स्वभाव, अरागी की दशा - श्रद्धा प्रगटी है, तब उस शुभभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है। व्यवहार धर्म से संसार का नाश नहीं होता। समझ में आया ? परमार्थ धर्म से संसार का नाश होता है, क्योंकि संसार, वह विकार है, राग, उदयभाव है। यह स्वभाव चिदानन्द है, उसके आश्रय से ही संसार का अभाव होता है - ऐसा न बताकर, मात्र परद्रव्य की दया के भाव से संसार का अभाव होना बतावे, वह कुशास्त्र है। आता है न ? 'मेघकुमार' के अधिकार में आता है। श्वेताम्बर में 'ज्ञातासूत्र' है न ? उसमें आता है। हाथी के जीव ने जीव की दया पालन की। हाथी था, हाथी। वर्णन सुना है न ? एक 'मेघकुमार' का जीव था। वह पूर्वभव में हाथी था। भगवान के समय में राजकुमार (था।) वह हाथी के भव में वन में हाथी स्वयं रहता। अग्नि लगी, अग्नि। बड़ी आग लगी, इसलिए एक जगह सब जानवर एक जगह इकट्ठे होने लगे। चारों और अग्नि लगी। उसमें वे सब इकट्ठे होते-होतें भींड़ हो गयी। एक खरगौश ऊपर आया। ऊपर धक्का-मुक्की होती थी, उसमें कहीं जगह नहीं मिले। उसमें इसका (हाथी का) जो पैर था, और उस हाथी को खुजली हुई। बीचोंबीच एक योजन का मंडप था। एक योजन का मंडप समझते हो ? मंडप ! ये सब वृक्ष-वृक्ष साफ करके यह मंडप हाथियों ने बनाया था। उसमें सब इकट्ठे हुए। उसमें एक खरगौश आया। अब (उसे) कहीं जगह नहीं मिले। इधर से उधर धक्के खाये, चारों ओर से धक्का-मुक्की। इतने में हाथी ने खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया, वह जगह मिली तो (खरगौश) बैठ गया। उस हाथीने पैर रखते हुए ऐसी ज़रा नजर की। न की होती तब तो सब (पूरा हो गया होता।) क्योंकि वे अधिक पशु थे न ? इसलिए

नीचे ऐसे देखने पर खरगौश दिखा। (हाथी ने) पैर ऐसा का ऐसा अद्धर रखा। और उसमें 'परानुकम्पे जीवाणु' ऐसा पाठ है। इस प्राणी-जीव की अनुकम्पा से संसार घटा दिया, परित किया, घटाया ऐसा है। भाई ! सुना है न ? सुना है। यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया ?

परजीव की दया के भाव से संसार का नाश होता है - (ऐसा कहे), वे शास्त्र सच्चे नहीं है - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने का इसमें आशय है। तब उसने दूसरा लिया। लो ! उस शास्त्र में ऐसा कहा है... परन्तु भाई ! दिगम्बर सत् शास्त्र हैं, उनमें जितनी परदया का भाव है, उससे उसे पुण्यबन्ध का कारण कहा है और परम्परा मोक्ष का कारण कहा है - उसका अर्थ कि उसे छोड़कर स्थिर होगा। वह राग स्वयं तो बन्ध का ही कारण है। आहा...हा...! अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा, जिसमें भव और भव का भाव नहीं है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय से ही भव का अभाव होता है, बाकी तीन काल में दूसरे के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान आत्मा एक समय में ज्ञान और आनन्द का पूर प्रभु आत्मा है। उसके प्रवाह में तो भव के अभाव का ही प्रवाह होता है। उसमें भव है ही नहीं। भव का राग भी वस्तु में नहीं है। ऐसी वस्तु भगवान आत्मा का आश्रय करने पर ही भव का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त यह राग, पुण्य और यह दया पालन की, इसलिए भव का नाश हो गया - यह शास्त्र के कथन सत्य नहीं है। समझ में आया ?

दान। दान में यह अधिकार आता है। श्वेताम्बर में 'विपाक अधिकार' है, विपाक सूत्र। दस दुःख विपाक, दस सुख विपाक। वे दश सुख विपाक ऐसे हैं कि मुनि तो सच्चे लिये हैं। लेनेवाले, समझे न ? बाकी तो पात्र सहित लिये हैं, परन्तु मुनि सच्चे लिये हैं और देनेवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। महा धनाढ्य है। ऐसे सिंहासन पर बैठा है, उसमें मुनि पधारते हैं। नीचे उतर कर पैर छूता है, बहुत आदर करता है। आदर करके आहार-पानी देता है। इससे उसके संसार का नाश हुआ- ऐसा बताते हैं। यह बात सत्य नहीं है। कुछ समझ में आया ? दशविपाक अधिकार है। सुख विपाक का पूरा विपाकसूत्र है। उसमें दशों ही बोल मिथ्यादृष्टि से मुनियों को आहार दिया (और अपना) संसार नष्ट किया - ऐसा पाठ है। वह तत्त्व की बात ही नहीं है। वे सत्य तत्त्व से विरुद्ध शास्त्र हैं। कुछ समझ में आया ? भाई !

यह बात उसमें कही थी, फिर उसे वे ले गये, देखो ! ऐसा उपदेश किया है। यह सबको कुशास्त्र कहते हैं। अपने में भी ऐसा आता है भाई ! ऐसा नहीं, भाई ! ऐसा नहीं आता, बापा ! तुझे पता नहीं भाई ! सर्व-सन्तों के कहे हुए, महामुनियों के कहे हुए - आता है न ? 'पंचास्तिकाय' में पहली गाथा में ऐसा आता है। महाश्रमण कथित या फिर उनके अनुसार महासंतो से कथित, दिगम्बर सन्त - 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'पूज्यपादस्वामी', 'समन्तभद्राचार्य', 'नेमिचंद्राचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' इत्यादि महासन्तो द्वारा कहे गये। उनमें जगह-जगह स्वद्रव्य के आश्रय बिना पर से मोक्ष का धर्म का लाभ होता है - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? और उस शास्त्र को जो कहना है, वह समझता नहीं तो उसे स्वयं को शास्त्र का अर्थ करनेवाले को कुशास्त्र हो पड़ा है। समझ में आया ? आहा...हा...! विवाद तो विवाद...!

कहते हैं कि ऐसा जो पर को दान (दे), उसमें शुभभाव होता है। शुभभाव होता है, क्योंकि पराश्रित व्यवहार, स्वआश्रति निश्चय। अतः जितना पराश्रितभाव होता है - साक्षात् तीर्थंकर हो, उन्हें आहार देने का भाव भी शुभ है, परन्तु वह जीव समकिती और ऐसा ही होता है, इस कारण मुक्ति का पात्र होता है। समझ में आया ? मुनि या तीर्थंकर छद्मस्थ हो और कोई दूसरा उन्हें आहार देने का भाव करे, इतने भावमात्र से भव का अभाव (होवे तो) यह राग से भव का अभाव (हुआ) - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? इस राग के कारण से, दान से भव का अभाव माने तो वह शास्त्र ही सत्य नहीं है। सत्य शास्त्र तो उसे कहते हैं कि जो वस्तु स्वभाव, एक समय के विकल्प बिना की चीज, ऐसी चीज की दृष्टि-ज्ञान और उसका आश्रय करने से ही भव का अभाव होता है - यह कथन अनादि-अनन्त सत्य सर्वज्ञ के घर का है। यह कथन-शास्त्र है, इससे विरुद्ध कथन सम्यक् शास्त्रो में होता ही नहीं। सम्यक् शास्त्र में विरुद्ध होता ही नहीं। समझ में आया ?

मिथ्याशास्त्र में तो ऐसी खुल्ली बातें होती है कि इस प्रकार देखो, ऐसा दिया और परित संसार किया। समझ में आया ? परन्तु किसे यह विचार मंथन करना है ? सत्य क्या है ? जहाँ पड़े वहाँ पड़े और उस में (रह गये), हो गया। समझ में आया ? ऐसा दान (दे), पर को अभयदान दे तो भी क्या ? शुभभाव है। अब, यह कहते हैं कि देखो ! 'पद्मानन्दि पंचविंशति' में अभयदान में भव का अभाव कहा है। ऐसे लेख आते है, लो ! परन्तु वह तो दूसरी बात है। समझ में आया ?

स्व-आश्रित निश्चय अर्थात् सत् पराश्रित व्यवहार अर्थात् उपचार। यह सिद्धान्त समझे बिना, दूसरे प्रकार से कथन किया हो, और उसे माने तो वह सब कुशास्त्र का ज्ञान है। समझ में आया ?

'**महाव्रतादि का शुभभाव...**' लो ! महाव्रत है, वह भी शुभभाव-पुण्य है। अणुव्रत और महाव्रत, वह आस्रव है। 'तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र' में 'उमास्वामी' ने कहा है। 'तत्त्वार्थसार' में 'अमृतचंद्राचार्य' ने (भी) ऐसा ही कहा है कि अब, हम पुण्य की बात करेंगे कि जो निमित्तरूप से, सहायरूप से व्रत होते हैं। पाप की नहीं, परन्तु यह पुण्यभाव-पुण्यास्रव है। अहिंसां, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह - पाँछ भाव महाव्रत हैं... समझ में आया ? वह शुभभाव है।

जो शास्त्र का स्वाध्याय पर तरफ के लक्ष्यवाला भी शुभभाव है, उससे निर्जरा और संवर कभी सत्शास्त्र में कहा ही नहीं गया होता है। समझ में आया ? उसका तो आधार देते हैं। 'घवल' में कहा है। अरे...! भगवान ! बापू ! ऐसा नहीं, भाई ! 'जयधवल' की तो दृष्टान्त देते हैं। शुभ-उपयोग और शुद्ध उपयोग दो सें निर्जरा है। इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। उसका अर्थ यह है, शुद्ध उपयोग से पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा होती है, शुभ से जरा अशुभ की निर्जरा होती है - ऐसा गिनकर निमित्त कहा है। वस्तु शुद्धता के आश्रय बिना पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा नहीं होती और उसका नाम ही वास्तविक निर्जरा हैं।

निर्जरा की व्याख्या - शक्ति की शुद्धता की वृद्धि। शुद्धता की वृद्धि क्या शुभभाव के आश्रय से होगी ? समझ में आया ? इसलिए सम्यक्शास्त्रों में 'धवल' आदि, 'जयधवल' आदि ने तो यथार्थरूप से जो कहा है, वह कहा है। उसका अर्थ करनेवाले को भूल होती है। समझ में आया ? और यह तो जिनके शास्त्रों में स्पष्ट बात लिखी हो, पाँच महाव्रत निर्जरा के स्थान हैं। 'ठाणांग' में ऐसा कथन है। समझ में आया ? पाँच महाव्रत, स्वयं अहिंसा आदि निर्जरा के स्थान है - यह बात ही झूठ है। पराश्रय से जितना विकल्प उत्पन्न हो, वह निर्जरा और संवर बिलकुल होता ही नहीं। वहाँ 'द्रव्य संग्रह' में कहा हो कि व्यवहार से अशुभ की निवृत्ति। यह तो व्यवहार का कथन है। अशुभ से निवृत्ति हुई है, उसे व्यवहार संवर कहा है, परन्तु दृष्टि सम्यक् है, शुभाशुभ दोनो ही विकल्प, वह आस्रव है। उन में से जितना दृष्टिपूर्वक अशुभ से निवृत्त हुआ, उसे व्यवहार संवर कहा है। दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। समझ में आया कुछ ?

ऐसा जिनके शास्त्रोंमें स्पष्ट है कि यह महाव्रतादि पुण्यास्त्रव उनसे '**तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से...**' पहले अभयदान आया था और यह पात्रदान। (इससे) संसार कम या न्यून होता है (-ऐसा जिस शास्त्र में कहा हो, वह कुशास्त्र है।) समझ में आया? आत्मा... यहाँ तो क्या कहते हैं? कि कुमति आदि द्वारा रचित श्रुत का अभ्यास अथवा कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास, उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इसलिए जो शास्त्र आत्मा के चैतन्य के शुद्धभाव के अन्तर अवलम्बन के अतिरिक्त, जितने पुण्य के विकल्प उठते हैं, उनके द्वारा संसार का नाश होना बतलाते हैं, वे सब शास्त्र कुमति के द्वारा रचित कुशास्त्र हैं। समझ में आया?

यह 'छहढाला' चलती है। कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास... तेरहवां है, तेरहवां। उसमें दो अर्थ है - कुमति आदि रचित श्रुत को अभ्यास। किसी जगह कपिलादि लिखा है, किसी जगह कुमतिने लिखा है। कुमति से लिखे हुए अर्थात् जिसमें सम्यग्ज्ञान चैतन्यमूर्ति भगवान, उसके आश्रय से दृष्टि, उसके आश्रय से ज्ञान और उसके आश्रय से चारित्र (होता है।) इसके अतिरिक्त पराश्रित ज्ञान, पराश्रय से राग, व्रतादि और पराश्रय की श्रद्धा इनसे जन्म-मरण का अन्त आवे - ऐसी बात कही होवे तो वह सुशास्त्र नहीं है। समझ में आया कुछ? आहा...हा...! बहुत बात हुई।

'**उपदेश देन के शुभभाव से परमार्थ धर्म होता है - इत्यादि अन्यधर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन है...**' वह कौन कहता है? वर्तमान में वह ऐसा एक पन्थ है। उपदेश करेंगे तो अपने को धर्म होगा। उपदेश करना, वह धर्म। उपदेश - वाणी तो जड़ है। समझ में आया? वह तेरापन्थ में ऐसा है। स्थानवासी का एक तैरापन्थ भाग है न? तुलसी! उन लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि उपदेश से निर्जरा होती है और धर्म होता है। इसी तरह, दूसरा कोई जीव उसे मारता हो तो बचाना - ऐसा वे नहीं कहते, परन्तु उसे उपदेश देना। भाई! किसी जीव को मारना ठीक नहीं है - इत्यादि। इस उपदेश से उपदेश देनेवालो का धर्म होता है। झूठ बात (है।) उपदेश, वह वाणी की क्रिया है, उससे आत्मा को धर्म बिलकुल नहीं होता। उपदेश देने के काल में जो विकल्प उठता है, वह भी पुण्यबन्ध है, उससे भी स्व को- आत्मा को धर्म नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया? परन्तु जो कोई ऐसा मानता है या शास्त्र में, शास्त्र के बहाने मनवाता है कि उपदेश से दूसरे जीवों को बहुत लाभ होता है, आत्मा को धर्म का लाभ होता है - यह

बिलकुल झूठ बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- किसे हो ? वह तो उसकी स्वयं की पर्याय के कारण होता है। यह भगवान का मार्ग अलग प्रकार का है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का पेट है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

वाणी नीकलती है, वह तो स्वतन्त्र जड़ है। आत्मा उसका कर्ता है ? और वाणी निकली, इसलिए सामनेवाले को ज्ञान हुआ - ऐसा है ? वह तो आत्मा ज्ञानमूर्ति (है।) उसे उस समय के ज्ञानपर्याय होती है, तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी से ज्ञान होता हो, तब तो सबको समान होना चाहिए। समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि सुननेवाले बहुत होते हैं - सबको समान ज्ञान होता है ? क्यों ? वाणी तो एक प्रकार की निकलती है। गणधर को चौदह पूर्व का द्वादश अंग का ज्ञान होता है। दूसरे को किंचित् हो जाए लो ! समझ में आया ? यह क्या कहलाता है ?

यह 'प्रद्युमन', 'रुकमणी' का पुत्र, वह जब खो गया, नारद भगवान से पूछने गये थे। 'सीमन्धर' भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में अभी बिराजमान हैं, अभी तीर्थंकर परमेश्वर विराजमान है। कौन ? सीमन्धर प्रभु अभी बिराजते हैं ये चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे, उन्हें देह नहीं है, वे तो सिद्ध है, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में अभी 'सीमन्धर' भगवान आदि बीस तीर्थंकर शरीरपने विद्यमान है। वहाँ इन्द्र वाणी सुनते जाते हैं। यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते ? किसे पता है, कहाँ लेते होंगे ? भगवान महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। वह वाणी निकलती है, उसे इन्द्र सुनने जाते हैं। समझ में आया ? तो भी सभी सुननेवालों को एक सरीखा ज्ञान नहीं होता। क्यों ? कि वाणी से होता होवे तो सबको समान होना चाहिए। उसकी स्वयं की जितनी योग्यता, जितनी लायकात है, उतना ज्ञान उसे होता है, तब उतने प्रमाण में वाणी को निमित्त कहा जाता है। हैं ? आहा...हा...!

वीतराग परमेश्वर की ध्वनि निकलती है। ॐ ध्वनि ! बारह प्रकार की सभा है। नाग, बाघ, करोड़ देव सभा में बिराजते हैं। भगवान 'महावीर प्रभु' थे, तब भी सभा में करोड़ो देव-देवियां आते थे, सुनते थे। उन सबको समान (ज्ञान) नहीं होता था। तब उस वाणी के कारण से ज्ञान नहीं,

उसकी अपनी योग्यता के कारण से (ज्ञान होता है)। वाणी तो एक धारा से निकलती है, एक साथ पूर्ण ! जिसे बारह अंग का ज्ञान हुआ, उसे वह बारह अंग के ज्ञान में निमित् कहलाई। वह क्या कहलाता है, यह कहा वह ? 'प्रद्युमन' 'नारद' पूछने गये तो 'नारद' को ऐसा लगा कि भगवान मुझे ऐसा कहते हैं। भगवान उसे ऐसा कहते हैं कि 'रूकमणी' का पुत्र उसके घर सोलह वर्ष में आयेगा... भगवान की वाणी में कहा (वह) अलग नहीं आता, भगवान की वाणी तो एक साथ ॐ ध्वनि इच्छा के बिना खिरती है; वे तो वीतराग हैं। केवली हैं, उन्हें राग नहीं होता। 'नारद' को ऐसा लगा कि 'रुकमणी' का पुत्र सोलह वर्ष में आयेगा ऐसा भगवान कहते हैं। उसे उस प्रकार का उघाड़ में (वाणी) उतनी निमित्त हुई। समझ में आया ?

वाणी, निमित्त कब कहलाती है ? कि जिसे जितनी योग्यता प्रकट हुई, उतने ज्ञान को वह निमित्त कहलाती है। वह तो पूरा प्रकट; गणधर को बारह अंग का ज्ञान प्रकट हुआ तो बारह अंग में निमित्त कहलाई। उसे इतना कहा तो भगवान की वाणी उतने में निमित्त कहलाई। इसमें वस्तु स्वतन्त्र सिद्ध होती है या उसके कारण होता है - यह सिद्ध होता है ? समझ में आया ? इसलिए कोई उपदेश की वाणी से आत्मा को लाभ होता है - ऐसा माने अथवा शास्त्र में इस बहाने मनवावे, वह कुशास्त्र है। समझ में आया ? स्वयं को तो जितना आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में, दृष्टि में लिया है, उसकी जितनी एकाग्रता वर्तती है, वह उसे लाभ का कारण है। विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी आत्मा के धर्म और एकाग्रता का कारण नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह (संवत्) १९८२ के साल में नहीं कहा था ? 'तिरे वह तारे' - ऐसा सूत्र रखा था। तब वह आया (और) कहा, ऐसा नहीं; यह लिखाओ कि 'तारे, वह तिरे।' मैंने कहा - किसे ढूँढने जाना ? १९८२ के साल में 'वढ़वाण' में (एक मुमुक्षु) है; उसने व्याख्यान पर लिखा था। १९८२ के साल, चालीस वर्ष हुए। 'वढ़वाण' में स्थानकवासी के 'सुन्दर वोरा' के उपाश्रय में व्याख्यान चलता था। 'तारे, वह तिरे' - (ऐसा) वह कहने लगा। 'तिरे, वह तारे' - लिखा था। एक वकील था, 'वढ़वाण' में हलवाई था। वह वकील आया-महाराज ! ऐसा नहीं; 'तारे, वह तिरे।' (हमने) कहा - कितनों को ढूँढ़ने जाना ? दूसरा नहीं तिरे तो आत्मा का स्वयं का तरना चला जाता है ? वाणी नहीं हो... समझ में आया ? वकील था, एक वकील था। कुछ तर्क करना चाहिए

न ? तर्क किया। भाई ! यहाँ ऐसा तर्क नहीं चलता, कहा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह तो बिचारा साधारण रीति से बात करता था। ऐसे तो हमारे प्रति प्रेम था न ? सबको प्रेम था न ! किसी को अश्रद्धा नहीं, परन्तु ऐसा कि ऐसा मानो कोई वकील है न (तो) तर्क करना, ऐसा। दूसरा एक भी प्राणी नहीं तरे, आत्मार्थी अपने ज्ञान-ध्यान में रहकर केवल(ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष चला जाए; कहने का विकल्प भी नहो और वाणी भी न हो - इससे कहीं लाभ रुक जाए - ऐसा नहीं है।

यह दूसरे की अपेक्षा से बात की है, हाँ ! तेरापन्थी ऐसा मानते हैं। उपदेश देना धर्म है - ऐसा वे मानते हैं। निर्जरा है - ऐसा मानते हैं। इस अपेक्षा से लिखा है। तब (कहे), हमारे शास्त्रों में से... ऐसा नहीं भाई ! ऐसा कहना, उसके लिए कहा है। व्याख्यान में बहुत बार आया हो न ! उसमें से फिर लिखा गया है। '**जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होने से कुशास्त्र हैं।**' वे सच्चे शास्त्र नहीं कहलाते। '**क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो, वहाँ सातों तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझाना चाहिए।**' एकबार यह बात बहुत अच्छी की। एक तत्त्व की संवर-निर्जरा की भूल होवे, वहाँ आस्रव कितना होता है ? अधिक संवर होवे तो आस्रव थोड़ा होता है -इसका भी जिसे पता नहीं हो, थोड़े संवर से केवल पाते हैं (ऐसा माने तो) केवल का भी उसे मान नहीं है। उसे सातों तत्त्वों का ख्याल नहीं होता। एक तत्त्व की भूल से सातों ही तत्त्वो का ख्याल नहीं - ऐसी ज़रा सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया कुछ ? ऐसे तत्त्वों के कहनेवाले कुशास्त्रों का अभ्यास करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना; पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना यह सब कुशास्त्र, कुज्ञान कहलाता है। कुशास्त्र कैसे हैं ? '**सो हैं कुबोध बहु देन त्रास।**' बहु देन त्रास। बहुत त्रास देने का इस मिथ्याज्ञान का फल है। इसलिए धर्मार्थी जीव को कुशास्त्रो का ज्ञान छोड़कर सुशास्त्रो का अभ्यास करना। यह बात यहाँ कहना चाहते हैं। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ७, गुरुवार
दि. २८-१-१९६६, गाथा १३ से १५ प्रवचन नं.- ११

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला', उसकी दूसरी ढाल। १३वीं गाथा हुई। कुशास्त्र ऐसा आया न अन्तिम ? कुमति अथवा कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास '**सो है कुबोध बहु देन त्रास**' - ऐसाा। कुशास्त्रों का ज्ञान, चार गति के दुःख देनेवाला है। उनमें अनेक प्रकार के तत्त्वों की विरुद्ध बात की होती है और उसे स्वयं माने तो उस कुशास्त्र की श्रद्धा से चार गतियों में भटकना होता है। अन्तिम शब्द कहा... '**जहाँ एक तत्त्व की भूल होती है, वहाँ सातों ही तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझना।**' यह बात बहुत बार आ गयी है। समझ में आया ?

जैसे कि मुनिपना आत्मा को तीन कषाय के अभावरूप संवरदशा हो, वहाँ उन्हें विकल्प बहुत ही मन्द (होता है)। आहार-पानी आदि लेने के विकल्प का आस्रव इतना ही होता है, उन्हें वस्त्र-पात्र आदि लेने का विकल्प नहीं होता। जिन्होंने वस्त्र-पात्रसहित के रागवाला मुनिपना मनाया है, उन्हें नौ तत्त्वों की - सात ही तत्त्वों की भूल हुई; क्योंकि उसके (मुनिदशा के) प्रमाण मे जो उग्र संवर चाहिए, उस संवर का उन्हें भान नहीं रहा और उग्र संवर हो, वहाँ आस्रव उत्पन्न ही मन्द होता हो; वस्त्र-पात्र का विकल्प नहीं होता; निर्दोष आहार - जल ग्रहण करने का, अट्ठाईस मूलगुण पालन का ही विकल्प होता है। अतः उन्हें आस्रवतत्त्व की भूल भी है। संवर-निर्जरातत्त्व की उग्रता हो, वहाँ इतना आस्रव होता है और तीव्र आस्रव होने पर भी, यहाँ संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारणरूप साधुपना मनाया, यह संवर-निर्जरा की भी भूल है और इस मन्द संवर-निर्जरा से मोक्ष मनाया, वह मोक्षतत्त्व की भी भूल है। आत्मा की भी भूल है। आत्मा की शक्तिा की व्यक्तता, छठवें गुणस्थान में बहुत उग्रता चाहिए, उतनी शक्ति की व्यक्तता नहीं

मानी तो उसे जीवतत्त्व की भी भूल है। उस आस्रव में तीव्र बन्ध पड़ा - ऐसा बन्धतत्त्व, उन्हें - (मुनि को) नहीं हो सकता; और अजीव का संयोग, जिसे मुनिपने की उग्र संवरदशा हो, उसे अजीव का संयोग-वस्त्र-पात्र का संयोग नहीं होता। यह अजीवतत्त्व की भूल भी है। सातों ही तत्त्वों की (भूल है)। एक तत्त्व की भूल में सातों ही तत्त्व की भूल है। समझ में आया? यह बहुत बार कहा जा चूका है।

ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर को भी जो नहीं माने और माने तो विपरीतरूप से माने तो एक तत्त्व को भूलने पर समस्त तत्त्वों की भूल होती है। समझ में आया ? सर्वज्ञ को एक समय में दर्शन और दूसरे समय में ज्ञान (होता है) - ऐसा मानने पर खण्ड-खण्ड ज्ञान हो गया। उसे अखण्ड वीतरागदशा में पूर्ण उपयोग का ख्याल नहीं रहा तो उसके कारणरूप उग्र पुरुषार्थ चाहिए, उस पुरुषार्थ से एकरूप उपयोग होना चाहिए, उस काल के पुरुषार्थ का भी ज्ञान नहीं रहा। जिसे ऐसी दशा होवे, उसे आहार-पानी की इच्छा नहीं हो सकती; उसे आहार-पानी का संयोग ही नहीं होता। ऐसी दशा - वीतराग परमानन्द भावमोक्ष हो गया, उसे आहार-पानी की इच्छा नहीं है और इच्छा के बिना वह आहार-पानी का संयोग नहीं होता। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है! इसलिए सच्चे शास्त्र क्या हैं, मिथ्या क्या है - इसकी खोज करनी चाहिए और विचार करके निर्णय करना चाहिए।

गृहीत मिथ्याचारित्र का लक्षण

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।

अन्वयार्थ :- (जो) (जो) (ख्याति) **प्रसिद्धि** (लाभ) **तथा** (पूजादि) **मान्यता और आदर-सन्मान आदिकी** (चाह धरि) **इच्छा करके** (देहदाह) **शरीर को कष्ट देनेवाली** (आतम अनात्म के) **आत्मा और परवस्तुओं के** (ज्ञानहीन) **भेदज्ञान से रहित** (तन) **शरीर को** (छीन) **क्षीण** (करनी) **करनेवाली** (विविध विध) **अनेकप्रकार की** (जे जे करनी) **जो-जो क्रियाएं हैं, वे सब** (मिथ्याचारित्र) **मिथ्याचारित्र हैं।**

भावार्थ :- शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान न होने से जो यश, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार आदि की इच्छा से मानादि कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करनेवाली अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है, उसे 'गृहीत मिथ्याचारित्र' कहते हैं।।१४।।

अब, '**गृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप।**' ऐसी मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानसहित जिसके भले ही राग की मन्दता आदि की क्रिया हो... समझ में आया ? वह शरीर को जीर्ण करनेवाली है, आत्मा की शान्ति प्रगट करनेवाली नहीं, विकार को क्षीण करनेवाली नहीं, परन्तु देह को क्षीण करनेवाली क्रिया - ऐसी कठोर होवे, पंचाग्नि आदि, वह कीलों में सोते है न ? क्या कहलाता है वह ? बाण... बाण। बाणशय्या में सोवे, पंचाग्नि - पाँच-पाँच छाणा अग्नि में पड़े, पानी में यहाँ तक डूबकर ऐसे हाथ ऊँचा करके रहे... है न इसमें। दृष्टान्त है, इसमें। दृष्टान्त इसमें हैं। यह मुल है और इसमें है। इसमें है। है न ? दृष्टान्त है। पानी में है न ? चौदहवीं में दृष्टान्त डाला है, देखो ! पानी में खड़ा... ठण्डा पानी होवे और खड़ा रहे। वह तो देह को कष्ट है, उसमें आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा के भान बिना ऐसी क्रियाएँ करे, वे सब शरीर को कष्ट देनेवाली अथवा शरीर को जीर्ण करनेवाली हैं। आत्मा का विचार जीर्ण हो या नष्ट हो - ऐसा कुछ वहाँ नहीं है। यह ! १४वीं गाथा में कहते हैं, देखो !

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।

देखो ! आत्मा और अनात्म-भाषा रखी है, हाँ ! आत्मा और शरीर - ऐसी नहीं रखी; फिर भले ही अर्थ में शरीर डाले परन्तु सब (लिया है)। आत्मा, शरीर की क्रिया स्वतन्त्र है - उसका भान नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम बन्ध का कारण है, अनात्मा है - उसका पता नहीं है और आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है, उसकी भी जिसे दृष्टि नहीं है। आत्मा और... है न ?

'**जो...**' कोई '**प्रसिद्ध...**' आत्मा का भान नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द में आनन्द है - ऐसी दृष्टि, रुचि, अनुभव नहीं है - ऐसे अज्ञानी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित, गृहीत और अगृहीत दोनो। यहाँ गृहीत की बात है। प्रसिद्धि-अपनी प्रसिद्धि के लिए क्रियाएँ करते हैं,

क्योंकि आत्म प्रसिद्धि का पताा नहीं है। समझ में आया ? आत्मप्रसिद्धि... देखो ! यहाँ प्रसिद्धि शब्द रखा है न ? ख्याति, आत्मख्याति आता है न ? टीका।

आत्म ज्ञायक चिदानन्द अखण्ड आनन्दमय है - ऐसी दृष्टि किये बिना आत्मा की प्रसिद्धि, ख्याति धर्म नहीं हो सकता। समझ में आया ? आत्मा एक समय में अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध है। वह पुण्य-पाप, दया, दान आदि के विकल्प-राग से रहित है। ऐसी आत्मा की प्रतीति और भान बिना उसे आत्मा की प्रसिद्धि की, ख्याति-प्रसिद्धि होती नहीं। हैं ? (जो) आत्मप्रसिद्धि के लिए नहीं करता, वह पर के लिए - बाह्य प्रसिद्धि के लिए करता है। दुनिया में प्रसिद्ध होऊँ, कुछ लाभ मिले, फायदा मिले, शिष्य हों, प्रतिष्ठा हो, कीर्ति हो - ऐसे हेतु से करनी (करता है।) मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यतासहित जो ऐसी क्रियाएँ करते हैं, वे सब बाहर के किसी लाभ के लिए करते हैं, अन्दर के आत्मा के लाभ के लिए नहीं। कहो, ठीक है ? आत्मा जाना नहीं, कि आत्मा कौन है ? आत्मा राग, पुण्य-पाप के राग से रहित है - ऐसी दृष्टि के बिना अज्ञानी को आत्मा का लाभ होता ही नहीं।

अज्ञानी मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान में बाहर के लाभ के लिए सब करता है। पूजा, मान्यता, बाहर मे प्रसिद्धि होना, दूसरे लोग माने अथवा '**आदर इत्यादि की इच्छा करके ((देहदाह) शरीर को पीड़ा करनेवाली...**' भाषा तो ऐसी ही कही जाती है न ! वरना शरीर को पीड़ा कुछ नहीं है, परन्तु शरीर जीर्ण होता है न ? ऐसा। यह पंचाग्नि करे, तप करे, यह महीने-महीने के उपवास करे-देखो न ! भान बिना जैन में भी (करते हैं)। उसे पता नहीं, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कोन ? सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र कौन ? आत्मा और अनात्मा में सब आ गया - आस्रव, बन्ध, अजीव, पुण्य और पाप। वह अनात्मा कौन है, किस प्रकार है और आत्मा क्या है ? - इसके भान बिना अज्ञानी '**शरीर को पीड़ा करनेवाले...**' समझ में आया ?

देखो ! '**आत्मा-अनात्म के ज्ञान हीन...**' सिद्धान्त यहाँ है। जिसे गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र है या जिसे अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्यज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र है, उसे आत्मा-अनात्मा का भान नहीं है। आत्मा और अनात्मा अर्थात् परवस्तु के भेदज्ञान से रहित - 'यह शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैंने

आहार-पानी छोड़े, यह अजीव की क्रिया मैंने की, मैंने आहार नहीं लिया तो नहीं लिया गया, लिया तो ले सके' - ऐसे जड़ पदार्थ का उसे भान नहीं है कि जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। अनात्मा का भान नहीं है, उसे पुण्यपरिणाम का भान नहीं है। इस पर के त्याग में ज़रा राग मन्द होता है, वह तो शुभ है; वह कहीं धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मा के शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि में - भान में स्थिर होना, उसे धर्म कहते हैं। अज्ञानी को उस धर्म का पता नहीं है, भले ही जैन सम्प्रदाय में पड़े हों ! बाहर में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भी पता नहीं होता, वे सब ऐसी करनी करके हैरान होते हैं - ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

वर्षीतप करते हैं न ? देखो न ! खेंच-खेंचकर करते हैं। भान नहीं होता देव का, गुरु का, शास्त्र का, नहीं होता आत्मा-अनात्मा का भान। जीव कौन ? पुण्य कौन ? आस्रव कौन ? बन्ध कौन ? और अजीव कौन ? बाहर की क्रिया में देह का जीर्ण (क्षीण) किया करते हैं। '**शरीर को क्षीण करनेवाली...**' ये सब क्रियायें हैं। ये क्रियायें विकार का नाश करनेवाली नहीं है। आत्मा की पुष्टि करनेवाली नहीं है, वे तो शरीर को क्षीण करनेवाली हैं। शरीर जीर्ण हो जाए तो लोग ऐसा जाने कि आहा..हा..! क्या तपस्वी ! कैसी तपस्या की ! ओ..हो..हो..! एक दिन खाना और एक दिन उपवास। धूल में भी नहीं है। जहाँ आत्मा-अनात्मा का ज्ञान नहीं, स्व-पर का विवेक नहीं, मैं चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा हूँ, रागादि के परिणाम उत्पन्न हों, वह भी विकार है और शरीरादि की-आहारादि की क्रिया तो जड़ की क्रिया है। इस तरह जिन्हें आत्मा और अनात्मा का भान नहीं है, वे सब शरीर को क्षीण करते हैं। भाई !

मुमुक्षु :- आन्दोलन करते हैं न ?

उत्तर :- अज्ञान का आन्दोलन करते हैं - ऐसा यहाँ कहते हैं। आत्मा कौन ? ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है। उसकी क्रिया में राग, विकल्प उठे, वह भी उसकी क्रिया नहीं है।

मुमुक्षु :- तपस्या करने से लाभ ?

उत्तर :- हाँ, होता है न ! इस तपस्या से तपस्या करे, उसे मिथ्यात्व का लाभ (होता है)। मिथ्यात्व का लाभ होता है। कहते हैं न ? यहाँ क्या बात चलती है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तपस्या-तपस्या, वह दूसरी बात, यह तपस्या नहीं, अज्ञानी माने वह बात नहीं। यह तो अज्ञानी माने वह नहीं।

यह तो आत्मा के आनन्द में चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द का पहला सम्यग्दर्शन हुआ है - ऐसे आनन्द में स्थिर होने को तपस्या कहते हैं, उसे तपस्या कहा जाता है। यह तो सब लंघन है। आत्मा तीर्थंकर हो उन्हें नहीं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन में पहले आत्मा के आनन्द का अनुभव किया, फिर सम्यग्ज्ञान में अन्तर शुद्धि बढ़ाकर और फिर शुद्धता में आनन्द में - अतीन्द्रिय आनन्द में गुम हो गये कि जिन्हें इच्छा ही नहीं आयी, आहार नहीं आया। उसे अतीन्द्रिय आनन्द में गुम हुए को, लीन हुए को तपस्या कहा जाता है, बाकी लंघन है। समझ में आया ?

आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के भान बिन जितना कुछ करता है, वह सब संसार परिभ्रमण के खाते में है। होगा ही। अनादि का नौवें ग्रैवेयक गया, अनन्त बार जैन का साधु हुआ, पंच महाव्रतों का पालन किया; जिनदीक्षा लेकर अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया.. वह कैसी दीक्षा होगी ? हजारों रानियों का त्याग किया, राग की मन्दता थी। आत्मा, राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति आनन्द है, उसके अनुभव की दृष्टि के बिना उन क्रियाओं में संसार फलित हुआ। जन्म-मरण मिला। मिला, जन्म-मरण मिटा नहीं। बात ऐसी है जरा, भाई !

आत्मा और अनात्मा के भान बिना... देखो न, क्या है ? शब्द है या नहीं ? यह विकल्प उठता है। आहार छोड़ूँ या रखूँ - यह भी विकल्प, राग, आस्रवतत्त्व है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द तत्त्व बिन्न है। देह की क्रिया, आहार रखना-छोड़ना यह जड़ की क्रिया है, आत्मा की नहीं। ऐसे आत्मा-अनात्मा के '**भेदज्ञान से रहित शरीर को क्षीण करनेवाली...**' क्रिया है, वह तपस्या अज्ञानी की जो है वह। समझ में आया ?

एक बालतप और एक ज्ञानतप - शास्त्र में दो प्रकार के तप हैं। आत्मा के - चैतन्य के शुद्ध आनन्दकन्द के अनुभव बिना जितनी क्रियायें करे, उन सबको बालतप कहा जाता है। महीने-महीने के उपवासा करो, बारह-बारह महीने के उपवाास करे - सब बालतप, मूर्खता से भरा तप है। उसमें आत्मा को ज़रा भी लाभ नहीं है, (परन्तु) नुकसान अनन्त अनन्त (है।) मिथ्यात्व का नुकसान है। धर्म नहीं और धर्म माने। निर्जरा नहीं होती और बन्ध होता है, उसे

निर्जरा माने। भाई ! है ?

मुमुक्षु :- भलाभोला..।

उत्तर :- भला भोला माना अर्थात् मूर्खाई का। भला-भोला कैसा यहाँ ? वीतरागमार्ग में भला-भोला क्या काम आवे ? यहाँ तो नौ तत्त्व हैं या नहीं ? तो आत्मा किसे कहना ?

मुमुक्षु :- स्थिर होने का काम है न ?

उत्तर :- परन्तु किसका तप ? किसमें स्थिर होना ? अभी चारित्र नहीं हो, दर्शन नहीं हो, ज्ञान नहीं हो, तो उसे तप कहाँ से आया ? सम्यग्दर्शन के बिना तप और चारित्र तीन काल में सच्चा नहीं होता। एकके बिना के शून्य होते हैं, रण में चिल्लाकर रोने जैसा है।

आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। अन्दर पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत का परिणाम उठे, तप का (परिणाम आवे कि) आहार छोड़ूँ, वह तो आस्रव-पुण्यभाव है। देहादिक की क्रिया, आहार-पानी छूटना, वह तो जड़ की क्रिया है। वह जड़ का भाव, विकारीभाव और अविकारीभाव - इनके अन्तर में भेदज्ञान और अनुभव के बिना जितनी तपादि की क्रिया की जाती हैं, वह शरीर को क्षीण करने के लिए हैं; आत्मा के लाभ के लिए नहीं।

'**भेदज्ञान से रहित शरीर को क्षीण करनेवाली (विविध...विधि)...**' देखो ! '**अनेक प्रकार की (जे जे करनी) जो-जो क्रियायें हैं, वे सब मिथ्याचारित्र कहलाती हैं।**' अज्ञानी का वह मिथ्याचारित्र है, जिसमें से संसार बढ़ जाता है। सूक्ष्म बात है, बापू ! उसे अभी सुनने नहीं मिला। अनादि से भटका-भटक (करता है)। यह तो अभी गृहीत मिथ्यात्व, पहले तो अगृहीत (मिथ्यात्व की) बात की है। समझ में आया कुछ ? सात तत्त्व की श्रद्धा (विपरीत श्रद्धा) की बात हो गई।

'**भावार्थ :- शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान नहीं होने से...**' मूल पाठ में ही यह है। वहाँ पर और आत्मा-अनात्मा कहा, इसलिए अनात्मा में सब पूरी व्याख्या (आ जाती है)। आत्मा और अनात्मा अर्थात् पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, अजीवादि ऐसा। आत्मा ज्ञानाननद शुद्ध जानने-देखनेवाला, वही उसकी चीज़ है और पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न हों, वह तो आस्रवतत्त्व है। शुभ-अशुभभाव उत्पन्न हों - यह किया, यह छोड़ा, वह सब आस्रवतत्त्व है। जीवतत्त्व पृथक्

आस्रवतत्त्व पृथक्। कर्म, शरीर, आहार-पानी तो अजीवतत्त्व, जड़तत्त्व है। उस जड़ का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ - यह मान्यता अजीव की मिथ्यादृष्टि की है। जीव राग करे और राग का कर्तव्य उसका है - यह जीवतत्त्व की भूल है। राग, शुभभाव मुझे धर्म का कारण होता है - यह शुभ, आस्रवतत्त्व की भूल है। ऐसे जीव और अजीव अथवा आत्मा और अनात्मा के ज्ञान बिना, श्रद्धा-अन्तर अनुभव के बिना जितना किया जाता है, वह सब मिथ्याचारित्र कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

देखो ! इसमें एक दृष्टान्त दिया है। बिचारा, देखो न ! करनी करके सूख जाए... अभी तो ऐसा भी कहाँ है ? यह तो नौंवे ग्रैवेयक गया, तब तो इतनी चारित्र की क्रिया - इसकी मानी हुई... मानी हुई - पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण निरतिचार, नग्नदेह भी परन्तु यह राग की क्रिया है और शरीर की क्रिया जड़ है - ऐसा वह नही जानता। यह मेरा धर्म है, पंच महाव्रत का परिणाम, यह मेरा धर्म है - ऐसा मानता है। मूढ़ है। ह तो राग है। ज्ञानानन्द चैतन्य राग से भिन्न अखण्डानन्द प्रभु वीतरागी पिण्ड आत्मा है, उसकी अन्तर स्वभाव में दृष्टि, अनुभव बिना जो कुछ करे, वह सब उसे संसार में भटकने का (कारण) है।

'**शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं होने से...**' भावार्थ है न ? वह यश के लिए ही करता है। आत्मा की प्रसिद्धि का पता नहीं। उस प्रसिद्धि का अर्थ यश किया है। आत्मा तो ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य है। सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, तब तो उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। समझ में आया ? भगवान अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति वीतराग समस्वभावी स्वरूप उसका है। जैसा परमात्म का - परमेश्वर अरिहन्त का प्रगट है, इसका अप्रगट पूर्ण शक्तिरूप है। पूर्णानन्द का पूर्ण तत्त्व है - ऐसा जो अन्दर में भान (हुआ), उसे आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष पुण्य-पाप के परिणाम को हेयबुद्धि से मानता है। समझ में आया ? अज्ञानी को यह पता नहीं है। आत्मा का स्वाद क्या ? पुण्य-पाप का विकल्प उत्पन्न होता है, उनका स्वाद बेस्वाद है, जहर है, इसका उसे पता नहीं है। समझ में आया ?

'**शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं हो से यश...**' बस ! बाहर की प्रसिद्धि का ही

अन्तर हेतु है; आत्मा की प्रसिद्धि का पता नहीं है। '**धन...**' अथवा तो लक्ष्मी मिलेगी। यह करे न ? ऐसी क्रिया करेंगे तो पुत्र होगा, पैसे मिलेंगे। मांगलिक करेंगे तो ऐसा होता है - यह सब मिथ्यादर्शन की क्रियाएँ हैं। यह अच्छे रूप से दौलत मिले... धन और दौलत (दो में) फिर क्या अन्तर होगा ? पैसा बहुत बढ़े-ऐसा न ?

मुमुक्षु :- जवाहरात दौलत में आवे।

उत्तर :- दौलत में आती होगी ? ऐसा मिले। गहरे-गहरे ! आत्मा का तो पता नहीं। ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप आत्मा को अनुभव में लेकर आनन्द प्रगट होता है - ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो (है) नहीं; दौलत प्राप्त करूँ... अरे... ! दुनिया में बड़े कहलाये... तपस्वी हैं, व्रतधारी हैं, चारित्रवन्त हैं - ऐसे दूसरों से महन्तता लेने '**आदर-सत्कार इत्यादि की इच्छा से मानकषाय के वशीभूत होकर...**' अन्तर में तो भान ही पड़ा है, अन्दर आत्मा का भान नहीं है, इसलिए।

'**शरीर को क्षीण करनेवाली...**' भाई ! शरीर को क्षीण करनेवाली... आ..हा.. ! पीछे है न इसमें ? देखो न ! मूल में है। '**धरि करन विविध विधि देहदाह...**' देह को दग्ध करता है, देह को जलाता है, जीर्ण (करता है, उसमें आत्मा को क्या ? आत्मा तो पता नहीं अन्दर क्या चीज़ है ? '**छीन**' (शब्द) है न अन्दर ? '**जे जे करनी तन करन छीन।**' उस-उस करनी से तन को क्षीणता होती है, जीर्ण होता है। (ऐसी) '**अनेक प्रकार की क्रिया करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं।**' मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञानरहित ऐसे राग की क्रिया करे, उसे (गृहीत) मिथ्याचारित्र कहते है। समझ में आया ?

मिथ्याचारित्रके त्याग का तथा आत्महित में लगने का उपदेश

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत ! निज आतम सुपाग।।१५।।

अन्वयार्थ :- (ते) उस (सब) समस्त (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र को (त्याग) छोड़कर

(अब) अब (आतम के) आत्मा के (हित) कल्याण के (पंथ) मार्ग में लाग) लग जाओ; (जगजाल) संसाररूपी जाल में (भ्रमण को) भटकना (देहु त्याग) छोड़ दो, (दौलत) है दौलतराम ! (निज आतम) अपने आत्मा में (अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ।

भावार्थ :- आत्महितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा आगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्याग करके आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिये। श्री पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहते हैं कि-हे आत्मन् ! पराश्रयरूप संसार अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर सावधानी से आत्मस्वरूप में लीन हो।

'**मिथ्याचारित्र के त्याग का और आत्महित में लगने का उपदेश।**' लो ! यह दूसरी ढाल का अन्तिम श्लोक है।

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत ! निज आतम सुपाग।।१५।।

इसमें भी उन्होंने चित्र रखे हैं, हों ! जगजाल है न सब ? यह चित्र रखा है। जन्म, भ्रमण में देव, वनस्पति, सर्प हुआ, मुर्गा हुआ, यह हुआ, ढोर हुआ, नारकी हुआ। चार गति के भव, आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना, अन्तर्दृष्टि, अनुभव बिना इसने यह सब किया, यह चार गति के भव में भटकने के लिये हैं।

'**उस समस्त मिथ्याचारित्र को छोड़कर अब आत्मा के कल्याण के मार्ग में लग जाओ...**' देखो ! यह शब्द ! स्वयं अपने को कहते हैं और दुनिया को - दोनों को कहते हैं। हे आत्मा ! आत्मा का हित - यह देहादि, वाणी की क्रिया मेरी नहीं है, शरीरादि वस्तु मेरी नहीं, उसकी दशा हो वह मेरी नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम / विकल्प उठता है - दया, दान व्रतादि वह भी शुभभाव है। हिंसा, झूठ, चोरी - यह पापभाव है परन्तु मेरी चीज़ नहीं। इनसे मेरी चीज़ ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दकन्द भिन्न है, - ऐसी श्रद्धा करके आत्मा के हित में लग जाओ। कहो, समझ में आया ?

अभी तक आत्मा का अहित करता था - ऐसा हुआ न ? अहित करता (था)। यह तो गृहीत

मिथ्यात्व की बात है। अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत ज्ञाान, अगृहीत चारित्र, वे तो अनादि के हैं। तदुपरान्त यह कुदेव-कगुरु-कुशास्त्र मिले, उनके श्रद्धा आदि किये, तो यह गृहीत मिथ्यात्व, गृहीत ज्ञान और गृहीत (मिथ्या) चारित्र हुए। मिथ्या ! समझ में आया ? छह प्रकार का वर्णन आ गया है।

'**अब, आत्मा के (हित) कल्याण के मार्ग में लग जाओ...**' मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र - दोनों प्रकार के - गृहीत और अगृहीत को छोड़ दे - ऐसा एकसाथ कहा है। आत्मा के हित के पन्थ में लग जाओ। भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल शान्तरस का पिण्ड प्रभु, अनन्त अनन्त पवित्र गुण का धाम आत्मा (है)। ऐसा आत्मा की अन्तर्दृष्टि करके, अन्तर आत्मा का ज्ञान करके उसके हित के पन्थ में लग जाओ। लो ! समझ में आया ?

'**(जगजाल) संसाररूपी जाल में भटकना छोड़ दो।**' चार गति, भटकने के कारण - मिथ्यादर्शन आदि और पुण्य-पापभाव, यह पुण्य-पाप के भाव भी भटकने का कारण है। शुभभाव भी परिभ्रमण का बन्ध का कारण है। समझ में आया ? पुण्यभाव, पुण्यभाव परिभ्रमण का कारण है। पुण्य से बन्धन होता है और बन्धन से संयोग मिलते हैं, उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पापभाव से प्रतिकूल बन्ध होता है और उससे प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, इसलिए कोई लाभ (नहीं है)। ऐसा जगजाल, '**संसाररूपी जाल में...**' अर्थात् मिथ्यादर्शन, ज्ञान में और पुण्य-पाप के भाव में भटकने का त्याग करो, उसे छोड़ो। समझ में आया ?

'**हे दौलतराम** !' हे आत्मा की दौलत के राम, ऐसा। अन्दर अन्तर आत्मा में अनन्त ज्ञान और आनन्द पड़ा है, अनन्त गुण पड़े हैं। जितने गुण सिद्धों में हैं, उतने ही गुण आत्मा में यहाँ है। हे दौलतराम ! हे आत्माराम ! दौलतराम यह। कहो, समझ में आया ? उस दौलत को छोड़कर यह दौलत-ऐसा कहा न ? वह दौलत ली थी न ? लक्ष्मी की दौलत, उसे छोड़कर अब आत्म दौलत को अन्दर में देख ! यह आत्मा क्या होगा ? कौन जाने क्या पता पड़े ? यह अन्दर में पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न हो, शुभाशुभ - इनसे रहित तत्त्व है, जिसमें अनन्त दौलत पड़ी है। आहा..हा..! केवलज्ञान प्रगट हो, उसका मूल आत्मा है। इस आत्मा में से केवलज्ञान प्रगट होता है, कहीं बाहर से नहीं होता है।

मुमुक्षु :- केवलज्ञान का घर पड़ा है।

उत्तर :- घर पड़ा है, कहा था न यह तो ? केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है। केवलज्ञान कोई गुण नहीं है। केवलज्ञान, सिद्धदशा भी एक समय की दशा है, पर्याय है। ऐसी-ऐसी एक समय में पर्याय रहे, दूसरे समय नष्ट हो जाए; नया केवलज्ञान हो, दूसरे समय नया केवलज्ञान होता है। दूसरे समय का हुआ, तीसरे समय नष्ट होकर नया केवलज्ञान होता है। ऐसा अनन्त काल नया-नया केवलज्ञान हुआ करता है। ऐसे अनन्त केवलज्ञान का पिण्ड पड़ा है आत्मा। किसे पता क्या होगा यह ? समझ में आया ?

यह केवलज्ञान गुण है या पर्याय - इसक पता नहीं होता। यह केवलज्ञान की पर्याय अर्थात् हो रहा मानो। केवलज्ञान, वह पर्याय है, वह कोई गुण नहीं है। गुण तो आत्मा में त्रिकाल है। नयी अवस्था उत्पन्न होती है, वह पर्याय होती है, गुण नहीं होती। विवाद उठा न ? वे कहते हैं - सम्यग्दर्शन गुण है। बड़ा विवाद चला था। सम्यग्दर्शन तो पर्याय है। गुण प्रगट होते होंगे ? आत्मा तो अनन्त गुणों का पिण्ड त्रिकाल ध्रुव है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द ये गुण हैं, वे तो त्रिकाल पड़े हैं, त्रिकाल ध्रुव है। अन्दर में केवलज्ञान प्रगट होता है, वह तो पर्याय है, हालत है, दशा है। समझ में आया ? ऐसी अनन्त केवलज्ञान की दशायें, उनका पिण्ड, आत्मा में ये समस्त शक्तियाँ पड़ी है। किसे पता वह आत्मा कैसा होगा ? भाई ! आत्मा कुछ करता नहीं ? जानने का क्या काम है ? क्या करता है ? मूढ़ करे। समझ में आया ? हें ?

मुमुक्षु :- काम में लग जाओ।

उत्तर :- काम में लग जाओ, अर्थात् आत्मा में लग जाओ, ऐसा। अनादि से बाहर से बाहर में ही लगा है। शुभाशुभभाव तो अनादि से किये है। समझ में आया ? बाहर के त्याग-ग्रहण की बुद्धियाँ भी अनन्त बार की; परन्तु आत्मा कौन है ? - उसका इसने एक सैकेण्ड भी ज्ञान नहीं किया। एक सैकेण्ड नहीं किया, इसलिए अब तो कहते हैं, आत्मा के हित और कल्याण के लिए लग जाओ। आहा..हा..! बाद में यह ढाल आती है न, इसलिए यह उपोद्घात किया है। अब तीसरी (ढाल में) मोक्षमार्ग आयेगा, इसलिए यहाँ 'हित' लिया है। आत्मा का हित मोक्षमार्ग है - यह कहेंगे। देखो !

'**संसाररूपी जाल में भटकना छोड़ दे। हे दौलतराम ! (निज आतम)...**' देखो ! '**अपने आत्मा में...**' हाँ ! भगवान का आत्मा - परमेश्वर का आत्मा अलग ! देखो ! वे भगवान, भगवान आत्मा को कोई तिरा नहीं देते। वे तो सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, वे तो परवस्तु हैं। परमात्मा का ध्यान, विचार करना, वह भी एक शुभविकल्प है, राग है, पुण्य है। आहा..हा.. ! इसलिए कहते हैं कि '(**निजआतम)...**' अन्दर अपना आत्मा अनन्त... अनन्त गुणों से भरपूर भगवान, अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का रस पड़ा है। आत्मा में अतीन्द्रिय शान्ति पूर्ण पड़ी है। ऐसे आत्मा को पहिचानो और ऐसे आत्मा में... अब, निज आत्मा में अर्थात् अपने आत्मा में अब तो लगो - ऐसा कहते हैं। देखो न ? अभी तक तो किये उल्टे(भाव)। माना धर्म और थे विपरीत भाव।

'**(अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ।**' लो ! सुपाग समझे न ? भगवान आत्मा अशुद्ध आन्दकन्द निर्विकल्प आनन्द है। जिसका स्वरूप पुण्य-पाप के राग से रहित है। एक-एक रजकण, देह या कर्म का जिसमें नहीं है - ऐसा अभी आत्मा है। ऐसे आत्मा का अन्तर अनुभव करो और उसमें सुपाग - विशेष स्थिर होओ, लीन होओ। कहो, इसमें समझ में आया ?

'**भावार्थ :- आत्म हितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके...**' देखो ! निश्चय अर्थात् क्या ? आत्मा शुद्ध अखण्ड, पुण्य-पाप के रागरहित, दया-दान-व्रत के विकल्परहित आत्मा है। यह विकल्प उठे, वह सब राग और पुण्यास्रव है। उससे रहित शुद्ध चैतन्य पिण्ड अखण्डानन्द अनन्त गुणों का पिण्ड, उसका अनुभव निश्चय सम्यग्दर्शन (है)। उसका अनुभव, यह आत्मा आनन्दकन्द है, उसका अनुभव-इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ? और ज्ञान... उस आत्मा का ज्ञान। शुद्ध केवलज्ञान का कन्द हूँ - ऐसा आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान। शास्त्रज्ञान आदि परज्ञान, वह मोक्ष में कुछ काम नहीं करता। बहुत सूक्ष्म बात (है) !

निश्चय अर्थात् (सच्चा) सम्यग्दर्शन, सच्चा ज्ञान। निश्चय अर्थात् आत्मा का सच्चा ज्ञान। अन्तर आत्मा ज्ञानस्वरूप है, राग और पुण्य से रहित है - ऐसा स्वसंवेदनज्ञान और चारित्र। इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के अनुभव में - स्वरूप में वीतरागपने स्थिर होना, आनन्द में स्थिर

होना, अतीन्द्रिय आनन्द में जम जाना - इसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं। इसका नाम भगवान, चारित्र अर्थात् सच्चा व्रत कहते हैं। समझ में आया ? यह निश्चय सम्यग्दर्शन। (निश्चयशब्द) तीनों को लागू पड़ता है। निश्चय सम्यग्ज्ञान, निश्चय चारित्र ग्रहण करके, लो ! यह पर्याय है सही न ! सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि मोक्षमार्गः।

'**गृहीत मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारात्रि...**' गृहीत अर्थात् जन्मने के बाद नयी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा की हो। मिथ्याज्ञान जन्म के बाद ग्रहण किया हो। अनादि का मिथ्याज्ञान किया, वह अलग (है)। यह तो जन्म लेने के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का ज्ञान किया हो, और मिथ्याचारित्र-इनका त्याग...।

'**अगृहीत मिथ्यादर्शन...**' अनादि की सात तत्त्वों की भूल। समझ में आया कुछ ? आ गयी न ? सातों तत्त्वों की भूल आ गई है। जीव को शरीर की क्रिया का करनेवाला मानना। यह पैसा मेरा, स्त्री मेरी, कुटुम्ब मेरा, यह मेरा, यह मेरा... यह मेरा मानना - यह सब मिथ्यादर्शन है, यह जीवतत्त्व की भूल है। जीव में ये चीजें नहीं है, उन्हें (अपनी) मानना वह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह अगृहीत-अनादि का है। जन्म लेने के पश्चात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र में अवतार हुआ और उनने मनाया, वह गृहीत मिथ्यादर्शन, नया (हुआ)। पुराने मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाला (है)। समझ में आया ?

'**अगृहीत मिथ्यादर्शन...**' शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं जन्मा, शरीर मरे तो मैं मर गया। शरीर की समस्त क्रियाएँ मैं कर सकता हूँ; मेरे कारण होती है। उनकी उपादान शक्ति से होती है - ऐसा नहीं मानता। कर्म-बन्धन होता है, वह रजकण की क्रिया से होता है। यह शरीर चलता है, वह जड़ के कारण चलता है, आत्मा के कारण नहीं। ऐसा जो नहीं मानता, वह अजीव की भूल। उसके उपादान की क्रिया मुझसे होती है - यह अजीव की भूल है। अनादि की मिथ्यादृष्टि की अजीव की भूल है। समझ में आया ?

आस्रव - पुण्य-पाप के परिणाम, शुभाशुभपरिणाम, वे दुःख के देनेवाले हैं। शुभ हो या अशुभ पराणिाम, वे दुःख के देनेवाले हैं। शुभ हो या अशुभ हो - दोनों विकार परिणाम बन्ध के कारण, दुःख के कारण है। उन्हें सुख का कारण माने, यह आस्रवतत्त्व की भूल है। शुभ-पुण्य

का फल शरीरादि अनुकूल मिलें, उसमें प्रेम करना और प्रतिकूल अशुभबन्ध के फल में द्वेष करना, यह बन्धतत्त्व की भूल है। आ गयी न सब ?

भगवान आत्मा, उसका सम्यग्ज्ञान-अन्तर में आत्मा का ज्ञान करना और आत्म का चारित्र, अन्दर संवर, निर्जरा, वीतरागभाव प्रगट करना - ऐसे ज्ञान और चारित्र को दुःखादायक मानें, कष्टदायक मानें, यह संवर, निर्जरा की भूल है। बहुत से कहते हैं न ? भाई ! चारित्र तो बालू/रेत का ग्रास है, बापा ! चारित्र तो आनन्ददायक है। अन्तर आनन्द प्रगट हो, उसे चारित्र कहते हैं। दुःखदायक होवे तो वह तो पाप है, दुःखदायक तो आर्तध्यान है। समझ में आया ? व्याख्या करते हुए कहते है न ? बापा ! चारित्र तो बालू/ रेत के ग्रास है। आहा..हा..! तू चारित्र को नहीं समझता। चारित्र तो अन्तर आनन्द की अनुभवदृष्टि में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की वीतरागता प्रगटे, उसे चारित्र कहते है। जबकि यह कहता है - दुःखदायक है। है सुखदायक, उसे दुःखदायक माने, उसे संवरतत्त्व की भूल है।

निर्जरा की (भूल) - आत्मा के स्वभाव शुद्ध चैतन्य की शक्ति प्रगट नहीं करता; आत्मा के शुद्ध स्वभाव की परमानन्द की मूर्ति, उसकी तिजोरी नहीं खोलता, एकाग्र होकर नहीं खोलता; मात्र इच्छा और अभिलाषा के वेग में जाकर मुझे निर्जरा होती है और लाभ होता है - ऐसा माने, वह निर्जरातत्त्व की भूल है।

अनाकूलता मोक्ष का स्वभाव है। मोक्ष में अत्यन्त अनाकूलता (है)। आत्मा के आनन्द के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चाारित्र के अनुभव से जो मोक्ष होता है, (वह) अनाकुल-आनन्दमय है, उसे दुःखरूप मानना। मोक्ष में क्या किसी का करते नहीं ? मोक्ष में ऊपर लटकते हैं ? गाड़ी, वाड़ी कुछ नहीं ? - ऐसा माननेवाले मोक्षतत्त्व को नहीं समझते। शरीर होवे तो ज्ञान होता है, इन्द्रियाँ होवे तो ज्ञान होता है; शरीर, इन्द्रियों के बिना ज्ञान होता होगा ? भगवान आत्मा ! मोक्ष, अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति। ऐसी अनाकुलदशा को नहीं पहिचानता, इसलिए उसे मोक्षतत्त्व की भूल है। या तो कुछ ऐसा चाहिए, साधन चाहिए... केवली होवे, पूर्ण परमात्मा होवे तो दुनिया का कुछ कर दे या नहीं कुछ ? अनन्त वीर्य प्रगट, वे दुनिया का कोई भला-बूरा

नहीं करे। हम ऐसे साधारण (हैं) तो भी किसी का भला कर देते हैं। मूढ़ जीव मानता है। कर किसका सकता है ? पर का (भला) कौन करे ? एक छिलका बदलने की आत्मा में ताकत नहीं है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, उसे आत्मा (कर्ता है - ऐसा) माने (तो वह) मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। ऐसे मिथ्यादृष्टि को मोक्षतत्त्व का भी पता नहीं है। लो ! क्या मोक्ष में अकेला बैठे रहना है ? अकेला अर्थात् अनाकुल आनन्द का अनुभव, उसका नाम मोक्ष है। विकार से छूटना, अशरीरी होना और अकेले आत्मा की शुद्धता पूर्णानन्द प्रगट होता है। इस आत्मा का मोक्षमार्ग, अन्तर के मोक्षमार्ग से प्रगट होता है - इसका भान नहीं है, उसे की जितनी पढ़ाई हो, वह सब अनादि का अगृहीत मिथ्याज्ञान है; और मिथ्याचारित्र..! ऐसे अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञानसहित जितनी मन्द रागादि की क्रिया हो, वह सब मिथ्याचारित्र है। '**उनका त्याग करके...**' लो ! '**आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिए।**' समझ में आया ? '**आतम के हित -**' कहा है न ?

'**पण्डित श्री दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे आत्मन्**! **पराश्रयरूप संसार, अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर...**' स्वआश्रय कहा न ? आत्मा आत्मा कहा इसलिए। शरीराश्रित क्रिया और पुण्य-पाप के भाव की क्रिया, यह सब पराश्रित, बन्ध का कारण है। उस पराश्रयरूप '**संसार, अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर सावधानी से आत्मस्वरूप में लीन हो।**' यह आत्मा के हित का मार्ग है। समझ में आया ? यह दूसरी ढाल हुई। अपने सार सब आ गया है। इसमें जो कहना है, वह सब आ गया है।

तीसरी ढाल

नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा)

आत्महित, सच्चा सुख तथा दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;
आकुलता शिवमांही न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।।१।।

अन्वयार्थ :- (आतम को) आत्मा का (हित) कल्याण (है) है (सुख) सुख की प्राप्ति, (सो सुख) वह सुख (आकुलता बिन) आकुलता रहित (कहिये) कहा जाता है। (आकुलता) आकुलता (शिवमांहि) मोक्ष में (न) नहीं है (तातैं) इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्ग में (लगना) लगना (चहिये) चाहिए। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता वह (शिवमग) मोक्ष का मार्ग है। (सो) उस मोक्षमार्ग का (द्विविध) दो प्रकार से (विचारो) विचार करना चाहिए कि (जो) जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है, (सो) वह (निश्चय) निश्चय मोक्षमार्ग है और (कारण) जो निश्चय-मोक्षमार्ग का निमित्तकारण है। (सो) उसे (व्यवहारो) व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं।

भावार्थ :- (१) सम्यक्चारित्र, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक्भावश्रुत-ज्ञान होता है और निश्चयनय तथा व्यवहारनय यह दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) हैं; इसलिये मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकते; इसलिये 'व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रगट होता है' - ऐसा माननेवाले को नयों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञास नहीं है।

(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते। निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व यदि व्यवहारनय हो तो निश्चयनय की अपेक्षा रहित निरपेक्षनय हुआ; और यदि पहले अकेला व्यवहारनय हो तो अज्ञानदशा में सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा; किंतु 'निरपेक्षानया: मिथ्या सापेक्षावस्तु तेऽर्थकृत' (आप्तमीमांसा श्लोक-१०८) ऐसा आगम का, वचन है; इसलिये अज्ञानदशा में

किसी जीव को व्यवहारनय नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभास अथवा निश्चयाभासरूप मिथ्यानय हो सकता है।

(३) जीव निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रगट कर, तब सर्वज्ञकथित नव तत्त्व, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा सम्बन्धी रागमिश्रित विचार तथा मन्दकषायरूप शुभभाव-जो कि उस जीव को पूर्वकाल में था उसे भूतनैगमनय से व्यवहारकारण कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, अ. २ गाथा १४ की टीका)। तथा उसी जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं, उसका सहचरपना बतलाने के लिये वर्तमान शुभराग को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे भिन्न प्रकार के (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को हो नहीं सकते। - इस प्रकार निमित्त व्यवहार होता है तथापि वह यथार्थ कारण नहीं है।

(४) आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है, इसलिये आत्मा के आश्रय से ही सुख प्रगट हो सकता है, किन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रगट नहीं हो सकता।

(५) मोक्षमार्ग तो एक ही है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है। (प्रवचनसार गाथा ८२-१९९ तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली, पृष्ठ ४६२)

(६) अब 'मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ मोक्षमार्ग के रूप में सच्चे मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की है वह निश्चयमोक्षमार्ग है; तथा जहाँ, जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है अथवा सहचारी है, वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है, अर्थात् यथार्थ निरूपण वह निश्चय और उपचार निरूपण वह व्यवहार। इसलिये निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना। किन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और दुसरा व्यवहारमोक्षमार्ग है - इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।'

(मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३६५-३६६)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ७, शुक्रवार
दि.२८-१-१९६६, गाथा १, प्रवचन नं.-११ (४० मिनिट)

अब, तीसरी ढाल। नरेन्द्र छन्द, जोगीरासा। '**आत्महित, सच्चा सुख और दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन।**' एक श्लोक में (कहेंगे)। अब, यह चार-चार (लाईनों का) आया, हाँ ! चार-चार लाईनों का बड़ा-बड़ा है। देखो, आत्मा का हित क्या है ? - उसका इसमें कथन है। वह आत्माहित कहा था न ? अन्तिम ढाल में - आत्मा के हित में लग जाओ। भगवान आत्मा को अन्तर(में) पहिचानकर, उसमें एकाकार होओ, यह आत्महित है। यह क्या कहते हैं ? यह बताते हैं, देखो ! सच्चा सुख क्या ? और दो प्रकार से मोक्षमार्ग, (ऐसे) तीन का कथन है।

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;
आकुलता शिवमांही न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।।१।।

बहुत अच्छी बात ! गागर में सागर भरा है। थोड़े में और सादी भाषा ! यह तो हिन्दी भाषा है। '**आत्मा का कल्याण सुख की प्राप्ति है।**' लो, आत्मा का हित अर्थात् कल्याण की प्राप्ति, सुख की प्राप्ति, अतीन्द्रिय कल्याण की प्राप्ति, वह आत्मा का हित है। कहो, दुनिया को सुख चाहिए या नहीं ? कैसा सुख ? अतीन्द्रिय एक ही सुख है। दुनिया में पुण्य-पाप में पैसा-धूल में सुख मानते हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, प्रतिष्ठा में सुख है - यह माननेवाला मूढ़, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है। ऐसी मिथ्यादृष्टि सहित की जो कोई क्रिया करे, वह सब अज्ञान में जाती है। सुख कहाँ धूल में ? समझ में आया ? परन्तु थोड़ा-बहुत सुख होगा या नहीं ? धूल में भी सुख नहीं है। स्त्री-शरीर जड़-मिट्टी है; पैसा मिट्टी-धूल है। दाल, चावल, लड्डू, वह धूल है। पर में सुख कहाँ से आया ?

मुमुक्षु :- शक्कर मिले तो प्रसन्न हुए।

उत्तर : प्रसन्न हुए, मूढ़ है, कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को शक्कर के ढेर हो तो जड़ है। प्रसन्न किसमें होता है वह ? धर्मी को तो भीतर में आत्मा के आनन्द का ढेर पडा दिखाई देता है। शक्कर का ढेर जड़ का है। यहाँ चैतन्य का है, वह तो जड़ का है। सम्यग्दृष्टि को देवपद मिले तो भी प्रसन्न नहीं होता। देव का पद मिले तो भी प्रसन्न नहीं, और देवपद का कारण जो पुण्यभाव हो, उसमें भी सम्यग्दृष्टि प्रसन्न नहीं है। पुण्य और पुण्य के फल में प्रसन्न हो, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे वीतरागमार्ग की श्रद्धा का पता नहीं है। ऐसी बात है, भाई ! आहा..हा.. !

सुख तो '**आकुलता रहित कहा जाता है**...' ऐसा कहते हैं। दुनिया का माना हुआ सुख, वह सुख नहीं है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर पड़ा है। आत्मा (में) अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का पुञ्ज भीतर पड़ा है। उसके अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में प्रगट होना, इसका नाम सुख कहा जाता है। अनाकुलता के भाव को सुख कहते हैं। कहो, यह तो स्त्री, पुत्र, पैसा, पाँच-पचास लाख का ढेर (होवे तो कहते हैं) उसके समक्ष देखकर आकुलता है; धूल में भी सुख नहीं है। व्यर्थ में ही मूढ़ मिथ्यादृष्टि राजपाट, स्त्री, पुत्र, पैसे में सुख मानता है। कैसे होगा ? भाई ! क्या लेना इसमें ? भाई ! मूढ़ अज्ञानी व्यर्थ हैरान हो गया है।

मुमुक्षु :- किसलिए ?

उत्तर :- पर में सुख मानकर। धूल में भी सुख नहीं है, मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :- पर में दु:ख तो होगा न ?

उत्तर :- पर में दु:ख भी नहीं है। पर में दु:ख कैसा ? पर को अपना मानना, पर से मुझे लाभ (है - ऐसा) मानना - ऐसी मान्यता इसे दु:खरूप है। पर कैसा ? वह तो जड़, मिट्टी, धूल है, वह तो अजीवतत्त्व है। पैसा, लक्ष्मी अजीव धूल तत्त्व है। उसमें सुख कैसा और दु:ख कैसा ? स्त्री-पुत्र अच्छे हों, पैसा-वैसा ठीक हो, पाँच-पचास हजार महीने का वेतन हो (तो कहता है) सुखी है। (यहाँ कहते हैं) मूढ़ हो, मिथ्यादृष्टि हो; तुम्हें वीतरागमार्ग का पता नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव, ऐसे लाख, करोड़, अरबों पैसे (रूपये) बाहर के हो और अनुकूलता होवे (तो भी) उसमें दु:ख का निमित्त मानता है। दु:ख का निमित्त, हाँ ! वह दु:ख नहीं है।

आकुलता, विकल्प उत्पन्न होता है, वह दु:ख है, उसका वह निमित्त है। सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव पर में सुख नहीं मानता। आहा..हा..! अभी मान्यता का ही पता नहीं है (कि) क्या चीज है ?

'सुख आकुलता रहित कहा जाता है।' आकुलता न हो, उसे सुख कहते हैं। वह **'आकुलता मोक्ष में नहीं है...'** ऐसा अब सिद्ध करते हैं। आत्मा का हित-कल्याण सुख की प्राप्ति है। वह सुख आकुलतारहित कहा जाता है और वह आकुलता मोक्ष में नहीं है - ऐसा कहते हैं। मोक्ष को सिद्ध करते हैं। आत्मामें से परमात्मदशा प्रकट होना, (वह मोक्ष है।) केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य, सिद्धपद, वह मोक्षदशा है। मोक्ष में आकुलता नहीं, अनाकुलता है।

'इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्ग में लगना...' **'चहिये... '** अर्थात् **'चाहिये।'** इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। यह मोक्ष, वह हित और अनाकुल सुख है, इसलिए उसके मार्ग में जाना चाहिए - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! वहाँ से शुरू किया है, देखा ? पहले से मोक्ष से शुरू किया। सिद्ध भगवान आत्मा और अरिहन्त परमेश्वर अनन्त आनन्द को भोगनेवाले हैं। समझ में आया कुछ ? अरिहन्त परमेश्वर को भी अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द है। भले चार अघातिकर्म शेष हों, (तो भी) अनन्त आनन्द है। महाविदेहक्षेत्र में 'सीमन्धर' भगवान विराजमान है। चार कर्म शेष है, चार कर्मों को टाला है। अनुभव करके, अन्तर अनुभव दृष्टि करके उन्हें अन्दर से अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट हुआ है। अतीन्द्रिय आनन्द अर्थात् मोक्ष ही है, उन्हें भावमोक्ष है। सिद्ध को द्रव्यमोक्ष हो गया है, शरीर छूट गया है, वे देहमुक्त हो गये हैं। उसमें ही आनन्द है, अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। **'इसलिए (शिवमग) मोक्षमार्ग में लगना चाहिए।'** लो, दूसरा सब छोड़कर मोक्ष के मार्ग में (लगना चाहिए) क्योंकि मोक्ष में अनाकुलता है। मोक्ष, वह आत्मा की शुद्धपर्याय है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पन्थ।
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

वीतराग भगवान परमेश्वर ने पूर्णानन्द की प्राप्ति मोक्ष, उसका मार्ग अन्तर में स्वरूप में समझाया है।

'मोक्षमार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता, वह मोक्ष का मार्ग है।' समझ में आया ? उसकी व्याख्या नीचे करेंगे, हाँ ! आत्मा अन्तर में पूर्ण, शुद्ध आनन्द वीतरागीमूर्ति प्रभु आत्मा है। अभी, हाँ ! उसकी अन्तर में दृष्टि-ज्ञान और लीनता होना, उसका नाम (मोक्षमार्ग है)। निर्विकल्प वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और आत्मा की वीतरागी शान्ति (प्रकट होना) उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र -मोक्ष का मार्ग, उसे भगवान कहते हैं। आहा..हा..! तीनों की एकता, वह शिवमार्ग है।

'उस मोक्षमार्ग को दो प्रकार से विचार करना चाहिए...' समझ में आया ? उसमें कोई शब्द है न ? **'उस मोक्षमार्ग का दो प्रकार से विचार करना कि जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है...'** समझ में आया ? आत्मा में शुद्ध चैतन्यमूर्ति की अन्तर निर्विकल्प अनुभव-दृष्टि (होना), उसका-आत्मा का अन्तर निर्विकल्प ज्ञान और अन्तर स्वरूप की वीतरागता - परिणति चारित्र (प्रगट होना), वह एक ही सच्चा मोक्ष का मार्ग है। देखो !'सत्यार्थ' पर जोर है, उसकी समझ में आयेगा, असत्यार्थ। कहो, समझ में आया ?**'वास्तविकस्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है।'** समझ में आया ?

इस प्रकार विचार में लेना अर्थात् इसे सत्यार्थरूप से विचारना - ऐसा कहते हैं। उसे

असत्यार्थरूप से... इसके सामने लो तो असत्यार्थ रूप से; इसे निश्चयरूप से लो तो उसे व्यवहाररूप से; इसे शुद्ध उपादानरूप से तो उसे निमित्तरूप से (विचारना)। - यह इसमें लिखा है, भाई ! यह पुरानी प्रति है न ? उसमें यह लिखा है। वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चय है। कोष्टक में शुद्ध अथवा मुख्य। मुख्य - ऐसा लिखा है। आहा..! पहले की हिन्दी (प्रति है)। मोक्षमार्ग कहलाता है। और उस निश्चयमोक्षमार्ग का कारण व्यवहार... कोष्टक में (लिखा है), अशुद्ध, गौण अथवा उपचार। इसमें पहले हैं, हाँ ! क्या कहते हैं ? यह बड़ा विवाद हैं। उसका यह स्पष्टीकरण होता है।

भगवान आत्मा के आश्रय से निर्विकल्प अन्तर अनुभव दृष्टि, ज्ञान और शान्ति (प्रकट हो), वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह एक ही सच्चा मोक्षमार्ग है। समझ में आया कुछ? उसका विचार करना। पहले उसका ज्ञान करना - ऐसा कहते हैं। '**(सत्यार्थरूप) वास्तविक-स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और (कारण)...**' ऐसा है न ? '**कारण सो व्यवहारो।**' अर्थात् कारण। कारण के अर्थ में आया कि आत्मा शुद्ध परमानन्द की अन्तर दृष्टि, ज्ञान (होना), वह शुद्ध उपादान दृष्टि हुई। वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग हुआ और उसके साथ राग (होता है), देव-गुरु-शास्त्र आदि की श्रद्धा का राग होता है, वह असत्यार्थ अथवा वह निमित्तकारण आया। यहाँ उपादानकारण आया, वहाँ वह निमित्तकारण आया। यहाँ निश्चय आया, वह व्यवहार आया। यहाँ मुख्य आया, (वह) गौण आया। यह शुद्ध आया, (वह) अशुद्ध आया। समझ में आया ? आहाहा..! यह तो हम इस शब्द में से (अर्थ करते हैं)।

'**शिवमग सो द्विविध विचारो; जो सत्यारथरूप सो निश्चय... जो सत्यारथरूप...**' ऐसा कहा है न ? सच्चा स्वरूप, ऐसा। सत्यार्थ अर्थात् सच्चा स्वरूप, वह निश्चयमोक्षमार्ग (है)। सच्चा रूप, रूप अर्थात् स्वरूप। भगवान आत्मा शरीर-वाणी की क्रिया का लक्ष्य छोड़कर, पुण्य-पाप का विकल्प राग होता है, उसकी रुचि छोड़कर, अकेले परमानन्द प्रभु आत्मा की अन्तर रुचि, ज्ञान और रमणता (होना), वह मोक्ष का मार्ग है। सच्चा, सत्य स्वरूप, निश्चय मार्ग, शुद्ध उपादान से प्रकट हुआ, उसे यथार्थ वास्तविक मोक्षमार्ग कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

'**और (कारण) जो...**' कारण का अर्थ निमित्त। क्योंकि यहाँ यह शुद्ध उपादान आया।

समझ में आया ? आत्मा, जो ध्रुव त्रिकाल आनन्दकन्द है, वह ध्रुव उपादान है, परन्तु उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध पर्याय प्रकट हुई, वह भी शुद्ध उपादान पर्याय हुई। शुद्ध उपादान और निमित्त और... उसमें कितना ज्ञान करना ? कहते हैं कि - भाई ! तूने कभी सच्चे तत्त्व का पता नहीं किया है।

वह भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव तो शुद्ध ध्रुव है। त्रिकाल अखण्ड आनन्द और शुद्ध का ही पिण्ड आत्मा है। वह ध्रुव उपादान है। उसे अन्तर में शुद्ध वर्तमान पर्याय, वह द्रव्य के आश्रय से प्रकट हुई - शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परमार्थ से वीतराग दृष्टि वीतराग ज्ञान, वीतराग चारित्र जो स्वभाव है, वह शुद्ध उपादान प्रकट हुई पर्याय है। उसके साथ वह राग - देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व की विकल्पवाली श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा-राग, उसे निमित्तकारणरूप से; असत्यार्थ मार्ग को निमित्तरूप से, व्यवहाररूप से, उपचाररूप से मार्ग कहा गया है। समझ में आया ? इसीलिए तो 'सत्यार्थरूप' शब्द प्रयोग किया है। सच्चा, व निश्चय। दूसरे प्रकार से कहे तो मिथ्या अर्थात् वह मार्ग तो नहीं है, ऐसा (कहना है)। परन्तु उसे निमित्त नाम प्राप्त होता है, निमित्त का नाम पड़ता है। सच्चा मोक्षमार्ग तो आत्मा के अवलम्बन से हो, वह मोक्षमार्ग है, परन्तु उस काल में पूर्ण वीतरागदशा नहीं है; इस कारण भगवान द्वारा कथित नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा का राग (होता है), वह विकल्प है, वह पुण्य है, उसे निमित्त कहा जाता है; उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है; व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। असत्यार्थ को व्यवहार कहना, इसका नाम उसका उपचार मार्ग है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- झूठे-सच्चे को साथ रखना चाहिए ?

उत्तर :- रखना चाहिए नहीं; ऐसा होता है। यह सच्चा मार्ग हो; जहाँ तक पूर्ण वीतराग न हो, तब ऐसा विकल्प का भाव उपचार से वहाँ होता है। होता है, वीतराग नहीं हुआ, वहाँ तक ऐसा होता है। केवल (केवलज्ञान) हुआ तो उसे विकल्प नहीं होता, वह व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ? परन्तु जहाँ निश्चय भान हुआ है, वहाँ ऐसे विकल्प को व्यवहार और उपचार कहा जाता है। अद्भुत बात, भाई !

निश्चयमोक्षमार्ग अकेला ही एक मोक्ष का कारण है। यह जो व्यवहार कहा है, वह बन्ध का कारण है, परन्तु उसे ऐसा ही अनुकूलपना - देव-गुरु; सच्चे अरिहन्त देव-गुरु, केवली परमात्मा, सच्चे निर्ग्रन्थ मुनि या सच्चे शास्त्र या सच्चा अहिंसाधर्म होता है। अहिंसा अर्थात् राग की उत्पत्ति नहीं होना, वह आत्मा का धर्म। ऐसा जो विकल्प-शुभराग है, वह है तो बन्धा का कारण। परन्तु जब यहाँ पर आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रकट हुआ, उसके निमित्त से उसे (बन्धाभाव को) मोक्षमार्ग का आरोप दिया जाता है। 'नहीं है' - उसे कहना, इसका नाम व्यवहार कहा जाता है। 'है' उसे ऐसा जानना और कहना, उसे निश्चय और सत्यार्थ कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? देखो न ! कितनी बात की है !

'जो सत्यारथरुप सो निश्चय...' है न ? **'कारण सो व्यवहारो।'** कारण अर्थात् कि इस (सच्चे) कारण से यह दूसरा कारण है। यह कारण जो है, वह तो (सत्य है)। किसका कारण ? मोक्ष के मार्ग की बात है। मोक्ष का मार्ग, तो मार्ग तो कारण हो गया। वह एक कारण है कि शुद्ध भगवान आत्मा की वीतरागी अन्तर दृष्टि होना, उसका-आत्मा का ज्ञान होना, आत्मा में लीनता (होना), वह मोक्ष का मार्ग है। मार्ग अर्थात् कारण। वह कारण उपादानकारण हुआ। तब साथ में विकल्प उत्पन्न हुआ है - सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, नव तत्त्व की श्रद्धा आदि, पंच महाव्रत के परिणाम आदि, शास्त्र का ज्ञान आदि, उसे निमित्तकारण कहते हैं। भाई ! यह पुस्तक तो साधारण हिन्दी भाषा में है। इसमें यह सब अर्थ भरे हैं। ये सब दिगम्बर बहुत वर्षों से पढ़ते थे, परन्तु उन्हें कहीं (अर्थ का पता नहीं था)।

निमित्तकारण - निश्चयमोक्षमार्ग का उपचार कारण, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। इसे पहले उन्हें भलीभाँति जानना और निर्णय करना चाहिए। इसका विशेष भाव आयेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ७, रविवार

दि.३०-१-१९६६, गाथा १, प्रवचन नं.-१२

'दौलतरामजी' कृत तीसरी ढाल है। इसमें पृष्ठ ४३ है। अन्तिम आता है, देखो ! **'मोक्षमार्ग का दो प्रकार से विचार करना चाहिए...'** यह शब्दार्थ है ? मोक्षमार्ग जो है, आत्मा को पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का कारण – ऐसा मोक्ष का मार्ग। मार्ग कहो या उपाय कहो या कारण कहो। आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसकी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, पूर्ण सुख की, शान्ति की प्राप्ति (होना), उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्ष का उपाय कहो, कारण कहो, मार्ग कहो – वह कहते हैं कि दो प्रकार से विचार करना – ऐसा इसमें लिखा है।

विचार करना अर्थात् दो प्रकार से उसे जानना। उसमें **'जो सत्यार्थरूप वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है।'** उनके शब्द में ही है, देखो ! समझ में आया ? क्योंकि यह आत्मा अन्तर्मुख दृष्टि करने से, अन्तरस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और लीनता होने पर उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। समझ में आया ? अनादि से जो बहिर्मुख दृष्टि है, शुभ-अशुभ आदि क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रतादि सब बहिर्मुख वृत्ति है। उसे जब पहला आत्मस्वभाव, उसके अन्तर्मुख का स्व आश्रय ले, चिदानन्द पूर्ण शुद्ध आनन्द ज्ञायकभाव है, उसका प्रथम आश्रय ले, तब उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। देखो ! इसलिए निश्चय प्रथम कहा है और व्यवहार कथन में दूसरी बात बाद में ली है। समझ में आया कुछ ?

निश्चयमोक्षमार्ग सत्यार्थरूप है। सत् स्वरूप जो आत्मा, शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञायक, उसका स्वआश्रय, अन्तर्मुख... अन्तर्मुखदृष्टि हुई और जो ज्ञान तथा स्थिरता होती है, उसका नाम सत्यार्थ, सच्चा, मुख्य, परमार्थ मोक्षमार्ग कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? अथवा उसे शुद्ध मोक्षमार्ग कहा जाता है। सत्यार्थ कहो, शुद्ध कहो या सत्यार्थ को यहाँ मुख्य कहो, क्योंकि स्वयं आगे लेंगे। अन्तिम गाथा है, भाई ! अन्तिम गाथा। मुख्य-उपचार ! वहाँ

भी मुख्य पहले और उपचार बाद में लेंगे। छहढाला में अन्त में (छठवीं ढाल में) १४वीं गाथा में है। मुख्य-उपचार, समझ में आया ? मुख्य कहो या निश्चय कहो या सत्यार्थ कहो या शुद्ध कहो। आत्मा अन्तर चिदानन्द प्रभु, अन्तर की शक्ति का अवलम्बन । स्व सत् स्वरूप पूर्णानन्द को अन्तर में अवलम्बन कर, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होवे, वह सच्चा मार्ग है, वह शुद्ध-पवित्र मार्ग है, मुख्य मार्ग है, वही यथार्थ अनुपचार मोक्षमार्ग है। कहो, है इसमें ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, है या नहीं इसमें ? इसीलिए तो मुख्य-उपचार का दृष्टान्त दिया, अन्तिम ढाल का; चौदहवीं गाथा है। अन्तिम, अन्तिम (ढाल) की चौदहवी (गाथा) है। देखो ! यह अन्त में स्वयं समाप्त करते हुए लेंगे। देखो ! पन्द्रहवीं एक बाकी रहेगी। सोलहवीं तो... है। समझ में आया ? वह तो ग्रन्थरचना का (काल कहा है।) चौदहवीं में है, देखो ! '**मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागी रत्नत्रय धरै...**' है ? मुख्य उपचार । मुख्य अर्थात् निश्चय, मुख्य अर्थात् निश्चय - यह सिद्धान्त भी यहाँ डाल दिया है, भाई ! निश्चय अर्थात् मुख्य - ऐसा नहीं; मुख्य अर्थात् निश्चय - ऐसा सिद्धान्त भी डाल दिया। मुख्य-उपचार दो भेद। उपचार अर्थात् आरोपित; मुख्य अर्थात् उचित, यथार्थ। उपचार अर्थात् आरोपित व्यवहार, निमित्तरूप से हो वह। दो भेद। '**बड़भागी रत्नत्रय धरै; अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश चल जग मल हरैं।**' कहो समझ में आया ?

इसलिए कहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द की ध्रुव धातु, ध्रुव.. ध्रुव... चैतन्य ध्रुव धातु अर्थात् जिसने चैतन्यपना, शुद्धपना, ध्रुवपना, आनन्दपना ध्रुवरूप से धारा है अर्थात् टिकाया है - ऐसे द्रव्य का अवलम्बन करके, स्व सत् स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्थिरता होवे, उसे ही मुख्य, शुद्ध, निश्चय, सत्यार्थ, यथार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं।

अब (कहते हैं) '**जो निश्चयमोक्षमार्ग का निमित्तकारण है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।**' '**कारण सो व्यवहारो** ' - ऐसा कहा है न ? '**कारण सो व्यवहारो**' - ऐसा शब्द पड़ा है। '**कारण सो व्यवहारो।**' उसमें पीछे 'उपचार' कहा था। उसके साथ जो निमित्तकारण

है अथवा मुख्य, वह निश्चय कहा; इसलिए गौण, वह व्यवहार कहा। शुद्ध, उसे निश्चय कहा तो यह अशुद्ध है, उसे व्यवहार कहा। समझ में आया ? शुद्धस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से प्रकट हुई शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र को शुद्ध मोक्षमार्ग कहा तब जो विकल्प - रागादि है, उसे अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा। अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा, उपचार मोक्षमार्ग कहा, असत्यार्थ मोक्षमार्ग कहा, गौण मोक्षमार्ग कहा। समझ में आया ? **'उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।'** लो ! इन शब्दों में ही इतना तो निकलता है। भाई ! निकलता है या नहीं इसमें ? पीछे है या नहीं ? ऐ..ई ! है ? दूसरे लड़कों ने (पुस्तक) रखें हैं या नहीं ?

अब, इसका भावार्थ। यहाँ तो क्या बात सिद्ध करनी है ? कि पहले आत्मज्ञान हुए बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता। आत्मा, जो शुद्ध स्वरूप से है, पवित्र है, उसे अन्तर में पकड़े बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता अर्थात् श्रुतज्ञान (नहीं) होता अर्थात् भाव श्रुतज्ञान परिणमित नहीं होता। वह वस्तु ज्ञान-स्वरूप है न ? तो ज्ञान तो गुण है, परन्तु उस गुण का त्रिकालपना है, उसे अन्तर में अवलम्बन कर जो भावश्रुत (ज्ञान) परिणमित होता है, भले मतिज्ञान के साथ ही होता है। समझ में आया ? अभी अवधि, मन:पर्यय, केवल की जरुरत नहीं है यहाँ तो पहले भावश्रुत(ज्ञान), जिसकी ताकत स्वसंवेदन से पकड़ने की है। वह ज्ञायकमूर्ति है, अकेला ज्ञान का पुंज प्रभु है, - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान, वह आत्मा के आश्रय से प्रकट होता है। इसलिए आत्मा के आश्रय बिना श्रुतज्ञान प्रकट नहीं होता और श्रुतज्ञान प्रकट हुए बिना, उसके-प्रमाणज्ञान के जो दो भाग नय, वे नहीं हो सकते। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, परन्तु यह है ऊँची ! ऐ... भाई ! अभी यह बड़ी गड़बड़ है न ? अभी अनादि की गड़बड़ ऐसी की ऐसी चलती है।

कहते है कि - भगवान आत्मा जो ज्ञान की मूर्ति चैतन्यस्वभाव, उसका अन्तर में सम्यक् आश्रय होकर, साथ में दर्शन तो हुआ; परन्तु यहाँ नय की व्याख्या करनी है - निश्चय और व्यवहार। निश्चय और व्यवहार। इसमें आत्मा ज्ञानस्वरूप सत्, सत्व स्वरूप, ज्ञान का सत्व आत्मा है, आनन्द का सत्व आदि अनन्त गुणों का एकरुप, उसका ज्ञान होने पर उसे भावश्रुतज्ञान कहा जाता है और प्रथम वह भावश्रुतज्ञान न होवे तो उसे नय नहीं हो सकता। व्यवहार और निश्चय नय, ये श्रुतज्ञान के दो पहलू है, दो भाग है। एक श्रुतज्ञान होता है, उसके

दो भाग है। समझ में आया ? जैसे शरीर होवे तो उसके दो पहलू होते है - दायां और बायां। इसी प्रकार भावश्रुतज्ञान होता है, उसके दो पहलू है - एक निश्चय और एक व्यवहार। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़ता है न ?

आत्मा है, आत्मा वस्तु है न ? तो अनन्त अनन्त गुणरत्न का सागर है। वह तो कल कहा गया था न ? कल सवेरे बहुत कहा गया था। समझ में आया ? वह महारत्न है, वह तो महा-महा रत्न है, क्योंकि यह जो सम्यक् रत्न है, निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, वे स्वद्रव्य के आश्रय से प्रकट होते हैं, उन्हे रत्नत्रय कहते हैं। उस रत्नत्रय का फल केवलज्ञान आदि अनन्त गुण की पर्याय है, तो केवलज्ञान आदि अनंततगुण की पर्यायें तो महारत्न हुई। और केवलज्ञानादि एक-एक महारत्न हैं - ऐसी अनन्त केवलज्ञान की पर्यायोंरूपी रत्न एक ज्ञानगुण में इतने अनन्त रत्न पड़े हैं। वह ज्ञानगुण तो महारत्न से महारत्न बड़ा हुआ और ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का पिण्ड, वह द्रव्य; वह तो महा... महा... महा... रत्न हुआ। समझ में आया ? ऐसे भगवान महारत्न के आश्रय से जो सम्यक् श्रुतज्ञान - जो सम्यक् श्रुतज्ञान, जो सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न (प्रकट हुआ, उसे) अब यहाँ रत्न कहना है न ? भावश्रुतज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है न ? मोक्षमार्ग में दर्शन, ज्ञान और चारित्र निश्चय, वह मोक्षमार्ग है। वह तीन रत्न है; तो श्रुतज्ञान रत्न है न ? महा नही, अभी रत्न कहा न... उसे महारत्न कहा इसलिए, अपने को बोल डालना ऐसा नहीं चलता।

महा तो आत्मा कहा। एक समय में पूर्ण बड़ा महाप्रभु है। उसमें से प्रकट हुआ श्रुतज्ञान, वह मोक्षमार्ग का एक रत्न है, मोक्षमार्गरूप एक रत्न है। उसका फल केवलज्ञान रत्न है। यहाँ तो मार्ग की व्याख्या लेना है न ? तो मार्ग प्रकट हुआ श्रुतज्ञान से। सम्यग्दर्शन और चारित्र साथ है, परन्तु हमें यहाँ नय की व्याख्या करनी है न ? इसलिए जो भावश्रुतज्ञान प्रकट हुआ - तब उसके दो भाग - निश्चय और व्यवहारनय होते हैं; इसलिए पहले व्यवहार और बाद में निश्चय - ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं हो सकता। समझ में आया ?

पहले व्यवहार (बाद में) निश्चय (एसा) उसमें नहीं हो सकता। केवलज्ञानी का निर्णय करो कि -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

वहाँ दर्शन की व्याख्या से बात ली है। भगवान सर्वज्ञ की एक समय की पर्याय है; द्रव्य और गुण तो सामान्य है। सर्वज्ञ की पर्याय में ऐसी ताकत है। अनन्त केवलज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि; उस पर्याय का जहाँ निश्चय करने जाते हैं, तब भले उन अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय(का) विकल्प में ख्याल लिया, परन्तु उसे व्यवहार कब कहा जाता है ? उससे हटकर और आत्मा '**अप्पाणं जाणदि**' - आत्मा अखण्ड ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है - ऐसा जहाँ जाने, वहाँ उसे दर्शनमोह का नाश होकर समकित होता है। समकित हुआ, (उसके) साथ भावश्रुतज्ञान होता है। उसमें भी आगे-पीछे नहीं रहा कि पहले राग था (- ऐसा नहीं)। पहले श्रुतज्ञान का विकल्प भले ही था, उसे 'परमात्मप्रकाश' में नैगमनय से (कारण) कहा, परन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है। कारण तो यहाँ '**अप्पाणं**' जाना, ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ - ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना, तब उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान और श्रुतज्ञान हुआ, प्रमाणज्ञान हुआ। यह प्रमाणज्ञान हुआ, वह स्व को जाने, वह निश्चय और फिर राग बाकी रह गया, व्यवहाररत्नत्रय का राग रहा, उसे जाने, वह व्यवहार; परन्तु यह जाने निश्चय, तब व्यवहार साथ हुआ। समझ में आया ? सूक्ष्म बहुत, भाई ! इसमें विवाद उठा है। इसमें लिखावट में भी बहुत जगह (आता है कि) पहले व्यवहार की प्राप्ति होती है, फिर निश्चय तो उसमें आ जाता है; उसकी प्राप्ति के लिए अलग पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है - ऐसा इसमें लिखा है। परन्तु निश्चय के बिना व्यवहार कहना किसे ? सुन न !

अनादि काल से परसन्मुखता के विकल्प तो अनन्त बार किये। शास्त्र सम्बन्धी, श्रद्धा सम्बन्धी, व्रत सम्बन्धी... समझ में आया ? परन्तु स्वभूमिका का पता चले बिना उसको व्यवहार कहना किसे ? वस्तु पूर्ण है, एक समय में अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य है। उसकी दृष्टि और ज्ञान (की) सम्यक् भूमिका प्रकट हुए बिना उसे (राग को) यह व्यवहार है - ऐसा आरोप कहाँ से आयेगा ? यों तो अनादि से परविकल्प तो किया ही करता है। नौंवे ग्रैवेयक गया तो व्यवहार श्रद्धा... भले निश्चय बिना व्यवहाराभास है - श्रुत का व्यवहार ज्ञान, नव-नव पूर्व का ज्ञान और पंच महाव्रत के परिणाम, यह व्यवहार नहीं हुआ; क्योंकि जहाँ नय ही

नहीं है, वहाँ व्यवहार आया कहाँ से ? अकेला पुण्यबन्ध हुआ, मिथ्यादृष्टि के साथ, मिथ्याज्ञान के साथ। समझ में आया ? ऐसे परसन्मुखता के व्यवहार ज्ञान के निश्चयरहित के विकल्प (किये), उन्हें व्यवहार भी लागू नहीं पड़ता। व्यवहार लागू (नहीं) पड़ता। यह सब नौवें ग्रैवेयक (गये, तब) नव पूर्व का ज्ञान पंच-महाव्रत, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा उसने की है; नहीं की - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? उसे मोक्षमार्ग प्रारम्भ नहीं हुआ।

यहाँ स्वसत्ता चैतन्य भगवान का अवलम्बन किया, उसका ज्ञान प्रमाणज्ञान हुआ, इसलिए यहाँ निश्चय को जानना, उसका नाम यथार्थ (कहा), व्यवहार को जानना, उसका नाम उपचार ज्ञान कहा, इसलिए व्यवहार पहले, निस्चय बाद में - ऐसा वस्तु में नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं कि **'उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।'** समझ में आया ? किसे ? अशुद्धपना, राग बाकी रहा; शुद्ध का भान हुआ, तब अशुद्धपने का राग बाकी रहा, उस अशुद्ध को अशुद्ध व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ निश्चय-शुद्ध को शुद्ध-सत्यार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं और अशुद्ध को गौणरूप से असत्यार्थ मार्ग कहते हैं। इस प्रकार (है)। अन्यथा वस्तु स्थिति किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। नहीं ज्ञान सिद्ध होता; नहीं नय सिद्ध होते; नहीं निश्चय सिद्ध होता; नहीं व्यवहार सिद्ध होता। समझ में आया ? इसीलिए तो वे श्वेताम्बर (के साधु) कहते हैं - 'निश्चयनय पहले कहे, पीछे ले व्यवहार।' परन्तु वह ऐसा ही है, पीछे ले क्या ? निश्चय होवे तब ही उसे (राग को) व्यवहार कहा जाता है। दूसरा व्यवहार कहना किसको ? यह बात तो (उस साधु ने कही है और) ८४ बोल का दिगम्बर का दोष निकाला है। है ? (ऐसा कहते हैं), तुम्हे कुछ पता नहीं होता। समझ में आया ?

अरे...! स्व चैतन्य भगवान, अकेली चैतन्य धातु, जिसने अनादि-अनन्त धारण कर रखी है - ऐसा तत्व, ऐसे चैतन्य के अन्दर में एकाग्र हुए बिना इस चैतन्य का भावश्रुत का अंकुर फूटेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आया ? भावश्रुतज्ञान का अंकुर उस भूमिकामें से प्रकटता है। कहीं राग के विकल्प में से ज्ञान नहीं आता। क्या कहा ? दया, दान, व्रतादि शुभराग है न ? या बाह्य शास्त्रज्ञान व्यवहार, वह सब विकल्प-राग है, उसमें से यह अंकुर नहीं आता। उस अंकुर में-राग में वह ताकात कहाँ है ? समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म !

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का सागर अनन्त गुणों का रत्नाकर चैतन्य-रत्नाकर प्रभुमें से अंकुर उगा। एकाग्र होने से अंकुर उगा, उसे भावश्रुतज्ञान कहते हैं। उसके साथ दृष्टि हुई, उसे सम्यक् कहते हैं, उसके साथ स्थिरता हुई, उसे चारित्र कहते हैं। भाई ! कहते हैं - राम, राम... राम.. राम... राम करो जाओ ! भजन करो, जाओ, आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा। कहो, समझ में आया ? भाई ! वह राम-राम अर्थात् आत्मा राम।'निजपद रमे सो राम कहीए।' 'आनन्दघनजी' ने ऐसा कहा है।'निजपद रमे सो राम कहीए।' दूसरा राम कौन ? अपने अखण्ड आनन्द ज्ञायकस्वरूप में एकाग्र होवे, उसे राम कहा जाता है। उस आत्मा राम को जानने पर जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे भावश्रुतज्ञान का अंकुर-प्रमाणज्ञान कहा जाता है। और वह प्रमाणज्ञान, जैसा केवलज्ञान प्रमाण है, वैसा ही यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। जैसे केवलज्ञान प्रमाण है, वैसे यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान की तरह ही सभी वस्तु व्यवस्थित दिखती है, उसे जैसे जानता है; वैसे श्रुतज्ञान भी प्रमाणज्ञान द्वारा स्व का पूर्णपना और प्रत्येक पर्याय का क्रमपना वह श्रुतज्ञान में भलीभाँति जैसा है, वैसा जानता है, उसे आगे-पीछे नहीं होता। ऐसे श्रुतज्ञान के दो भाग पड़े कि जो निश्चय को जानता है, उसे सत्यार्थ ज्ञान कहा जाता है; व्यवहार को जानता है, उसे उपचार ज्ञान और आरोपित ज्ञान कहा जाता है। वह व्यवहारनय कहलाता है।

अब, यहाँ लिखावट में यह बात लेनी है कि (भावार्थ) :- १. '**सम्यक्चारित्र...**' आत्मा में शुद्ध स्वरूप की रमणता (होवे), वह क्या चीज़ है कि जिसमें रमना है ? उस चीज़ की श्रद्धा और ज्ञान बिना उसमें स्थिरता नहीं हो सकती। क्या कहा, कुछ समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् स्थिरता; स्वरूप में स्थिरता... परन्तु स्वरूप क्या है ? ऐसे स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। भाई ! अद्भुत बात, भाई !

भगवान आत्मा अकेले ज्ञान की खान है। समझ में आया ?'श्रीमद्' तो एक बार कहते हैं - अरे...! इस अचित् धातु का आभास तो देखो ! ऐसा कहा। विकल्प आदि उठते हैं न ? अचिद् धातु (है) और यह चिद् धातु है। भगवान अकेली ज्ञान की धातु.. ज्ञान को धारण की हुई चीज़ ऐसा। ऐसे भगवान आत्मा में स्थिरता कब हो सकती है ? स्थिरता। चारित्र कहो, चरना कहो, रमना कहो, भोजन करना कहो - यह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही होता है।

अर्थात् ? कि यह स्वरूप शुद्ध पवित्र है – ऐसा अन्तर दर्शन – श्रद्धा हुई, उसका ज्ञान हुआ, तब उसमें स्थिर हुआ जा सकता है। अभी दर्शन–श्रद्धा, ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् सच्ची रमणता, सच्ची लीनता; तो लीनता किसमें करना ? किसमे हुई ? जो चीज़, जिसमें लीनता हुई, वह चीज़ – स्वरूप आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है; उसके दर्शन और ज्ञान बिना उसमें लीनता नहीं हो सकती। कहो, ठीक है ? है इसमें, लिखा है ?

'जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है।' निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ अर्थात् यह चीज़ शुद्ध अखण्ड है – ऐसी रुचि – दृष्टि प्रकट हुई, उसके साथ ही उसका ज्ञान सच्चा होता है। समझ में आया ? दर्शन कारण है, ज्ञान कार्य है, तथापि दोनों एक समय में (साथ में है।) यह वस्तु शुद्ध चैतन्य ज्ञानपुंज है – ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, तब प्रतीति के साथ सम्यग्ज्ञान, उसके स्वज्ञेय को पकड़ने का ज्ञान साथ में होता है, उस ज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं। समझ में आया ? यह तो वस्तु ऐसी है न ?

यहाँ से (बात) उठाई है। तीसरी ढाल (यहाँ से) शुरु की है। **'जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।'** यहाँ से शुरुआत की है। दो कहा सही, द्विविध विचार करने को कहा, जानने को कहा, परन्तु एक सत्यार्थ को सत्यार्थरूप से जानना और अशुद्ध को अशुद्धरूप से गौणरूप से, उपचाररूप से जानना – ऐसा कहा। पाठ में ही यह भरा है। है या नहीं ? यह पुस्तक तो सबके हाथ में है। ऐ...ई..! है या नहीं इसमें ? ऐसा अर्थ सुना था या नहीं ? पढ़ा था या नहीं ?

'निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ...' अर्थात् ? आत्मा अनन्त गुण का पवित्र धाम है – उसका निर्णय हुआ; उसका हुआ निर्णय, निर्णय के साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है, क्योंकि निर्णय, वह कारण है और ज्ञान, वह कार्य है, तथापि उस कारण–कार्य का सम्बन्ध एक समय में है। समझ में आया ? जैसे दीपक और प्रकाश एकसाथ होते हैं, परन्तु दीपक कारण कहलाता है और प्रकाश कार्य कहलाता है; तथापि पहले – बाद में नहीं है, फिर भी दीपक को कारण कहते हैं और प्रकाश को कार्य कहा जाता है। इसी तरह आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध पवित्र है, यह आत्मा अनाकुल आनन्द का धाम है, उसका अन्तर निश्चय... निश्चय... निश्चय...

निर्णय, सम्यक् अनुभव हुआ, उसके साथ जो ज्ञान होवे, उसे सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो 'छहढाला' में है। ऐ..ई ! यह है या नहीं ? तुमने कितनी बार रट लिया ? घण्टी लाओ, पड़ लाओ, एक घण्टी का पड़ पड़ा रहा, दूसरा लाओ (– ऐसा कहे) परन्तु यह घण्टी का पड़ तो पहले पहिचाने, निश्चय चक्र यह है और विकल्प का चक्र दूसरा व्यवहार अशुद्ध है।

'सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है और निश्चयनय तथा व्यवहारनय, दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) है...' क्या कहा ? आत्मा के निश्चय में आया, निर्णय में आया, नियमरूप जो सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ; नियमरूप अर्थात् निश्चय (आया कि) यह शुद्ध निर्विकल्प आनन्द ज्ञान है। आत्मा अकेला ज्ञान का पुंज है। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान' आता है न ? श्रीमद् में ! 'देह भिन्न केवल चैतन्य' – अकेला चैतन्य, अकेला चैतन्य... अकेला चैतन्य, (उसका) ज्ञान। उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। उस श्रुतज्ञान के दो भाग – एक निश्चयनय, एक व्यवहारनय। दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश अवयव है। कहो, ठीक है।

'इसलिए मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकता।' जहाँ तक इसकी रुचि पुण्य-पाप के राग में, अस्तित्व दृष्टि पड़ी है, पुण्य-पाप के विकल्प के प्रेम में – रुचि में, आसक्ति में, लीनता में रुचि पड़ी है, तब तक इसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सही है ? और सम्यग्ज्ञान नहीं होता, इसलिए निश्चय और व्यवहार... उसके दो पहलू नहीं होते। वस्तु ही नहीं है, वहाँ दो पहलू कहाँ से लाना ? **'इसलिए व्यवहारनय प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रकट होता है - ऐसा माननेवाले को नयों का स्वरूप...'** अथवा वास्तविक दृष्टि का पता नहीं है। आता ही नहीं, परन्तु आवे कहाँ से ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा..! चाहे जितना जानपना हो, या पंच महाव्रत का विकल्प (हो), वह तो सब बहिर्मुख घोलन है, वह तो बहिर्मुख है। इस प्रकार अन्तर्मुख की सत्ता भगवान, महा अनन्त सत्ता आत्मा की है। वह जब तक दृष्टि में नहीं आवे, तब तक उसे नय का ज्ञान (नहीं होता)। प्रमाणज्ञान नहीं है तो फिर नय कहाँ से आये ? समझ में आया ? इसलिए जिसकी दृष्टि पुण्य और पाप की रुचि में पड़ी है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इसलिए उसे निश्चय और व्यवहार, ज्ञान के दो अंश भी नहीं होते। समझ में आया ? आहा..हा..! भारी विवाद... यह एक बोल हुआ।

दूसरा (बोल) :- '**(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते...**' अर्थात् क्या ? यह तो ऊपर आ गया है कि प्रमाणज्ञान हो, वहाँ दोनों नय साथ ही होते हैं; अकेला नहीं होता। निरपेक्ष अर्थात् व्यवहार होवे और निश्चय न होवे और निश्चय होवे और व्यवहार न होवे, नीचे की बात है, हाँ ! ऊपर की बात नहीं है। '**निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट हुए पहले...**' अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य के अन्तर्मुख की निश्चयदृष्टि किये बिना, अन्तर को पकड़े बिना, जो अनादि से बाह्य को पकड़ा है, शुभाशुभरागादि, बाह्य शास्त्रज्ञान... उसमें से अन्तर को पकड़े बिना उसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता; अत: सम्यग्दर्शन से पहले यह व्यवहारनय होवे तो निश्चयनय की अपेक्षा रहित हुआ। समझ में आया ? पहले व्यवहार कहो तो निश्चय नहीं तो व्यवहार किसे कहना ? सूक्ष्म बात है ! यह पूरा विषय ही (सूक्ष्म है)।

दो कहा न ? सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, वह निश्चय; उसके समक्ष असत्यार्थ, मिथ्या, झूठा, अशुद्ध, गौण, निमित्तकारण, उसे व्यवहार कहा जाता है। समझ में आया ? तो जहाँ निश्चय-स्वआश्रित दृष्टि नहीं हुई, उसे पराश्रित राग का ज्ञान पहले कहना और स्व का बाद में कहना - ऐसा नहीं हो सकता। कहो, इसमें समझ में आया ? '**तथा प्रथम अकेला व्यवहारनय होवे तो अज्ञानदशा में...**' सम्यग्ज्ञान माना पड़ेगा। जहाँ अन्तर्मुख दृष्टि हुई नहीं और अनादि का बहिर्मुखता का झुकाव है, उसे सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा, व्यवहार को प्रथम कहो तो... परन्तु बहिर्मुखता के अकेले भाव में व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

'**निरपेक्षा नया: मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत (आप्तमीमांसा, श्लोक १०८) ऐसा आगम का वचन है।**' परन्तु न्याय से भी उसे जानना या नहीं ? बहिर्मुखता के अकेले विकल्प को व्यवहार कहो, तब तो यहाँ निश्चय तो नहीं है और अकेला व्यवहार रहा; निरपेक्ष हो गया। व्यवहार अकेला निरपेक्ष (हुआ)। निश्चय की अपेक्षा रहित का व्यवहार रहा, तो मिथ्या हो गया। समझ में आया ? प्रथम व्यवहार कहो - परलक्ष्यी ज्ञान, परलक्ष्यी राग - उस व्यवहारचारित्र को यदि व्यवहार कहो तो अकेला रहा, निश्चय तो आया नहीं; निश्चय रहित नय अर्थात् निरपेक्ष (हुआ) तो मिथ्या हुआ। वह मिथ्या है, इसलिए नय नहीं है। उसे (नय) नहीं हो सकता, भाई ! समझ में आया ? सूक्ष्म (है)। व्यापार करके 'मुम्बई' गये थे न ? वहाँ

फँसे तो यह समझ में नहीं आयेगा। आहा..!

'इसलिए अज्ञानदशा में...' अर्थात् बहिर्मुख की दृष्टि के विकल्प के ज्ञान में कभी नय हो नहीं सकता; अर्थात् व्यवहारनय हो नहीं सकता। व्यवहाराभास है। अर्थात् कि वस्तु के भान बिना अकेले विकल्पात्मक ज्ञान में, विकल्पात्मक राग की श्रद्धा में व्यवहाराभास कहा जाता है और यहाँ जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ और वहाँ व्यवहार विकल्प आदि न होवे तो निश्चयाभास कहा जाता है। जो पूर्ण नहीं हुआ, वहाँ विकल्प - व्यवहार तो होता है और वह कहे कि हमे वह विकल्प नहीं होता तो वह भी निश्चयाभास कहा जाता है; क्योंकि यथार्थ निश्चय प्रकट हुआ हो तो उसे विकल्प आदि भाव निमित्तरूप से, केवलज्ञान न हो, तब तक हुए बिना रहते नहीं। इसलिए कोई कहे कि हमे व्यवहार नहीं होता, तो निश्चयाभास हो गया। निश्चय न होवे तो व्यवहाराभास हो गया व्यवहाराभास अर्थात् मिथ्या। निश्चय मिथ्या और व्यवहार मिथ्या। समझ में आया ?

समझना... समझना... और समझना। आत्मा ही समझ का पिण्ड है। केवलज्ञान समझ है, श्रुतज्ञान भी समझ है और आत्मा समझ का पिण्ड है। आहा..हा..! ज्ञान का पिण्ड, ज्ञान का झोकड़ा है। भगवान ज्ञानरत्न का पूर्ण झोकड़ा है। आहा..हा..! अन्तर में उसका ज्ञान प्रकट हो, तब उस विकल्प को - व्यवहार को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? और व्यवहार के बिना निश्चय कैसा ? नीचे, हाँ ! पूर्ण हो गया और तो फिर प्रमाण पूरा हो गया। समझ में आया ?

इसलिये कहते हैं - **'(३) जीव निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रकट करे...'** देखो ! भगवान आत्मा चैनत्यमूर्ति जो रागरहित चीज़ है, जो आस्रवतत्त्व - पुण्य-पाप के हैं और अजीवतत्त्व - कर्म, शरीर है - उनसे रहित वह चीज़ है। उनसे रहित चीज़ में आस्रव नहीं है। ऐसी चीज़ का सम्यग्दर्शन-ज्ञान करे, तब वह आस्रव-विकल्प जो निमित्तरूप से व्यवहार आता है, तब उसे उपचार से मोक्ष का मार्ग आरोप किया जाता है। समझ में आया ?

'तब सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व...' देखो ! अकेले एक स्वतत्त्व का भलीभाँति भान हुआ,

तब सर्वज्ञ कथित, हाँ ! दूसरे – अन्य के कथित नहीं; क्योंकि सर्वज्ञस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वभावी है, उसका ज्ञान हुआ, वह निश्चय हुआ; उसके साथ सर्वज्ञ द्वारा कथित नव(तत्त्व) के भेदवाला ज्ञान, नव तत्त्व का ज्ञान, वह भेद-ज्ञान है, व्यवहार ज्ञान है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

'**नव तत्त्व, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...**' सच्ची सर्वज्ञदेव, अपने सर्वज्ञ परमात्मा की श्रद्धा हुई, तब व्यवहार में दूसरे सर्वज्ञदेव ऐसे होते हैं – ऐसी उनकी विकल्पात्मक श्रद्धा होती है। समझ में आया ? यह सर्वज्ञस्वभावी अर्थात् यह तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही है। फिर ज्ञान में कम, न्यून कुछ नहीं रहता। एक ज्ञान, एक ज्ञान – ऐसा सर्वज्ञ अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वरूप। ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, तब सर्वज्ञ कथित व्यवहार के जो व्यवहाररूप नव तत्त्व, उनकी उसे विकल्परूप श्रद्धा होती है, उस व्यवहार को समकित कहा जाता है। समझ में आया ? यह तो बहुत बोल याद रखना। है या नहीं ? पुस्तक रखा है न ? भाई !

'**सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...**' अर्थात् ? ज्ञायकस्वभाव कहा न ? अकेला ज्ञानस्वभाव भगवान पूर्ण... पूर्ण... प्रभु; उसका जहाँ सम्यग्ज्ञान, दर्शन हुआ, तब भगवान द्वारा कथित भेदवाले नवतत्त्व, दूसरे सर्वज्ञदेव, उसके साधक गुरु, उनको कहनेवाले शास्त्र, इन सम्बन्धी – परद्रव्य सम्बन्धी श्रद्धा-राग मिश्रित विचार, यह सब तो परद्रव्य हुए न ? स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान हुए, तब अभी विकल्प बाकी रह गया है। जो परद्रव्य-सर्वज्ञदेव-शास्त्र-गुरु और नवतत्व की श्रद्धा का राग, उसे होता है।

'**राग मिश्रित विचार और मन्द कषायरूप शुभभाव होवे, उस जीव को जो पूर्व में था, उसे भूतनैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है।**' यह किस अपेक्षा से कहा ? '**जो जाणदि अरहंत**' – कहा था न ? जो अरिहन्त को जानता है, तब अरिहन्त को (जानने में) पर तरफ के विकल्प थे। यह अरिहन्त ऐसे हैं; द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे हैं, (फिर) ऐसे हटकर अपने सर्वज्ञस्वभाव का ज्ञान हुआ, तब उस विकल्प को नैगमनय से कारण कहा गया है। समझ में आया ? प्रवचनसार में ८०वीं गाथा में कहा न ? '**जो जाणदि अरहंत,**' वे तो परद्रव्य हैं। '**दव्वत्तगुणपज्जयत्तेहिं**' उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, तब तो वह विकल्प था, वह तो पर

तरफ का विकल्प था। उसे छोड़कर अन्दर निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, तब उस विकल्प को 'उससे हुआ' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया ?

यहाँ तो अपने नैगमनय को अरिहन्त के साथ मिलाया। अरिहन्त ऐसे, द्रव्य–गुण–पयार्य (ऐसे) – ऐसा पहले परसन्मुख ज्ञान हुआ, वह वृत्ति परसन्मुख है। ऐसा वह आत्मा, ऐसा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, एक समय की ऐसी ताकत है, ऐसी ताकत तो द्रव्यमें से प्रकट हुई है। मेरा द्रव्य भी ऐसा है। इस प्रकार अन्दर द्रव्य में जाकर जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान प्रकट होता है, तब जो विकल्प का, व्यवहार का ज्ञान था अथवा देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा का उस प्रकार का राग था, उसे नैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है। इसमें समझ में आया ? सब बोल ऐसे (हैं), यह तो निश्चय और व्यवहार के बोल ही सब ऐसे हैं। आहा..हा..! 'परमात्मप्रकाश' की दूसरे अध्याय की १४वीं गाथा की वह नैगमनय की टीका है। समझ में आया ?

'तथा उसी जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं...' उसने सर्वज्ञस्वभावी जाना है, माना है, उसे विकल्प में भी सर्वज्ञ कथित तत्त्व और विकल्प और निमित्त व शुभराग ऐसा ही होता है; दूसरा नहीं हो सकता – ऐसा बताने के लिए **'उनका सहचरपना बताने को...'** विकल्प साथ होता है। भगवान सर्वज्ञ प्रभु, अकेला जाननेवाला, कहीं अटकनेवाला नहीं – ऐसा उसका स्वरूप है, चैतन्य का, हाँ ! ऐसे चैतन्य के, ज्ञायक के स्वभाव को जाना, तब उसकी भूमिका में, अभी अधूरा है; इसलिए उसका ज्ञान और विकल्प, सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व की श्रद्धा और उनके द्वारा कथित चारित्र के विकल्प की मर्यादा उस भूमिका में होती है – इतना बतलाने के लिए उसे व्यवहार कहा है। समझ में आया ? यह सब समझने योग्य है। यह छहढाला तो लड़के बहुत पढ़ते होंगे। हैं ? कहाँ गया ? यह सब पढ़ते हैं या नहीं ? वहाँ अपने पढ़ाते हैं या नहीं ? तो फिर ध्यान रखना चाहिए न इसमें क्या है ? आ..हा..! क्या कहा ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वस्तु प्रभु, यह आत्मा, हाँ ! उसका निश्चय दर्शन होने पर सर्वज्ञ कथित भेदवाले नव तत्त्व या छह द्रव्य आदि की श्रद्धा; सर्वज्ञ की श्रद्धा या गुरु–शास्त्र की श्रद्धा; जिस शास्त्र ने सर्वज्ञपना कहा, जिसे सर्वज्ञपना प्रकट हुआ या जो सर्वज्ञपना साध रहे

हैं – भाई ! इस प्रकार तीन लिये। ठीक ! सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की दृष्टि हुई, सर्वज्ञ कथित शास्त्र, शास्त्र द्वारा कथित सर्वज्ञ का स्वरूप सन्त अथवा सर्वज्ञता को साधनेवाले गुरु और सर्वज्ञपना पर, उसे ऐसे श्रद्धा-ज्ञान की भूमिका में ऐसा ही विकल्प होता है; दूसरा नहीं हो सकता। आहा..हा.. ! कुछ समझ में आया ?

'उसका सहचरपना...' शुद्ध सर्वज्ञ आत्मस्वभाव की प्रतीति के साथ ऐसे ही सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ के साधनवाले गुरु; सर्वज्ञपना जिन्होंने सिद्ध किया है – ऐसे शास्त्र। समझ में आया ? और उनके द्वारा कथित नव तत्त्व, उसका सहचरपना (होता है)। निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसे विकल्प का सहचरपना होता है – साथ होता है। सहचर – साथ में। पहले नैगमनय से कहा था। **'जो जाणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणादि अप्पाणं'** कुछ समझ में आया ? यह साथ में कहा था। उसे अभी राग है न ? इसलिए उस प्रकार का विकल्प (होता है।) सर्वज्ञ परमेश्वर की श्रद्धा का राग, सर्वज्ञ के साधक ऐसे गुरु का विकल्प और सर्वज्ञ को सिद्ध करनेवाले शास्त्र। शास्त्र तो सर्वज्ञपना सिद्ध करते हैं, अर्थात् वीतरागपना सिद्ध करते हैं। वीतरागपना सिद्ध करते है न ? और वीतरागपना शास्त्रका तात्पर्य है। ऐसे शास्त्र की श्रद्धा करना। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सहचरपना, ऐसा ही विकल्प और ऐसा ही ज्ञान होवे, उसे व्यवहार कहा जाता है, भाई !

आज तो पोनघण्टे एक ही चला। इसमें कितना याद रखना ? मोटर का कितना याद रखते होंगे वहाँ ? मोटर के पाट्‌र्स... पाट्‌र्स कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? भाग, कितने ही पाट्‌र्स और कितने ही भाग; चारों ओर के याद रहते हैं। तुम्हारे लोहे का कितना याद रहता है ? आहा..हा.. ! इसमें बहुत नहीं है। यह है तो थोड़ा, परन्तु इसका विस्तार समझाने के लिए बहुत कहना पड़ता है। समझ में आया ? वरना तो सर्वज्ञस्वभावी प्रभु की दृष्टि होने पर उनके द्वारा कथित और वे स्वयं और गुरु की, शास्त्र की श्रद्धा का राग आवे, उसे व्यवहार कहा जाता है। लो, यह संक्षिप्त और सार ! अर्थात् उन कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, सर्वज्ञ के अतिरिक्त के, सर्वज्ञ को साधनेवालों के अलावा, सर्वज्ञ को कहनेवाले शास्त्र के अलावा सब निकल गये। कुछ समझ में आया ?

'ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे अलग प्रकार का (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को नहीं हो सकते...' सर्वज्ञ के अतिरिक्त, सर्वज्ञ के साधक गुरु के अतिरिक्त या सर्वज्ञ और वीतरागता को सिद्ध करनेवाले शास्त्र के अतिरिक्त अन्य के देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा उसे नहीं हो सकती। अल्पज्ञ अज्ञानी के कहे हुए तत्त्वों, अज्ञानी की श्रद्धा या अज्ञानी के कहे हुए शास्त्र (इनकी श्रद्धा उसे नहीं होती)। अर्थात् शुभभाव-व्यवहाररत्नत्रय का भाव-व्यवहार होता है तो भी वह वास्तविक कारण नहीं है। सत्यार्थ कारण नहीं, उपचार कारण है, अशुद्ध कारण है, गौण कारण है। मुख्य कारण तो यह निश्चय है।

एक न्याय तो यह है। जैसे ज्ञान में सिद्ध किया, ऐसे आत्मा शुद्ध स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द दो ही गुणों की प्रधानता आत्मा में है। आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है। जैसे पहले ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञस्वभाव सिद्ध किया... समझ में आया ? ऐसे आत्मा आनन्दरूप है; इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख प्रकट हो सकता है। आनन्दरूप है, उसके आश्रय से आनन्द प्रकट होता है। राग, पुण्य और निमित्त कहीं आनन्दरूप नहीं है, स्वयं के आनन्दरूप नहीं है। पुण्य-पाप का विकल्प या निमित्त या संगपना या देव-गुरु-शास्त्र; यहाँ आनन्द है, वह आनन्द उनमें नहीं है; इसलिए यह आनन्द जो आत्मा में है, उसके आश्रय से ही आत्मा को आनन्द प्रकट हो सकता है। ठीक है ? जहाँ आनन्द है, वहाँ आनन्द की नज़र डालने से आनन्द प्रकट होता है।

जैसे ज्ञान-सर्वज्ञपना जहाँ है, वहाँ एकाकार होवे तो सर्वज्ञ की प्रतीति, ज्ञान और रमणता होती है, तो सर्वज्ञ कार्यरूप परिणमित होता है। इसी तरह आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है, इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख होता है। **'परन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रकट नहीं हो सकता।'** क्यों ? कि राग में या निमित्त में वह आनन्द नहीं है। यह आत्मा का आनन्द वहाँ नहीं है। समझ में आया ? (आज) नवमी और रविवार है।

कहते है कि आत्मा जैसे सर्वज्ञस्वभावी है तो उसके आश्रय से ज्ञान की सच्ची प्रतीति हुई और सर्वज्ञपना प्रकटे। राग में कहीं सर्वज्ञपना नहीं है तथा निमित्त में संगपने में सर्वज्ञपना नहीं है कि जिसके आश्रय से वह प्रकटे। ऐसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के अवलम्बन से अतीन्द्रिय आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के कारण से प्रकटे।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आनन्द का ही अंश है। आहा..हा..! समझ में आया ?

वस्तु है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द सुखरूप है। सुखरूप, आनन्दरूप है तो उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वे सुखरूप होते हैं। सुखरूप हों, व पूर्ण सुख को साधनेवाली पर्याय है। आनन्दरूप आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, इस पर्याय को अपूर्ण आनन्द है। वस्तु पूर्ण आनन्द है, पर्याय अपूर्ण आनन्द है। उसे पूर्ण आनन्द का कारण होता है। उस आनन्द के आश्रय बिना पुण्य-पाप के विकल्प, व्यवहार और निमित्त में कुछ आनन्द नहीं है कि उनके आश्रय से प्रकटे। इस आनन्द के आश्रय से अंश प्रकट होता है। समझ में आया ? शुभराग है, व्यवहार जो है, व्यवहार का ज्ञान, व्यवहारिक श्रद्धा, व्यवहारिक राग में कुछ आनन्द नहीं है। आंशिक आनन्द भी नहीं है; पूर्ण आनन्द तो नहीं, आंशिक भी नहीं है। पूर्णानन्द भगवान आत्मा है। उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आंशिक आनन्द प्रकट होता है। राग और निमित्त में अंश भी नहीं है। पूर्ण नहीं और अंश भी नहीं है तो उनके आश्रय से कभी सुख प्रकट नहीं होता; इसलिए उनके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता अर्थात् पूर्ण आनन्दरूपी मोक्ष का कारण अंशराग और निमित्त नहीं हो सकता। समझ में आया ? भाई ! कितने सब बोल इसमें अन्दर समझने योग्य हैं, हाँ ! लिखा है, यह तो उसका अर्थ होता है।

सत्य सिद्धान्त क्या सिद्ध करना है ? कि भगवान आत्मा अकेला आनन्द का ही पिण्ड है। आत्मा अर्थात् अतीन्द्रिय गुण सम्पन्न। एक-एक गुण से लो तो पूर्ण गुणरूपी वस्तु है। जैसे, पहले ज्ञान से लिया तो ज्ञायक ले लिया। अब, आनन्द से लेने पर आनन्दमूर्ति है। वीर्य से (लेवे तो) वीर्यगुण की मूर्ति है। शान्ति कहो तो चारित्र की मूर्ति है। वस्तु... वस्तु एक अखण्ड। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर एकाग्र होवे तो आनन्द का अंश प्रकट होता है। वह आनन्द का अंश प्रकट होता है, उसका नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। और वह पूर्ण होवे तब उसे मोक्ष कहा जाता है। पर्याय का पूर्ण पर्याय में पूर्ण (मोक्ष होता है), वस्तु तो पूर्ण है, पर्याय में पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सुख आदि (प्रकट होते हैं)। समझ में आया ?

इस सुख की दशा का अंश, अंशी के अवलम्बन के बिना नहीं होता; तो वह अंशी तो पूर्ण

आनन्दरूप है। यह राग और निमित् कहीं उसका अंशी नहीं है कि उसमें से आनन्द प्रकटे या उसमें से मोक्ष का मार्ग आवे या उनसे मोक्ष हो, उनसे मोक्षमार्ग, उनसे मोक्ष हो - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? धीरे-धीरे तो कहा जाता है। उसे विचारने में समय रहे ऐसा थोड़ा-थोड़ा (कहा जाता है)। यह तो एक-एक गुण कोई भी लो न (सब में कहा जाता है)। मुख्य तो सब जगह सुख और ज्ञान से ही आत्मा का वर्णन किया है। मांगलिक किया वहाँ (यह कहा), चिदानन्दाय नमः, समझ में आया ? क्योंकि मुख्य वस्तु ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान प्रधान वस्तु है और जगत को आनन्द चाहिए। उसमें वीर्य, श्रद्धा, शक्ति की पूर्णता यह सब उसमें आ जाता है। दूसरे प्रकार से कहे तो, श्रद्धा से कहें तो श्रद्धा नाम का गुण पूरा आत्मा में व्यापक है। आत्मा श्रद्धास्वरूप ही है, लो ! क्या कहा ?

जैसे, यह ज्ञान और आनन्द कहा; ऐसे आत्मा अकेला श्रद्धा का पिण्ड है। सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं, श्रद्धारूप पूरा आत्मा है। उस श्रद्धारूप पूर्ण आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकटती है। यह राग और पुण्य में श्रद्धा है ? श्रद्धा का गुण है कि उसके आश्रय से श्रद्धा प्रकटी, और वह पूर्णानन्द श्रद्धा जो यहाँ प्रकटी, पूरे श्रद्धा (गुणमें से) सम्यक्श्रद्धा प्रकटी, वह पूर्ण अवगाढ़ (समकित) जो केवलज्ञान में प्रगटता है, वह इससे प्रकटता है। रागमें से प्रकटता है ? समझ में आया ? भाई ! पलाखे भी कठिन है।

मुमुक्षु :- आनन्द तो कहीं प्रभु हमे खोजने से मिलता नहीं।

उत्तर :- परन्तु यह दुःख तो खोजने से मिलता है या नहीं ? यह दुःख ज्ञात होता है, वह कृत्रिम है। इसके पीछे है, वह आनन्द - ऐसा कहते है, लो ! क्या (कहा) ? दुःख है या नहीं ? दुःख शरीर का नहीं, हाँ ! उसमें फिर चिल्लाना नहीं। इस शरीर में ठीक नहीं है - ऐसी मान्यता, वह दुःख है या नहीं ? यह दुःख है, वह कृत्रिम है। दुःख विकार त्रिकाल नहीं हो सकता। दुःख वह कृत्रिम है, विकार है, अनित्य है, अध्रुव है। उस विकार के पीछे त्रिकाल रहता है, उसे ध्रुव और आनन्द कहा जाता है। लो ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु यह विकृत हुआ, वह कोई चीज़ अविकृत है, उसका विकृत होता है या

अविकृत नहीं, उसका विकृत होता है ? इस लकड़ी को दु:ख होता है ? कहो, इसमें दु:ख होता है ? क्यों (नहीं होता) ? कि अन्दर आनन्द नहीं है। आनन्द हो, वहाँ आनन्द की उल्टी दशा – अ-आनन्द अर्थात् दु:ख होता है। समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है या नहीं ? उसे दु:ख है ? किसे दु:ख है ? आत्मा की पर्याय में दु:ख है। दु:ख, वह विकृतपना बतलाता है, आकुलता बतलाता है। वह दु:ख एकरूप नहीं रहता, अर्थात् वह अनित्यता बतलाता है; एकरूप नहीं रहता इसलिए। वह अनित्यता और आकुलता कृत्रिम है तो वह कोई आनन्द त्रिकाल है, उसकी उल्टी अवस्था है। वही आनन्द को सिद्ध करती है। समझ में आया ? भाई ! लोजिक से न्याय से तो यह है।

मुमुक्षु :- दु:ख। आनन्द को सिद्ध करता है।

उत्तर :- सिद्ध करता है। हाँ, दु:ख का ख्याल आवे तो आनन्द दूसरा है – ऐसा सिद्ध करता है। समझ में आया ? आनन्द का ज्ञान होवे, तब दु:ख का ज्ञान व्यवहार से कहा जाता है – ऐसा कहते हैं।

यह तो श्रद्धा ली; ऐसे ही प्रत्येक गुण की ऐसी शैली है। भगवान आत्मा शान्तरस का पिण्ड चारित्र है। शान्त... शान्त.. अकषाय-स्वरूप है। प्रभु आत्मा अकषाय का पिण्ड है। उसके आश्रय से अकषाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। अकषाय अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, परन्तु उस अकषाय चारित्र का आधार यह अकषाय द्रव्य होता है। विकल्प उसका आधार होता है ? (क्या) राग में अकषायपना है ? जो राग स्वयं वर्तमान कषाय हो और फिर अकषाय कार्य का कारण होगा ? इसमें कुछ समझ में आया ? यह तो निश्चय और व्यवहार दो के कार्य-कारण की बात ऐसी है। आ..हा !

कहते हैं कि आत्मा (सुखस्वरूप है)। इस प्रकार सब ले लेना, हाँ ! शान्ति, श्रद्धा... समझ में आया ? वीर्य, वीर्य की मूर्ति प्रभु है। अकेले बल की मूति है। शक्ति का पूर्ण बल ! उस बल के आश्रय से बलवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्यक् प्रकट होता है। हें ?

मुमुक्षु :- भींत हिला दे।

उत्तर :- भींत हिलावे ? भींत हिलाता होगा ? तो वह बल कहलाये ? हैं ?

यहाँ तो विकल्प में भी बल नहीं है – यह सिद्ध करना है। दूसरे को हिलाने की बात भी कहाँ है ? वास्तविक बल विकल्प में नहीं है। बलवन्त... बलवन्त.. वह क्या कहलाता है ? क्या कहलाता है उस पौधें का नाम ? कहते थे न ? वह पौधा नहीं था प्रवचन मण्डप में ? उस पौधे का नाम कहते, बल। नाम क्या ? अकेला बल ही ? दूसरा शब्द नहीं ? ऐसा कहते थे के यह बल का वृक्ष है, परन्तु दूसरा विशेष नाम था। वह बल का वृक्ष कहलाये; उसे बल कहा जाता है। हें ?

मुमुक्षु :– बल बीज।

उत्तर :– हाँ, बल का बीज होता है वह। वह वहाँ था। वैसे यह बल का बीज तो यह आत्मा है, वीर्य का पिण्ड पूरा। अकेले वीर्य की कतली भगवान है। यह वीर्य की मूर्ति, वीर्यबल जो आत्मा का है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का वीर्य प्रकट होता है। पुण्य के राग में बल है, वह उसके आश्रय से प्रकट होता है ? और उस राग में बल है कि राग के आश्रय से मोक्ष हो ? पूर्ण वीर्य। मोक्ष अर्थात् पूर्ण वीर्य। पूर्ण वीर्य इस राग के आश्रय से होता होगा ? पूर्ण वीर्य के आश्रय से हुआ वीर्य, वह पूर्ण वीर्य का कारण होता है। समझ में आया ? फिर पाँचवा बोल लेते हैं। लो ! मोक्षमार्ग तो एक ही है, उसकी व्याख्या विशेष आयेगी... (श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

निर्विकल्प होनेवाला जीव, निर्विकल्प होनेके पूर्व ऐसा निर्णय करता है कि मैं कभी भी रागादि भावरुप परिणमनेवाला नहीं हूँ। परन्तु ज्ञानदर्शन रूप परिणमनेवाला हूँ। अभी रागादि भाव होंगे-ऐसा जानता है, फिर भी मैं उनका स्वामीरूप होनेवाला नहीं। मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे भविष्यमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होंगे फिर भी उस समय राग भी रहेगा, परन्तु में उसरूप परिणमनेवाला नहीं-ऐसा निश्चित है। (प्रथम) निर्णय करता है पर्यायमें, बादमें अनुभव होगा पर्यायमें। परन्तु वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो चिन्मात्र अखण्ड ज्योति स्वरूप हूँ, पर्याय नहीं। (परमागमसार - २९)

वीर संवत २४९२, माध शुक्ल १०, सोमवार

दि.३१-१-१९६६, गाथा १, २ प्रवचन नं.-१३

तीसरी ढाल, उसकी पहली गाथा, उसका भावार्थ चलता है। पाँचवां भाग है। आया है न ?

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिवमग सो द्विविध विचारो;

जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।।

उसकी व्याख्या चलती है। उसमें दो प्रकार कहे हैं। उसका हेतु ज़रा सिद्ध करते हैं। है तो दो प्रकार से कथन, परन्तु यथार्थ में एक है – ऐसा कहना है। कथन में दो है और तुम एक सिद्ध करते हो ? समझ में आया ? कथन में दो है। '**मग, सो द्विविध विचारो; जो सत्यारथरूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो।**'

मुमुक्षु :– विचारने का फल।

उत्तर :– यह तो दोनों को विचारने को कहा है, विचार का फल नहीं। यह तो दोनों को विचारने को कहा है। तात्पर्य यह कि दो है और तुम फिर उसमें एक क्यों कहते हो ? यह तो जरा स्पष्ट करने के लिए (कहा है)। है तो दो, कथन के लिए उसे निम्नांकित पेराग्राफ लागू पड़ेगा। छट्ठा, छठवाँ है वह। समझ में आया ? उसके साथ मिलना चाहिए न ?

'**मोक्षमार्ग तो एक ही है।**' यह कथन किसलिए है ? यहाँ गाथा में दो (कहा) है, दो (अर्थात्) निश्चय, वह सत्य है और व्यवहार, वह उपचार है। इस अपेक्षा से उसे निश्चय, वह सत्य एक है – ऐसा कहना है, वरना उपचार दूसरा निमित्तरूप से, व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। '**मोक्षमार्ग तो एक ही है। वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है।**' तीन की दर्शन-ज्ञान और चारित्र की एकता, वह मोक्षमार्ग एक है। उसका कथन, एक को

सिद्ध करने का कथन 'प्रवचनसार' गाथा ८२ और १९९ में कहा है समझ में आया ? ८२ में ऐसा कहा कि मोक्षमार्ग तो एक ही है। परन्तु यहाँ जो कहा है, उसके कथन के दो प्रकार वर्णन किये हैं समझ में आया ?

'प्रवचनसार' गाथा ८२ में 'मोक्षमार्ग एक ही है, अन्य दूसरा कोई नहीं;' तथापि यहाँ दो कहे हैं (उसका कारण) उसका कथन करना है। यथार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र (प्रकट हो), वही मोक्षमार्ग है, परन्तु उसके साथ सहचररूप, उपचाररूप निमत्ति कहना हो, उसका ज्ञान कराने को दो प्रकार से मोक्षमार्ग गाथा में कहा है। 'प्रवचनसार' (गाथा) १९९ में भी मोक्षमार्ग तो एक ही है - ऐसा कहा है; परन्तु यहाँ जो दूसरा कहा है, वह निमित्त को सहचर बतलाने के लिए कहा है। इसलिए कितने ही को ऐसा (होता है) कि इसमें दो कहे हैं और तुम एक स्थापित करते हो। यह तो गाथा से विरुद्ध है।

अब इसके लिये यहाँ ज़रा मोक्षमार्ग की (बात लीखी है)। 'मोक्षमार्गप्रकाशक'में ३१५ (पृष्ठ में) तो यह अधिकार है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - आत्मा की सम्यक् - निश्चय श्रद्धा, उसका ज्ञान और चारित्र इन तीन की एकता, वह एक मोक्षमार्ग है। वह तीन मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय-व्यवहार की बात वहाँ नहीं है। समझ में आया कुछ ?

आत्मा... वह यहाँ दूसरी गाथा में स्पष्ट कहेंगे। आत्मा का जो निश्चय स्वरूप शुद्ध आनन्द ज्ञायकमूर्ति, उसकी अन्तर में स्वरूप की निर्विकल्प प्रतीति / दर्शन (होवे), उसे निश्चय समकित कहा है। उसका ज्ञान और उसकी बात कहेंगे। स्थिरता-चारित्र (कहेंगे) परन्तु साथ में व्यवहार होता है, उसका कथन इसमें भी कहा है और मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र - ऐसे तीन मार्ग नहीं है - ऐसा ३१५ (पृष्ठ पर) सिद्ध करना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन होकर एक मोक्षमार्ग है, ऐसा। समझ में आया ?

'अब, मोक्षमार्ग तो दो है नहीं...' अब यहाँ दो कहे है, उसके समक्ष दो नहीं है - ऐसा सिद्ध करना है, इसलिए लोगों को जरा-सा विरोध लगता है... **'परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है।'** उसका कथन दो प्रकार से है। समझ में आया ? **'जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरुपण किया है...'** यह डोटरमलजी की शैली है। **'वह निश्चयमोक्षमार्ग है...'** जो

आत्मा में अनुभव की दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन हुआ और आत्मा का ज्ञान हुआ, वह तो निश्चयमोक्षमार्ग है। '**तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है...**' यह यहाँ इसमें साथ सिद्ध किया है... '**वा सहचारी है...**' अर्थात् साथ है, साथ। आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्गनिश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, उसके साथ नव तत्त्व की श्रद्धा का भेदवाला व्यवहार होता है, इससे उसे सहचारी मोक्षमार्ग कहा जाता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहार होता है।

'**वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है...**' वह यहाँ इसमें - पहली गाथा में सिद्ध किया है। समझ में आया ? '**मग सो द्विविध विचारो**' - मार्ग है, उस प्रकार से जानना। वह जानने में सत्यार्थ-यथार्थ है। कारण के साथ सहचर गिनकर, निमित्त - गिनकर व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है। मोक्षमार्ग तो नहीं है, परन्तु निमित्त - सहचारी (देखकर) उसे उपचार कहते हैं, वह व्यवहारोक्षमार्ग है। वह यहाँ पहली गाथा में सिद्ध किया है। समझ में आता है न भाई ! साथ में होता है, इसलिए - यह बात पहली गाथा में सिद्ध की है।

'**क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है...**' यह 'टोडरमलजी' की व्याख्या है कि निश्चय और व्यवहार का लक्षण सर्वत्र ऐसा है कि ऐसा। '**सच्चा निरूपण, वह निश्चय...**' सत्य मार्ग जो होवे, सच्चा हो, यथार्थ हो, वास्तविक हो, अन्दर यह जो सत्यार्थ कहा है, वह निश्चय '**उपचार निरूपण, वह व्यवहार।**' अर्थात् जो व्यवहार कहा है - '**कारण सो व्यहारो;**' उसे उपचार से कहा है - ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। समझ में आया ? निश्चय और व्यवहार के विवाद बहुत हैं।

सच्चा कथन है कि आत्मा से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है - यह सच्चा कथन है, इसलिए निश्चय है और साथ में उपचाररूप से सहचर होता है, उसे व्यवहार कहते हैं। '**इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार से मोक्षमार्ग जानना...**' ऐसा यहाँ जो पहली गाथा में कहा है न ? इस कथन की पद्धति की रीति से निश्चय के साथ सहचर उपचार से व्यवहार होता है, इसलिए उसे मोक्षमार्ग कहा है। '**परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहारमोक्षमार्ग...**' भाषा देखी ? एक निश्चयमोक्षमार्ग है और फिर एक दूसरा

व्यवहारमोक्षमार्ग है... एक मोक्षमार्ग निश्चय और एक मोक्षमार्ग व्यवहार – ऐसे 'एक' पर वज़न है – ऐसा नहीं है; मोक्षमार्ग तो एक है, परन्तु उसके साथ व्यवहार है, उसे निमित्त गिनकर उपचार से कहा है। इसलिए एक निश्चयमोक्षमार्ग है और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – ऐसे दो नहीं है। कुछ समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दो होकर एक है।

उत्तर :- नहीं नहीं। दो होकर एक (नहीं); एक ही मोक्षमार्ग है, परन्तु साथ में सहचर अनुकूल व्यवहार देखकर, निश्चयमोक्षमार्ग के साथ ऐसा सहचर है; इसलिए उसका कथन साथ में किया है, वरना वह मोक्षमार्ग है नहीं परन्तु उसे सहचर देखकर कहा है। इसलिए इसे दो प्रकार का मोक्षमार्ग कथन की अपेक्षा से है। समझ में आया ? परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग और यह एक व्यवहारमोक्षमार्ग, ऐसी भाषा है; दो मोक्षमार्ग है – ऐसा नहीं है। एक यह और एक यह ऐसा नहीं है, परन्तु एक यह निश्चय, वह सच्चा और एक यह, एक यह दूसरा – एक उपचार से सहचर देखकर कहा है। उसे दो होकर मोक्षमार्ग है – ऐसा नहीं है। बहुत कड़क बात है। 'टोडरमलजी' का कथन कितना है !

एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग... पहला व्यवहार एक फिर निश्चय एक हो – ऐसा नहीं है – यह कहते हैं। समझ में आया ? पहला एक व्यवहारमोक्षमार्ग हो, दूसरे निश्चय की अपेक्षा रहित, भाई ! और फिर दूसरा एक निश्चय हो, वर्तमान व्यवहार की अपेक्षा रहित हो – ऐसा नहीं है, ऐसा है। यह एक-एक (कहने की) शैली रखी है, उसका हेतु यह है। एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – ऐसे दो नहीं है। समझ में आया ? दो होवे तो एक व्यवहारमोक्षमार्ग हो, वहाँ निश्चय नहीं होगा, तो अपेक्षा रहित हो गया (परन्तु) ऐसा नहीं है और अकेला निश्चय हो, वहाँ व्यवहार नहीं हो, – ऐसा नहीं है।

यहाँ तो मोक्षमार्गआत्मा के आश्रय से जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वह एक ही सच्चा है परन्तु कथन में दूसरा सहचर साथ में रहा हुआ है, निमित्तरूप में रहा हुआ है, इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है। नीचे अकेला एक व्यवहारमोक्षमार्ग और ऊपर अकेला निश्चयमोक्षमार्ग – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। समझ में आया ? '**मानना मिथ्या है।**' एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक

व्यवहारमोक्षमार्ग है, अर्थात् ? एकसाथ रहित के, दो में एक-एक अलग है, एक-एक अलग करके मोक्षमार्ग है - ऐसा नहीं है। इसमें समझ में आया ?

ऐसा कहते हैं कि देख भाई ! इसमें परद्रव्य की भिन्नता कहेंगे। यह सामान्य की व्याख्या करेंगे। सामान्य-विशेष दो प्रकार है। आत्मा, अपने स्वरूप को, शुद्ध पवित्र है - ऐसा स्व आश्रय से सम्यग्दर्शन, स्व का ज्ञान और स्व की स्थिरता (करे) - ऐसा एक मार्ग है, वही निश्चय और यथार्थ है, परन्तु साथ-साथ उसे अनुकूलरूप निमित्त ऐसा होता है कि जो सर्वज्ञ द्वारा कथित छह द्रव्य अथवा सर्वज्ञ की श्रद्धा या सर्वज्ञ को (साधनेवाले) गुरु-साधक जीव की श्रद्धा या नव तत्त्व की श्रद्धा या पञ्च महाव्रत - ऐसा एक विकल्प साथ में निमित्तरूप साथ होता है; इसलिए उसे कथन में दो प्रकार से कहा है, परन्तु एक निश्चयरहित व्यवहार है, और एक व्यवहाररहित निश्चय है - ऐसी मोक्षमार्ग की कथन की पद्धति है ही नहीं। ऐसा है नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दो होकर एक कहने में क्या बाधा है ?

उत्तर :- दो होकर एक नहीं; निश्चय एक ही है। दूसरा तो ऐसा सहचर देखकर, अनुकूल निमित्त देखकर सहचर में - साथ में कहा है, है नहीं। नहीं, उसे कहना - इसका नाम व्यवहार है। है तो यह एक ही है, दो होकर एक - ऐसा नहीं। अरे... ! ठीक है, तर्क तो होता है न ! समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध अखण्ड ज्ञानमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड उसका एकरूप (है)। ऐसी अन्तर निश्चय निर्विकल्प प्रतीति-अनुभव (हुई), वह एक ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा का जो ज्ञान, वह एक ही ज्ञान है; उसमें स्थिता, वह एक ही चारित्र है। यह तीन होकर एक है। तीन होकर तीन मार्ग नहीं है। ये तीन होकर एक मार्ग है। अब एक मार्ग है तो भी साथ में ऐसे विकल्प की व्यवहार से अनुकूलता (देखकर) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा का अभाव, अव्रतादि का अभाव या उसके प्रमाणमें जो राग की मन्दता की व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र (होवे) - ऐसे निमित्त को साथ में गिनकर, साथ गिनकर, साथ गिनकर उसे कथन में दूसरा मोक्षमार्ग व्यवहार है, दूसरा इसलिए दूसरा - ऐसा कहा है, है नहीं। समझ में आया ?

इसलिए उसमें दो होकर एक – ऐसा भी नहीं और आगे – पीछे एक-ऐसा भी नहीं, भाई !

मुमुक्षु :- मार्ग नहीं परन्तु मार्ग – योग्यता...

उत्तर :- योग्यता अर्थात् उपचार होने के लिए निमित्त है न ? निमित्त में योग्यता ऐसी है। निमित्त में ऐसी योग्यता है कि उसमें कथन आता है कि यह मोक्षमार्ग व्यवहार हैं। है नहीं, उसे कहने का नाम व्यवहार है और है उसे जानना, उसका नाम निश्चय है – ऐसा यहाँ है। तब है नहीं तो क्यों कहा ? कि ऐसे निमित्त की सहचरता देव-गुरु-शास्त्र की, नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प या शास्त्र का ज्ञान या पंच महाव्रतादि के परिणाम (स्वरूप) ऐसा ही निमित्त उसे होता है, दूसरा नहीं होता – ऐसा व्यवहार से अनुकूल गिनकर उसमें व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप दिया है, वस्तु (मोक्षमार्ग) है नहीं। बन्धमार्ग है, उसे मोक्षमार्ग कहने का नाम व्यवहार है। आहा..हा..!

इसलिए दो होकर एक – ऐसा नहीं; दो अलग-अलग – ऐसा नहीं, मात्र साथ में यह निश्चय है – ऐसी एक निमित्त की व्यवहार से अनुकूलता है। निश्चय से तो प्रतिकूल है। समझ में आया ? वस्तु का स्वभाव अपने आश्रय से हुआ दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक ही सत्य है। तीन होकर, हाँ ! तीन होकर एक ! परन्तु साथ में एक ऐसे विकल्प की उसमें योग्यता होती है कि जिसमें निमित्तपने का, व्यवहार का आरोप किया जा सकता है। वह मोक्षमार्ग है नहीं, वह तो बन्धमार्ग है। इसलिए नहीं है, उसे कहना और साथ है, उसे ऐसे आरोप देना – इसका नाम व्यवहारमोक्षमार्ग कथन में आता है। वस्तु में ऐसा है नहीं।

'पंचाध्यायी'कारने तो ऐसा लिया है, भाई ! व्यवहार, पता है ? वचनात्मक कहना, वह व्यवहार, ऐसा उन्होंने लिया है। लो ! फिर यह आया। 'पंचाध्यायी' में तो ऐसा कहा है कि वचनात्मक कहना, वह व्यवहार है; वस्तु में वह नहीं है। वाणी द्वारा कहना कि ऐसा यहाँ है, ऐसा है – इस वचनात्मक को उन्होंने व्यवहारनय कहा है। समझ में आया ? निमित्त में ऐसे रागादि है, यह वाणी से ऐसा कहना कि यह एक व्यवहार (है)। वस्तु में ऐसा नहीं है। है न ? व्यवहारनय की व्याख्या ऐसी की है। पता है या नहीं ? पहले बहुत बार कहा गया है। इस वचनात्मक को ही व्यवहार कहते हैं। अर्थात् ? वचनात्मक अर्थात् ? वह कथन, निरूपण

आता है न ? उसमें उसे व्यवहार आता है, यह राग, यह विकल्प, यह शास्त्रज्ञान इसे व्यवहार कहते हैं। वस्तुस्थिति है नहीं। उसमें व्यवहारनय की व्याख्या ही यह की है। उसमें भी नहीं की ? अपने कहाँ आया था ? 'कलशटीका'। 'कलशटीका' में आया था, वचनात्मक। भाई ! आया था। 'कलशटीका' में कहीं आया है। कथन, ऐसा नहीं। यह व्यवहार वचनात्मक है - ऐसा (आया) है। वह है, आया था, तब कहा था। सब कहाँ याद है, किस जगह है ? 'कलशटीका' में कहीं होगा ? वचनात्मक। वहाँ आया था, उस दिन कहा था। आया, देखो ! पाँचवा कलश है। कहा था, देखो भाई !

'**व्यवहारणनयः यद्यपि हस्तावलम्बः स्यात्**' इसकी व्याख्या की। व्यवहारनय अर्थात् '**जितना कथन।**' यह उस दिन कहा था। यह 'पंचाध्यायी' की शैली है। यह लिखनेवाले 'राजमल्लजी' स्वयं है न ? 'पंचाध्यायी' में ऐसा (ही लेते हैं), व्यवहार अर्थात् वचन से कहना। देखो ! यहाँ अपने आया है। चिह्न भी किया है। समझ में आया ? '**उसका विवरण - जीव वस्तु निर्विकल्प है। वह तो ज्ञानगोचर है। वही जीव वस्तु को कहना चाहे, तब ऐसा ही कहने में आता है कि जिसके गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह जीव। यदि कोई बहुत साधिक (अधिक बुद्धिमान) हो तो भी ऐसे ही कहना पड़े। इतना कहने का नाम व्यवहार है।**' इतना कहने का नाम व्यवहार है। देखो ! दूसरी बार आया। तब कहा था, उस दिन व्याख्या हुई थी। याद है ? समय नहीं होता और याद भी नहीं रहे, आपने ही यह सब किया है। सभी पाठ तो आपने समरूप किये हैं। शब्द, भाषा व्यवस्थित की है।

'**यहाँ कोई आशंका करेगा कि वस्तु निर्विकल्प है, उसमें विकल्प उपजाना अयुक्त है। वहाँ समाधान इस प्रकार है कि व्यवहारनय हस्तावलम्ब है। जैसे कोई नीचे पड़ा हो तो उसे हाथ पकड़कर ऊपर लेते हैं; वैसे ही गुण-गुणीरूप भेद कथन ज्ञान उपजने का एक अंग है।**' देखा ! इस प्रकार सारी व्याखया की है और 'पंचाध्यायी' में भी, वचनात्मक है (- ऐसा लिया है।) उसकी और इसकी शैली एक ही है। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो भगवान आत्मा महान पदार्थ, अनन्त शान्तरस, आनन्दकन्द प्रभु (है)। बस ! उसकी अन्तर्मुख दृष्टि स्व के आश्रय से (होना), उसका ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग तो एक ही है,

परन्तु साथ में ऐसा निमित्त होता है, उसे व्यवहार कहने में (आता है)। कथन की ऐसी पद्धति है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वाणी का विलास ही ऐसा है कि उसे इस प्रकार से कहते है। वस्तु तो यह है वह है। अन्दर निर्विकल्प दृष्टि (हुई) वह। निर्विकल्प ज्ञान शान्ति... !

मुमुक्षु :- वाच्य नहीं।

उत्तर :- वह वाच्य नहीं, अर्थात् निमित्त है, परन्तु वह सब कथनमात्र है, वस्तुस्वरूप नहीं है। निमित्त है, वह यह वस्तु नहीं है - ऐसा कहते हैं। जो यह मोक्षमार्ग कहा जाता है वह नहीं। यह वस्तु है, वह यह नहीं (अर्थात् कि) सहचर है, वह यह निश्चय नहीं, ऐसा। समझ में आया ? भाई ! यह तो ऐसी बात है न कि अन्तर की बात के दो प्रकार कथन क्यों किये ? तो एक तो वचन द्वारा उसका कथन किया है। भेद करने कहना है तो कहते हैं, यह श्रद्धा-देव-गुरु की, नौ तत्त्व की श्रद्धा को समकित कहा। समझ में आया ? वास्तव में वह समकित कहाँ है ? वह तो राग है। समझ में आया ? समकित तो यह एक ही है - ज्ञान में निर्विकल्प प्रतीति होना, यह एक समकित है, वह तो राग है। राग को समकित कहना ? परन्तु कहते हैं कि निमित्त की श्रद्धा की पर्याय नहीं - ऐसा होने पर भी निमित्त की ऐसी श्रद्धा का ज्ञान इसे होता है; इस कारण उसे व्यवहार समकित का आरोप दिया जाता है। वह कथनमात्र है, वह (वास्तव में) वस्तु नहीं है। अद्भुत बात, भाई ! कहो, भाई ! समझे या नहीं ? कहाँ आया ? नीचे।

इस एक-एक में विशिष्टता है। पहले अकेला व्यवहार और फिर अकेला निश्चय या पहले अकेला निश्चय और फिर अकेला व्यवहार - ऐसा नहीं है। पहले अकेला-व्यवहार और फिर निश्चय - ऐसा नहीं है - यह कहते है। समझ में आया ? चौथे, पाँचवे, छठवे में अकेला व्यवहारमोक्षमार्ग और फिर सातवें से अकेला निश्चय है - ऐसा नहीं है। साथ के व्यवहार को आरोप करके, निमित्त जानकर कथन किया है। ऐसी निरूपण की पद्धति है। आहा..हा.. ! समझ में आया या नहीं ? यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का (आधार दिया है)) गुजराती पृष्ठ ६५३-६५४। (हिन्दी पृष्ठ २५८-२५९ है।)

अब, दूसरी गाथा। समझ में आया या नहीं, भाई ! लो ! भाई ! बात सत्य।

इसे समझना चाहिए न ? ऐसे तोड़-मरोड़ करे ऐसे नहीं। वस्तु जैसी है, वैसे उसे ख्याल में लेना चाहिए न ! कथन की क्या पद्धति है और स्वरूप जिस प्रकार है, उसे समझ ले। दो प्रकार, दूसरा पहलू है अवश्य, परन्तु वह तो कथन का निरूपण - कथन पद्धति की अपेक्षा से कहा है; वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से नहीं। स्वरूप में (स्थिरता) वह चारित्र - यह सत्य है, विकल्प उत्पन्न हो, उसे चारित्र कहना ? वह तो अस्थिरता है। पंचमहाव्रत के (विकल्प) तो अस्थिरता है, लो ! है ? परन्तु उस समय मुनि की दशा में ऐसे ही राग की मन्दतावाला अहिंसा आदि का विकल्प होता है, उसे व्यवहार से निमित्त की अनुकूलता व्यवहारचारित्र है - ऐसा कहने में आया है; है नहीं। आहा..हा.. ! इसी तरह भगवान आत्मा का आत्मज्ञान, चैतन्य का ज्ञान, वही ज्ञान है, परन्तु उसके विकल्प में शास्त्र का ज्ञान, सर्वज्ञ कथित ज्ञान - छह द्रव्य आदि का ज्ञान जो विकल्परूप से है, उसे निमित्तरूप से एक समय की पर्याय की ऐसी ताकत है - यह गिनकर विकल्पात्मक ज्ञान को आरोप से कहा है कि, यह व्यवहारज्ञान है। वह व्यवहार, ज्ञान है ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं है। आहा..हा.. ! भाई ! समझ में आता है या नहीं ? धीरे-धीरे समझना। इसमें कोई एकदम नहीं चलता।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;
आपरूपको जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला हैं।
आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित्र सोई;
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई।।२।।

अन्वयार्थ :- (आपमें) आत्मा में (परद्रव्यनतैं) परवस्तुओं से (भिन्न) भिन्नत्व को (रुचि) श्रद्धा करना सो (भला) निश्चय (समकित) सम्यग्दर्शन है; (आपरूपको) आत्मा के

स्वरूप को (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न (जानपनों) जानना (सो) वह (सम्यग्ज्ञान) निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला) प्रकाश (है) है। (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न ऐसे (आपरूपमें) आत्मस्वरूप में (थिर) स्थिरतापूर्वक (लीन रहे) लीन होना सो (सम्यक्चारित) निश्चय सम्यक्चारित्र (सोई) है। (अब) अब (व्यवहारमोक्षमग) व्यवहार-मोक्षमार्ग (सुनिये) सुनो कि जो व्यवहारमोक्षमार्ग (नियतको) निश्चय-मोक्षमार्ग का (हेतु) निमित्तकारण (होई) है।

भावार्थ :- परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसे निज-आत्मा का अटल विश्वास करना, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना (ज्ञान करना। उसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा जाता है। तथा परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में एकाग्रतासे मग्न होना, वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहलाता है। अब आगे व्यवहार-मोक्षमार्ग का कथन करते हैं क्योंकि जब निश्चय-मोक्षमार्ग हो, तब व्यवहार-मोक्षमार्ग निमित्तरूप में कैसा होता है वह जानना चाहिए।

अब, दूसरी गाथा। (पहले) जो सत्यार्थ कहा था न ! '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिवमग, जो सत्यारथरूप सो निश्चय -**' ऐसा ले लेना। '**सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरण शिवमग, जो सत्यारथरूप सो निश्चय।**' पहले पद का अब दूसरी गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं।

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;
आपरूपको जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला हैं।
आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित्र सोई;
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई।।२।।

'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में ऐसा जरा अर्थ किया है। यह २२वीं गाथा है न ? लो, यह निकली। देखो ! पाठ है न ? भाई ! अपने २२ का आधार दिया है न ? इसमें कहीं पीछे कहा है न ? 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' - गाथा २२। मुझे तो यहाँ दूसरी शैली कहनी है। कहते हैं -

'तत्त्वश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह तत्त्वार्थश्रद्धा दो प्रकार से है - एक सामान्यरूप, एक विशेषरूप। जो परभावों से भिन्न...' यहाँ यह शब्द पड़ा है न ? **'अपने चैतन्यस्वरूप को निजरूप से श्रद्धान करे, उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं।'** यहाँ कहा न ? **'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमे रुचि समकित भला है;...'** उसकी व्याख्या यहाँ स्वयं करते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्;
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशंविविक्तमात्मरूपं तत्॥२२॥

यह सम्यग्दर्शन आत्मरूप-स्वरूप है, यह कोई विकल्प और राग नहीं है। तत्त्वार्थ सम्यग्दर्शन। आत्मज्ञान सहित की प्रतीति, वह आत्मस्वरूप है। अब, यहाँ कहते हैं - परद्रव्य से भिन्न सामान्यरूप तो एक है। परद्रव्य से भिन्न एक सामान्यरूप है। **'यह श्रद्धान तो नारकी, तिर्यञ्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है।'** यह सामान्य। समझ में आया ? **'और जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य-देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों को होता है परन्तु राजमार्ग (मुख्यमार्ग) की अपेक्षा सात तत्त्वों को जानना, वही समकित का - सम्यक् श्रद्धान का कारण है।'** इसलिए कहा था। लो ! समझ में आया ? उसमें दो प्रकार 'टोडरमलजी' ने स्वयं ही उतारे, तत्त्वार्थश्रद्धान की सामान्यरूप से व्याख्या की। सामान्य बुद्धि थोड़ी होवे, उसे **'परद्रव्यनतै भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है'** और विशेषरूप से बुद्धिवाला हो, वह विशेष जानकर अन्दर तत्त्व की श्रद्धा करे।

निश्चय सम्यक्दर्शन

'(आपमें) आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की...' समझ में आया ? इसमें सब है। कहाँ गये ? भाई गये ? उनके पास

एक पुस्तक थी न ? है न ? देखो ! अन्दर। यह सम्यग्दर्शन में यह सब लिखा है। क्या लिखा है ? किसने किया है ? भाई ! आप क्या समझे ? यह परद्रव्य – छह द्रव्य देखे हैं। गृहस्थाश्रम में बैठा हो, यह ठीक है। गृहस्थाश्रम में रहा हो यह सब होने पर भी परद्रव्य से भिन्न है, ऐसा। ऐसी शैली की है न ? बराबर है, ठीक है। यह चित्र है न ? एक ओर बाजा है और एक ओर मकान और एक ओर यह सब घर का सारा सामान ऐसा सब लगता है। चित्र... चित्र है। कहते हैं, ये सब हो – स्त्री, पुत्र, परिवार घर का सामान समझे न ? देखो ! यहाँ सब चित्र में डाला है।

'परद्रव्यन्तैं भिन्न...' परद्रव्य अर्थात् सभी चीजें, घरेलू वस्तुएँ, स्त्री, पुत्र, मकान .. समझ में आता है न ? तथापि आत्मा अन्दर बैठा होवे (उसे) **'आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करनी...'** उस गृहस्थाश्रम में भी यह सम्यग्दर्शन इस प्रकार प्रकट हो सकता है। समझ में आया कुछ ?

मुमुक्षु :- परद्रव्य में पड़ा होने पर भी ?

उत्तर :- पड़ा नहीं; परद्रव्य यहाँ होनेपर भी उसमें ऐसा पड़ा नहीं है; पड़ा तो आत्मामें है। परद्रव्य के सम्बन्ध में रहा होने पर भी, परद्रव्य में नहीं रहा है। परद्रव्य में तो कुछ रहा ही नहीं है। भाई ! यह तो भई सूक्ष्म बात है। परद्रव्य साथ में होता है, तथापि आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करनी। ऐसी चीज, इस क्षेत्र में सब शामिल दिखे, फिर भी उससे भिन्न आत्मा अखण्ड ज्ञान, चैतन्यमूर्ति है – ऐसा ज्ञान का ज्ञान करके, प्रतीति करना इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। समझ में आया ?

'आत्मा में (परद्रव्यनतैं) परवस्तुओं से...' ऐसा अनुमान लाता है, क्योंकि यह सब ऐसी शैली लगती है। भाई ने कहा – ऐसा लगता है। ऐसा लगता है, नहीं ? यह सब द्रव्य रखे है न ? यह सब घर की चीजें हैं, यह बाजा है, यह मकान है, अमुक है, तिजोरी है, बर्तन है। लो, यह ठीक किया है। यह सब बर्तन है न ? कलशा-फलशा है न... चिमटा और सब घर में पड़े हैं। आत्मा परद्रव्यनतैं भिन्न... भगवान आत्मा इन सब वस्तुओं से अत्यन्त पृथक् हैं। ज्ञानमूर्ति आनन्दस्वरूप है – ऐसे परद्रव्य से भिन्नपने की श्रद्धा (करना); श्रद्धा अर्थात् आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा... हाँ! **'वह निश्चयसम्यग्दर्शन है...'** देखो ! 'भला' की व्याख्या की। यह

सत्यार्थ कहा था न ? सत्यार्थ कहा था न ? कहाँ ? पहली पंक्ति में। सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान, सत्यार्थ चारित्र – ऐसे तीन है न ? वह यहाँ 'भला' शब्द में सत्यार्थ मिला दिया है, भाई ! समझ में आया ? यही निश्चय है और यही भला है और यही यथार्थ है।

'**आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करना**...' स्वयं राग से, शरीर से, कर्म से, पर से भिन्न है – इसका अर्थ यह हुआ कि पर का लक्ष्य छोड़कर स्व-विषय में आया, इसलिए वह राग से भिन्न हो गया। ऐसे जो परद्रव्य-शरीर, वाणी, कर्म – यह सब था, उनसे ऐसे लक्ष्य हटाया, इसलिए उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर गयी। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई, उसका नाम निश्चय, सत्यार्थ, भला सम्यग्दर्शन कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह तो सादी बात है। सबके हाथ में (पुस्तक) है या नहीं ? यह तो सादी हिन्दी भाषा में पुस्तके कितनी छप गयी हैं ?

भगवान आत्मा... ? '**आपमें**...' (कहा तो) आत्मा कौन है ? – इसका इसे पहले ज्ञान होना चाहिए न ? आत्मा अर्थात् परद्रव्य से भिन्न चीज़। सब पर – कर्म, शरीर, वाणी – ये सब जो हैं, वे नहीं। इस अस्तित्व में जो पर्यायबुद्धि से ऐसा है; पर्याय-अवस्थाबुद्धि से उसका फैलाव में यह सब है – ऐसा जो था वह, यह नहीं, ऐसा गया। ज्ञायक चैतन्यमूर्ति, आप अर्थात् ज्ञायक चैतन्यमूर्ति; उसकी अन्तर्दृष्टि होने पर वह राग और विकल्प भी (बाहर रह गया)। ऐसे के ऐसे लक्ष्य जाने से राग और विकल्प भी उसकी प्रतीति में ही रहा, आत्मा रह गया। समझ में आया ?

'**(आपमें) आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नता की श्रद्धा**...' अर्थात् कर्म, शरीर से भिन्न, उनसे पृथक्... ऐसे जहाँ जाए तो उसके अन्तर में – तलेटी में विकल्प भी लक्ष्य में नहीं रहे। समझ में आया ? यह आत्मा परद्रव्य से भिन्न है। उस भिन्न चीज़ में अस्तित्व माना था कि यह। ऐसा होने पर भी उस परद्रव्य से पृथक् और विकल्प से भी पृथक् – ऐसा आत्मतत्त्व, उसके अन्दर प्रतीति – श्रद्धा, ज्ञान, भान होकर होना – उसका नाम निश्चय, भला, सच्चा, शुद्ध, उचित, मुख्य सम्यग्दर्शन है। कहो, समझ में आया ? सत्यार्थ में जितने शब्द प्रयोग किये थे (वे कहे।) यह एक-एक की इस प्रकार से बात आती है। 'भला' शब्द कहा है न। देखो ! उसमें 'कला' कहेंगे, ज्ञान है न ? (उसे) कला (कहेंगे)। भाषा भी बहुत सन्तुलित रखी है।

यह हिन्दी तुम्हें अब तक पढ़ना नहीं आया। यह तुम्हारी भाषा है। हमारी तो हिन्दी भाषा भी नहीं है।

'**परद्रव्यनतैं भिन्न...**' आहा..हा..! कितनी बात ली है, देखो न ! उसमें भिन्न स्वद्रव्य। उसका अर्थ ऐसे गुलांट खाता है। परद्रव्य से पृथक् तो स्वद्रव्य, बस ! ऐसा ही आया। आप - अपना स्वरूप अखण्ड ज्ञायकमूर्ति '**ण वि होदि अप्पमत्तो**' है न ? '**जाणगो दु जो भावो**' - यह ज्ञायक रह गया। अकेला आत्मा शुद्ध एकरूप, उसकी अन्तर-प्रतीति होना - श्रद्धा होना, उसका अन्तर विश्वास (आना कि) यह वस्तु है - ऐसा विश्वास (आना) आगे अर्थ में जरा कहेंगे। कहीं है, विश्वास। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं; ऐसा विश्वास (आना चाहिए।) दृष्टि में (आत्मा) आया हो, उसका विश्वास होवे न ? वस्तु का पता न हो, उसका विश्वास क्या होगा ? खरगोश के सींग का विश्वास करना... परन्तु देखे नहीं, है नहीं; (विश्वास क्या करना) ? यह वस्तु ज्ञायक चैतन्य अकेले ज्ञान की पुंज वस्तु, उसका अन्तर में विश्वास (आगे कि) यही आत्मा है - ऐसी प्रतीति - ऐसा भरोसा, एसा विश्वास, एसा स्व आश्रित दर्शन (होवे), वह सम्यग्दर्शन सच्चा है। सच्चा कहो या भला कहो या शुद्ध सम्यग्दर्शन यह है। यह शुद्ध सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन मुख्य है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्प, गौण, अशुद्ध, उपचार से कहते हैं। समझ में आया ?

निश्चय सम्यक्दर्शन

'**परद्रव्यनतैं भिन्न...**' आत्मा के स्वरूप को परद्रव्य से भिन्न - इसका अर्थ हो गया न ? '**परद्रव्यनतैं भिन्न आपमे रुचि (समकित) भला है!**' अब '**परद्रव्यनतैं... आपरूप को जानपनों सो... (भला है), सम्यग्ज्ञान कला है।**' समझ में आया ? '**(आत्मरूप को) आत्मा के स्वरूप को पर से भिन्न...**' शास्त्रज्ञान विकल्प है, वह नहीं। '**आत्मा के स्वरूप को... (आपरूप को)...**' है न ? उसमें आपमें कहा था, इसमें आपरूप ज्ञान

है। आत्मा के स्वरूप को परद्रव्य से भिन्न, पर से पृथक् जानना। आत्मा, पर के ज्ञान, श्रद्धा, विकल्प या पर से अत्यन्त भिन्न है। यह तो परद्रव्य से भिन्न ज्ञान हुआ तो आत्मा का ज्ञान हुआ। उसका व्यवहार ज्ञान इसके लक्ष्य में नहीं रहा। समझ में आया ?

'आत्मा के स्वरूप को पर से भिन्न जानना, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है,...' वह सम्यग्ज्ञान सच्चा है, भला है, शुद्ध है, वह मुख्य सम्यग्ज्ञान है। समझ में आया कुछ ? **'वह निश्चय सम्यग्ज्ञान प्रकाश है।'** वह कला है, क्योंकि केवलज्ञान को प्रकट करने की यह एक कला है। केवलज्ञान को प्रकट करने की, आत्मज्ञान वह एक कला है। कला कही है न ? कला करते हैं – ऐसा 'समयसार' में आता है न ? क्रीड़ा करते हैं – यह पढ़ा है, भाषा सब शास्त्र की प्रयोग की है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का पिण्ड प्रभु, उसे परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर जैसी स्व की श्रद्धा हुई; ऐसा ही परद्रव्य से लक्ष्य छूटकर जो श्रद्धा हुई, उसमें उसका ज्ञान हुआ – यह आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसके स्वरूप का ज्ञान हुआ। समझ में आया ? **'(आपरूप को)...'** चैतन्य ज्ञायकस्वरूप पूर्ण आनन्दस्वरूप, उसका परद्रव्यों से पृथक् पड़ा हुआ अकेले आत्मा का ज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है, वह सच्चा ज्ञान है, वह भला ज्ञान है; उसे शुद्ध ज्ञान की कला कहा जाता है। यह शुद्ध ज्ञान की कला उसे कहा जाता है। भाई ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? यह तो साथ में पुस्तक है, लिया है या नहीं ? भाई ! पुस्तकें बहुत रखी हैं, हो रहा ? यहाँ तो बहुत पुस्तकें हैं, पहले से ध्यान रखना चाहिए न ! यह पुस्तकें बहुत पड़ी हैं। वहाँ तो बहियों में ध्यान रखता है... यह तो कितनी पड़ी है, देखो न ! अभी पड़ी लगती है, नहीं ? अभी बहुत पड़ी है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो अन्दर में शब्द-शब्द का अर्थ समझने योग्य है। यह कोई साधारण बात नहीं है। शास्त्र जैसा ही अर्थ किया है। शास्त्र को ठीक से ध्यान रखकर (समझना चाहिए)।

भगवान आत्मा का बीजज्ञान प्रकट होना। चैतन्यस्वरूप का परद्रव्य से लक्ष्य छाड़कर जैसी अपनी आत्मा में श्रद्धा – सम्यग्दर्शन था, वैसा ही आत्मस्वरूप का ज्ञान, उसके स्वरूप का ज्ञान, आत्मस्वरूप का ज्ञान (होना), वही ज्ञान सम्यक् है, वही ज्ञान शुद्ध है, वही ज्ञान मुख्य है और वही ज्ञान केवलज्ञान को प्रकट करने की कला है। कहो, इसमें समझ में आया ?

दूसरे शास्त्र आदि का व्यवहारज्ञान, यह केवलज्ञान प्रकट करने की कला है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! ऐ..ई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो एक कहने के लिए निमित्त सहचर ऐसा देखकर, उसे ज्ञान है - ऐसा कहेंगे। वह वास्तविक कला नहीं है, वह सम्यग्ज्ञान वास्तविक नहीं है, वह शुद्धज्ञान नहीं है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सम्यग्ज्ञान को दीपक बताया है।

उत्तर :- हाँ यह इसमें बताया है। सत्य बात है। इसमें बताया है न ? इसमें बताया है, देखो ! यह दर्शन में बताया, यहाँ दीपक बताया है। मन की पंखुड़ी फिर जाती है। ऐसी कला, ज्ञान का दीपक किया है। देखो ! यह ज्ञानस्वरूप, उसका ज्ञान। परद्रव्यों से भिन्न, उसका ज्ञान... यह तो पहली सामान्य व्याख्या है न। फिर सब विशेषरूप से बतायेंगे। सामान्य रीति से कितने ही जीवों को - नारकी आदि को ऐसा होता है। विशेष बुद्धिवाले को विस्तार से होता है। समझ में आया ?'**वह निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला)...**' (कला का) अर्थ प्रकाश है। लो !

'**आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई;**' 'सोई' वह चारित्र है। '**आत्मस्वरूप में...**' देखो ! यहाँ चारित्र है न ? स्थिर बिम्ब हो गया है। चारित्र का दृष्टान्त दिया है न ? लीन... लीन। विकल्पों की धालमेल निकल गयी है। '**(आपरूप में) आत्मस्वरूप में स्थिरतापूर्वक...**' अर्थात् स्थिर '**(लीन रहे)...**' स्थिर-लीन रहे, ऐसा। स्थिर-लीन रहे। देखा ! यह चारित्र। पंच महाव्रत का विकल्प, वह चारित्र नहीं; वह सम्यक् चारित्र नहीं, भला चारित्र नहीं, शुद्ध चारित्र नहीं। वह तो गौणरूप से निमित्त ऐसा होता है - ऐसा गिनकर सहचररूप से चारित्र कहने के कथन में कहा गया है। आहा..हा..! अब ऐसी बात कितनी स्पष्ट पड़ी है - इसका अर्थ भी नहीं समझते। ऐसी बात है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- विषय में... उसमें हैं। वह वस्तु उसमें हो परन्तु होवे वह आवे न या नहीं ? क्या

आवे ? हीरा बताना हो तो उसे किस प्रकार बताना ? हीरे की जो कीमत तो उसकी आँख ठीक हो, तब समझे या नहीं ? हीरा के पासा का प्रकाश हो, उस प्रकाश में प्रकाश के पासा झट से अलग पड़ते नहीं। वह पासा - पासा देखे (उसके लिए) उसे सूक्ष्म दृष्टि चाहिए या नहीं ? वरना एक में दूसरा प्रकाश देखे बिना एक समान लगेगा। इसी तरह भगवान आत्मा अकेला ज्ञान की मूति है, उसका अन्तर में ज्ञान (होवे), स्थिरता (होवे)। स्थिर और लीन - ऐसा कहा है न ? स्थिर-लीन। स्थिर ऐसा हुआ कि लीन हो गया, विकल्परहित (हो गया)। परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर जैसी श्रद्धा हुई थी, ज्ञान हुआ था, अतः व्यवहार का विकल्प भी नहीं रहा। इस प्रकार लीन हो गया, इसलिए निश्चय हुआ। यह हुआ, उसके साथ विकल्प कैसा (होता है) ? उसका-व्यवहार का ज्ञान बाद में करायेंगे। समझ में आया ?

'**(सम्यक्‌चारित्र) निश्चय सम्यक्‌चारित्र (सोई) है।**' ऐसा कहते हैं। सो.. सोई अर्थात् वह सम्यक्‌चारित्र है। पहले 'भला' (शब्द) प्रयोग किया था, दूसरे में (शब्द) प्रयोग किया था 'कला', इसमें (शब्द) प्रयोग किया है 'वही' - ऐसा। भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का रस, उसकी श्रद्धा-ज्ञान सहित अन्दर की लीनता (होवे), वह चारित्र भला है, वह चारित्र शुद्ध है, वह चारित्र मुख्य है; उस चारित्र को निश्चयचारित्र कहा जाता है। सच्चा चारित्र वह है। सत्यार्थ कहा था न ? सम्यग्दर्शन भी सच्चा, सम्यग्ज्ञान भी सच्चा और चारित्र भी सच्चा - ये तीनों सच्चे। समझ में आया ? यह 'छहढाला' तो कितनी बिक गयी ! इसे पता होगा। यहाँ पहले छप गयी है न ? १४००० हिन्दी, गुजराती ? (पता) नहीं होगा। अपनी तरफ से छपाई ? कहो, कितने हजार ? इसमें कोई संस्कृत, व्याकरण की आवश्यकता पड़े - ऐसा नहीं है।

अब कहते हैं, निश्चयचारित्र वह है। वह भला है। '**अब,...**' देखो ! भाषा है न ? '**व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो...**' देखो ! निश्चय लेकर व्यवहार लिया है। भाई ! ऐ..ई ! यह वस्तुस्थिति है। अब उसमें जरा सहचररूप, विकल्परूप, शुभ उपयोगरूप भाव होता है; उसे यह निश्चय होता है तो इसे व्यवहार कहा जाता है। अब, कहा है न ? '**अब व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो...**' कुछ समझ में आता है ? अब अर्थात् ऐसा (निश्चय) हो, वहाँ अन्दर दूसरा एक विकल्प का भाग, व्यवहार से अनुकूल। निश्चय समकित दर्शन को व्यवहार अनुकूल दर्शन; निश्चय ज्ञान को व्यवहार शास्त्र का विकल्प निमित्त अनुकूल, व्यवहार से अनुकूल, हाँ ! कारण

कि निश्चय तो यह है। उसे फिर यह निश्चय कहाँ से आवे ? समझ में आया ? उसे व्यवहार से अनुकूल, पंच महाव्रत आदि।

'अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई।' यहाँ विवाद (पड़ता है)। यह नियत का निमित्त है। जहाँ ऐसा निश्चय होता है, वहाँ ऐसा हेतु, व्यवहार कारणरूप-निमित्तरूप, हेतुरूप से होता है। समझ में आया ? जैसे, गति करते हुए जीव या पुद्गल को धर्मास्तिकाय का निमित्तरूप हेतु है। है या नहीं ? अथवा परिणमन के समय में जड़ या चैतन्य आदि परिणमते हैं, उन्हें कालद्रव्य निमित्त-हेतु है। निमित्तरूप हेतु है, हेतु है। वह परचीज़ है। यह करे तब, (उसे) हेतु कहा जाता है। समझ में आया ? शास्त्र में निमित्त को धर्मास्तिकायवत् लिया है, अत: व्यवहार भी निमित्त ही है।

यह अपने ४७ बोल (दोहों) में आता है। निमित्त - उपादान के ४७ दोहों में (आता है)। वरना बीच में पंच महाव्रत आते है न ? आता है न उसमें ? वह निमित्त कहा है। वहाँ वह निमित्त कहा है। उसका तर्क करते हैं, निमित्त तर्क करता है। पंच महाव्रत है न ? तुम हमें कैसे छोड़ दोगे ? भले हो, परन्तु उन्हें छोड़कर स्थिर हो, तब वास्तविक चारित्र है। समझ में आया ? ४७ दोहों में, भैया 'भगवतीदास' ने यही लिया है। उन लोगों ने - पहले के पण्डितों ने भी ऐसी संधि से बात की है न ? दिगम्बर पण्डित ! सन्तों की तो क्या बात करना !! उन लोगों ने भी, परम्परा से जैसा सत्य है, उस प्रकार सुरक्षित रखकर बात की है। यहाँ ऐसा कहा है, पंच महाव्रत होते है न ? अरे..! ध्यान होता है न ? निमित्त तो वहाँ तक डाला है। ध्यान अर्थात् मैं ऐसा करूँ - ऐसा विकल्प, (वह) होता है न ? 'छोड़ ध्यान की धारणा, मोड रीति...' यहाँ आ जा, कहते हैं। यह निमित्त है। हो, वह क्या है ? उसे छोड़कर यहाँ आ जाए, तब स्थिर होता है। निश्चयमोक्षमार्ग का हेतु... इतने न्याय दिये। समझ में आया ? उसका निमित्त, कारण होता है, होता है - ऐसा कहा है। समझे न ? 'सोई' के साथ 'होई' कराया। व्यवहार होता है, व्यवहार है अवश्य परन्तु व्यवहार को उपचाररूप कहा जाता है।

'भावार्थ :- परपदार्थो से त्रिकाल भिन्न ऐसे निज आत्मा का अटल विश्वास करना उसे...' लो ! अटल विश्वास अर्थात् टले नहीं ऐसा प्रकार, निश्चयसम्यग्दर्शन, अपने निजत्व का

दर्शन है, वह कोई विकल्प नहीं है कि टल जाए। वह तो ऐसा का ऐसा रहता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, वह ऐसा का ऐसा सिद्ध में भी रहता है – ऐसा। समझ में आया ? व्यवहार समकित नहीं रहता, वह तो विकल्प है, वह कहाँ वास्तविक चीज़ थी ? श्रद्धा कही है न ? '**आप - में रुचि**' – रुचि अर्थात् विश्वास, वह ऐसा प्रकट हुआ, वह चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वरूप है – यह विश्वास की, रुचि की पर्याय सिद्ध में भी रह गयी। समझ में आया ? उसकी चारित्र पर्याय केवलज्ञान में रह गयी। आहा..हा..! '**उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं।**' लो !

'**आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना (ज्ञान करना), उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा जाता है तथा परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़कर...**' लक्ष्य छोड़कर, आश्रय छोड़कर '**आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना, एकाग्रता अर्थात् एक ही आत्मा को लक्ष्य करके (लीन होना), वह निश्चय सम्यक्चारित्र...**' अर्थात् सच्चा आचरण है। वह आचरण सच्चा है, स्वभाव में स्थिर होना वह आचरण सच्चा है। वह भला आचरण है। लो ! (अज्ञानी) आचरण... आचरण करते हैं या नहीं ? विकल्प है, वह आचरण नहीं है। साथ में वैसा निमित्त देखकर कथन की अपेक्षा से (लिया है)। व्यवहार से अनुकूल। निमित्त अर्थात् अनुकूल। अनुकूल अर्थात् व्यवहार से अनुकूल। निश्चय से अनुकूल तो निश्चय अनुकूल अपनी पर्याय है। धर्मास्तिकाय को व्यवहार से अनुकूल कहा है या नहीं ? वह निमित्त है। या निश्चय से (कहा है) ? निश्चय से तो अपनी पर्याय अनुकूल है। इस प्रकार गति-स्थिति में परिणमती है, उसकी तरह – जैसे धर्मास्तिकाय निमित्त है, व्यवहार से अनुकूल है, दूसरी चीज़ है, उसे गति में ऐसा ही निमित्त, योग्यता होती है; अधर्मास्तिकाय का निमित्त नहीं होता। गति होने पर अधर्मास्तिकाय का निमित्त होता है ? इसलिए अनुकूल निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार (जहाँ) ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हो, वहाँ आगे ऐसा जो व्यवहार (होता है, उसे अनुकूल कहा जाता है)।

'**परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना, वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहा जाता है।**' ऐसे आचरण के साथ आगे जो निमित्त अब कहते हैं... '**अब आगे व्यवहारमोक्षमार्ग का कथन...**' अर्थात् साथ में ऐसा निमित्त है। यहाँ

सहज परिणमन चलता है, तब ऐसा व्यवहार होता है - धर्मास्तिकाय के निमित्तवत्। भगवान पूज्यपादस्वामी ने (इष्टोपदेश) ३५वीं गाथा में कहा है कि निमित्त कैसा ? कि धर्मास्तिकायवत् ले लेना। वह भी निमित्त है। ऐसा कहते ही उसमें पहले - बाद में नहीं है। ऐसा कहते ही वह यथार्थ वस्तु नहीं है - ऐसा है। समझ में आया ? वस्तु की शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता होने पर साथ में ऐसा एक व्यवहार उसके काल में, उसी काल में सहचररूप से साथ में ऐसा एक निमित्त होता है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप कहा जाता है। है नहीं, उसे कहना - इसका नाम व्यवहार है। समझ में आया ?

'अब, आगे व्यवहारमोक्षमार्ग का कथन कहा जाता है क्योंकि जब निश्चयमोक्षमार्ग हो...' जहाँ स्वभाव चैतन्य भगवान की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता हो, **'तब व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप में कैसा होता है...'** अर्थात् निमित्तरूप कैसा होता है। समझ में आया ? वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप - सहचररूप से कैसा होता है ? **'वह जानना चाहिए।'** वह जानना चाहिए। जानना तो चाहिए न ? कहते हैं, समझ में आया ? व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो ! सुनो (कहा तो) उसे समझना तो चाहिए न ? **'हेतु नियतको होई...'** तब एक निमित्त साथ है। उपचाररूप मोक्षमार्ग व्यवहार है, उसे इसे भलीभाँति जानना चाहिए। समझ में आया ? अब उस व्यवहार समकित अर्थात् सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं। व्यहार सम्यग्दर्शन में किसकी श्रद्धा होती है ? वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है तो विकल्प, शुभ-उपयोग है, वह कही सम्यग्दर्शन नहीं है, परन्तु उसमें भेदरूप जो नव तत्त्व है। उसमें अन्तर आत्मा (आदि) सब लेंगे, हाँ ! सब चीज़ें जैसी है वैसी इसकी श्रद्धा में व्यवहार में आनी चाहिए। समझ में आया ? इसके लिए उसका स्वरूप तीसरी गाथा में कहेंगे। लो..! (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

आत्मा जैसा और जितना महान पदार्थ है उतना महान मानना ही आत्माकी दया पालने रूप समाधि है । और ऐसे महान आत्माको रागादिरूप मानना अथवा मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना वह आत्माकी हिंसा है । (परमागमसार - ३४)

व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) का स्वरूप

जीव अजीवतत्त्व अरु आस्त्रव, बन्ध रु संवर जानो;
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीत उर आनो।।३।।

अन्वयार्थ :- (जिन) जिनेन्द्रदेव ने (जीव) जीव, (अजीव) अजीव, (आस्त्रव) आस्त्रव, (बन्ध) बन्ध, (संवर) संवर, (निर्जरा) निर्जरा, (अरु) और (मोक्ष) मोक्ष, (तत्त्व) यह सात तत्त्व (कहे) कहे हैं; (तिनको) उन सबकी (ज्योंका त्यों) यथावत् - यथार्थरूप से (सरधानो) श्रद्धा करो। (सोई) इस प्रकार श्रद्धा करना सो (समकित व्यवहारो) व्यवहार से सम्यग्दर्शन है। अब (इन रूप) इन सात तत्त्वों के रूप का (बखानो) वर्णन करते हैं; (तिनको) उन्हें (सामान्य विशेषैं) संक्षेप से तथा विस्तार से (सुन) सुनकर (उर) मन में (दिढ़) अटल (प्रतीत) श्रद्धा (आनौ) करो।

भावार्थ :- (१) निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ व्यवहारसम्यग्दर्शन कैसे होता है, उसका यहाँ वर्णन है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। निश्चयश्रद्धासहित सात तत्त्वों की विकल्प-रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अ. ९ पृष्ठ ४७७ तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २२)

यहाँ तो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है। वह भेदरूप है - रागसहित है, इसलिये वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयमोक्षमार्ग में कैसा निमित्त होता है ? वह बतलाने के लिये यहाँ तीसरी गाथा कही है; किन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि निश्चयसम्यक्त्व के बिना व्यवहारसमकित हो सकता है।

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ११, मंगलवार

दि.१-२-१९६६, गाथा ३, ४ प्रवचन नं.-१४

छहढाला चलती है। यह उसकी तीसरी ढाल है; उसकी तीसरी गाथा। तीसरी ढाल की तीसरी गाथा है। व्यवहार समकित अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप।

जीव अजीवतत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो;
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीत उर आनो॥३॥

क्या कहते हैं ? दूसरी गाथा में कह गये हैं। '**परद्रव्यनतैं भिन्न आप - में रुचि समकित भला है;...**' पहले यह आत्मा शरीर, कर्म से और पुण्य-पाप आदि राग से पृथक् तत्त्व है - ऐसी अन्तर में सम्यग्दर्शन में अन्तर प्रतीति करना, उसका नाम निश्चय-सच्चा सम्यग्दर्शन है। वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। जिसे यह भान नहीं है, उसे किसी प्रकार का धर्म नहीं हो सकता। समझ में आया ?

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। यह शरीर, कर्म जड़ - यह सब मिट्टी - धूल अजीव (है)। कर्म भी अजीव है, उनसे आत्मा भिन्न है और अन्दर पुण्य-पाप शुभ-अशुभभाव होते हैं... दया, दान या काम-क्रोध के शुभाशुभभाव से भी आत्मा भिन्न है। यह ज्ञानानन्द शुद्ध आत्मा परमानन्द की मूर्ति आत्मा है। उसकी अन्तर में स्वभावसन्मुख की सम्यक्श्रद्धा की प्रतीति (हो), उसका नाम सच्चा समकित है। उसका नाम चौथे गुणस्थान की उत्पत्ति है। कुछ समझ में आया ? ऐसा सच्चा सम्यग्दर्शन अन्दर से उत्पन्न हो और उत्पन्न करे, उसके साथ व्यवहार समकित कैसा होता है ? - यह उसकी व्याख्या चलती है।

व्यवहार अर्थात् शुभभाव। निश्चय समकित अर्थात् शुद्ध परिणतिरूप श्रद्धा। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसकी-शुद्ध चैतन्य की अन्तर्मुख की, राग बिना शुद्ध स्वभाव(का) अनुभव होकर प्रतीति-श्रद्धा (होना)। आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञायक हूँ - ऐसी अन्तर में - अनुभव में - भान में प्रतीति (होना), उसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन, उसका नाम सच्ची श्रद्धा, उसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। तब से धर्म की शुरुआत होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी गृहस्थाश्रम में हो या मुनि, त्यागी हो; ऐसे सम्यग्दर्शन के बाद उसके साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन का शुभराग, शुभ उपयोग उस प्रकार का व्यवहार ज्ञान का उपयोग (हो), उसे व्यवहार श्रद्धा... पुण्यबन्ध का कारण, उसे व्यवहार समकित कहते हैं। निश्चय समकित, वह संवर और निर्जरा का कारण है। समझ में आया ?

यह अब यहाँ नौ तत्त्व की बात करते हैं। जिसे आत्मा के अन्तर शुद्ध स्वभाव का भान होकर सम्यग्दर्शन, अन्दर अनुभव में प्रतीति होती है। यह आत्मा ज्ञान का कन्द है, पवित्र आनन्दकन्द है। जैसे परमात्मा हुए, वैसी दशा-समस्त शक्तियाँ मेरे आत्मा में पड़ी है - ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख में स्वशुद्ध सन्मुख की अन्तर प्रतीति के साथे जो व्यवहार-नव तत्त्व की श्रद्धा का राग होता है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं; परन्तु ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन होवे तो। कहो, भाई ! यह कहते हैं, देखो !

'**अन्वयार्थ - जिनेन्द्रदेव ने...**' पहला शब्द है। जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर त्रिलोकनाथ भगवान को एक समय में, सैकेण्ड के असंख्य भाग में एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान था। उन भगवान ने नव तत्त्व देखे; छह द्रव्य के अन्तर भेद में नव तत्त्व देखे। यह नव तत्त्व जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित ऐसे। आत्मा निश्चय - सच्चे सम्यग्दर्शन की भूमिका में वीतराग द्वारा कथित ऐसे नव तत्त्वों की उसे श्रद्धा हो तो उस शुभभाव को व्यवहार समकिती कहा जाता है, (वह) पुण्यबन्ध का कारण है। निश्चयसम्यग्दर्शन, संवर-निर्जरा का कारण है।

उसमें जिनेन्द्रदेव ने '**जीव...**' कहा। भगवान ने जीव कहा। आगे उस जीव के तीन प्रकार करेंगे - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ऐसा बहिरात्मा का स्वरूप - जो पुण्य-

पाप और शरीर को आत्मा माने, ऐसे बहिरात्मा को, उसकी व्यवहार श्रद्धा में उस प्रकार मानना चाहिए। समझ में आया ? यह व्यवहार श्रद्धा, हाँ ! निश्चय श्रद्धा में आत्मा अखण्ड ज्ञायकमूर्ति (है)। उसकी अन्तर में - अनुभव में भान में प्रतीति (होना), स्वभाव की शुद्धता का श्रद्धा ज्ञान (होना), उस श्रद्धा का नाम संवर और निर्जरा है। उसके साथ जीव के प्रकार - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (पड़ते हैं)। यह भगवान द्वारा कहे गये ऐसे। बहिरात्मा कि जो कोई शरीर, देह की क्रिया या अन्तर में पुण्य का शुभभाव, वह मेरे हैं - ऐसा मानता है, वह मूढ़ है। आगे 'तत्त्वमूढ़' कहेंगे। वह तत्त्व से अजान मूढ़ जीव है। उसे सम्यग्दृष्टि जीव शुभराग में - व्यवहार समकित में उसे बहिरात्मारूप से मानते है। समझ में आया ?

जो जीव, परद्रव्य से भिन्न आत्मा की रुचि (करके), ऐसे सम्यग्दर्शन का भान है; पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होता है, वह भी बन्ध का कारण है; वह आत्मा नहीं है। शरीर पर; जड़ की क्रिया पर है - ऐसा शरीर से भिन्न और परद्रव्य से भिन्न आत्मा का जिसे दर्शन हुआ है - ऐसा सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। उसके भेद लेंगे। - जघन्य, मध्यम (और) उत्कृष्ट (-ऐसे भेद लेंगे)। यह जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अन्तरात्मा चौथे से बारहवे गुणस्थान तक (है, उन्हें) यह राग और पुण्य से भिन्न आत्मा की अनुभवदृष्टि है। ऐसा अन्तरात्मा को अन्तरात्मा रूप से व्यवहार समकिती मानता है। समझ में आया ? यह मानना शुभभाव है।

आत्मा का अन्तर अनुभव, प्रतीति (हुई), वह निश्चयभाव - शुद्धभाव है। ऐसे शुद्धभाव की भूमिका में ऐसे अन्तरात्मा को अन्तरात्मारूप से ठीक से मानना। वह आत्मा से (भिन्न) परवस्तु है न ? उसे अन्तरात्मा, बराबर अन्तरात्मा है, रागरहित आत्मा को जाननेवाला-माननेवाला है, मानना ऐसे अन्तरात्मा को अन्तरात्मारूप से मानना वह व्यवहार समकिती का लक्षण है। समझ में आया ?

परमात्मा - अरिहन्तदेव सर्वज्ञदेव शरीरसहित त्रिकाल ज्ञान (सहित विराजते हैं)। शरीरसहित त्रिकाल ज्ञान; और सिद्ध भगवान शरीररहित त्रिकाल ज्ञान। सिद्ध भगवान ! ऐसे परमात्मा को त्रिकाल ज्ञान होता है और त्रिकाल ज्ञानी - तीन काल - तीन लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय को बराबर जानते हैं। इस प्रकार परमात्मा के ज्ञान को - परमात्मा को जो यथार्थत:

मानता है, उसे व्यवहार समकित का शुभभाव कहा जाता है। आरे..आ..रे..! इसमें समझ में आया या नहीं ?

ऐसे अनन्त केवलज्ञान आदि पर्याय और महासमकित आदि की अनन्त पर्यायें, ऐसी शान्ति की पर्याय – ऐसी पूर्ण पर्याय का पिण्ड ऐसा यह आत्मा है। ऐसा आत्मा अत्यन्त ध्रुव शुद्ध अखण्ड ज्ञायक; जिसमें ऐसे अनन्त परमात्मा पड़े हैं, जिसमें ऐसी अनन्त चारित्र की पर्यायें पड़ी हैं। इस आत्मा की राग से भिन्न करके अनुभव, प्रतीति (हो), उसे निश्चय समकिती कहा और ऐसे परमात्मा जो एक समय में तीन काल – तीन लोक को जाने, केवलीप्रभु – ऐसे केवलज्ञान द्वारा तीन काल की पर्याय जैसी (होती है, वैसी जानते हैं), इस प्रकार जो केवली को माने, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन होवे तो ऐसे केवली को माननेवाले को व्यवहार समकिती कहा जाता है। ऐ..ई..! घानी के बैल की तरह घूमकर फिरे। (यह भाई) कल आये न ? ऐसा कहे, फिर-फिरकर वापस जगह तो वह की वह निकली। आहा..हा..! देखो न ! यह एक व्याख्या इन्होंने कितनी (अच्छी) की है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा को क्यों निश्चय समकित कहा ? कि इसमें तो ऐसे अनन्त परमात्मा, अनन्त-अनन्त अन्तरात्मा और अनन्त यथाख्यातचारित्र की पर्यायें और अनन्त क्षायिकसमकित की पर्यायें – ऐसी अनन्त-अनन्त आत्मा में पड़ी है – ऐसा पूरा एक आत्मा है। समझ में आया ? ऐसा एकरूप आत्मा, पूरा तत्त्व भगवान निर्विकल्प आनन्दस्वरूप के अन्तर में स्वभावसन्मुख की प्रतीति में तो बहुत आ गया। ऐसा शुद्ध आत्मा, उसकी श्रद्धा – सम्यग्दर्शन, स्वभावसन्मुख होकर (होता है), वह निश्चय, वह सच्चा है। उसके साथ ऐसे परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा को जैसे है, वैसे मानना-इसका नाम व्यवहार समकित का शुभ उपयोग, राग कहा जाता है। आहा..हा..! समझ में आया या नहीं ?

अजीवतत्त्व, वह आगे लेंगे। भगवान ने आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अजीव देखे हैं। यह आत्मा जीव है। इसके अतिरिक्त एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है, एक आकाश है, एक काल है और पुद्गल परमाणु है – ऐसे पाँच अजीव की अजीवरूप से श्रद्धा करना। भाई ! इसमें तो ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है; नहीं समझ में आये ऐसा नहीं है,

परन्तु व्यापार में से थोड़ी रुचि हटे तो यह समझ में आये ऐसा है। वे कल कहते थे, बहुत ध्यान रखना (पड़ता है), पकड़ में नहीं आता। उसे रुचि है, प्रेम से सुनता है। यह तो इसका परिचय किया तब। संसार की कैसी अच्छी रुचि लग गयी है।

देखो ! '**अजीव...**' यह व्याख्या तो बहुत (सरल है)। अजीव अर्थात् परमाणु, अनन्त पुद्‌गल हैं - शरीर, कर्म आदि - ये सब जो अनन्त पुद्‌गल हैं, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय स्वतन्त्र इस प्रकार है, उसी प्रकार अजीव को माने। जैसा भगवान ने देखा - ऐसे अजीव को (ऐसे माने)। समझ में आया ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल - ये चार अरूपी द्रव्य) हैं। यह शरीर, वाणी सब पुद्‌गल है। इसे अजीव को... अजीव का द्रव्य अर्थात् वस्तु, इसके गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् वर्तमान अवस्था - यह सब अजीव है। उसके कारण उसका उसमें है। ऐसे अजीव को अजीवरूप से; परमाणु से लेकर स्कंध तक; कर्म से लेकर शरीर के बन्धन तक, क्रिया तक जो अजीवतत्त्व है, उसे उसरूप से अजीव माने तब निश्चयसम्यग्दर्शन सहित अजीवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार समकित कहा जाता है। भाई ! आहा..हा..! अब यह अजीव कौन और अजीव की पर्याय क्या ? सर्वज्ञ क्या और सर्वज्ञ की पर्याय क्या ? यह सब तो व्यवहार समकित के विषय में आ जाता है। समझ में आया कुछ ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- जाना नहीं। उसे व्यवहार भी नहीं। स्व पूरा तत्त्व ज्ञानमूर्ति और शुद्ध चैतन्यप्रभु आत्मा है। उसकी अन्तरसन्मुख की प्रतीति के भान बिना... परसन्मुख के विषय का व्यवहार उसे यथार्थ हो नहीं सकता। क्या कहा समझे इसमें ? स्वविषय आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा - ऐसे स्व आत्मा का अन्तर विषय, उसे ध्येय बनाकर अन्दर अनुभव होकर प्रतीति करने का नाम निश्चय स्वविषय की प्रतीति हुई, तब उसे अभी परविषय की प्रतीति (होती है)। पाँच द्रव्यों की (प्रतीति) करना अथवा जीव के अन्तरात्मा, परमात्मा कि जो दूसरे जीव हैं, उनकी उस प्रकार से प्रतीति करना, तब बाह्य विषयवाली व्यवहार समकित - श्रद्धा होती है। कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं ? अजीवतत्त्व, यह सब वर्णन आगे करेंगे, हाँ ! उसमें ऐसा आ जाता है।

'**आस्रव...**' तत्त्व। देखो है न ! यह शुभाशुभ परिणाम हैं, शुभ-अशुभभाव हैं - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह शुभ है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वह पाप है - ये दोनों आस्रव अर्थात् मलिनभाव है। ये नये कर्म का कारण है। ऐसे आस्रव को आस्रवरूप मानना। यह सब भेद है न ? उसे व्यवहारश्रद्धा का विषय कहा जाता है। समझ में आया ? यह नौ चीज भेद से है या नहीं ? एकरूप अखण्ड ज्ञायकमूर्ति, अन्तर स्वविषय की श्रद्धा (होना), उसे निश्चय समकित (कहते हैं), उसे ऐसा व्यवहार होता है। समझ में आया ? (यह) आस्रव (हुआ)।

'**बन्धा...**' यह बन्धन... बन्धन। कर्म का बन्धन है न ? दोनों एकरूप हैं। शुभ-अशुभ कोई भेद नहीं है; (दोनों) बन्ध है। बन्ध को बन्धरूप से भलीभाँति जानना चाहिए। शुभ, वह ठीक; अशुभ, (वह अठीक) - यह नहीं। बन्ध को बन्धरूप से जानना। यह निश्चयसम्यग्दर्शन सहित का नव तत्त्व के विषयवाला बन्धका भाव, इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ?

'**संवर...**' आत्मा में इस पुण्य-पाप के राग से रुककर शुद्ध आत्मा में सम्यग्दर्शन सहित शुद्धता की पर्याय का प्रकट होना, उसे संवर कहते हैं। इस संवर तत्त्व के भेद को ठीक से मानना, जानना-इसका नाम अभी व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ? इसका भी पता चले और उसका भी पता न चले और चलो करो धर्म ! भाई ! संवर किसे कहना ? सामायिक और प्रौषध किये... परन्तु किसका सामायिक, प्रौषध भी ? अभी सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? - इसका भी पता नहीं होता तो सामायिक और प्रौषध आये कहाँ से ? समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि सच्ची सामायिक और प्रौषध करनेवाले जीवों को इस प्रकार मानना, उसे व्यवहार समकित का विषय है। आहा..हा..! और मिथ्या माननेवाले को बहिरात्मारूप से मानना, वह भी व्यवहार समकित का विषय है। भाई ! फिर वापस विषय क्या होगा ? इस व्यवहार समकित का यह लक्ष्य है। उसका लक्ष्य बाहर होता है और निश्चय समकित का लक्ष्य अन्दर है, अन्दर। यह बाहर (लक्ष्य है), दोनों (में) भेद है। अन्तर्मुख की

दृष्टि और बहिर्मुख की दृष्टि, यह व्यवहार होता है। समझ में आया ?

यह तो अभी वीतरागमार्ग की पहली भूमिका की बात चलती है। जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन परमेश्वरने एक समय में तीन काल - तीन लोक देखे हैं; उनके द्वारा कथित नव तत्त्व (है)। समझ में आया ? और उन्हों ने जाना हुआ, देखा हुआ यह आत्मा। यह आत्मा, हाँ ! ऐसा उसे अन्तर प्रतीति में, श्रद्धा-ज्ञान में आवे, तब उसे सच्चा सम्यग्दर्शन (कहलाता है) और उसकी पर्याय में - शुभ विकल्प में नव तत्त्व अर्थात् संवर के साधनेवाले जीव संवररूप से कैसे होते हैं ? उसे संवर ऐसा मानना। समझ में आया ? और अपने में भी संवर की पर्याय के भेद-शुद्धता के अंश कैसे होते हैं ? - उन्हें उस प्रकार से मानना, वह व्यवहार समकित का भेद है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- पर्याय है न ? भेद है या नहीं ? अभेद तो अन्तर एकरूप हो गया। कहो, समझ में आया ?

संवर जानना। है न ? देखो ! उसे ठीक से जानना, कहते हैं। तब उसे व्यवहार समकित कहते हैं, निश्चय समकित होवे तो। निश्चय समकित दर्शन के बिना अकेला व्यवहार होवे तो उसे व्यवहार नहीं कहते। (वह तो) एक के बिना की शून्य है।

'**निर्जरा...**' आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना। शुभ-अशुभपरिणामरहित शुद्ध चैतन्यमूर्ति के भान में निर्जरा-शुद्धि की वृद्धि होना, (वह निर्जरातत्त्व है)। ऐसे दूसरे जीवों की वृद्धि और अपनी (वृद्धि होना)। ऐसे निर्जरातत्त्व को इस प्रकार भेद से भलीभाँति जानना, मानना - इसका नाम समकित-व्यवहार समकि कहा जाता है, जो पुण्यबन्ध का कारण है। अपने स्वभाव की अभेद से अन्तर श्रद्धा हुई, वह संवर-निर्जरा का स्वरूप है, परन्तु उसके भेद कर, संवर-निर्जरा को भेद से श्रद्धा करना, अभेद को छोड़कर भेद से श्रद्धा करना, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहते हैं। समझ में आया ?

'**मोक्ष...**' मोक्ष। भगवान अरिहन्त को सदेह मुक्ति हुई। (वे) देह सहित, चार कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। वे भगवान अभी अरिहन्तपद में विराजमान हैं।

सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में है और देहरहित भगवान मोक्ष पधारे, वे सिद्ध हैं। यह चौबीस तीर्थंकर आदि देहरहित हो गये हैं, वे सिद्ध में हैं, अशरीरी हैं। इन्हें शरीर हैं। ऐसे भगवान को केवलज्ञानसहित, केवलज्ञानसहित और तीनकाल-तीनलोक के ज्ञान (सहित) सर्वथा मुक्त हैं, चार कर्मों से (रहित) हैं। ऐसे मोक्ष को मोक्षरूप से श्रद्धा करना, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन सहित का व्यवहार समकित का विषय व्यवहार समकित कहते हैं। समझ में आया ? है या नहीं पुस्तक ? मेहमानों को दी है या नहीं ? रखो तो सही। यह लड्डूओं से यह कोई दूसरी चीज़ है। यह भगवान क्या कहते हैं ? घर में तो कभी फुरसत भी नहीं होती। समझ में आया ?

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। तीर्थंकर केवली के मुख में (से) यह बात आयी है। यह बात सन्तों ने पकड़कर, जानकर अनुभव की है। वह यहाँ कही जाती है। समझ में आया ? आहा..हा..! '**कहे तिनको...**' देखो ! अन्तिम शब्द आया न ! ऐसे सात (तत्त्वों को) अर्थात् आस्रव में पुण्य-पाप आ गये। आस्रव है न - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा - यह शुभपरिणामरूपी पुण्यास्रव है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग, वासना, कमाना, क्रोध, मान, माया - यह पाप आस्रव है। आस्रव में ये दो भाग आ गये। उसमें पुण्य को पुण्यरुप से और पाप को पापरूप से जो '**कहे जिन...**' वीतराग ने कहे; जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहे... '**तिनको ज्यों का त्यों सरधानो।**' है न ? '**उन सबको (ज्यों का त्यों) जैसे कहे हैं वैसे...**' जैसे कहे हैं वैसे। वजन यहाँ है।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने (कही), यह बात अन्यमत में नहीं हो सकती। केवलज्ञानी परमेश्वर तीर्थंकरदेव के ज्ञान में तीन काल - तीन लोक ज्ञात हुए। उसमें उन्होंने जो नव तत्त्व देखे, उस प्रकार जो माने। '**(ज्यों का त्यों)**' ज्यों का त्यों अर्थात् जैसे है वैसे। ज्यों का अर्था जैसा है, त्यों अर्थात् वैसा। '**यथार्थ श्रद्धा करो।**' समझ में आया ? भाई ! यह सब मुम्बई के यहाँ तीन बड़े हैं। हमारे बड़े पण्डित और तुम दो छोटे पण्डित। अभी है न ? कहो, इसमें समझ में आया ? आहा..हा..!

'**इस प्रकार श्रद्धा करना, वह व्यवहार से सम्यग्दर्शन है।**' है अन्दर ! व्यवहार से

अर्थात् पराश्रित श्रद्धा का नाम व्यवहार कहा जाता है। ऐसे नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, वह पराश्रित श्रद्धा है; इसलिए उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन, शुभपरिणाम, शुभविकल्प कहा जाता है। समझ में आया ? कहो भाई ! हाथ में (पुस्तक) रखी है या नहीं ? फिर उसका अर्थ समझना।

मुमुक्षु :- अगमनिगम की बातें है।

उत्तर :- लो, अगनिगम की, ठीक ! यह भी तक बड़ी बेगार खोटी बेगार है न ? यह दूसरी चीज़ है – ऐसा कहते हैं। आत्मा मजदूरी करके ऐसा का ऐसा हेरान हो गया है।

कहते हैं – **'है सोई समकित व्यवहारी...'** है न ? **'अब (इनरूप) इन सात तत्त्वों का...'** (सामान्य-विशेष) संक्षेप से (कहता हूँ)। समझ में आया ? सामान्य-विशेष अर्थात् कोई संक्षेप में और कोई थोड़े विस्तार से... **'विस्तार से सुनकर...'** सुनकर। ऐसा कहते हैं, सुनो। **'सुनकर मन में चित्त में अटल (प्रतीत) श्रद्धा करनी चाहिए।'** अटल श्रद्धा करनी चाहिए। व्यवहार श्रद्धा भी ऐसी अटल, हाँ ! चलित न हो ऐसी; अर्थात् (बारबार) बदलनेवाली नहीं ऐसी। टले तो फिर वापस चली जाए।

मुमुक्षु :- यह सुने बिना ?

उत्तर :- उसे कहाँ होश है ? होश होने के काल में इसे सुनना होता है, ऐसा कहते हैं। सुनकर होता है – इसका अर्थ उसे समझे, तब उसे सुनना होता है – ऐसा है, भाई !

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमेश्वरने... वैसे तो सवेरे-शाम बोले – केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं – बोलते हैं न मांगलिक में ? पहाड़े बोले पहाड़े। अर्थ का कुछ पता नहीं होता। अरिहंता मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। किसे कहना केवली ? और किसे कहना पण्णत्तो ? और किसे कहना धर्म ? तीनों का अर्थ ही (अलग है)। परन्तु फुरसत नहीं मिलती न ! पाप के कारण पूरी जिन्दगी मजदूरी कर-करके मर गया ऐसा का ऐसा। धर्म की पहिचान में भी धर्म के नाम पर मजदूरी की है। यह भाई कहते हैं न ? ये डोकरा तो वृद्ध हो गया। ८४ वर्ष (हुए हैं)। सेठिया घानी के (पशु की) तरह अभी तक ऐसा का ऐसा गया। आँख से पट्टी खोली तो वह की वह घानी और वह की वह तेली।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- आज सवेरे इसने पहले यही कहा कि हम तो उसी की उसी जगह पर हैं, हम कोई आगे नहीं चले हैं। कहो, समझ में आया ? लो, वहाँ संघ के सेठ हैं, 'वडाल' के 'वडाल' न ? कर-करके इतना किया। यह किया और वह किया ! सामायिक की और प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किया ! किसकी सामायिक ? किसके प्रौषध ? किसका प्रतिक्रमण ? अभी तो सामायिक, प्रौषध किसे कहना ? - इसका तो पता नहीं है। आत्मा क्या है ? किसमें स्थिर होना चाहिए ? किसमें लीन होना चाहिए ? वह चीज़ क्या है ? उस चीज़ के भान बिना स्थिरता... ऐसी सामायिक आयी कहाँ से ?

मुमुक्षु :- होती है न ?

उत्तर :- हो, परन्तु गुड़ होना चाहिए न ? गुड़ होवे तो ? गुड़ के नाम पर गोबर खाये तो क्या होगा ? ऐसे भगवान आत्मा, जो निर्विकल्प श्रद्धा में यह आत्मा पूर्णानन्द ऐसे प्रतीति में आये बिना इसमें स्थिरता.. इसमें स्थिरता से मुझे शान्ति मिले और इसमें स्थिरता से मुझे मुक्ति मिले... उस चीज़ की प्रतीति, पहिचान बिना यह स्थिर किसमें होगा ? यह तो अनादि से पुण्य और विकल्प में स्थिर है। ऐसे के ऐसे विकल्प उठाकर उसमें (स्थिर है)। वह तो संसार है, आस्रव है, बन्ध है। समझ में आया ?

'**दृढ़ प्रतीत उर आनो...**' उसकी व्यवहार से यथार्थ श्रद्धा करना। अब इसका अर्थ करते हैं, देखो ! हमारे ऊपर आ गया है। '**भावार्थ :- निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसा होता है, उसका यहाँ वर्णन है।**' निश्चय अर्थात् आत्मा शुद्ध पवित्र की अन्तर सम्यक्दृष्टि प्रकट हुई हो, उसके साथ व्यवहार का विकल्प-शुभराग-व्यवहार समकित कैसा होता है - उसका इसमें वर्णन है।

'**जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो...**' भगवान आत्मा पवित्र, पुण्य-पाप के रागरहित अखण्डानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप की अन्तर पहिचान, अनुभव और प्रतति नहीं है, '**उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता।**' 'भी' अर्थात् निश्चय तो नहीं परन्तु व्यवहार भी नहीं। निश्चय (सम्यक्दर्शन) के बिना, आत्मा के अन्तरभान के बिना, यह व्यवहार का परविषय का

विकल्प उपचार से भी उसे लागु नहीं पड़ता। समझ में आया ?

'**निश्चय श्रद्धा सहित...**' देखो ! आत्मा एक वीतराग निर्विकल्प पिण्ड प्रभु आत्मा है - ऐसी अन्तरदृष्टि होने पर '**सात तत्त्वों की विकल्प-राग सहित की श्रद्धा...**' यह नौ कहो या सात कहो। आस्रव के दो भेद। उसकी विकल्प अर्थात् भेदवाली श्रद्धा, भेद की श्रद्धा को '**व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।**' कहो, समझ में आया ? व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं परन्तु वह शुभ विकल्प और उस प्रकार का व्यवहार का ज्ञान है, इसलिए व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। निश्चय अर्थात् यथार्थ सम्यग्दर्शन। व्यवहार सम्यग्दर्शन, (वह) सम्यग्दर्शन नहीं परन्तु उसे उस प्रकार की श्रद्धा में, व्यवहार श्रद्धा के क्षयोपशम के भाव में और विकल्प में ऐसी श्रद्धा होती है, इसलिए उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का आरोप दिया जाता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- व्यवहार सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है ?

उत्तर :- श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। नहीं, वह तो राग है। यह क्या कहा ? '**विकल्प-राग सहित की श्रद्धा...**' यह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। निश्चयसम्यग्दर्शन, वह आत्मा के श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। व्यवहार समकित तो राग है, वह कहाँ श्रद्धागुण की पर्याय ? श्रद्धागुण की पर्याय क्या ? यह सब कभी सुना नहीं होगा और गाँववालों को तो (ऐसा लगता है) क्या कहते हैं यह ? गाँववाले क्या और शहर(वाले भी क्या) ? तत्त्व के भान बिना ऐसे के ऐसे मजदूरी करते रहते हैं। एक तो पूरे दिन संसार की मजदूरी करते हैं।

मुमुक्षु :- वहाँ तो लाभ होता है।

उत्तर :- किसका ? धूल का ? क्या लाभ होता है ? पैसे तो उसके घर में रह गए। पैसे कहाँ उसके पास घुस गए है ? उसके पास लाभ ममता का होता है, भाई ! पाँच-दस लाख, बीस लाख पैसे तो उसके पास - जड़ में रह गए। उसका क्या लाभ ? मेरे पास (पैसे) आए, ऐसी ममता उसके पास आई। उसे क्या लाभ हुआ ?

मुमुक्षु :- हमारी कोई बात तो रखिए (मानिए) ?

उत्तर :- एक भी बात सत्य नहीं है। सच्ची किसकी रखें ? एक भी बात सत्य होवे तो सच्ची रखें न ? कैसे होगी ? कहो, समझ में आया ? पैसा.. पैसा.. क्या पैसा ? दो करोड़, तीन करोड़ और धूल करोड़। इसके पास क्या आया होगा ? ऐ..ई..! तुम्हारे भतीजे के पास क्या आया होगा ? यह तो कहता है - आकुलता आयी। लो ! (अपने यहाँ एक मुमुक्षु आते है न) ? बाईस-बाईस मंजिल के हजीरा बनाते हैं न ? हजीरा अर्थात् ? मकान... मकान। बाईस... बाईस मंजिर के। धूल में भी नहीं वहाँ अब। उनकी अपेक्षा तो अपने इनके मामा का लड़का बड़ा। चालीस करोड़ ! 'गोवा.. गोवा !' 'पाणसणा' का न ? क्या कहलाता है ? 'पाणेसणा' पांदड़ा नहीं। पांदड़ा तो यहाँ एक गाँव है। हमारे 'उमराला' से 'गारियाधार' जाते तब रास्ते में पांदड़ा आता था। वह आता है, पता है। यह तो छोटी उम्र में गये थे न ! दस वर्ष - बारह वर्ष की उम्र में 'उमराला' से शाम से सवेरे जाते थे। 'पाणेसणा' इसके मामा का लड़का, सगे मामा का लड़का।

मुमुक्षु :- इतना तो पुण्य है न ?

उत्तर :- आकुलता का ढ़ेर है। धूल में भी वहाँ पैसे काम नहीं करते। रूपया है, वह अजीवतत्त्व है। वह मेरे, यह माना, वह मिथ्यात्व तत्त्व है और उसकी आकुलता, वह आस्रवतत्त्व है। आहा..हा..! कहो, क्या कहना है ? पैसा अजीवतत्त्व है या जीव ? यह अजीवतत्त्व भिन्न है। जीव माने कि मेरा है। वह इसका नहीं है और 'मेरा' माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :- अजीव भी जीव को उपयोगी है न ?

उत्तर :- धूल में भी उपयोगी (नहीं है)। क्या काम आता है ? जीव उसका काम कर सकता है ? वह आत्मा को काम आता है ? राग करने में निमित्त होता है। राग अर्थात् आकुलता करने में निमित्त हुआ। वह तो आकुलता-दु:ख में निमत्ति हुआ। आहा..हा..! भगवान का गज अलग प्रकार का है, भाई ! तीर्थंकर-केवलियों का माप - गज अज्ञानी की अपेक्षा अलग प्रकार के हैं। यह दुनिया के साथ मेल नहीं खाता। यह पैसा मेरा है - ऐसी मान्यता (मिथ्यात्व है)। यह पैसा आत्मा का है ? जीव का अजीव कभी होता है ? जीव का

कभी अजीव होता है ? अर्थात् अजीव इसका होगा ? ऐसा। यह अजीव मेरा है – ऐसा माना, वह तो मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है। परवस्तु को मेरी माने... यहाँ कहा न ? परद्रव्य से भिन्न अपनी श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि जीव एक रजकण को भी अपना नहीं मानता। भले राजपाट में दिखे। मेरा मेरे पास। अनन्त गुण की शुद्धता भरी है, वह मेरी चीज है। पुण्य–पाप के भाव उठें, वह मेरी चीज़ नहीं है; तो फिर यह धूल मेरी कहाँ से आयी ? समझ में आया ? '**परद्रव्यनतैं भिन्न...**' पहले आ गया न ? इन सात तत्त्वों में भी आ गया। आस्रवतत्त्व नहीं आया ? अजीवतत्त्व, उसके रजकण, स्कंध (है)। यह व्यवहार श्रद्धा हुई। इससे रहित अकेले आत्मा की श्रद्धा की, तब ऐसी श्रद्धा को व्यवहार कहते हैं। आहा..हा..! बहुत अच्छी बतायी है ! गागर में सागर भर दिया है।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– नहीं, नहीं; यह पहले का है। यह तो कोई शब्द का फेर है। इसमें है, देखो ! यह पुराना है, पुराना। पुराना है, इसमें है। कहाँ गया पुराना ? लो ! यह... यह रहा। यह पुराना। देखो, इसमें ही यह है। समझ में आया ? यह तो इससे हमनें सुधारा हैं। देखो ! यहाँ लिखा है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष सात तत्त्व कैसे है, उसका जैसा हैं, वैसा अटल श्रद्धान करना, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अब फिर इन सात तत्त्वों के स्वरूप का सामान्य और विशेषरूप से वर्णन करेंगे। 'रूप' है न अन्दर में ? '**अब इन रूप बखानो।**' ऐसा। इस पर वजन है। यहाँ देखो न, तीसरे में ! '**अब इन रूप बखानो-**' इनका – सात का स्वरूप अब कहेंगे – ऐसा। सात तत्त्व भिन्न–भिन्न कैसे हैं – उन्हें यथार्थ श्रद्धा करे। आत्मदर्शनसहित होवे तो उसे व्यवहार समकित कहा जाता है। उसके स्वरूप को अब कहेंगे – यह शब्द पाठ में ही है। समझ में आया ?

इसमें भी सात तत्त्वों का चित्र लिया है, हाँ ! देखो ! यह चित्र है, देखो ! ऐसे अन्दर भलीभाँति श्रद्धा करता है। ऐसे आँख रखकर देखता नहीं हो ! चित्र में सात तत्त्व जैसे हैं, वैसे बाह्य ज्ञान से, बहिर्लक्ष्यी ज्ञान से उन्हें भलीभाँति देखता है कि ऐसे हैं।

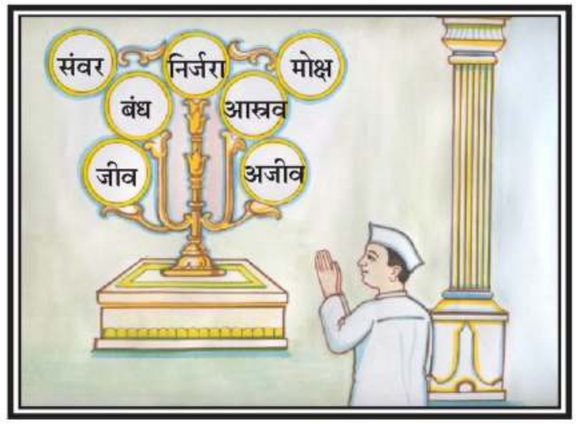

अपने यहाँ से यह अधिक डाला है। '(२) तत्त्वार्थसूत्र में '**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**'' कहा है... 'कुन्दकुन्दाचार्य' के शिष्य 'उमास्वामी'ने एक तत्त्वार्थसूत्र बनाया है। परम्परा भगवान से आये हुए तत्त्वों को थोड़े शब्दो में समेटकर संक्षिप्त बनाया है। उसमें यह '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' कहा है। '**वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। यहाँ जो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है...**' वह व्यवहार है, क्योंकि भेदरूप है और तत्त्वार्थसूत्र में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है, वह निश्चय है। वरना समानता तो दोनों में है – यह भी तत्त्वार्थ है और वह भी तत्त्वार्थ है। समझ में आया ?

यह सात तत्त्वों की श्रद्धा, वह व्यवहार है और 'उमास्वामी'ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा, वह आत्मा के ज्ञान-भान सहित की आस्रव, बन्ध, संवर का उसमें अभाव है – ऐसी श्रद्धासहित, उसमें अभेद एक आत्मा की श्रद्धा की – यह सब एकवचन में समाहित हो जाता है। समझ में आया ? वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और इन सात को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसलिए यहाँ ज़रा स्पष्टीकरण किया है।

'**देखो मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ - ४७७...**' यह हिन्दी की बात है। '**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा २२।**' तत्त्वार्थ श्रद्धान निजरूप है। यह समझ में आया ? है इसमें ? इसमें है यह – '**जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।**' यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की २२वीं (गाथा है)। '**श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मारूपं तत्-**' (अर्थात्) विपरीत अभिनिवेश से रहित - विपरीत - मिथ्या अभिप्राय से रहित। '**जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का...**' पुरुषार्थसिद्धियुपाय की २२ वीं गाथा है, वह बोली जाती है। (वह श्रद्धान) सदाकाल करने योग्य है। '**वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।**' समझ में आया ?

'**आत्मरूपं...**' क्योंकि दर्शनमोहरूप उपाधि दूर होने पर प्रकट होता है, इसलिए आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकट होता है। चौथे गुणस्थान से आत्मा की अनुभव-दृष्टि प्रकट होती है; तत्पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है; इसलिए कहा है कि '**सदैव कर्तव्यम्...**' सिद्ध में भी (रहता है)। यह पुरुषार्थसिद्धियुपाय की २२वीं गाथा और मोक्षमार्गप्रकाशक हिन्दी (दिल्ली संस्करण) में ४७७ पृष्ठ पर है। क्या कहा यह ?

यह आत्मा का सम्यग्दर्शन-निश्चय श्रद्धा - तत्त्वार्थश्रद्धान शास्त्र में कहा है, यह तत्त्वार्थ श्रद्धाननिश्चय है। आत्मा की - अभेद की श्रद्धासहित; और यह जो सात तत्त्वों की श्रद्धा (कही है), यह व्यवहार श्रद्धा का विकल्प राग हैं, उसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान कहा जाता है। '**यहाँ जो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है, वह भेदरूप है...**' पहले (जो) तत्त्वार्थ (श्रद्धान कहा), वह अभेद एकवचनरूप था। यह '**भेदरूप है - रागसहित है; इस कारण वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।**' व्यवहार अर्थात् शुभरागरूप है। जो श्रद्धा की पर्याय नहीं है, फिर भी उसे सम्यग्दर्शन की पर्याय कहने का नाम व्यवहार कहा जाता है। पर्याय क्या और यह सब भाषा कैसी ?

जैनदर्शन की तो पहली ईकाई है। द्रव्य किसे कहना ? कि त्रिकाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं। उसमें शक्ति और गुण हो, उसे गुण कहते हैं। उसकी वर्तमान हालत को - स्थिति को पर्याय कहते हैं। ऐसे छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। (उस) प्रत्येक में द्रव्य-गुण-पर्याय होते हैं। उसे उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से उसका जैसा तत्त्व है, उस प्रकार श्रद्धा करना, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ?

'**निश्चयसम्यग्दर्शन में कैसा निमित्त होता है...**' निश्चयसम्यग्दर्शन में या निश्चयमोक्षमार्ग में... समझे ? निश्चयसम्यग्दर्शन के समय व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसा होता है अथवा निश्चयमोक्षमार्ग-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन की एकता में व्यवहारमोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन कैसा होता है ? समझ में आया ? '**तीसरी गाथा कही है...**' उसके लिए ये तीसरी गाथा सम्यग्दर्शनकी है। '**उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि निश्चयसमकित के बिना व्यवहारसमकित हो सकता है।**' यह सात की श्रद्धा हो, इसलिए व्यवहार-समकित है और

निश्चय है नहीं – ऐसा नहीं हो सकता है। एक हो तो शून्य को दस गिना जाता है; एक के बिना शून्य को शून्य नहीं गिना जाता (अर्थात्) गिनती में नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा के अन्तर अनुभव में समकित निश्चय होवे तो एक (का अंक) हुआ तो व्यवहार समकित के तत्त्वार्थ श्रद्धान को निमित्तरूप से व्यवहार कहा जाता है। वह है तो शून्य, हाँ ! सम्यग्दर्शन नहीं।

जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा का लक्षण

बहिरातम, अन्तरआतम परमातम, जीव त्रिधा हैं;
देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।
उत्तर मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी;
द्विविध संगबिन शुध-उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।।४।।

अन्वयार्थ :- (बहिरातम) बहिरात्मा, (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (और) (परमातम) परमात्मा, (इस प्रकार) (जीव) जीव (त्रिधा) तीन प्रकार के (है) है; (उनमें) (देह जीवको) शरीर और आत्मा को (एक गिने) एक मानते हैं, वे (बहिरातम) बहिरात्मा हैं (और वे बहिरात्मा) (तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वों से अजान अर्थात् तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। (आतमज्ञानी) आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (कहलाते हैं; वे) (उत्तम) उत्तम (मध्यम) मध्यम और (जघन) जघन्य ऐसे (त्रिविध) तीन प्रकार के हैं; (उनमें) (द्विविध) अन्तरंग तथा बहिरंग ऐसे दो प्रकार के (संगबिन) परिग्रह रहित (शुध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि (उत्तम) उत्तम अन्तरात्मा है।

भावार्थ :- जीव (आत्मा) तीन प्रकार के हैं - (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। उनमें जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, उन्हें बहिरात्मा कहते हैं; वे तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। जो शरीर-आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भिन्न-भिन्न मानते हैं, वे अन्तरात्मा

अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं। अन्तरआत्मा के तीन भेद हैं - उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक वर्तते हुए शुद्ध-उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

अब, '**जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा का लक्षण।**' लो, यह इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में श्रद्धान करना चाहिए, पहिचान करके यथार्थत: मानना चाहिए।

बहिरातम, अन्तरआतम परमातम, जीव त्रिधा हैं;
देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।
उत्तर मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी;
द्विविध संगबिन शुध-उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।।४।।

क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा, जिसने सम्यग्दर्शन में पूरा आत्मा पूर्णानन्द को पकड़ा - मैं परमस्वरूप से, परमात्मस्वरूप से, मैं परमस्वरूप से पूर्णानन्द हूँ - ऐसा जिसने सम्यक्श्रद्धा - दर्शन में पकड़कर प्रतीति की है, उसे व्यवहार श्रद्धा में जीव के भेद जैसे है, (वैसे श्रद्धा की।) यहाँ वे दूसरे भेद नहीं गिने हैं, भाई ! यहाँ मात्र बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (ये भेद) गिने हैं। देखो ! मुद्दे की रकम गिनी ! वरना तो जीव के दूसरे भेद भी बहुत हैं - स्थावर और त्रस और अमुक... अमुक, परन्तु यह तो कहते हैं - वे प्रयोजनभूत नहीं हैं। यहाँ प्रयोजनभूत की बात लेनी है, भाई ! यहाँ सात तत्त्वों में प्रयोजनभूत की बात लेनी है। व्यवहार परन्तु उसका प्रयोजनभूत व्यवहार। समझ में आया ? हैं !

मुमुक्षु :- ... काम नहीं ?

उत्तर :- उसका यहाँ काम नहीं।

कहते हैं, अपने आत्मा की - शुद्ध स्वभाव के सन्मुख की अन्तर प्रतीति - निश्चय श्रद्धा हुई, तब उसे जीव के भेदों की ऐसी श्रद्धा का शुभराग होता है। इस प्रकार का ज्ञान का

क्षयोपशम होता है, ऐसा एक परसन्मुख का विकल्प होता है।

'बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा (इस प्रकार) जीव तीन प्रकार के हैं...' ऐसा यह माने। अब तीन कैसे होते हैं – यह माने ? **'(देह-जीव को) शरीर और आत्मा को (एक गिने)...'** शरीर की क्रिया हो, वह आत्मा करता है अथवा शरीर है तो आत्मा है, शरीर है तो आत्मा है – इस प्रकार शरीर को ही आत्मा मानता है। यह वाणी है तो आत्मा है – इस प्रकार वाणी को आत्मा मानना है। सब जड़ को (आत्मा मानता है)। कर्म है तो आत्मा है, वह जड़ को आत्मा मानता है। बहिर-जीव-स्वभाव के अतिरिक्त बहिर्भाव-पुण्य-पाप शरीर, कर्म सब बहिर्भाव है। समझ में आया ? यह उसका अन्तरभाव नहीं। जीव का अन्तर्भाव तो ज्ञानानन्द शुद्ध स्वभाव है; बहिर्भाव पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभपरिणाम या हिंसा, झूठ के अशुभ (परिणाम) या कर्म, शरीर अजीव यह सब बहिर्भाव हैं। इस बहिर्भाव को अपना माने, यह मेरा – जीव का है – ऐसा माने, उसे बहिरात्मा – मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है। अर्थात् क्या कहा ? सम्यग्दृष्टि को, दूसरे जीव, शरीर और कर्म मेरे, पुण्य-पाप के भक्ति भाव मेरे ऐसा माननेवाले हों, उसे व्यवहार समकित के विषय में, वह बहिरात्मा है – ऐसा उसे मानना चाहिए। समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु :- बहुत स्पष्टता हो गयी।

उत्तर :- बहुत स्पष्टता हो गयी, कहते हैं। उसके लिए तो यह सब किया है। (सब लेने का) कहते थे तो फिर एक बार लेना था, लेते हैं, चलो ! नया-नया कुछ लेना न ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? यह पढ़ा था ? पहले पूरा पढ़ा था ? यह (छहढाला) पढ़ी थी या नहीं ? घर में नहीं ? है तो अवश्य, कहते हैं। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- धीरे-धीरे...

उत्तर :- यह धीरे-धीरे तो चलता है, देखो न !

बहिरात्मा = बहिर्-आत्मा – ऐसा शब्द पड़ा है। जीव के तीन प्रकार में – प्रयोजनभूत तत्त्व के प्रकार में एक बहिरात्मा है। आत्मा तो सही, परन्तु वह आत्मा, पुण्य और पाप के परिणाम को, विकार को अपना मानता है, उनसे अपने को लाभ मानता है; देह की क्रिया को,

बाहर के पैसे-धन से अपने को लाभ माने - ऐसे जीव को बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि-तत्त्वमूढ़ा अर्थात् तत्त्व का मूढ़ जीव है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित मैं, व्यवहारज्ञान में उसे बहिरात्मा के रूप में मानना चाहिए। कहो, यह कोई कहता है, अपने को पर का क्या काम ? भाई ! यहाँ पर की बात नहीं। ऐ..ई..! दूसरे आत्मा के तीन प्रकार में किसमें है - ऐसी मान्यता व्यवहार समकित के विषय में आती है। भाई ! देखो न ! कैसा बनाया है !

शरीर और आत्मा को एक माननेवाले अर्थात् शरीर, उसकी क्रिया - यह शरीर की क्रिया, यह वाणी की क्रिया - यह आत्मा की है, आत्मा है तो शरीर चलता है, आत्मा है तो वाणी बोली जाती है - ऐसा माननेवाले उस जड़ को ही आत्मा मानते हैं, देह को ही आत्मा मानते हैं। जो बहिर्मुख विकार है, उसे ही आत्मस्वभाव मानते हैं। आत्मभाव, देह को आत्मा माने और पुण्य-पाप को आत्मभाव माने; अर्थात् आत्मा को - आत्मभाव को पर से अपने को मानता है। समझ में आया ? ऐसे जीवों को भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। वे जैन में हो या अन्य में हो, बाड़ा (संप्रदाय) के साथ यहाँ सम्बन्ध नहीं है, भाई ! यह कहाँ वाड़ा की बात है ? यह तो भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ का कथन है। इसलिए नहीं कहा ? '**कहे जिन तिनको...**' भगवान ने ऐसा कहा है। ऐसे जीवों को भगवान ने बहिरात्मा कहा है।

जो जीव, शरीर की क्रिया मुझसे होती है, शरीर का आत्मा, शरीर है तो मैं हूँ, शरीर साधन होवे तो धर्म होता है, शरीर निरोग होवे तो धर्म होता है, शरीर रोगवाला होवे तो आत्मा को नुकसान होता है - ऐसा माननेवाले सब शरीर को ही आत्मा माननेवाले हैं, भाई ! शरीर अच्छा हो तो पर की दया पलती है, लो ! धूल भी नहीं, सुन न अब। शरीर तो मिट्टी-जड़ है, वह तो धूल है, अजीव है। वह अजीवतत्त्व है। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अजीव हैं। द्रव्य अर्थात् रजकण; गुण अर्थात् उसके रंग, गन्ध, रस, स्पर्श और अवस्था (अर्थात्) यह अवस्था दिखती है, वह तीनों अजीव हैं। इस अजीव की कोई भी शक्ति या पर्याय मेरी है अथवा मुझसे होती है अथवा वह मेरे अस्तित्व में है अथवा उसके अस्तित्व के कारण मैं हूँ (-ऐसा माननेवाले बहिरात्मा हैं।) 'तन उपजत' - एक (छन्द) में आया था न ? भाई ! देह उत्पन्न

हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ; देह मर गया तो मैं मर गया - ऐसे देह के - अजीव के तत्त्व को जीव माननेवाला बहिरात्म जीव है, मिथ्यादृष्टि है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में ऐसे बहिरात्मा को बहिरात्म रूप से श्रद्धा करना चाहिए। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- तुमने कब पढ़ा है ? अभी-अभी ही थोड़े निवृत्ति हुए हो। थोड़ा कहा, अभी तो इसे मदद करनी, उसको करानी। (कहते हैं) भाईयों को मदद करनी, पहले करनी, होशियार व्यक्ति हो तो काम में जहाँ-जहाँ लगा देना। 'पोरबंदर' में पहुँच जाए या नहीं ? काका चलो, गौशाला में ! यह गौशाला के अधिपति कहलाते हैं। यह तो गत काल की अपेक्षा से बात है। आहा.हा.. !

वह बहिरात्मा कैसा है ? '**(तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वों से अजान अर्थात् (तत्त्वमूढ़) मिथ्यादृष्टि है।**' मूढ़ अर्थात् मूर्ख है। वह तत्त्व का मूर्ख है। जीव को जीव नहीं मानता, पुण्य-पाप को पुण्य-पाप का आस्रव नहीं मानता; शरीर को अजीव नहीं मानता - वे सब तत्त्व में मूर्ख हैं। ऐसे तत्त्व में मूर्ख जीवों को बहिरात्मा रूप से समकिती व्यवहार समकित में उन्हें मानता है। कहो, समझ में आया ?

अब, आत्मज्ञानी है न ? अन्तिम शब्द है न ? '**उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आतम ज्ञानी।**' वहाँ से शुरू किया है। आत्मज्ञानी जीव अर्थात् '**आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाला...**' इसलिए पहले आया था, वहाँ। परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भली है। आया था न ? आत्मा का ज्ञान है कि शरीर, वाणी मैं नहीं; पुण्य-पाप का राग होता है, वह भी मैं नहीं, वह तो विकार है। आत्मा का ज्ञान - आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका भान है - ऐसा आत्मज्ञानी। पर से भिन्न जानकर '**निश्चय करनेवाला अन्तरात्मा...**' वह अन्तरात्मा कहलाता है, देखो ! अंतर स्वरूप जैसा अन्दर है, उसे माननेवाला, वह अन्तरात्मा है। पुण्य-पाप विकार, शरीर आदि बहिर् है, उन्हें आत्मा माननेवाला बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे को बहिरात्मा रूप से जानना; और पुण्य-पाप, देह रहित आत्मा है - ऐसा माननेवाला आत्मज्ञानी है। उस आत्मज्ञानी जीव को व्यवहार श्रद्धा में आत्मज्ञानी रूप से अन्तरात्मारूप

मानना। समझ में आया ? पर के लिये यहाँ बात नहीं है। इसकी–अपनी आत्मा की पहिचान में ऐसी चीज़ व्यवहार में आती है। समझ में आया ? कोई कहे कि हमें पर का क्या काम ? यहाँ पर की बात कहाँ है ? अपनी निश्चय श्रद्धा में, व्यवहार श्रद्धा के भाव में जो आत्मा की स्थिति है, उसको विपरीत न मान ली जाए; है – ऐसी मानना, इसके लिए व्यवहार समकित कहा गया है। अपने लिये है; पर के लिये यहाँ कहाँ बात है ? समझ में आया ?

इस अन्तरात्मा – आत्मज्ञानी के तीन प्रकार हैं। '**उत्तम, मध्यम और जघन्य - ऐसे तीन प्रकार के हैं।**' इन तीन प्रकारों में '**अन्तरंग और बहिरंग इन दो प्रकार के परिग्रह से रहित (शुद्ध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि, उत्तम अन्तरात्मा है।**' इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में ऐसे मुनि को उत्तम आत्मा–अन्तरात्मा मानना। कैसा ? उन्हें बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता हैं। बाहर में एक वस्त्र का धागा नहीं होता; अन्तर (में) तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होता है – ऐसे संग रहित... अन्तर में राग का संग नहीं, बाहर में परिग्रह का – वस्त्र–पात्र का संग नहीं परिग्रह (नहीं), एक शुद्धोपयोगी, शुद्ध परिणामी, शुद्ध उपयोगवाला। इस शुद्धोपयोग को शुद्ध परिणाम भी कहा है, भाई ! यह दोपहर में कहेंगे। उसमें गाथा आती है न ? उसमें अनन्त शुद्धोपयोग का शुद्ध परिणाम ले लिया है। शुद्ध परिणाम, यह तो शुद्ध परिणाम ही है। समझ में आया ?

शुद्धोपयोगी अर्थात् जिसके परिणाम शुद्ध है। पुण्य–पाप रहित शुद्ध परिणाम और शुद्ध उपयोग है। बाह्य त्याग है; अभ्यन्तर राग का त्याग है। अन्दर आत्मा के व्यापार में वह त्याग कहा। अब यहाँ अस्ति से क्या है ? आत्मा शुद्ध स्वभाव की रमणतावाला जीव है, वह निजध्यानी आत्मा के ध्यान में आत्मा को ध्येय में लेकर ध्यान करता है। विकल्प आदि का नहीं, पर का नहीं – ऐसे आत्मध्यानी मुनि – दिगम्बर मुनि होते हैं। बाह्य में दिगम्बर होते हैं, अभ्यन्तर में तीन कषाय का अभाव होता है। ऐसे आत्मा को उत्तम अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में व्यवहार समकित के विषय में ऐसे को उत्तम अन्तरात्मा पहिचानकर मानना चाहिए। समझ में आया ? इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषय में एक अन्तरात्मा कहा। विशेष व्याख्या करेंगे। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल १२, बुधवार
दि.२-२-१९६६, गाथा ४, ५ प्रवचन नं.-१५

'दौलतरामजी' कृत (छहढ़ाला की तीसरी ढ़ाल की) चौथी गाथा का भावार्थ है। अधिकार क्या चलता है ? कि यह आत्मा, शरीर और पुण्य-पाप के राग से भिन्न (है)। ऐसे आत्मा की श्रद्धा-निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, उसे इस व्यवहार सम्यग्दर्शन का नव तत्त्व के भेदवाला विषय उसे श्रद्धा में होता है। पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव से और कर्म, शरीर से रहित निश्चय आत्मा का भान होता है, परद्रव्य से भिन्न-उसमें यह सब आ गया। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प आनन्द की अन्तरदृष्टि अनुभव की होती है, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन - सच्चा सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उसे यह सात तत्त्वों के भेदवाली श्रद्धा (होती है), उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या चलती है।

'भावार्थ - जीव (आत्मा) तीन प्रकार के हैं - (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा।' यह व्यवहार समकित के विषय की बात चलती है। व्यवहार समकित में, बहिरात्मा कैसा होता है ? - उसे भलीभाँति जानना चाहिए। (जो) शरीर और राग को अपना स्वरूप मानता है, वह बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है, उसे उस प्रकार से जानना चाहिए। बाद में आगे कहेंगे - ऐसा बहिरात्मस्वरूप जानकर, उसे जानकर हेय करना चाहिए। समझ में आया ? जो कोई शरीर की क्रिया को आत्मा माने; राग-दया, दान, व्रतादि के शुभाशुभभाव को आत्मा माने, उसने जड़ को, विकारी को ही आत्मा माना है, वह बहिरात्म बुद्धि-मिथ्यादृष्टि हैं। उस मिथ्यादृष्टि के भाव को जानकर तजना - ऐसा आगे आयेगा। उसे जानकर बहिरात्मभाव छोड़ना।

अन्तरात्मा और परमात्मा। जैसे इस शरीर और आत्मा को एक मानता है, वह बहिरात्मा है। **'उसे अविवेकी अथवा मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं।'** तत्त्वमूढ़ा कहा था न ? जिसे आत्मा

आनन्दस्वरूप का ज्ञान (नहीं) है; रागादि दु:खरूप, शरीरादि पररूप है – ऐसा जिसे अन्तर में भान नहीं और पर को अपना स्वरूप मानता है, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

'जो शरीर और आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भन्नि-भिन्न मानते हैं...' अपना आत्मस्वभाव शुद्ध परम आनन्द है; पुण्य-पाप का भाव विकार है; कर्म-शरीर अजीव-जड़ है – ऐसा जड़ से, विकार से आत्मा को भिन्न अनुभव करते हैं, भिन्न जानते हैं, उन्हें अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। समझ में आया ? उस **'अन्तरात्मा के तीन भेद हैं...'** उस अन्तरात्मा के तीन प्रकार हैं। **'उत्तम-मध्यम और जघन्य। उनमें अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित...'** एकदम दिगम्बर हो, जिन्हें बाह्य वस्त्रादिक का कुछ भी परिग्रह नहीं हो; अभ्यन्तर परिग्रह भी नहीं हो। यहाँ सातवे गुणस्थान की बात है। शुद्धोपयोग लिया है न ?

मुमुक्षु :- व्यवहार तत्त्व मात्र जानना...

उत्तर :- अकेला व्यवहार शून्य कहलाता है। निश्चय आत्मा अन्तरात्मा शुद्ध स्वरूप निर्विकल्प, रागरहित, उसके अन्तर निश्चयसम्यग्दर्शन बिना उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। (-ऐसा कहते हैं कि) व्यवहार सम्यग्दृष्टि को जघन्य कहा जाता है या नहीं ?

आत्मा अन्तर निराकुल आनन्दस्वरूप की सत्ता का स्वभाव अर्थात् कर्म, शरीर ये अजीव हैं, इनसे भिन्न और पुण्य-पाप का भाव आस्रवभाव है, उनसे स्वभाव भिन्न है। अजीव से जीवतत्त्व भिन्न और विकारीभाव से उसका शुद्ध स्वभाव भिन्न है – ऐसे अन्तर आत्मा में अन्तरदृष्टि, निर्विकल्प अनुभवज्ञान में हुए बिना इसे निश्चयसम्यग्दर्शन-सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। समझ में आया कुछ ? और सच्चे सम्यग्दर्शन बिना उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सच्चे में (निश्चयसम्यग्दर्शन सहित) व्यवहार सम्यग्दर्शनवाला अन्तरात्मा को (अर्थात्) बाह्य (अभ्यन्तर) परिग्रह रहित शुद्धोपयोगी जीव है, उसे उत्तम अन्तरात्मा (मानता है)। व्यवहार समकिती, निश्चय सम्यग्दृष्टि सहित ऐसे को – शुद्धोपयोगी जीव को उत्तम अन्तरात्मा मानता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- किसे ? व्यवहार होता नहीं, फिर प्रश्न कहाँ है ? जघन्य, मध्यम व्यवहार की बात ही नहीं है।

यहाँ तो आत्मा के भानपूर्वक के शुद्ध के तीन प्रकार हैं। व्यवहार समकितवाला ऐसा मानता है। व्यवहार समकित (सहित) निश्चय समकित तो है। व्यवहार में मानता है तो क्या आपत्ति है ? - ऐसा वह कहता है... परंतु व्यवहार में माने क्या ? पर को... पर के स्वरूप को व्यवहार में माने क्या ? कि जिसे शुद्धोपयोगरूपी आत्मध्यान, ज्ञान वर्तता है, उसे वह मध्यम अन्तरात्मा रूप से व्यवहार से परद्रव्य है, इसलिए उसे माने। समझ में आया ?

'अन्तरंग और बहिरंग - ऐसे दो प्रकार के परिग्रह रहित...' अन्तर आत्मा में तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव और आत्मा का ध्यान, आनन्द जिसे प्रकट हुआ है; बाहर में वस्त्र का तंतु-धागा भी नहीं - ऐसे **'सातवें से बारहवें गुणस्थान में वर्तते शुद्धोपयोगी और...'** आत्मध्यान में मस्त हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में (मस्त हैं) - ऐसे **'दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।'** समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दृष्टि-निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में ऐसे भेद को इस प्रकार से मानता और जानता है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! स्पष्ट ही है, भाई !

सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आत्मा के शुद्धपने का भान अनुभव की दृष्टि में वर्तता है। ऐसा निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में अर्थात् शुभ विकल्प में, उस प्रकार के क्षयोपशम ज्ञान में (ऐसा जानता है)। समझ में आया ? वह अन्तरात्मा को ऐसा मानता है कि जो आत्मध्यान-ज्ञान में- आनन्दस्वरूप में लीन हैं; बाह्य दिगम्बर अवस्था है, अन्तर में आनन्द में- शुद्ध में लीन हो ये हैं, उन्हें व्यवहार समकित की श्रद्धा में उत्तम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करता है। वहाँ से (सातवे से) लेकर बाहरवें गुणस्थान तक उत्तम अन्तरात्मा है - ऐसा व्यवहार समकित में, निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वीकार करते हैं। कहो, यह तुमने वहाँ पढ़ा है या नहीं ? यह तो स्पष्ट बात हैं, हाँ ! बहुत स्पष्ट की है। शुद्धोपयोग में रमनेवाले दिगम्बर मुनि होते हैं। अन्तर शुद्धोपयोग आनन्दकन्द में रमनेवाले होते हैं, लीन होते है, वे सातवें से बारहवें (गुणस्थान) तक (होते हैं)। उन्हें उत्तम अन्तरात्मा कहा जाता है।

मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा तथा सकल परमात्मा

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;
जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।।५।।

अन्वयार्थ :- (अनगारी) छठवें गुणस्थान के समय अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह रहित यथाजातरूपधर-भावलिंगी मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा (देशव्रती) दो कषाय के अभाव सहित ऐसे पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) मध्यम (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (हैं) हैं और (अविरत) व्रतरहित (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टि जीव (जघन) जघन्य अन्तरात्मा (कहे) कहलाते हैं; (तीनों) यह तीनों (शिवमगचारी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं। (सकल निकल) सकल और निकल के भेद से (परमातम) परमात्मा (द्वैविध) दो प्रकार के हैं (तिनमें) उनमें (घाति) चार घातिकर्मों को (निवारी) नाश करनेवाले (लोकालोक) लोक तथा अलोक को (निहारी) जानने-देखनेवाले (श्री अरिहन्त) अरहन्त परमेष्ठी (सकल) शरीरसहित (परमातम) परमात्मा हैं।

भावार्थ :- (१) जो निश्चयसम्यग्दर्शननादि सहित हैं; तीन कषाय रहित, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोगरूप द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है - ऐसी अन्तरंगदशा सहित बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन करते हैं वे, तथा जो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानीय ऐसे दो कषाय के अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् छठवें और पाँचवे गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं।*

---

* सावयगुणेहिं जुत्ता, परत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
श्रावकगुणैस्तु युक्ताः प्रमत्तविरताश्च मध्यमाः भवन्ति।।

(२) सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता; जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है वह जीव बहिरात्मा है।

(३) पमरात्मा के दो प्रकार हैं - सकल और निकल। (१) श्री अरिहंतपरमात्मा वै [1]सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं (२) सिद्ध परमात्मा वे [2]निकल परमात्मा हैं, वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता दृष्टा हैं, इससे निश्चित होता हैं कि - जिसप्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित है, उसीप्रकार उनके ज्ञान के ज्ञेय-सर्वद्रव्य-छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित-व्यवस्थित हैं; कोई पर्याय उल्टी-सीधी अथवा अव्यवस्थित नहीं होती, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है। जिसकी ऐसी मान्यता (-निर्णय) नहीं होती उसे स्व-पर पदार्थों का निश्चय न होने से शुभाशुभ विकार ओर परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि होती ही है। इसलिये वह जीव बहिरात्मा है।

अब, '**मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा और सकल परमात्मा।**'

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;
जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।।५।।

'**(अनगारी) छठवे गुणस्थान के समय अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित...**' सच्चे मुनि कैसे होते हैं ? कि अभ्यन्तर में तो आनन्दादि का अनुभव तीन कषाय रहित हुआ हो

अर्थ : श्रावक के गुणों से युक्त और प्रमत्तविरत मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा - १९६)

१ स = सहित, कल = शरीर; सकल अर्थात् शरीरसहित।

२ नि = रहित, कल = शरीर; निकल अर्थात् शरीररहित।

और बाहर में '**यथाजातरूपधर...**' जैसा माता ने (जन्म दिया) ऐसा नग्न दिगम्बर लिंग। अन्तर में तीन कषाय के अभाव का आनन्द सहित का अनुभव - ऐसे भावलिंगी मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ऐसे भावलिंगीमुनि मध्यम (अन्तरात्मा हैं)। उत्तम (अन्तरात्मा) सातवें से गिने हैं। इन छठवें और पाँचवें को मध्यमवर्ती कहते हैं। चौथे को जघन्य कहेंगे। कुछ समझ में आया ? अर्थात् चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा होते हैं। उनके तीन भेद किये हैं। सातवें से बारहवे तक उत्तम; छठवां और पाँचवां मध्यम; चौथा गुणस्थान जघन्य हैं। हैं तो तीनों मोक्षमार्गी - शिवमगचारी। आत्मज्ञानी जीव, दूसरे को सम्यग्दृष्टि चौथे (गुणस्थानवाले को) जघन्यरूप अंतरात्मा से व्यवहार समकित में उन्हें जानता है।

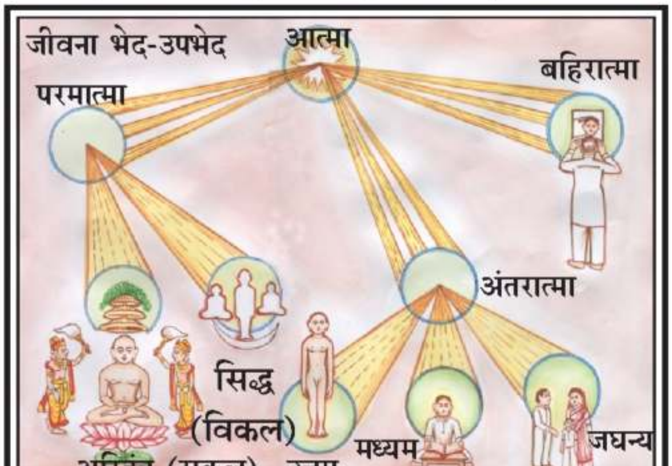

आत्मज्ञानी जीव, मुनि को - भावलिंगी सन्त को, तीन कषाय के अभाव का आनन्द, शान्ति प्रगटे हैं, बाहर में नग्न लिंग है परन्तु है शुभोपयोगी। शुभ विकल्प है, इसलिए उन्हें निश्चय आत्मज्ञानी मध्यम अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म, इसमें कितने पहलू याद रखने ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- सब एक है न ? अन्तरात्मा है न ? सब शुद्ध उपयोग में है न ? समझ में आया ?

'**तथा दो कषा के अभाव सहित...**' श्रावक। सच्चे श्रावक कैसे होते हैं ? आत्मा के अनुभव सहित जिसे दूसरे दो कषायों का अभाव होवे - ऐसे दो कषाय का अभाव अर्थात् अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी, उनका अभाव (होवे), उसे श्रावक कहते हैं। '**ऐसे पंचम**

गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) अन्तरात्मा है...' निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव दूसरा पांचवें गुणस्थानवाला श्रावक, दो कषाय की अभाववाला; जिसे आत्मा की शान्ति प्रकट हुई है और बारह व्रत का विकल्प आदि होता है - ऐसे श्रावक को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में जानता और मानता है। कहो, भाई ! तुम तीनों लोग यहाँ उपस्थित हो न ! कहो, इसमें समझ में आया ? यह तो निश्चय सहित व्यवहार में ऐसा माने तो व्यवहार कहलाता है और सामनेवाले को वह व्यवहार में ऐसा मानता है। सामनेवाले की ऐसी अवस्था होती है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तकको उत्तम अन्तरात्मा माने; छठवेंवाले को शुभोपयोग में हो और अन्तर में तीन कषाय का अभाव है; आनन्द शुद्ध निश्चयसम्यग्दर्शन सहित है, उसे भी व्यवहार समकित में विकल्पादि होते हैं। ऐसे जीव को निश्चय-सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में मध्यम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करता है। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भरा है, हाँ ! 'दौलतराम'... 'दौलतराम' ! गृहस्थ थे, दिगम्बर गृहस्थ ! गागर में सागर छहढाला ! गागर में सागर भर दिया है। पहले के श्रावक भी एसे थे। ऊँचे श्रावक, ऊँचे धर्मात्मा भानवाले थे, हाँ ! आहा..हा.. ! क्या कहते हैं ?

'और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जीव...' जिसे जरा भी व्रत नहीं है, परन्तु निश्चय सम्यग्दृष्टि है - ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि को, निश्चय सम्यग्दृष्टि... निश्चय सम्यग्दृष्टि अर्थात् चौथे (गुणस्थान) वाला, पांचवेवाला, छठवेवाला, भाई ! लो ! फिर इसकी और से भेदवाला करना चाहिए न ? चौथे गुणस्थानवाला निश्चय सम्यग्दृष्टि, पाँचवेवाला निश्चय सम्यग्दृष्टि या छठवेवाला सम्यग्दृष्टि। सातवेंवाला शुद्धोपयोग में है - ऐसा निश्चय चौथे, पाँचवे और छठवें में (वर्तता) निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव; जो चौथे, पाँचवे, छठवेवाला हो, वह व्यवहार में अविरति सम्यग्दृष्टि - जो व्रतरहित सम्यग्दृष्टि है, उसे जघन्य अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

छठवें गुणस्थानवाले मुनि हों, जिन्हें मध्यम अन्तरात्मा कहा, वे मुनि अपने आनन्द के शुद्धभाव में तीन कषाय रहित वर्तते हैं - ऐसे जीव दूसरे मुनि को शुद्धोपयोग-सातवें से बारहवें तकके को उत्तम अन्तरात्मा (के रूप में) स्वीकारते हैं। छठवें गुणस्थानवाले दूसरे मुनि हों, आतमध्यानी-ज्ञानी (हों), परन्तु वर्तमान में शुभ उपयोग में वर्तते हों, उन्हें मध्यम

अन्तरात्मा स्वीकारते हैं और समकिती व्रत रहित हों, उसे वे मुनि भी जघन्य अन्तरात्मा के रूप में स्वीकारते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा स्वीकारते हैं)। इसमें समझ में आता है या नहीं ? यह रात्रि में पूछे तो आयेगा या नहीं ? बराबर आयेगा, कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें ?

'यह तीनों मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।' सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में व्रत रहित हो, व्रत न हो, प्रत्याख्यान (त्याग) न हो परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन है, वह अविरति सम्यग्दृष्टि शिव-मोक्षमार्ग में है। देखो ! स्वयं शिवमार्ग में है, मोक्षमार्ग पर चलता है, भले अभी चारित्र नहीं है, तथापि मोक्षमार्ग में चलता है। वह मोक्षमार्ग में है; और राग को पुण्य को अपना माने, देहादिक को अपना माने, वह मिथ्यादृष्टि है, वह बन्धमार्ग में चलता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे बहिरात्मा को बन्धमार्ग में चलनेवाले को इसप्रकार बहिरात्मा (के रूप में) स्वीकार करता है। समझ में आया ? स्पष्टीकरण बहुत किया है।

परद्रव्य से भिन्न कहा था या नहीं ? ए.. देवानुप्रिया ! उसमें कहा था न ? फिर इन नौं की बात की है या नहीं ? उसके साथ इस तुलना से उन्होंने कहा है या नहीं ? यह तो हम जरा विस्तार करते हैं। भाई ! देखो !

यह आत्मा पुण्य-पाप के शुभ-अशुभरागरहित, देह रहित (है) - ऐसी आत्मा की निश्चय सम्यग्दृष्टि (सहित) जीव भी मोक्षमार्ग में है और गृहस्थाश्रम का त्याग करके कोई मुनि होकर बैठे, परन्तु बाह्य शरीर की क्रिया मेरी है और दया, दान का परिणाम मुझे लाभदायक है (-ऐसा मानता है तो) वह बहिरात्मा है। वह मोक्षमार्ग में नहीं; वह बन्धमार्ग में है। यह रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है न ? गृहस्थों मोक्खमगो - वहाँ भी ऐसा कहा है, भाई ! आया, ठीक ! गृहस्थी भी मोक्षमार्ग में है। लो, इसके साथ रखा ! रत्नकरण्डश्रावकाचार का शब्द प्रयोग किया लगता है न ? समन्तभद्राचार्य ! गृहस्थ भी आत्मदृष्टि सहित... उसमें विशेषता तो यह लेंगे कि सम्यग्दृष्टि को क्या करना ? कि बहिरात्मा को जानकर तजना। तजना अर्थात् श्रद्धामें से छोड़ना। यह व्याख्या लेंगे। बाहर से छोड़ने-बोड़ने की व्याख्या नहीं। समझ में आया ?

जो जीव, पुण्य-पाप के भाव से धर्म माने... क्योंकि स्वभाव शुद्ध है, इसने अशुद्ध से (धर्म) माना... और जड़ को 'मेरा द्रव्य' माने तो द्रव्य और भाव दोनों की भूल है। ऐसा जो मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा बाह्य त्याग में वर्तता होवे.. समझ में आया ? और कदाचित् पंचमहाव्रत का विकल्प वर्तता हो, परन्तु वह बहिरात्मा है - मिथ्यादृष्टि है; बन्धमार्ग में वर्तता है। सम्यग्दृष्टि उसे ऐसा मानता है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में व्रतरहित हों, बाह्य त्याग न हो, अन्दर आसक्ति का (चारित्रदोषरूप) तीन कषाय का भाव हो, तो भी चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि, पाँचवेवाला, छठवेंवाला व्यवहार समकित में उसे मोक्षमार्गी है - ऐसा स्वीकार करता है। समझ में आया ?

चौथे गुणस्थानवाला शिवमार्गी, व्यवहार समकित में उस बहिरात्मा को बन्धमार्गी स्वीकार करता है और सम्यग्दृष्टि जीव को, मोक्षमार्गी है - ऐसा व्यवहार समकित में (स्वीकार करता है), क्योंकि परद्रव्य है न ? और पाँचवे गुणस्थानवाला धर्मात्मा दो कषाय के अभाववाले को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में, मोक्षमार्ग रूप में समकिती उसे स्वीकार करता है। छठवें गुणस्थानवाले भावलिंगी मुनि, (जिन्हें) आत्मश्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगटी है, परन्तु अभी शुभ उपयोग है, ऐसे मुनि, सामने गृहस्थाश्रम में रहनेवाले, दो कषाय के अभाववाले श्रावक को व्यवहार समकित में मध्यम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं और गृहस्थाश्रम में अविरत सम्यग्दृष्टि हो, वह भी मोक्षमार्गी है - ऐसा छठवें गुणस्थानवाले शुभोपयोग में व्यवहार समकित में वह भी मोक्षमार्गी है - ऐसा (स्वीकार करते हैं)। छठवेंवाला चौथेवाले को व्यवहार से व्यवहार समकित के विषय में, वह निश्चयमोक्षमार्ग में है - ऐसा स्वीकार करता है। समझ में आया ? पुस्तक ली है या नहीं ?

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय है। किसे ? अन्तरात्मा को। यहाँ परमात्मा की बात नहीं है, बहिरात्मा की बात नहीं है। अन्तारात्मा सम्यग्दृष्टि, फिर चौथे, पाँचवे, छठवे (हों), सातवे शुद्धोपयोग है (-ऐसे) अन्तरात्मा को शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्रतीति और अनुभववाले को (अर्थात्) चौथे, पाँचवे, छठवें

(गुणस्थानवाले को), दूसरे जीव राग को, पुण्य को धर्म माननेवाले ऐसे बहिरात्मा को सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा, बहिरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। और चौथे गुणस्थानवाला व्रतरहित हो, अविरति हो तो वे अन्तरात्मा चौथे, पाँचवे, छठवेंवाले उसे मोक्षमार्ग में – शिवमार्ग में चलता है – ऐसा व्यवहार समकित में स्वीकार करते हैं। समझ में आया ? उसकी बात चलती है या नहीं ? भेद की बात चलती है।

अभेद में तो आत्मा की दृष्टि, अनुभव हुआ, निश्चय वह अन्तरात्मा है। उसे फिर किसी को तीन कषाय रहे हों, किसी को दो रहे हों, किसी को एक रहा हो, परन्तु है वह अन्तरात्मा। वह अन्तरात्मा सामनेवाले जीवतत्त्व के तीन प्रकार (स्वीकारता है)। वह व्यवहार में जीवतत्त्व की श्रद्धा करता है न ? किसकी करता है ? अन्तरात्मा निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, उसके व्यवहार में जीव के तीन प्रकार का स्वीकार करता है। यहाँ प्रयोजनभूत की ही बात है, दूसरे अमुक भेद और अमुक भेद की बात यहाँ नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव-निश्चय सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, फिर चौथे, पाँचवे, छठवें (गुणस्थानवाला) चाहे जो हो, सामनेवाले जीव की पर्याय के तीन प्रकारों का (स्वीकार करता है)। द्रव्य तो द्रव्य है, परन्तु उसकी पर्याय में एक बहिरात्मा पुण्य को, विकल्प को देह की क्रिया को अपनी मानता है – उसे जीव के एक बहिरात्मा भाग (भेद) के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ जीवतत्त्व की बात चलती है या नहीं ? समझ में आया ? और यह अन्तरात्मा दूसरा जो जीव है जो निश्चय सम्यग्दृष्टि है और अन्दर व्रतरहित है; व्रतरहित है, उसे निश्चय अन्तरात्मा, व्यवहार समकित में उसे मध्यम अन्तरात्मा के रूप में दूसरे श्रावक को स्वीकार करता है। जीव के ऐसे तीन भेद में इस प्रकार स्वीकार करता है। बहिरात्मा को बहिरात्मा के रूप में, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि को शिवमार्गी रूप से – जघन्य अन्तरात्मा रूप से – श्रावकको मध्यम अन्तरात्मारूपसे, शिवमार्गीरूपसे व्यवहार समकितमें स्वीकार करता है और छठवें गुणस्थानवाला था पाँचवे, चौथेवाला अन्तरात्मा, सामनेवाले जीवको छठवें गुणस्थानमें हो उसे मध्यम अन्तरात्मारूपसे जीव के तीन भेदमें से इस भेदवाला स्वीकार करता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

मुमुक्षु :– बहिरात्मा को स्वीकार करना ?

उत्तर :- कहा न, बहिरात्मा को स्वीकारता है। राग-द्वेष को 'मेरा' मानता है, यह स्वीकार, उसे स्वीकार करना या नहीं ? निश्चय नहीं, वहाँ व्यवहार कहाँ से आया ? इसके लिए तो यह स्पष्टीकरण चलता है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा..हा.. ! मूल ज्ञान का ही पूरा विवाद उठा, तत्त्व का ज्ञान।

यहाँ तो 'दौलतरामजी' छहढाला में ऐसा कहते हैं कि जीव के तीन प्रकार के भेद हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा (और परमात्मा)। अन्तरात्मा के (दो) भेद-मध्यम और उत्कृष्ट। इस मध्यम में छठवे (गुणस्थानवाले), तक लिये हैं और उत्कृष्ट में सातवें से बारहवें (तक) ये सब भेद लिये। जीव की पर्याय के इन भेदों को सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा व्यवहार समकित में इस प्रकार से स्वीकार करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

'यह तीनों मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।' ऐसा स्वीकार करता है। छठवें गुणस्थानवाले मुनि अपने आत्मदर्शन के भानसहित शुभ-उपयोग में हो तो उनके व्यवहार समकित में, चौथे गुणस्थानवाले व्रत रहित को भी मोक्षमार्ग में है - ऐसा स्वीकार करते हैं। आहा..हा.. ! स्वयं मोक्षमार्ग में है (और) इसे मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं, इसे भी मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं। भले इसकी हद में तारतम्यता में अन्तर है। समझ में आया ? भाई ! इस 'परमात्मप्रकाश' में नव तत्त्व, छह द्रव्य की व्याख्या व्यवहारमोक्षमार्ग में आयी थी। समझ में आया इसमें ?

दिगम्बर गृहस्थ हो या दिगम्बर मुनि हो, उन्होंने तो परंपरा सनातन वीतरागमार्ग जैसा था, वैसा ही खड़ा रखा है, कुछ परिवर्तन नहीं। अनादि का वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग... यह दिगम्बर श्रावक हो या दिगम्बर मुनि हो, उन्होंने वही मार्ग खड़ा रखा है, किंचित् भी परिवर्तन नहीं होने दिया है। वर्तमान में (तो) बहुत गड़बड़ है।

आहा..हा.. ! तीनों शिवमगचारी मोक्ष के मार्ग (पर) चलनेवाले हैं। आहा..हा.. ! छठवें गुणस्थानवाला अन्तरात्मा, चौथे गुणस्थानवाले अन्तरात्मा को - सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्ग में चलनेवाला स्वकार करता है। समझ में आया ? इसीतरह पंचम गुणस्थानवाला श्रावक अन्तरात्मा, चौथे गुणस्थानवाले को मोक्षमार्गी के रूप में स्वीकार करता है। भले ही तारतम्यता में अन्तर है, परन्तु उसे स्वीकार करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? चौथे

गुणस्थानवाला अन्तरात्मा, छठवेंवाले को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में, जीव की पर्याय के भेद में ऐसी जीव की पर्याय इसकी है – ऐसा वह स्वीकार करता है। समझ में आया ? समझ में आता है या नहीं ? आता है ? अच्छा।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– अधिक तो भगवान कर सकें, अपने को कितना आता है ? अपने को कुछ आता है ? अपने में जितना हो, उस अनुसार होता है। इसका विस्तार तो अपार है। वस्तु की शक्ति अपार... अपार.. अपार.. (है)। आहा..हा... !

अब, तीसरा भेद सकल निकल। किसका ? जीवतत्त्व का। अन्तरात्मा का हो गया – जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। समझ में आया ? अब, जीव का तीसरा एक भेद। एक बहिरात्मा; एक अन्तरात्मा और (एक) परमात्मा – यह जीव की पर्याय के भेद हैं। ऐसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव उसके विषय में तीसरे सकल परमात्मा और निकल परमात्मा को पररूप से कैसा स्वीकार करता है – इसकी व्याख्या है। समझ में आया ?

‘**(सकल निकल) सकल और निकल के भेद से परमात्मा के दो प्रकार हैं। उनमें चार घातिकर्मों को नाश करनेवाले लोक तथा अलोक को जानने-देखनेवाले अरहन्त परमेष्ठी शरीरसहित परमात्मा हैं।**’ लो, क्या कहते हैं ? निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा – चौथे, पाँचवे, छठवें गुणस्थानवाला अन्तरात्मा–निश्चय भानवाला, व्यवहार समकित में जीव की एक बहिरात्म पर्याय, एक अन्तरात्म पर्याय, एक परमात्म पर्याय (स्वीकार करता है)। यह पर्याय की बात चलती है या नहीं ? वह अपने व्यवहार समकित के विषय में परमात्मा की पर्याय ऐसी स्वीकार करता है कि एक परमात्मा शरीरसहित हैं, चार घातिकर्मों का नाश हुआ है, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं। है न ? घातिकर्मों का नाश किया है। हुआ है, उसे (नाश किया – ऐसा) निमित्त से कथन किया है। लोक–अलोक को (जानते–देखते हैं)। यह पहले घातिकर्मों से बात की। चार कर्मो का नाश हुआ है, लोकालोक को जानने की शक्ति की व्यक्तता प्रकट हुई है, वे अरिहन्त परमेष्ठी शरीरसहित हैं। कल अर्थात् शरीर। कल अर्थात् शरीरसहित परमात्मा हैं। उन्हें निश्चय सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में उन्हें

परमात्मा स्वीकार करता है। वह दूसरे को परमात्मा स्वीकार नहीं करता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

एक समय में लोकालोक को जाने। एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में परमेश्वर अरिहन्त प्रभु, लोक और अलोक को एक समय में तीन काल– तीन लोक जैसे हैं, वैसे जाने। उन्हें सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में, सकल परमात्मा ऐसे होते हैं – ऐसी उनकी प्रतीति व्यवहार समकित में होती है, उसका ज्ञान ऐसा वर्तता है। आहा..हा... ! कहो, भाई ! कितने दिन से कहते थे न कि यह पढो.. पढो। यह बहुत पढ़ा गया। 'परमात्मप्रकाश' में बहुत चला। इसमें समझ में आया ?

'भावार्थ :- (१) जो निश्चयसम्यग्दर्शन सहित है...' पाँचवी गाथा का भावार्थ है न ? निश्चय अर्थात् आत्मा का शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र सहित है। **'तीन कषाय रहित...'** है। यह शुद्धोपयोगी मुनि की व्याख्या करते हैं। समझ में आया ? जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र (प्रकट हुआ है), तीन कषाय रहित है – ऐसा हो उसे तीन कषाय रहित (अवस्था) होती है – ऐसा (कहते हैं)। **'शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार...'** किया है। शुद्ध उपयोगरूप मुनिधर्म है। पंच महाव्रत, अट्ठाइस मूलगुण आदि विकल्प तो आस्रवतत्त्व है। **'शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार...'** किया है। **'अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं...'** समझ में आया ?

'किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते...' यह ठीक है और यह अटीक है – ऐसा मानकर राग–द्वेष नहीं करते। समझ में आया ? निश्चय सहित है, हाँ ! मुनिधर्म अंगीकार किया है, तथापि वर्तमान में छठवें गुणस्थान में वर्तते हैं – ऐसा कहते हैं... परन्तु शुद्धोपयोग अंगीकार किया है – ऐसा कहा न ? अंगीकार किया है और वह वर्तता है ऐसा। धर्म तो शुद्धोपयोग ही अंगीकार किया था।

अब (कहते हैं) **'हिंसादिरूप अशुभपयोग का तो जिन्हें अस्तित्व ही नहीं रहा है...'** भाई ! शुद्धोपयोग अंगीकार किया था और फिर यहाँ वापस छठवां गुणस्थान लेना है। पहले

मुनिपना अंगीकार करे, तब शुद्धोपयोग (होता है)। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तो विकल्प-राग है। शुद्धोपयोग अंगीकार करते हैं, परन्तु जब उसमें स्थिर नहीं हो सकें, उस गुणस्थान की अभी बात करते हैं। उन्हें हिंसादि, झूठ, चोरी, विषय, भोग (ऐसे) अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है।**'ऐसी अन्तरंग अवस्था सहित...'** अन्तरंग अवस्था सहित **'बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए है...'** बाहर में नग्न दिग्मबर – वस्त्र का धागा नहीं। कैसे ? सौम्यमुद्रा शान्त... शान्त... शान्त... शान्त... उपशमरस के ढाले में ढल गये हैं।

'छठवें प्रमत्तसंयत्त गुणस्थान के काल में अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित रूप से पालन करते हैं...' समझ में आया ? जो मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं – वस्त्ररहितपना, खड़े-खड़े आहार लेना, एक जगह आहार लेना, अपने लिए बनाये चौके का आहार न लेना... उनके लिए बनाया आहार नहीं लेते – ऐसा उन्हें अट्ठाईस मूलगुण का सही व्यवहार होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, उनके साथ ऐसा सही व्यवहार होता है।

'वे तथा जो अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानीय - ऐसे दो कषाय के अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं...' यहाँ मध्यम की बात है न ? समझ में आया ? **'वे मध्यम अन्तरात्मा है।'** छठवें और पाँचवेवाले... **'अर्थात् छठवें और पांचवे गुणस्थान वर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा है।'** समझ में आया ? यह 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का आधार दिया है। ऐसे मध्यम अन्तरात्मा को, जैसी उसकी स्थिति है, उस प्रकार अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। ओ..हो..हो...! 'दौलतरामजी' ने 'छहढाला' हिन्दी में बनाई है, परन्तु इसमें कितना भरा है ! पहले के पण्डित तो बहुत (विचिक्षण थे)। जो परम्परा की रीति, मार्ग था, उसे ही स्वयं ने कहा है। हैं !

मुमुक्षु :- ... अर्थ अलग कर डाले।

उत्तर :- अर्थ अलग कर डाले। बात बदल डाली, क्या हो ? सर्वज्ञ रहे नहीं, देवों की उपस्थिति नहीं, चार ज्ञान आदि पूरा ज्ञान विशेष प्रकट होने की योग्यता नहीं। परिवर्तन हो गया है, परन्तु (जो) यथार्थ है, वह तो यथार्थ ही रहेगा; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। उसमें कुछ परिवर्तन होता है ?

'**(२) सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता...**' आत्मा के शुद्धस्वभाव के अनुभव की दृष्टि – सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ दया, दान, व्रत के चाहे जितने परिणाम हों तो वे सब बन्ध के भाव में (है, वे) मोक्षमार्ग में है नहीं। समझ में आया ? '**जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, वह जीव बहिरात्मा है।**' वह तो पुण्य और पाप को अपना मानता है। जो विभाव है, उसे स्वभाव मानता है और जड़ की क्रिया है, वह आत्मद्रव्य की है – ऐसा मानता है। समझ में आया ? ऐसा बहिरात्मा है। उसे बहिरात्मा के रूप में सम्यग्दृष्टि स्वीकार करता है।

'**परमात्मा के दो प्रकार हैं - सकल और निकल। (१) श्री अरिहन्त परमात्मा सकल (शरीरसहित)...**' कल अर्थात् शरीर... '**परमात्मा हैं।**' देखो ! अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि, परमात्मा शरीरसहित हों, उन्हें व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। तब शरीरसहित परमात्मा अभी कहीं है या नहीं ? पाँचवें काल का सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में शरीरसहित परमात्मा को, परमात्मा को जीव की पर्याय उत्कृष्ट परिणमी है – ऐसे व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। तब शरीरसहित परमात्मा को अन्तरात्मा स्वीकार करता है तो शरीरसहित परमात्मा कही है या नहीं ? समझ में आया ? महाविदेहक्षेत्र में केवली भगवान 'सीमन्धर प्रभु' बिराजमान हैं, वे सकल परमात्मा – शरीरसहित परमात्मा हैं। ऐसा अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में सकल-शरीरसहित परमात्मा बिराजमान हैं (– ऐसा स्वीकार करता है।) क्योंकि शरीरसहित हैं, वे मुक्ति में नहीं है। शरीरसहित है तो मुक्ति में नहीं है तो कहीं होंगे या नहीं ? तो महावदेह में है – ऐसा समकिती है, (वह) स्वीकार करता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यह एकबार मध्यस्थ होकर पढ़े तो इसे पता चले। यह 'छहढाला' पढ़कर बहुत छापी होगी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- अब यहाँ सुनने आये न ! मुख्य तो यह लाभ का कारण है, वह तो ठीक अब। कहो, इसमें समझ में आया ?

'**अरिहन्त परमात्मा सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं...**' वे हैं – ऐसा इस पर वजन

आया न ? वे हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में, शरीरसहित परमात्मा किसी क्षेत्र में है, उन्हें वह स्वयं वर्तमान में भी मानता है। कहो, ठीक है या नहीं ?

अब, '**(२) सिद्ध परमात्मा...**' यह अभी आया नहीं, परन्तु इसका स्पष्टीकरण बाद में करेंगे। अब बाद में आयेगा। '**सिद्ध परमात्मा, वे निकल परमात्मा हैं।**' यह बाद की गाथा में आयेगा। समझ में आया ? '**ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्म-मल, वर्जित सिद्ध महंता;...**' (चलती गाथा में) शब्द पड़ा है, कौन है - इसकी व्याख्या नहीं। यह तो मात्र निकल शब्द पड़ा है न, इतनी व्याख्या (की है)। निकल शब्द पड़ा है, उसकी व्याख्या की है। निकल की व्याख्या छठवें (श्लोक) के मूल पाठ में आयेगी।

निकल अर्थात् शरीररहित परमात्मा... तो कही है या नहीं ? शरीररहित परमात्मा, आठ कर्मों का नाश है और पूर्ण लोकालोक को जानते हैं। समझ में आया ? महंता है, वे पूज्य हैं। अर्थ में महान करेंगे, दूसरे में पूज्य लिखा है। महापूज्य हैं - ऐसे सिद्ध परमात्मा शरीररहित त्रिकाल ज्ञानी हैं। शरीररहित हैं और त्रिकाल (का) ज्ञान है। कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं और तीन काल - तीन लोक का - लोकालोक का जिन्हें ज्ञान वर्तता है। ऊपर कहा है तो इसमें (भी) आ गया। समझ में आया ?

ऐसे शरीररहित परमात्मा, '**वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती...**' सर्व पदार्थों का त्रिकाल में वर्तनेवाला '**सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं।**' ऐसा सम्यग्दृष्टि - निश्चय सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में, परमात्मा ऐसे हैं (- यह स्वीकार करता है)। दो प्रकार के - सकल (और) निकल। शरीरसहित केवलज्ञानी और एक शरीररहित केवलज्ञानी। वे तीन काल-तीन लोक को एक समय में पूर्ण यथार्थ जानते हैं। उसमें कुछ आगे-पीछे (जानते नहीं)। एक समय में जानना, उसमें आगे-पीछे कहाँ आया ? समझ में आया ?

केवलज्ञान जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे - जो-जो सर्वज्ञ ने देखा, तदनुसार होगा - ऐसे सर्वज्ञ को, अन्तरात्मा, सकल परमात्मा और निकल परमात्मा - जीव की ये दो प्रकार की परमात्मा की पर्याय (जानता है)। अन्तरात्मा और बहिरात्मा की पर्याय

हुई। परमात्मा की पर्याय को व्यवहार समकित में, उस पर्याय को, जीव की पर्याय ऐसी होती है, जीव की पर्याय ऐसी और इतनी बड़ी होती है, उसे व्यवहार समकित में, निश्चय समकिती स्वीकार करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परद्रव्य है न ? व्यवहार नहीं। निश्चय है, इसलिए व्यवहार है। वह परद्रव्य है न ? वह कहाँ स्वद्रव्य हैं ? परद्रव्याश्रित व्यवहार, स्वद्रव्याश्रित निश्चय-यह सिद्धान्त है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के आश्रय से दृष्टि करे, वह निश्चय, उसमें जो नव तत्त्व के भेदवाला (ज्ञान करे), उसमें यहाँ तो जीव के तीन प्रकार की पर्यायवाले (जीवतत्त्व की बात चलती है)। उसमें भी परमात्म पर्याय के दो प्रकार हैं - ऐसी पर्यायवाले जीव की पर्याय - ऐसा स्वीकार करता है। अर्थात् व्यवहार समकित में उसका स्वीकार आता है। आहा..हा... ! भगवान आत्मा को एक समय की पर्याय में सब क्रमबद्ध जानता है। ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का एक गुण है, ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का एक द्रव्य है। इसलिए सारा द्रव्य भी क्रमबद्ध को जानने की शक्तिवाला; गुण भी क्रमबद्ध को (जानने की शक्तिवाला) और पर्याय भी क्रमबद्ध को (जानने की शक्तिवाली है)। ऐसा पूरा द्रव्य प्रतीति में लिया, वह तो निश्चय (समकित) है। उसकी यह एक-एक समय की परमात्मा की पर्याय को श्रद्धा में ली, उसे व्यवहार (कहते हैं)। समझ में आया ?

'सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में...' भगवान ज्ञान में (जानते हैं)। अनन्त काल में कौनसी अवस्था होगी - यह भगवान के ज्ञान में अभी आ गयी है; अनन्त काल पहले हो गयी, वह भगवान के ज्ञान में अभी आ गयी है। भगवान के ज्ञान में ऐसा नहीं है कि वहाँ ऐसा संयोग आयेगा तो ऐसी होगी और दूसरा संयोग आयेगा तो ऐसी होगी। ऐसा भगवान के ज्ञान में नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान अरिहन्त और सर्वज्ञ सिद्ध - दोनों सर्वज्ञ। एक सर्व-ज्ञ- सर्वज्ञ हुआ न ? सर्वज्ञ कहा न ? सर्व-ज्ञ... लोकालोक सब को जाना। सबको जाना तो एक समय में न ? एक समय

में सैकेण्ड के असंख्य भाग में। सर्वज्ञ - ऐसा सब एक समय में जानते हैं। उसमें यह यहाँ होगा, तब ऐसा होगा और ऐसा होगा - ऐसा कुछ उसमें है नहीं। समझ में आया ? सर्वज्ञ - ऐसा कहा न ? लोकालोक को जानते हैं - यह बात तो पहले आ गयी। '**सकल परमात्मा, लोकालोक निहारी** -' ऐसा शब्द पड़ा है न ? क्या कहा ? '**लोकालोक निहारी**-' जानने-देखनेवाले। निहारी का अर्थ देखनेवाले, निहारनेवाले। लोकालोक को निहारनेवाले (हैं)। सकल या निकल परमात्मा, अहिन्त या सिद्ध लोकालोक को निहारनेवाले, निहारनेवाले हैं। लोकालोक को एक समय में निहारते हैं। निहारने में जानना-देखना दोनों (आ गये) समझ में आया ? देखो न ! यह भाषा प्रयोग की है। समझ में आया ?

एक सैकेण्ड के असंख्यात् भाग में केवली परमात्मा अरिहन्त भगवान बिराजमान हैं या सिद्ध भगवान, एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में तीन लोक - तीन कालवर्ती सर्वज्ञ एक समय में - निहारी - देखते जानते हैं। यहाँ देखते-जानते हैं। वस्तुत: तो उनकी पर्याय देखती-जानती है, इतनी ही वह पर्याय है। आहा..हा..! समझ में आया ? उसमें आगे-पीछे किस प्रकार हो ? ऐसा तो सम्यग्दृष्टि जीव-निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में सकल-निकल परमात्मा को लोकालोग को एक साथ एक समय में देखनेवाले को इस प्रकार जाने, उसे व्यवहार समकित का विषय कहा जाता है। वहाँ पूर्ण आपत्ति हो, उसे निश्चय का भान नहीं हो सकता। आहा..हा...! कठिन बात है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु :- बड़ा...

उत्तर :- बड़ा कहाँ है ? उसकी एक समय की पर्याय की ऐसी (ताकत है), जानने को, व्यवहार ज्ञान के जानने की ऐसी ताकत है। वह श्रद्धा की पर्याय नहीं है। साथ में विकल्प है, परन्तु वह ज्ञान का इस सम्बन्धी का पर को जानने की एक समय की पर्याय का विकल्प सहित की पर्याय की इतनी ताकत है। समझ में आया ? आहा..हा...! एक समय में भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द निर्विकल्प, वह तो पूरा द्रव्य, अनन्त पर्याय का गुण और अनन्त गुणों का एकरस महान आत्मा एक अभेद वस्तु-एकाकार वस्तु है, जिसमें अनन्त गुण का भेद, जिसमें अनन्त पर्याय का भेद (होने पर) भी वह वस्तु अभेद है। उसकी एकपने की एकाग्रता से श्रद्धा... एकाग्रता कहो या एक में अग्र कहों। एकाग्रता - एक स्वरूप में अग्र होकर, मुख्य

रखकर अनुभव हुआ, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। अब सामने जो व्यवहार है, उसमें एकपना नहीं वहाँ अनेकपना है। भाई ! उसमें जीव के तीन प्रकार वर्णन किये हैं। व्यवहार समकित के विषय में जीव की पर्याय के (तीन प्रकार वर्णन किये) - एक बहिरात्म पर्याय; अन्तरात्म पर्याय के भेद - जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट। जघन्य पर्याय चौथे से, मध्यम पाँचवे-छठवे की, उत्कृष्ट सातवें से बारहवें(तक)। इस पर्याय का इस प्रकार से उसका ज्ञान - परलक्ष्यी ज्ञान (होता है), उसे श्रद्धा क्यों कहा ? श्रद्धा व्यवहार; वरना वह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है, वह तो ज्ञान का उघाड़ है और विकल्प पर्याय है। ऐसी दो बात है। परलक्ष्यी ज्ञान का उघाड़ है और एक प्रकार के विकल्प का भाग है, उसे व्यवहार समकित कहते हैं। नहीं उसे (कहते हैं)। ऐसी एक निमित्तता पर्याय की ताकत में ऐसा जानना (होता है)। इतनी ताकत है, इस कारण उसे व्यवहार कहा गया है। द्रव्य की श्रद्धा की ताकत महान... कि जिसके गुण में अनन्त केवलज्ञान पड़ा है, अनन्त यथाख्यातचारित्र-पूर्ण चारित्र जिसके चारित्रगुण में पड़ा है - ऐसे अनन्त गुण को एकरूप से प्रतीति (की), वह तो निश्चय वस्तु हो गयी। समझ में आया ? आहा..हा.. !

यह जीव की पर्याय के भेद - बहिरात्मा, अन्तरात्मा यह पर्याय कही न ? जीव की पर्यायें। वह (जीव) तो द्रव्यस्वरूप से है, उसकी यह पर्यायें। बहिरात्मा - शरीर से आत्मा एक है कहो या राग से एक है - ऐसा माननेवाले जीव की एक बहिरात्म पर्याय है। उसे व्यवहार समकित में उसका ज्ञान ऐसा स्वीकार है। परलक्ष्यी ज्ञान वह आत्मज्ञान नहीं, भाई ! वह ऐसा (बहिर्मुख) ज्ञान है। आत्मज्ञान यहाँ का ऐसा (अन्तर्मुख) ज्ञान है। अन्तरात्मा चौथेवाला, पाँचवेवाला मध्यम, छठवेवाला मध्यम, चौथेवाला जघन्य; सात से (बारहवे तक) उत्तम - उन्हें उस प्रकार से स्वीकार करता है। ज्ञान का भाग - क्षयोपशम उस प्रकार स्वीकार करता है। परमात्मा - शरीरसहित केवलज्ञानी, लोकालोक को निहारनेवाले ऐसे भी हैं; शरीररहित परमात्मा (भी) लोकालोक को निहारनेवाले हैं। शरीर गया, इसलिए केवलज्ञान चला गया - ऐसा नहीं है। यह शरीर और इन्द्रियाँ क्या जानते हैं ? वह शरीर, इन्द्रियों के बिना लोकालोक को जानते हैं। यहाँ केवलज्ञान में लोकालोक को शरीर, इन्द्रिय बिना जानते हैं। मात्र-चार अघातिकर्मों को निमित्तपना बाकी है, इसलिए उनकी पर्याय में,

दूसरी पर्याय में निर्मलता कम है। यह पर्याय तो पूर्ण है। ज्ञान, दर्शन की पर्याय पूर्ण है। समझ में आया ? ऐसे शरीरसहित परमात्मा, शरीररहित पमरात्मा लोकालोक को निहारनेवाले, एक समय में निहारनेवाले... उसमें समयभेद नहीं है। एक समय में (जानते हैं) इसलिए आगे-पीछे कुछ नहीं हो सकता। एक समय में पूरा, एक समय में पूरा... पूरे में अब क्या कहना ? पूरा अर्थात् जैसे ऐसा पड़ा है, पूरा लोकालोक पर्याय सहित जैसा है, वैसा एक समय में जानते हैं। ऐसे परमात्मा को अन्तरात्मा, व्यवहार समकित के विषय में, उसके ज्ञान के उघाड़ में - परलक्ष्यी उघाड़ में - विकल्पसहित में ऐसा जानते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? यह पुस्तक तो तुम्हारे हाथ में है, है या नहीं लड़कों ? कौन है यह ? है या नहीं इसमें ? लड़कों को भी तैयार होना पड़ेगा या नहीं ? यह सब वृद्ध तो एक के बाद एक चले जायेंगे। आहा..हा...!

अद्भुत वर्णन किया है, हाँ ! यह विस्तार तो व्याख्यान के समय होता है, पढते समय इतना सब स्पष्ट नहीं होता। हमारे तो 'हीराजी महाराज' कहते थे, तू अकेला बैठकर पढ़ता है, तू कहे, मेरे पढ़ना नहीं, मुझे व्याख्यान नहीं करना... परन्तु ऐसा रहने दे। 'हीराजी महाराज' बेचारे बहुत भद्र थे। तू पढ़ - तुझे पढ़ते-पढ़ते खिलेगा, ख्याल आयेगा - ऐसा कहते थे। बहुत भद्र थे, वस्तु (वस्तुस्वरूप) का पता नहीं, (था)। एक ओर बैठे-बैठे मेरा करूँ मेरा करूँ - ऐसा रहने दे। तू पढ़, लोग बहुत चाहते हैं। यह पढ़ते-पढ़ते ख्याल आयेगा, तर्क खिलेंगे, ऐसा होगा (-ऐसा कहते थे)। ऐ..ई..! अपनी एकाग्रता है या नहीं ? इसलिए जब समझाना होता है न, तब उसकी स्पष्टता ख्याल में अधिक आती है, ऐसा। स्पष्टता अधिक आती है। अकेला समझना हो तो उसे क्या इतनी बात है।

'**सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में...**' एक समय में। एक समय होता है न ? केवली को एक समय है। '**युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं; इससे निश्चित् होता है कि जिस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित हैं...**' व्यवस्थित अर्थात् एक समय है, एक समय में सब एकसाथ जानते हैं। '**उसी प्रकार उनके ज्ञान के ज्ञेय-सर्व द्रव्य छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित - व्यवस्थित है...**' पर्याय व्यवस्थित... एक समय में सब जाने तो वहाँ भी सब (व्यवस्थित) है। एक समय में जानते हैं, एक समय में पूरा जानते

हैं, उसमें पूरा अर्थात् सम्पूर्ण; उसमें उल्टा–सीधा रहा कहाँ ? हो भी कैसे ? यहाँ एक समय में पूरा ऐसा (जानते हैं) । यहाँ एक समय में पूरा (ज्ञान), एक समय में ज्ञेय पूरा, बस ! ऐसा है। उसमें फिर यहाँ होगा और यहाँ नहीं होगा – इस बात की – शंका का स्थान भी कहाँ है ? जगत को बहुत कठिन (पड़ता है) ।

मुमुक्षु :– ... पास जाए तो अच्छा हो जाता है।

उत्तर :– अरे.. ! मर जाए। कहो, समझ में आया ?

'और कोई पर्याय उलटी-सीधी अथवा अव्यवस्थि नहीं होती - ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है...' एक समय का ज्ञान, एक समय की पूरी अवस्था, एक समय की पूर्व वर्तमान, ऐसा। भूत भी है, परन्तु वर्तमान योग्यता है न द्रव्य में ? सम्पूर्ण लोकालोक को केवलज्ञान एक समय में जाने तो पूरे लोकालोक में एक समय में निमित्त होने की ताकत है या नहीं ? वर्तमान, हाँ ! केवली को यहाँ एक समयकी पूर्ण पर्याय प्रकट हुई तो एक समय में लोकालोक निमित्त है या नहीं ? या भविष्य में होगा, वह निमित्त भविष्य में होगा, यहाँ एक समय की पर्याय में लोकालोक एक समय में निमित्त है, बस ! पूरा हो गया, समाप्त हो गया। समझ में आया ? वर्तमान पूरा निमित्त है या (नहीं) ? वर्तमान का निमित्त है और भूत–भविष्य का होगा, तब निमित्त होगा ? समझ में आया ? भगवान के ज्ञान में एक समय में वर्तमान लोकालोक निमित्त है, बस ! हो गया। यहाँ पूरा और वहाँ भी पूरा। पूरा हो गया। समझ में आया ?

'जिसे ऐसी मान्यता (-निर्णय) नहीं होती, उसे स्व-पर पदार्थों का निश्चय न होने से...' वहाँ कर्ताबुद्धि है न ? जानना ही है, यहाँ जानना ही है, उसे जानना ही है। जैसा है, वैसा जानना। यहाँ भी जैसा है, वैसा जानना है; करना है या बदलना है – ऐसा कुछ है नहीं। **'पदार्थ का निश्चय न होने से शुभाशुभ विकार और परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि एकताबुद्धि होती है...'** उसे होती ही है। सर्वज्ञ का जानने का ऐसा स्वभाव है, इसके अतिरिक्त दूसरा स्वभाव नहीं होता – ऐसा नहीं माननेवाले को शुभाशुभ विकार की एकताबुद्धि होती ही है। **'इसलिए वह जीव बहिरात्मा ही है।'** उसे सम्यग्दृष्टि इस प्रकार से स्वीकार करता है। उस व्यवहार समकित अथवा पर सम्बन्धी के ज्ञान के क्षयोपशम की ऐसी मर्यादा ही है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

निकल परमात्मा का लक्षण तथा परमात्मा के ध्यान का उपदेश

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्मकल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातमको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥६॥

अन्वयार्थ :- (ज्ञानशरीरी) ज्ञानमात्र जिनका शरीर है ऐसे (त्रिविध) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म, ऐसे तीन प्रकार के (कर्ममल) कर्मरूपी मेल से (वर्जित) रहित, (अमल) निर्मल ओर (महन्ता) महान (सिद्ध) सिद्ध परमेष्ठी (निकल) निकल (परमातम) परमात्मा हैं। वे (अनन्ता) अपरिमित (शर्म) सुख (भोगैं) भोगते हैं। इन तीनों में (बहिरातमता) बहिरात्मपने को (हेय) छोड़ने योग्य (जानि) जानकर और (तजि) उसे छोड़कर (अन्तर आतम) अन्तरात्मा (हूजै) होना चाहिए और (निरन्तर) सदा (परमातमको) (निज) परमात्मपद का (ध्यान) ध्यान करना चाहिए; (जो) जिसके द्वारा (नित) अर्थात् अनन्त (आनन्द) आनन्द (पूजै) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ :- औदारिक आदि शरीररहित शुद्ध ज्ञानमय, द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी 'निकल' परमात्मा कहलाते हैं; वे अक्षय अनन्तकाल तक अनन्त सुख का अनुभव करते हैं। इन तीन में बहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय (छोड़ने योग्य) है, इसलिये आत्महितैषियों को चाहिए कि उसे छोड़कर, अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि बनकर परमात्मपना प्राप्त करें; क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

वीर संवत २४९२, महा सुद १३, गुरुवार

दि.३-२-१९६६, गाथा ६, ७, ८ प्रवचन नं.-१६

'दौलतरामजी ' कृत छहढाला की तीसरी ढाल का पाँचवा श्लोक पूरा हुआ। (अब) छठवां। '**निकल परमात्मा का लक्षण...**' अर्थात् शरीररहित सिद्धभगवान का लक्षण... '**परमात्मा के ध्यान का उपदेश।**'

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्मकल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातमको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥६॥

क्या अधिकार चलता है ? व्यवहार समकित में नव तत्त्व में जीवत्व की व्याख्या चलती है। इतना सब याद किसे रहे ? व्यवहार समकित में सात तत्त्व जो श्रद्धारूप से, भेदरूप से सात तत्त्व है, उनमें जीवतत्त्व की (व्याख्या चलती है)। व्यवहार समकित में, निश्चय समकितवंत किस प्रकार सात को जानता-मानता है ? कि ऐसे तत्त्व को जाने-माने, उसे व्यवहार समकित का विषय कहा जाता है।

जीव की पर्याय में बरिरात्मा और अन्तरात्मा की बात आ गयी। जीवतत्त्व की तीन प्रकार की पर्याय है। - एक बहिरात्मा; एक अन्तरात्मा और एक परमात्मा। निश्चय से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को अभेद दृष्टि में निश्चयसम्यग्दर्शन के काल में (लिया है), उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में जीवतत्त्व की ऐसे तीन प्रकार की पर्यायें, उसके समकित के विषय में श्रद्धा में होती है। समझ में आया ? उसमें बहिरात्मा की बात आ गयी, अन्तरात्मा की आ गयी; परमात्मा के एक भाग (भेद) की बात आ गयी - शरीरसहित अरिहन्त भगवान की बात आ

गयी। अब, दूसरे परमात्मा की बात आती है।

' **(ज्ञानशरीरी)...**' इतना अन्तर डाला। अरिहन्त को शरीर होता है न ? और केवलज्ञानी होते हैं (जो) लोकालोक को जानते हैं। ऐसे अरिहन्त को, सम्यग्दृष्टि व्यवहार समकित में उन्हें भलीभाँति पहिचानकर जानता है। सशरीरी अरिहन्त को (इस प्रकार जानता है)। अब, अशरीरी सिद्ध को (जानता है), इसलिए '**ज्ञानशरीरी**'- यह शब्द प्रयोग किया है। सिद्धभगवान को यह (जड़) शरीर नहीं होता; ज्ञानशरीर होता है, अकेला चैतन्य। वे '**(त्रिविध)...**' अर्थात् वे ज्ञानशरीरी (सिद्ध) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं। ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान '**रागादि भावकर्म...**' रहित हैं। '**और औदारिक शरीरादि नोकर्म, इन तीन प्रकार के (कर्म मल) कर्मरूपी मैल...**' दोष से रहित हैं। कर्ममल-दोष। कर्मरूपी मैल इन सिद्धभगवान को नहीं होता। अकेला ज्ञानस्वरूप केवलज्ञानघन पूरा आत्मा है, उसे यह शरीर नहीं होता और कर्म का मैल भी नहीं होता; इसलिए कर्म के मैल से अर्थात् दोष से रहित '**(अमल) निर्मल हैं,...**' अर्थात् निर्दोष हैं।

' **(महंता) महान,...**' सिद्ध हैं। अरिहन्त से भी वे सिद्ध महान हैं। आठ कर्म नाश हुए हैं। अरिहन्त को चार (कर्म) नाश हुए हैं। '**वे महान सिद्ध परमेष्ठि (निकल)...**' अर्थात् शरीररहित '**परमात्मा हैं...**' उन्हें सम्यग्दृष्टि को भलीभाँति जानकर पहिचानना चाहिए। '**वे (अनंता) अपरिमित (शर्म) सुख भोगते हैं।**' देखो ! यहाँ बात ही यह ली है। सिद्ध, अनन्त आनन्द को भोगते हैं। सिद्ध क्या करते हैं ? कि अनन्त लोकालोक को जानते हैं, इसलिए उन्हें सुख है - ऐसा नहीं; वे तो अपने अनन्त आनन्द का ही अनुभव करते हैं। समझ में आया ?

'**(अनंत)**' अर्थात् अपरिमित '**सुख को भोगते हैं।**' सिद्ध परमात्मा आनन्द को भोगते हैं। केवली आनन्द को भोगते हैं, परन्तु अभी उन्हें थोड़ा मैल बाकी है; भावकर्म-राग-द्वैष नहीं, परन्तु दूसरे भावकर्म के उदयभाव का जरा सा अंश है, इसलिए अत्यन्त अनन्त आनन्द और अव्याबाध सुख को सिद्ध परमात्मा भोगते हैं, उन्हें निकल परमात्मा - शरीररहित परमात्मा, सम्यग्दृष्टि को व्यवहार (समकित में) उन्हें भलीभाँति पहिचानकर मानना चाहिए।

'इन तीनों में बहिरात्मपने को छोड़ने योग्य जानकर...' जानकर। देखो ! बहिरात्मा अर्थात् शरीर और रागादि मेरे हैं – ऐसी बहिरात्मबुद्धि, ऐसी बहिरात्मबुद्धि को बहिरात्मा है, उसे जानना चाहिए। **'छोड़ने योग्य जानकर और उसे छोड़कर...'** देखा ? हेय जानकर छोड़ने योग्य है। अपने को भी बहिरात्पना छोड़ने योग्य है, वह तो सम्यग्दृष्टि है, इसलिए... परन्तु जो बहिरात्मा जीव है, उसे भी श्रद्धा में यह बहिरात्म ठीक नहीं है – ऐसा छोड़ने योग्य है। समझ में आया ?

जो कोई पुण्य में धर्म माननेवाले, पाप से सुख माननेवाले, शरीर की क्रिया से आत्मा को (लाभ) माननेवाले हैं, वे सब बहिरात्मा हैं। (जो) आत्मा का स्वभाव नहीं है, उससे विपरीत विकार और अजीवतत्त्व में अपनापन माननेवाले जीवों को श्रद्धामें से छोड़ने योग्य है। वह बहिरात्मपना है, वह व्यवहार से भी आदरणीय नहीं है।

मुमुक्षु :– .. देह...

उत्तर :– इस देह में सब आ गया। देह अर्थात् शरीर और अन्दर कार्मणदेह, उसमें विकारी परिणाम – यह सब आ गया। समझ में आया ?

'अन्तरात्मा होना चाहिए...' देखो ! बहिरात्मा छोड़कर अन्तरात्मा (होना चाहिए) आत्मा, पुण्य-पाप से रहित चीज़ है, शरीरादि रहित है – ऐसे आत्मा की अन्तरात्मदशा प्रकट करनी चाहिए। देखा ? बहिरात्मा को छोड़ना, अन्तरात्मा को प्रकट करना **'और (निरन्तर) परमात्मपद का ध्यान करना चाहिए...'** यह परमात्मा का ध्यान (अर्थात्) अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा। समझ में आया ? हमने तो 'निज' शब्द डाला है। मूल तो अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना। इन तीन के अन्दर की यह दो व्याख्या है। समझ में आया ? यह तो हमने यहाँ 'निज' शब्द डाला है, वरना कहनेवाले का आशय तो जीव की तीन प्रकार की पर्याय है – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उस बहिरात्मा की पर्याय छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

इन अरिहन्त और सिद्ध – दो परमात्मा को ध्यान में लेकर एकाग्र होना चाहिए। अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि स्वरूपसन्मुख की एकाग्रता करना, वह अरिहन्त और परमात्मा का

ध्यान कहलाता है। समझ में आया ? '**जिसके द्वारा...**' उस परमात्मा का ध्यान करने से '**(नित्य) अर्थात् अनन्त आनन्द प्राप्त किया जाता है।**' लो ! उनका ध्यान करने से। देखो ! कषाय - पुण्य-पाप के विकल्प का नहीं... बहिरात्मा को छोड़ दिया। अन्तरात्मा स्वयं ज्ञानानन्द होकर पूर्ण परमात्मा का ध्यान करना अर्थात् स्वभावसन्मुख की उग्र एकाग्रता करना। समझ में आया ? पुण्य-पाप के विकल्प, शरीरादि मेरे नहीं है - इस प्रकार बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा अर्थात् शुद्ध ज्ञायकमूर्ति (आत्मा) है, उसका भान करके और परमात्मा... पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा का ध्यान करना। उस पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा की शुद्धता का उग्रपने पुरुषार्थ करना। स्वभाव में उग्र पुरुषार्थ करना, वह परमात्मा का ध्यान कहलाता है।

'**जिसके द्वारा (नित्य) अर्थात् अनन्त आनन्द प्राप्त किया जाता है।**' देखो ! ऐसा आनन्द प्रकट होता है कि सादि-अनन्त-नित्य अनन्त आनन्द (रहता है)। नित्य का अर्थ अनन्त किया है। अनन्त अर्थात् अन्त न आवे। ऐसा अनन्त आनन्द; वर्तमान (में) भी अनन्त और अनन्त अर्थात् अन्त न आवे ऐसा नित्य आनन्द- ऐसा। समझ में आया ? आत्मा के आनन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन होने से, उसे परमात्मा का ध्यान किया कहा जाता है। उसे अनन्त अर्थात् जिस आनन्द की प्राप्ति होने पर अनन्त आनन्द होता है और अनन्त अर्थात् अन्त यानी नाश न हो - ऐसे आनन्द की प्राप्ति आत्मा को आत्मा के शुद्धस्वरूप के ध्यान से होती है। समझ में आया ? देखो ! इसमें शुभाशुभपरिणाम का ध्यान करना छोड़ने की बात कही। शुभपरिणाम से आगे बढ़ते है (और) परमात्मा होते हैं - ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नाश नहीं, काल अर्थात् नाश नहीं, अनन्त अर्थात् वर्तमान में अमाप आनन्द, ऐसा। पहले 'अपरिमित' शब्द आ गया था न ? समझ में आया ? उसमे अनन्ता का अर्थ किया था। अनन्ता का अर्थ ही अपरिमित किया था। देखो ! है न शब्दार्थ में ? अनन्ता का अर्थ अपरिमित किया था। '**भोगैं शर्म अनंता-**' फिर कहा कि '**जो नित आनंद पूजै-**' प्रकट करे,

उसमें ऐसा लिया है। नित्य आनन्द प्रकट होता है अर्थात् आनन्द, ऐसे आत्मा के स्वरूप का ध्यान, शुद्ध अखण्ड आनन्द का ध्यान करने से नित्य आनन्द रहता है। कैसा ? अपरिमित आनन्द प्रकट होता है और नित्य रहता है – ऐसे आनन्द की प्राप्ति उसे होती है। कहो, इसमें समझ में आया ? बहुत से कहते हैं कि अमुक नवकार का ध्यान करना और अमुक करना – वह नहीं। ये तो अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं; पूर्णानन्द पूर्ण ध्येय पूर्ण प्रगट हुआ, उसका अन्तर में ध्यान करने से उन्हें नित्य आनन्द की अवस्था प्रकट होती है।

'**भावार्थ :- औदारिक आदि शरीररहित शुद्ध ज्ञानमय...**' भगवान सिद्ध परमात्मा हैं। वे '**द्रव्यभाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी...**' सिद्ध भगवान अत्यन्त निर्दोष हैं, उन्हें कुछ भी अंशमात्र भी दोष नहीं रहा है और '**निकल... पूज्य सिद्ध परमेष्ठी निकल...**' अर्थात् शरीररहित हैं, उन्हें, '**परमात्मा कहा जाता है। वे अक्षय अनन्त काल तक अनन्त सुख का अनुभव किया करते हैं।**' भविष्य में अक्षय अर्थात् काल का क्षय नहीं हो – ऐसा अक्षय अनन्त काल, अक्षय अनन्त काल... ऐसा। '**अनन्त सुख का अनुभव किया करते हैं।**'

'**इन तीन में बहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय (छोड़ने योग्य) है।**' समझ में आया ? पुण्य-पाप से धर्म मानना, वह छोड़ने योग्य हैं। '**इसलिए आत्महितेषियों को चाहिए कि उसे छोड़कर अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) बनकर...**' अन्तरात्मा बनकर – शुद्ध चैतन्यमूर्ति की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्रकट करके '**परमात्मपना प्राप्त करें...**' अरिहन्त और सिद्ध होना चाहिए। इन तीन में तीन की बात की। बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा प्रकट करके और परमात्मा प्रकट करना। '**परमात्मपना प्राप्त करना चाहिए।**'

'**क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (-मोक्ष) की प्राप्ति होती है।**' पूर्ण आनन्द की, अपरिमित आनन्द की और अनन्त अर्थात् नाश न हो – ऐसे आनन्द की सिद्ध भगवान को प्राप्ति होती है। कहो, इसमें समझ में आया ? छहढाला तो बहुत-सों को कण्ठस्थ होगी। यह तो बहुतों ने पढ़ी होगी न ? यह छठवी गाथा (पूरी) हुई।

अजीव-पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्य के लक्षण तथा भेद

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;
पुद्गल पंच वरन-रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं।
जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी;
तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिन-मूर्ति निरूपी।।७।।

अन्वयार्थ :- जो (चेतनता-बिन) चेतना रहित है, (सो) वह (अजीव) अजीव है; (ताके) उस अजीव के (पंच भेद) पाँच भेद हैं; (जाके पंच वरन-रस) जिसके पाँच वर्ण और रस, दो गन्ध और (वसू) आठ (फरस) स्पर्श (हैं) होते हैं वह पुद्गलद्रव्य है। जो (जिय) जीव को (और) (पुद्गल को) पुद्गल को (चलन सहाई) चलने में निमित्त (और) (अनरूपी) अमूर्तिक है, वह (धर्म) धर्मद्रव्य है। तथा (तिष्ठत) गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त (जीव और पुद्गल को) (सहाई) निमित्त (होय) होता है, वह (अधर्म) अधर्मद्रव्य है (जिन) जिनेन्द्र भगवान ने उस अधर्मद्रव्य को (बिन-मूर्ति) अमूर्तिक, (निरूपी) अरूपी कहा है।

भावार्थ : जिसमें चेतना (ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति) नहीं होती, उसे अजीव कहते हैं। उस अजीव के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, [१]अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श होते हैं उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं - ऐसे जीव और पुद्गल को चलने में निमित्तकारण होता है, वह धर्मद्रव्य है; तथा जो स्वयं (अपने आप) गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में निमित्तकारण है, वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इन धर्म, अधर्म द्रव्यों को, तथा जो आगे कहे जायेंगे, उन आकाश और कालद्रव्यों को अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है।।७।।

---

१. धर्म और अधर्म से यहाँ पुण्य और पाप नहीं, किन्तु छह द्रव्यों में आनेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो अजीवद्रव्य समझना चाहिए।

अब, '**अजीव-पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य के लक्षण तथा भेद।**' इसे श्रद्धा में अजीवतत्त्व कैसे लेना चाहिए ? निश्चय में तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आनन्द की प्रतीति में, व्यवहार समकित में जीव की पर्याय की श्रद्धा की बात की। अब अजीव की श्रद्धा की बात करते हैं।

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;

पुद्गल पंच वरन-रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं।

जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी;

तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिन-मूर्ति निरूपी।।७।।

बस ! ऐसी इसकी संक्षिप्त ही व्याख्या है। '**जो (चेतनता-रहित) चेतना रहित...**' है। जिसमें जानना और देखना - यह पाँच द्रव्यों में नहीं है। यह शरीर, वाणी, कर्म, जड़-पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, (काल) में जानना-देखना नहीं है। जिसमें जानना-देखना नहीं है, वे जानने-देखने में सहायक होते हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- सहायक होने में क्या बाधा है ?

उत्तर :- सहायक होने में क्या बाधा आती है ? धूल भी सहायक नहीं है। यह तो उसे निमित्त कहा जाता है, सहायक-फहायक है नहीं। निमित्त की अपेक्षा से सहायक कहो; जैसे अधर्मास्तिकाय को निमित्त कहेंगे वैसे। तथापि वह सहायक है नहीं; उसके द्वारा ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो ज्ञान द्वारा, जिसमें ज्ञान भरा हो, उसके द्वारा होता है। इन्द्रियां तो पुद्गल हैं, उनमें ज्ञान कहाँ है ? मन में ज्ञान कहाँ है ? आँखो में ज्ञान कहाँ है ? वह तो जड़ है। चेतनबिन कहा न ?

मुमुक्षु :- आँखे कौन ?

उत्तर :- आँखें कौन ? आत्मा की आँखे या यह आँखे ? आँखे तो जड़ है। आँखे जड़ रहित हो, निमित्त रहित हो तो केवलज्ञान हो जाए। समझ में आया ?

'**चेतनता रहित है, वह अजीव है; उस अीव के पाँच भेद हैं।**' अब, पुद्गल की व्याख्या

करते हैं, हाँ !'**जिसके पाँच वर्ण...**' है। देखो ! इस पुद्गल में पाँच वर्ण हैं। वहाँ चेतना नहीं है, तब है क्या अब ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों में चेतना - जानना-देखना-ऐसी चेतना नहीं है। तब है क्या है अब, (चेतना) नहीं है तब ? कि पुद्गल में तो पाँच वर्ण हैं। काला, लाल, हरा, पीला आदि वर्ण।'**पाँच रस...**' है। खट्टा, मीठा आदि (रस) पुद्गल में है, हाँ ! आत्मा में नहीं। '**दो गन्ध...**' है और पुद्गल में '**आठ स्पर्श...**' है। आत्मा में नहीं। आत्मा, चेतनासहित है, यह (पुद्गल) चेतनारहित है। '**वह पुद्गलद्रव्य...**' जानो। सम्यग्दृष्टि को, व्यवहार समकित में उसे पुद्गलद्रव्य - चेतनारहित अजीव चीज़ की पुद्गलद्रव्य, वर्णवाली है, उसे पुद्गल द्रव्य जानना। समझ में आया ?

'**जीव को और पुद्गल को...**' देखो ! अब धर्मास्तिकाय की बात करते हैं, परन्तु उसकी विशेषता है। वह धर्मास्तिकाय, (जब) जीव और पुद्गल चलते है... चलते हैं - चलन... चलन, चलते हैं, उन्हें सहायक है। समझ में आया ? इसलिए पाठ में ही उन्होंने रख दिया - '**लिन सहाई...**' समझ में आया ?

क्या कहा ? चौदह ब्रह्माण्ड में एक धर्मास्तिकाय एक अरूपी द्रव्य है। व्यवहार समकित में उसकी इसे श्रद्धा करनी चाहिए अर्थात् उसका ज्ञान करना चाहिए। वह धर्मास्तिकाय कैसा है ? जीव और पुद्गल स्वयं स्वतः चलन करें... चलन करें.. चलन करे... अर्थात् गति करते हैं, उन्हें वह सहायक अर्थात् निमित्त होता है। समझ में आया ? कहो, है या नहीं इसमें ? बलजोरी से गति कराता है ? इसलिए तो यह शब्द प्रयोग किया है। जीव और पुद्गल चलन... चलन... सहाई... चलने में अर्थात् जीव और पुद्गल स्वयं गति करे, तब उन्हें सहायक

अर्थात् दूसरा द्रव्य है, उसे सहायक कहा है, अर्थात् निमित्त कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

'और अमूर्तिक है...' उस धर्मास्तिकाय में वर्ण, गन्ध (नहीं है)। (पुद्गल में) वर्ण, गन्ध सिद्ध किया न ? पुद्गल में पाँच वर्ण आदि सिद्ध किये तो इसमें (धर्मास्तिकाय में) वे हैं नहीं, अमूर्तिक है, वह धर्मद्रव्य है, उसे धर्मास्तिकाय द्रव्य जानना चाहिए।

'(तिष्ठत)...' जीव और पुद्गल को.. देखा ? तिष्ठत है न ? तिष्ठत सहाई निमित्त। वह (धर्मास्ति) चलन सहाई था, यह तिष्ठत सहाई है। जीव और पुद्गल स्वयं ठहरें, स्थिर हों... तिष्ठत का अर्थ वह गति करके स्थिर हुआ न – इसका अर्थ ? कैसी संक्षिप्त भाषा में बहुत रख दिया है, हाँ !

जीव और पुद्गल ऐसे गति करके तिष्ठत... तिष्ठत – ठहरें। धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त दिया है न ? मछली को जैसे पानी (है, वैसे)। मछली गति करे तो पानी उसे निमित्त कहलाता है; वैसे ही जीव और पुद्गल गति करे तो धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है। चलन सहाई। जैसे मछली चले तो पानी निमित्त कहलाता है, वैसे ही जीव और पुद्गल चले (तो) उसे धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है। वह धर्मास्तिकाय इस प्रकार निमित्त है। ऐसा ही दृष्टान्त 'इष्टोपदेश' में दिया है – **'धर्मास्तिकायवत्'**। जितने सब निमित्त हैं, वे धर्मास्तिकायवत् हैं। चलन सहाई...। प्रत्येक पदार्थ स्वयं स्वत: परिणमन करते हैं, तब जो दूसरी चीज़ होती है, उसे निमित्त कहा जाता है यह सब धर्मास्तिकायवत् निमित्त हैं – ऐसा 'इष्टोपदेश' में सिद्ध किया है। पाँचो गाथा में बहुत चर्चा हो गयी हैं। समझ में आया ? आत्मा स्वयं समझे... चलन सहाई... ऐसे समझे तब गुरु को निमित्त कहा जाता है। उसका न्याय यह दिया है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– चलने में धर्मास्तिकाय की आवश्यकता पड़ती है।

उत्तर :– आवश्यकता पड़ने की कहाँ बात हैं ? आवश्यकता पड़ने की बात आयी ? चलन–निमित्त सहाई, तिष्ठत सहाई – ऐसा है। यहाँ का वजन है, या वहाँ का है ? वज़न कहाँ का है ? कि चले, उसे निमित्त; स्थिर (होवे) उसे निमित्त (है)। जाने, उसे निमित्त। ए... देवानुप्रया ! यह पण्डित रहे। करे या नहीं अर्थ ? करेंगे या नहीं ? कहो, इसमें समझ में

आया ? यह तो शब्द के न्याय से (कहते हैं)। समझ में आया ? बस ! धर्मास्तिकायवत् निमित्त जानना। समझ में आया ?

एक परमाणु को, दूसरा परमाणु भी स्वयं परिणता है, तब दूसरे को निमित्त कहा जाता है। यहाँ चारपने परिणमित, तब दूसरा चार था, उसे निमित्त कहा जाता है - धर्मास्तिकायवत्। परिणमे उसे निमित्त, हो, उसे निमित्त अवस्था हो, उसे वह अस्तिरूप निमित्त होता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यहाँ तो कहते है कि उसके परिणमन बिना उसे चले नहीं, - ऐसा कहते हैं। ज्ञानगुण है न ? उसे गुण के वर्तमान परिणमन बिना उसकी पर्याय चले नहीं - ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? अन्दर ज्ञानगुण है न ? उसके परिणमन बिना उस गुण को चले नहीं। वह परिणमन करे तब, ज्ञान का परिणमन करे तब गुरु को - जैसे चलन सहाई कहा - ऐसे (गुरु को) ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। पहले-बाद की बात नहीं है। यह भी और यह भी होता है, बस ! इतनी बात है। समझ में आया ? देखो न ? बात भी कितनी रखी है ! स्वयं ही संक्षिप्त में रखी है। समझ में आया ? इन्होंने संक्षिप्त में सब न्याय लगभग संक्षेप में ख्याल में आ जाए - इस (प्रकार से) रखे हैं। समझ में आया ?

अधर्मास्तिकाय, वह गतिपूर्वक स्थिति (करने में निमित्त है)। तिष्ठत है न ? 'तिष्ठत' शब्द पड़ा है न ? जैसे, मनुष्य चलता हो और थकान लगी हो और वृक्ष हो वहाँ जाकर बैठता है। वह वृक्ष उसे बैठने को नहीं कहता है। वृक्ष कहते है ? (जिसे) बैठना हो, उसको वृक्ष निमित्त है। इसी प्रकार जो गति करते हुए स्थिर होता है, उसे अधर्मास्तिकाय निमित्त है। ऐसे नहीं जानता था और (अब) जानता है, उसे (गुरु आदि) निमित्त है। यह तो अभी 'इष्टोपदेश' में बहुत आयेगा। समझ में आया ? यही 'इष्टोपदेश' कहलाता है। इसे प्रिय उपदेश और सत्य उपदेश इसका नाम है। इससे होता है और उससे होता है - यह इष्टोपदेश है नहीं। देखो न, पूज्यपादस्वामी कहते हैं।

मुमुक्षु :- वृक्ष आया न ?

उत्तर :- वृक्ष कहाँ आया है ? वृक्ष पड़ा है।

मुमुक्षु :- वृक्ष आकर्षण करता है न ?

उत्तर :- कौन आकर्षण करे ? धूल आकर्षण करे ? चलता हो, उसे रोकता है कि खड़ा रह, मैं वृक्ष हूँ ? वृक्ष देखकर खड़ा रहे तो निमित्त कहलाता है, न खड़ा रहे तो चलता होता है; चलता है तो धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है, स्थिर होवे तो अधर्मास्तिकाय (निमित्त कहलाता है)। इसलिए वृक्ष का दृष्टान्त (दिया है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु यह वस्तु की स्थिति ऐसी है। उसमें दूसरी उल्टी-सीधी प्रस्तुति कैसे करे ? समझ में आया ? इस 'नित वर्तना' में जरा शंका पड़ी थी तो पण्डितजी को पूछ के देखा कि नियत वर्तना अर्थात् वर्तना ऐसा आता है या नियत वर्तना - ऐसा आता है ? शब्द में जरा नित्य वर्तना आया है न ? अब आयेगा। इस काल को भी स्वतन्त्र सिद्ध करना था। समझे न ? यहाँ तो अभी अधर्मास्तिकाय को सिद्ध करते हैं।

इस व्यवहार श्रद्धा में ऐसे उसे मानना चाहिए। व्यवहार श्रद्धा में गड़बड़ करे कि इसके कारण यह (-तो) उसकी व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है - ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? धर्मास्तिकाय के बिना सिद्ध भगवान को वहा (लोकाग्र में) रहना पड़ा - ऐसा नहीं होता, यह कहते हैं। वे तो चलन, स्वयं परिणमन करे - गति करे तो उसे निमित्त कहते हैं। गति नहीं तो वे तिष्ठ-गतिपूर्वक स्थिर हो गये, (उसमें) अधर्मास्तिकाय निमित्त है। यहाँ लेना चाहिए या (दूसरी ओर से) लेना चाहिए ? जिसकी बात चले, उससे लेना चाहिए या जिसके साथ है, उससे-संयोग से बात लेनी चाहिए ? स्वभाव से बात लेनी चाहिए, संयोग से बात नहीं ली जाती; संयोग बाद में सिद्ध होता है। बाद में अर्थात् भले साथ हो (परन्तु बाद में सिद्ध होता है)। समझ में आया ?

जीव स्वयं गति-चलन करे तो धर्मास्तिकाय निमित्त है। वहाँ अधर्मास्तिकाय नहीं ? वह स्वयं चले तो धर्मास्तिकाय को निमित्त कहना; स्थिर होवे तो अधर्मास्तिकाय को (निमित्त कहा जाता है)। उसमें वजन उसकी ओर का (स्वभाव का) आया या वहाँ का (-निमित्त

का) आया ? समझ में आया या नहीं ? आत्मा की निश्चय सम्यग्दृष्टि में व्यवहार सम्यग्दर्शन में उसे छहद्रव्य की ऐसी श्रद्धा-जैसा है, वैसा होना चाहिए - ऐसा कहते हैं। जैसा है, उससे आगे-पीछे करे तो उसे व्यवहार का ठिकाना नहीं है। समझ में आया ?

गतिपूर्वक स्थिति '**(तिष्ठत)**...' शब्द है, इसलिए 'गतिपूर्वक स्थिति' यह भलीभाँति अर्थ किया है। '**जो गतिपूर्वक स्थिति परिणाम को**...' परिणाम अर्थात् वह पर्याय है न ? '**प्राप्त**...' होता है। '**(जीव और पुद्गल को) (सहाई -)**...' बस ! तिष्ठत सहाई, तिष्ठत-सहाई। खड़ा (स्थिर) हो, उसे अधर्मास्तिकाय सहाई होता है, तो वजन कहाँ आया ? खड़े रहनेवाले (पर आया)। ऐसे जाननेवाले को वाणी निमित्त होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- व्यवहार तो झूठा कहा।

उत्तर :- किसने झूठा कहा ? वस्तु, व्यवहार से व्यवहार नहीं ? निमित्त नहीं ? निमित्त वस्तु नहीं ? परन्तु निमित्त कब कहलाता है ? यहाँ निश्चय (उपादान) हो, तब अन्य को निमित्त कहते हैं - ऐसी बात अभी चलती है न ! यहाँ तो भाई ! भगवान का काँटा (धर्म काँटा) है। समझ में आया ? उसके व्यवहार में भी जिस प्रकार से भेदरूप से तत्त्व का जो स्वरूप है, उसे उस प्रकार से इसे मानना चाहिए।

'**वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इस अधर्मद्रव्य को**...' और धर्मादि सब को-ऐसा लेना। '**जिनेन्द्र भगवान ने इस अधर्मद्रव्य को (बिनमूरति) अमूर्तिक कहा है।**' कहो, समझ में आया ? धर्म (द्रव्य में) '**अनरूपी**' आया था न ? अनरूपी। समझे ? जिय-पुद्गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी; '**तिष्ठत होई अधर्म सहाई, जिन बिनमूर्ति निरूपी।**' दोनों को कहा है।

'**भावार्थ :- जिसमें चेतना (ज्ञान, दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति) नहीं होती**...' कहो, इन आँख में, जीभ में, शरीर में, इस लकड़ी में, वाणी में जानने-देखने की शक्ति नहीं है। उसे '**अजीव कहते हैं।**' कहो, ठीक है ? देखो ! यह घड़ी चलती है या नहीं ? (जो) चलती है, वह जीव है या अजीव ? लो, चलती है या नहीं ? एक व्यक्ति कहता था, पुराना व्यक्ति था, था युवा। वह कहता था - यह गति करती है, वह जीव है। हिले-चले वह

जीव किसने कहा ? चेतनावाला, वह जीव; ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला, वह जीव और ज्ञानदर्शन स्वभावरहित, वह अजीव है।

वह तो कहता था - मिल में एन्जिन है, वह भी जीव है। वह मिल में नौकर था। उसके बहनोई सेठ थे। वह कहता - देखो ! एन्जिन चलता है, वह जीव है, वे मानते। 'खस' में नया एन्जिन बना न ? 'बोटाद' से 'खस'। हम एक बार निकले थे। एक बाई लेकर नलिया लेकर आयी थी। धूप डालकर। गाड़ी चलती थी और वह धूप करती थी। नयी गाड़ी चली न ? 'बोटाद' से 'खस' की ओर निकली न ? हम ठीक उस समय विहार करके निकले थे। 'बोटाद' से 'खस' आते होंगे। समझे न ? वहाँ एक बाई धूप देती थी। मूढ़ किसे कहते हैं ? यह गति, इतने लाखों मण को चलावे, वह कहीं देवी बिना चलावे ? लाखो मण के डिब्बे धड़धड़ाट चले... समझे न ? यह तो नजरों से देखा है, हाँ ! सब नमूने एक-एक ! रेल निकलती है न ? 'बोटाद' से 'खस' के समीप... वहाँ आगे रेल हो, वहाँ वह बाई ऐसा करती थी। नलिये में डालकर, नलिया लम्बा होता है न ? उसमें अग्नि डालकर उसमें धूप डाली। मूढ़ वे कहीं अलग बसते होंगे ? गाँव में ऐसे के ऐसे बसते हैं।

मुमुक्षु :- शक्ति का प्रयोग करे न !

उत्तर :- शक्ति कौन सी ? ज्ञानशक्ति या जड़शक्ति ? आहा..हा.. !

'उसे अजीव कहते हैं। इस अजीव के पाँच भेद हैं।' समझ में आया ? **'पुद्गल, धर्म...'** यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति... वे पुण्य-पाप नहीं लेना, हाँ ? नीचे (मूल पुस्तक में फूटनोट में) स्पष्टीकरण किया है। यह लिखनेवाला 'प्रमुख' है न ? पहले से स्पष्टीकरण किया है। करनेवाले, हाँ ! यह पुरानी पुस्तक है, इसमें स्पष्टीकरण है। दिगम्बर की ओर से छपा है उसमें। समझ में आया ? धर्म और अधर्म, वह पुण्य-पाप नहीं लेना। धर्म-अधर्म वे नहीं लेना। यहाँ तो धर्म-अधर्म दो द्रव्य है। भगवान ने जगत में देखे हुए अरूपी (द्रव्य है)। चौदह ब्रह्माण्ड अनुसार, चौदह राजू (लोक) अनुसार व्यापक (द्रव्य हैं)।

'... आकाश और काल, जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण और स्पर्श होते हैं, उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं...' चलन सहाई-ऐसा। **'ऐसे जीव और**

पुद्गलों को चलने में...' सहाई अर्थात् निमित्तकारण है। बस ! हो गया। सहाई शब्द से ही वहाँ निमित्त है। इसलिए सहाई की स्पष्टता व्याख्या लेनी होवे तो धर्मास्तिकाय को सहाई कहा है। उसका अर्थ हो गया कि निमित्त है। समझ में आया ? दूसरी चीज़ साथ में एक निमित्त होती है – ऐसा।

स्वयं गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए... तिष्ठत है न ! तिष्ठत है। जो जीव और पुद्गल खड़े रहते हैं, इसलिए खड़े रहने का अर्थ हुआ कि पहले चलते थे।'**जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में जो निमित्तकारण है, वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इन धर्म-अधर्मद्रव्य को तथा जो आगे कहें जाएँगे उन...**' सबको – ऐसा समुच्चय ले लिया। '**आकाश और काल द्रव्य को अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है।**' इन्द्रियों से ज्ञात हों – ऐसे नहीं हैं, ज्ञानगम्य है; अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य हैं। ऐसे चार अरूपी हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। एक पुद्गल रूपी है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला है। उसे पहिचान भलीभाँति श्रद्धान करना चाहिए, पुद्गल को पुद्गलरूप से मानना चाहिए; पुद्गल की पर्याय को पुद्गल की पर्यायरूप से मानना चाहिए और पुद्गल के गुणों को पुद्गल के गुणरूप से मानना चाहिए। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– ... निश्चय तो...

उत्तर :– परन्तु साथ में वैसा निश्चय होता है। वीतराग होने के बाद ऐसा ज्ञान और ऐसा विकल्प नहीं होता; पूर्ण हो गया उसे समाप्त हो गया। नीचे (की भूमिका में) ऐसे विकल्प, ज्ञान अपूर्ण है, पूर्ण नहीं हुआ इसलिए उसे वह अवस्था (होती है)। चारित्र पूर्ण हुआ नहीं। यह चारित्र पूर्ण अखण्ड हो जाए तो फिर यह भाव नहीं रहता। ऐसा व्यवहार भाव, निश्चयसम्यग्दर्शन हो तब छह द्रव्य की श्रद्धा का, जीव-अजीवतत्त्व का विकल्प – जैसा स्वरूप है, वैसी श्रद्धा का ज्ञान होता है, उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है और उस सम्बन्धी का विकल्प भी होता है। समझ में आया ?

अन्यमति ऐसा जमा दे कि अकेला आत्मा... अकेला आत्मा... ऐसा नहीं चलता – यह कहते हैं। एक आत्मा ! परन्तु उस आत्मा के साथ उसे व्यवहार के ऐसे छह द्रव्यों की श्रद्धा उसे

होती है। छह द्रव्यों की श्रद्धा नहीं, उसे अकेला निश्चय आत्मा अखण्ड एकरूप है, उसकी श्रद्धा उसे हो नहीं सकती। समझ में आया या नहीं ? एक समय की ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्यों को श्रद्धा करने की – जानने की ताकात है, विकल्पसहित। समझ में आया ? ऐसी जिसे मान्यता नहीं, उसे अखण्ड एक समय में पूर्ण अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा आत्मद्रव्य, जिसमें ऐसी अनन्त-अनन्त पर्याय का रस पड़ा है – ऐसा आत्मद्रव्य है। उसे ऐसे छह द्रव्यों का श्रद्धान होता है, (मात्र अकेले) आत्मद्रव्य की श्रद्धा होती नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- मेंढ़क को पता है ?

उत्तर :- हाँ, मेढ़क को पता है। मेंढ़क भी भलीभाँति जानता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। उस आनन्द में भान है कि यह आत्मा है। इस आत्मा से विरुद्ध, वह आत्मा नहीं है। उसे श्रद्धा में-ज्ञान में आ गया है और यह विकल्प उत्पन्न होता है, वह दु:ख है, यह आनन्द नहीं है। यह आनन्द है, वैसी मीठास नहीं है, उससे विपरीत है। इसलिए उससे विपरीत भाव आस्रव की श्रद्धा, आस्रव और बन्धभाव की (श्रद्धा) उसे आ गयी है। आनन्द है, वह अल्प है और पूरी चीज आनन्द है, उस आनन्द की वृद्धि चाहता है, वह संवर और निर्जरा है, पूर्ण करना चाहता है, वह मोक्ष है।

मुमुक्षु :- ... जीव के भेद...

उत्तर :- यह भेद उसमें आ गये। ज्ञान रहित, वह पुद्गल अथवा पाँच द्रव्य हैं। यह उसमें आ गया। कहा न ? भेद कहाँ उसमें कहे ? उसमें भी यह कहाँ आया ? यहाँ तो क्या कहा ? **'चेतनता बिन सो अजीव है।'** इतनी बात ली है। उन्होंने प्रयोजनभूत की ही बात ली है। समझ में आया ? यह गुणी और यह गुणवाला... यह गुण और यह गुणवाला... बस ! इतनी बात। समझ में आया ? यह प्रयोजनभूत है। बाकी सब बातें चाहे जितनी गहो, उसके साथ कुछ (सम्बन्धनहीं है)। घड़ा क्यों हुआ कैसे हुआ ? (-उसका काम नहीं है)। परन्तु मिट्टी द्रव्य है और वर्ण, गन्ध, रस। उसके गुण हैं और उन गुण की पर्याय है, वह घड़ा है। समझ में आया ? वह घड़ा कहीं कुम्हार की पर्याय है – ऐसा नहीं है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

यह अजीवतत्त्व में ऐसा आ जाता है। चेतनरहित चीज – ऐसे अजीव हैं। वह द्रव्य, गुण

और पर्याय तीनों अजीव हैं। उनमें-तीनों में कहीं चेतन का अंश नहीं है, इसलिए उनके विरुद्ध के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शवाला, वह पुद्गल है और उसके अतिरिक्त धर्मास्तिकाय में एक ही गुण वर्णन करके, गति करे उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है, बस ! एक गुण से उसका वर्णन कर दिया। उस गुण का धारक पूरा गुणी है और तिष्ठत - अधर्मास्तिकाय। ठहरते हैं, (उसमें) निमित्त है, वह अधर्मास्तिकाय। अकेले एक गुण से उसका वर्णन किया है। समझ में आया ? यह सात (गाथा पूर्ण) हुई। (अब) आठवीं।

आकाश, काल और आस्रव के लक्षण अथवा भेद

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो;
नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;
मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥८॥

अन्वयार्थ :- (जासमें) जिसमें (सकल) समस्त (द्रव्यको) द्रव्यों का (वास) निवास है, (सो) वह (आकाश) आकाशद्रव्य (पिछानो) जानना; (वर्तना) स्वयं प्रवर्तित हो और दूसरों को प्रवर्तित होने में निमित्त हो, वह (नियत) निश्चय कालद्रव्य हैं; तथा (निशदिन) रात्रि, दिवस आदि (व्यवहारकाल) व्यवहार काल (परिमानो) जानो। (यों) इस प्रकार (अजीव) अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। (अब) अब (आस्रव) आस्रवतत्त्व (सुनिये) सुनो। (मन-वच-काय) मन, वचन और काया के आलम्बन से आत्मा के प्रदेश चंचल होनेरूप (त्रोयोगा) तीन प्रकार के योग तथा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय (अरु) और (परमाद) प्रमाद (सहित) सहित (उपयोग) आत्मा की प्रवृत्ति वह (आस्रव) आस्रवतत्त्व कहलाता है।

भावार्थ :- जिसमें छह द्रव्यों का निवास है, उस स्थान को +आकाश कहते हैं। जो

+ जिस प्रकार किसी बरतन में पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डालीजाये तो वह समा जाती है; फिर उसमें शर्करा डाली जाये तो वह भी समा जाती है; फिर उसमें सुइयाँ डाली जायें तो वे भी समा

अपनेआप बदलता है तथा अपनेआप बदते हुए अन्य द्रव्यों को बदलने में निमित्त है, उसे *'निश्चयकाल' कहते हैं। रात, दिन, घड़ी, घण्टा आदि को 'व्यवहारकाल' कहा जाता है - इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। अब, आस्रवतत्त्व का वर्णन कहते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग - ऐसे पाँच भेद हैं॥८॥

(आस्रव और बन्ध दोनो में भेद :- जीव के मिथ्यात्व-मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम, वह भाव-आस्रव है और उन मलिन भावों में स्निग्धता, वह भाव-बन्ध है।)

आठवीं (गाथा)। '**आकाश...**' की व्याख्या, '**काल...**' की व्याख्या '**और आस्रव के लक्षण तथा भेद**' की व्याख्या करेंगे।

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो;
नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;
मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥८॥

'**सकल द्रव्य को वास...**' देखा ? इनकी भाषा तो देखो ! '**जास में**' बाद में लिया, '**यों अजीव...**' बस, यह अजीव। पहले जीव का तीन प्रकार से वर्णन किया - बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा - इस पर्याय को इसे जानना। अजीव को इस प्रकार जानना। बहिरात्मा में उस जीव को छोड़ने को कहा था, उसकी एकत्वबुद्धि छूट गयी है। इतना उसने (कहा)। दूसरे

जाती हैं; उसी प्रकार आकाश में भी मुख्य अवगाहन-शक्ति है; इसलिये उसमें सर्व द्रव्य एकसाथ रह सकते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को रोकता नहीं है।

* अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में जो निमित्त हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। जिसप्रकार कुम्हार के चाक को घूमने में धुरी (कीली)। कालद्रव्य को निश्चयकाल कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य (कालणु) हैं। दिन, घड़ी, घण्टा, मास-उसे व्यवहारकाल कहते हैं। (जैन सि. प्रवेशिका)

बोल थे। यहा इन्होंने आस्रव में विशेष प्रकार से सब वर्णन करके आस्रव का वर्णन किया है। कोई कहे कि बहिरात्मा में आस्रव का वर्णन आ गया था, अंतरात्मा में संवर, निर्जरा आ गया था, मोक्ष में (परमात्मा का) आ गया था। तो कहते हैं नहीं; उसका सामान्यरूप से (वर्णन था), मात्र एकत्वबुद्धि का त्याग, एकत्वबुद्धि का अभाव और पूर्ण ज्ञान की अवस्था - इतनी बात जीव की पर्याय का वर्णन बताने को वहाँ आयी थी।

यहाँ पर '**यो अजीव अब आस्रव सुनिये, मन-वच काय त्रियोगा।**' मन-वचन और काया का कम्पन-योग है, वह भी आस्रव है। यह सब बात यहाँ आस्रवतत्त्व में विस्तार से वर्णन की है। समझ में आया ? '**मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहति उपयोगा।**' पाँचो ही लिये। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग - पाँच है न ? आस्रव पाँच हैं या नहीं ? समझ में आया ? '**उपयोग-**' लिया न ? उसकी प्रवृत्ति - जीव की प्रवृत्ति यहाँ लेनी है - ऐसा कहकर यह कहते हैं कि यह आस्रव कहीं कर्म के कारण नहीं है। है इसमें ? निकलता है इसमें ? देखो न ! '**परमाद सहित उपयोगा...**' (कहा है)। ऐ.. देवानुप्रिया ! है या नहीं इसमें ? कि कर्म से - इसमें खींच खींचकर निकालते हैं ? कर्म तो अजीव में डाल दिया, अजीव की पर्याय में डाल दिया। अजीव की पर्याय हैं - ऐसी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए। वर्ण, गन्ध स्पर्शवाली पर्याय, यह पुद्‌गल, यह पुद्‌गल की पर्याय है - ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए। यहाँ तो आत्मा की - आस्रव की पर्याय (की बात करते हैं)। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भर दिया है, हाँ ? एक-एक शब्द ऐसा प्रयोग किया है कि पूरा करता है।

'**(जासमें) जिसमें...**' जासमें अर्थात् आकाश में। भगवान द्वारा देखा हुआ लोकालोक व्यापक आकाश अरूपी पदार्थ है। '**जिसमें सर्व द्रव्यों का निवास है...**' परन्तु द्रव्य उसमें रहे हैं, वहाँ से सिद्ध किया है, हाँ ! समझ में आया ? द्रव्य उसमें रहे हैं, उसे आकाश निमित्त है। समझ में आया ? इसमें है या नहीं ? देखो न इसमें ? यह तो पहली-पहली बार पढी जाती है तो इसे अभी ख्याल में लेना चाहिए न ! यह तो बहुत सादी चीज है। कितनी हजार छप गयी है न यह ? चौदह हजार तो हिन्दी में (छपी), मराठी में सत्र हजार, अपनी गुजराती ? गुजराती एक हजार ही ? लड़कों को सबको ध्यान रखना पड़ेगा या नहीं ? कोई सिखाता है या नहीं ? तो मास्टर-वास्टर है नहीं। (एक) मास्टर थे, वे बेचारे चले गये। कोई सिखाते नहीं, सब

भटकते हैं। यहाँ पाँच घण्टा, आधा घण्टा, एक घण्टा पढ़ानेवाला न हो तो भटकते ही है न, दूसरा क्या ? थोड़ा समय हो तो यह भटकने का काम करते हैं। समझ में आया ? क्या कहा ?

यह तो उनकी रचित रचना में संक्षिप्त में कैसी शैली भर दी है ! यह भी ऐसी सादी हिन्दी में श्लोक ! हिन्दी में भी बहुत बात रख दी है। कहते हैं, आकाश नामक पदार्थ हैं, जिसमें छह द्रव्यों का वास है, वास। वास – जैसे घर में वास होता है न ? ऐसे (ही) आकाश में छह द्रव्यों का वास है। समझ में आया ? '**वह आकाशद्रव्य जानना।**' उसे जानना। आकाश लोकालोक व्यापक अरूपी है। उसमें यह (द्रव्य) रहे हुए हैं – ऐसा जानना। समझ में आया ?

अब काल। '**(वर्तना)... वर्तना नियत।**' यह काल के लिये दिया। वर्तना नियत... वर्तना हे जिसे निश्चय – ऐसा कालद्रव्य हैं। वर्तना उसका गुण है – ऐसा कालद्रव्य है। इसलिए फिर उसमें से (ऐसा कहा कि) जो वर्ते, उसको निमित्त कहा जाता है। समझ में आया ? वर्तना, वह अपना गुण है, उस प्रकार का। स्वयं परिणमता है न ? और जो वर्तता है अर्थात् परिणमता है, उसको निमित्त है। निमित्त नहीं – ऐसा नहीं है और निमित्त न हो तो न परिणमें – ऐसा यहाँ नहीं है। परिणमता है, वह भी है और सामने निमित्त भी है।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनी गुण-पर्यायरूप स्वकाल में परिणमता है, तब एक वर्तना-वर्तना का निमित्तरूप और स्वयं वर्तना गुणवाला एक कालद्रव्य है। यहाँ सभी द्रव्यों का एक ही गुण से वर्णन किया है। धर्म-गति, (अधर्म) तिष्ठत – (स्थिर होना) वर्तमान बसना। समझ में आया ? और अरूपी तो साथ ले लिया है, वरना प्रत्येक द्रव्य में है अनन्त गुण। स्वयं पलटे, वर्तना वर्ते और दूसरे को पलटने में निमित्त हो, वह नियत है। '**नश्चिय कालद्रव्य है...**' वह निश्चय कालद्रव्य है। कोई कालद्रव्य को उपचारिक मानता है – ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करना है।

व्यवहार समकित में भी निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, काल सहित (छह) द्रव्यों को मानता है। समझ में आया ? एक सम्प्रदाय कालद्रव्य को नहीं मानता (-ऐसा कहते हैं)। वह मिथ्या बाद है। समझ में आया ? वर्तनेवाला स्वभाव पुरुषार्थ जीव को हो या उल्टा पुरुषार्थ हो,

उसमें एक दूसरी चीज़ निमित्त है। स्वकाल का परिणमन है तो परकाल वस्तु एक ऐसा द्रव्य है, वह उसे निमित्त पर्याय होती है। समझ में आया ? यह तो गृहस्थाश्रम में रहे हुए 'दौलतराम' पण्डित ने बनायी है। लो ! इसे भी कितने ही मिथ्या सिद्ध करते होंगे। अभी तो क्या हो ? बेचारे लोगों को अभ्यास नहीं होता, सेठियों को फुरसत नहीं मिलती, फुरसतवालों को अभ्यास नहीं होता, वे फुरसत में नहीं मिलते। इसलिए फिर सिर पर कोई धनीघोर (मालिक) नहीं है; इसलिए जो जैसा चलावे वैसा चला। यहाँ तो कहते हैं भाई ! भगवान का मार्ग है, वह प्रत्येक पदार्थ को स्वयं सिद्ध स्वतन्त्र सिद्ध करके, निमित्त क्या है – उसका ज्ञान कराता है। समझ में आया ? फिर ईश्वर निमित्त है, कर्ता; उसमें इन लोगों ने विवाद किसलिए उठाया ? ऐसा है ही नहीं। वस्तु ही स्वयं से – द्रव्य-गुण-पर्याय अकृत्रिम चीज स्वयं से है। मात्र दूसरी चीज.. है। स्वयं स्वत: परिणमति है, उसमें निमित्त एक चीज है, बस ! उसके कारण है, ईश्वर के कारण जगत है – ऐसा नहीं। इसी तरह उस निमित्त के कारण ये द्रव्य है – ऐसा नहीं। समझ में आया ?

वस्तु है, वह प्रत्येक अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से है। वह उपादान (है) उसमें (साथ में) एक दूसरी चीज़ है। ऐसा वस्तु का स्वरूप ही है। उसमें किसी ने किया है और दूसरे प्रकार से कहा है, (अर्थात्) नहीं है, उस प्रकार से कहा है – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :- पहले कहा या पहले जाना है ?

उत्तर :- जाना, तब कहा है। जाननेवाले और कहनेवाले तो अनादि से चले आ रहे हैं। कहा और जाना नहीं, जाना और कहा। जाने बिना कहे कहाँ से ? कहा वैसा उन्होंने जाना है। अर्थात् क्या कहते हैं ? अनेकान्त कहा है, वैसा उन्हों ने जाना है। नियत उसे मिथ्यादृष्टि कहा है – ऐसा वे कहते हैं। अरे.. ! भगवान ! आथ्मा की भी बहिलाही है न ! भगवान ने जैसी द्रव्य की व्यवस्था है, वैसी कही है; कही है, वैसी जानी है। ऐसा इन्होंने कहा, भाई ! परन्तु जैसी है, वैसी जानी है; जानी है वैसी कही है। (तो कहते हैं) ऐसा नहीं, इसमें आपत्ति आती है। जानी है। तीनकाल का जिस प्रकार से है, उसे भगवान जानते हैं। यह तो द्रव्य में नियत-अनियत पर्याय हो – ऐसा भगवान ने कहा है, ऐसा भगवान ने फिर जाना है – ऐसा आया है। आया है न ?

आहा..हा..! समझ में आया ? इस प्रकार समझे तो सब विवाद समाप्त हो जाए – ऐसा लिखा है, नहीं ? अन्त में ऐसा लिखा है न ? अरे..! भगवान ! बापू ! परन्तु किस प्रकार स्वीकारे ? ख्याल में, भाव में यह बात ऐसी है – ऐसा भासन होना चाहिए या नहीं ? या ऐसे का ऐसा मान लेना ? परन्तु ऐसे बात जमेगी कैसे ?

मुमुक्षु :– दूसरे कहते हैं, उस प्रकार माने तो विवाद बन्द हो।

उत्तर :– नहीं, यह नहीं। दूसरों का मिथ्या है, कारण कि भगवान ने नियत को मिथ्यादृष्टि कहा है। नियत को मिथ्यादृष्टि कहा और तुम नियत का... परन्तु कहा नहीं; तुम्हें पता नहीं। वह तो स्वभाव, पुरुषार्थ नहीं माननेवाले, अकेले नियत माननेवालों को (मिथ्यादृष्टि कहा है)। वहाँ विधि और कारण कहा है, ऐसा वहाँ कहते हैं, परन्तु स्वभाव, पुरुषार्थ, सर्वज्ञ एक समय में तीन काल का ज्ञान – यह नियतवाला कहाँ मानता है ? समझ में आया ? एक समय में, एक समय में केवलज्ञान एक समय में लोकालोक निमित्त। वर्तमान निमित्त एक समय में, भविष्य में पर्याय होगी – ऐसा नहीं। इसका अर्थ यह हो गया कि द्रव्य में जिस समय वह पर्याय होनी है – ऐसा क्रम ही उसमें – उसकी शक्ति में पड़ा ही है। द्रव्य भी क्रमबद्धपर्याय हो – ऐसा द्रव्य है, गुण भी क्रमबद्ध (पर्याय) हो – ऐसे है; पर्याय तो क्रमसर होती है। एक समय में यहाँ जैसा जाना,वैसा एक समय में यह सब उसे ख्याल में आ जाता है। समझ में आया ? भविष्य में होगी या हुई – ऐसा नहीं। इसमें कुछ समझ में आया ? क्या कहा, समझ में आया ?

एक समय में केवलज्ञान पर्याय है, उसे लोकालोक के वर्तमान समस्त द्रव्य निमित्त होते हैं। वर्तमान निमित्त होते हैं। वर्तमान निमित्त किस प्रकार होंगे ? वर्तमान में भूत-भविष्य की पर्याय नहीं है, परन्तु भूत-भविष्य की पर्याय क्रमसर जो द्रव्य में होनेवाली है और हो गयी है, उसकी योग्यता द्रव्य में वर्तमान में पड़ी है। भाई ! समझ में आया ? हो गयी और होगी, व्यवस्थित जो हुई और होगी – उसकी योग्यता द्रव्य में पड़ी है, गुण में पड़ी है; प्रकट यह है। इस प्रकार उसके निमित्त पूरे केवलज्ञान में (होता है)। एक समय में (वहाँ) और यहाँ एक पूरा (केवलज्ञान)। एक समय में पूरा निमित्त है। भविष्य में होगा न – यह प्रश्न ही नहीं है।

द्रव्य की शक्ति भी ऐसी है, गुण की शक्ति भी ऐसी है और पर्याय की शक्ति की व्यक्तता भी इस प्रकार है। इस तरह एक समय में भगवान के ज्ञान में आ जाता है। समझ में आया ? व्यवहार रूप से जाना है। एक समय का ज्ञान है – ऐसा ज्ञान ने स्वयं जाना है। इस प्रकार यह एक जाना, इसलिए निमित्तरूप से इसमें निमित्त में उसकी स्थिति ही ऐसी है, दूसरी स्थिति हो नहीं सकती; परन्तु अब क्या हो ? यह कोई जबरदस्ती से (मन में) बिठा दे – ऐसा है ? न्याय से ज्ञान की सम्यक् युक्ति द्वारा यह यदि ख्याल में आवे तो आ सकात है, वरना तो इस बात की कोई समझ नहीं मिलती। समझ में आया ?

एक कालद्रव्य निश्चय स्वयं वर्तता है। एक दूसरा वर्तता है, वर्तता है, वर्तता है समय-समय, उसे यह एक निमित्त है। वर्तता है, उसे निमित्त है। '**और (निशि-दिन) व्यवहार काल...**' है। रात्रि, दिन, पहर – यह ऐसे बहुत समयों को इकट्ठा किया न ? यह व्यवहार काल है। यह व्यवहारकाल '**(परिमानो)**' अर्थात् '**जानो। इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ।**' समझ में आया ?

'**अब, आस्त्रवतत्त्व सुनो। मन-वचन और काया के अवलम्बन से आत्मा के प्रदेश चंचल होनेरूप (त्रियोग) तीन प्रकार का योग...**' यह अन्तिम को पहले लिया। यहाँ तो पद्य है न ? पद्य की शैली रचना में होनी चाहिए न ? वरना योग है, वह अन्तिम है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच आस्त्रव हैं। उनमें योग को पहले (लिया है)। शास्त्र में भी '**योगास्त्रवा:**' – ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है न ? भाई ! इसलिए यहाँ पहले वह बात ही आयी है। समझ में आया ? '**योगास्त्रवा:**' – फिर उसके अन्तरभेदों में सब डालते हैं। समझ में आया ?

'**मन-वचन और काया के अवलम्बन से...**' यह जड़ का अवल्मबन, हाँ ! निमित्त। जो अन्दर आत्मा के प्रदेश कंपते हैं, उसे योग कहते हैं। यह योग तीन प्रकार का योग है, क्योंकि मन को जड़ का अवलम्बन निमित्त होता है, उस समय के कम्पन को मनयोग कहते हैं। वाणी के परमाणुओं का अवलम्बन निमित्त हो, उस समय के आत्मप्रदेशों के (कम्पन को) वचनयोग कहते हैं। देह का अवलम्बन निमित्त हो, प्रदेश का कम्पन तो कम्पनरूप ही है,

परन्तु जिस प्रकार का निमत्ति है, उस अपेक्षा से कम्पन को उस प्रकार का योग कहा जाता है। यह योग, आस्रव है। समझे न ? यह नये (कर्म) परमाणु आने में निमित्त है। इस आस्रव को भलीभाँति जानना चाहिए।

'**मिथ्यात्व...**' यह बड़ा आस्रव है। विपरीत मान्यता, विपरीत अभिनिवेश, विपरीत अभिप्राय। सुख जड़ में, सुख पुण्य में, सुख पाप में (हैं)। यह विपरीत मिथ्यात्व, विपरीत अभिप्राय है। प्रतिकूलता में दुःख है... समझ में आया ? यह मिथ्यात्व अभिप्राय है, यह आस्रव है, नये बन्धन का कारण है। इसे भलीभाँति पहिचानना चाहिए।

'**(अविरत)...**' अत्यागभाव। तीन कषाय आदि होते हैं। अन्दर राग की तीव्र आसक्ति है, वह भी आस्रव है। उससे नये आवरण आते हैं। इसमें कर्म की बात नहीं ली है, हाँ ! यह अपने परिणाम, उपयोग उस प्रकार का है, उसे आस्रव कहते हैं। आहा..हा.. ! यह तो फिर निमित्त हो, उसका (ज्ञान करायें) यह तो जड़ की पर्याय का निमित्त है। समझ में आया ? और '**कषाय...**' क्रोध, मान, माया, लोभ – यह कषाय है, वह आस्रव है। जीव की उपयोग प्रवृत्ति है, जीव के उपयोग की प्रवृत्ति है अर्थात् आत्मा के प्रदेश की इस प्रकार की प्रवृत्ति के ये सब परिणाम हैं। '**और प्रमाद...**' प्रमाद होना। कषाय जाने के बाद भी थोड़ा प्रमाद रहता है। वह भी आस्रव है।

यह '**आस्रवसहित आत्मा की प्रवृत्ति...**' देखो !आत्मा की प्रवृत्ति अर्थात् अन्दर उपयोग प्रवृत्ति में जुड़ा, '**उसे आस्रवतत्त्व कहा जाता है।**' इस प्रकार आस्रवतत्त्व को जानना चाहिए। कर्म के कारण आस्रव (होता है) – ऐसा नहीं जानना चाहिए। स्वभाव, वह आस्रव है – ऐसा नहीं है। इस प्रकार से आत्मा के निमित्त के लक्ष्य में जुड़ने से जो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के परिणाम होते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। जैसे छलनी द्वारा पानी आता है न ? ऐसे ही इस आस्रव द्वारा नये कर्म आते हैं। इसलिए इस आस्रवतत्त्व को, जैसा है वैसा पहिचानकर, श्रद्धान करना चाहिए। इस व्यवहार समकित के विषय में यह आता है।

(विशेष कहेंगे)।   (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल १४, शुक्रवार

दि.४-२-१९६६, गाथा ८ से १०, प्रवचन नं.-१७

'छहढाला' (तसरी ढाल की) आठवीं गाथा का भावार्थ। इस सम्यग्दर्शन - व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय छह द्रव्य हैं, उसकी व्याख्या चलती है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन ऐसा होता है - उसका वर्णन करते हैं। समझ में आया ? उसमें अर्थ किया और थोड़ा भावार्थ (लेते हैं)। पहली आकाशद्रव्य की व्याख्या आयी न ? '**सकलद्रव्य को वास जासमें, सो आकाश पिछानो;...**' जो आकाश नामक सर्वव्यापक पदार्थ है, उसमें सब द्रव्य रहे हुए हैं। उसे सम्यक्-व्यवहार सम्यक् में भलीभाँति जानकर श्रद्धान करना चाहिए।

'**भावार्थ :- जिसमें छह द्रव्यों का निवास है, उस स्थान को आकाश कहते हैं।**' नीचे दृष्टान्त दिया है - जैसे पानी में भस्म डाले तो वह समा जाती है। फिर उसमें चीनी डाले वह (भी) समा जाती है; सुई डाले वह (भी) समा जाती है। यह दृष्टान्त हिन्दी में (दिया है) यह सब दृष्टान्त हिन्दी में दिये हैं। यह नीचे उसका कथन है। उसे आकाश मानना चाहिए।

'**जो अपनेआप बदलता है तथा अपनेआप बदलते हुए अन्य द्रव्यों को बदलने में निमित्त है, उसे निश्चय काल कहते हैं।**' कालद्रव्य है, उसके असंख्य प्रदेश है (असंख्य कालाणु हैं)। जैसे कुम्हार के चाक को लोहे की कीली होती है; वैसे जगत के प्राणी को - जड़-चैतन्य को परिणमन में कालद्रव्य का निमित्त है। कुम्हार का चाक चलता है न ? उसमें नीचे कीली निकले न ? कीली होती है न कीली ? यह कालद्रव्य दूसरे द्रव्यों को परिणमन में निमित्त है। परिणमते तो वे स्वयं अपनेआप। इस प्रकार भगवान द्वारा देखे हुए छह द्रव्य नहीं मानते। श्वेताम्बर कालद्रव्य नहीं मानते। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार समकित में छह द्रव्य इस प्रकार है, उसमें कुछ (लोग) काल द्रव्य को मानना चाहिए; नहीं माननेवाले को व्यवहार

समकित में भी भूल है। समझ में आया ? '**रात-दिन, घड़ी, घण्टा आदि को व्यवहारकाल कहा जाता है। इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन पूरा हुआ।**'

अब, आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग – ऐसे पाँच भेद हैं। आस्रव और बन्ध–दोनों में भेद है। क्या है ? कि, '**जीव के मिथ्यात्व-मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम, वह भाव-आस्रव है और उन मलिन भावों में स्निग्धता, वह भावबन्ध है।**' यह जरा भेद डालकर समझाया है। यह आठवीं गाथा (पूरी) हुई। अब नौवीं।

आस्रवत्याग का उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जरा का लक्षण

ये ही आतमको दुःख-कारण तातैं इनको तजिये;
जीवप्रदेश बंधै विधि सों सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं बिधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये।।९।।

अन्वयार्थ :- (ये ही) यह मिथ्यात्वादि ही (आतमको) आत्मा को (दुःखकारण) दुःख का कारण हैं (तातैं) इसलिये (इनको) इन मिथ्यात्वादि को (तजिये) छोड़ देना चाहिए (जीवप्रदेश) आत्मा के प्रदेशो का (वधि सो) कर्मों से (बन्धै) बँधना वह (बंधन) बन्ध (कहलाता है,) (सो) वह (बन्ध) (कबहुँ) कभी (न सजिये) नहीं करना चाहिए। (शम) कषायों का अभाव (और) (दम तै) इन्द्रियों तथा मन को जीतने से (कर्म) कर्म (न आवैं) नहीं आये वह (संवर) संवर तत्त्व है; (ताहि) उस संवर को (आदरिये) ग्रहण करना चाहिए। (तपबल तैं) तप की शक्ति से (विधि) कर्मों का (झरन) एकदेश खिर जाना सो (निरजरा) निर्जरा है। (ताहि) उस निर्जरा को (सदा) सदैव (आचरिये) प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ :- (१) यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख का कारण है, किन्तु पर पदार्थ दुःख का कारण नहीं हैं; इसलिये अपने दोषरूप मिथ्याभावों का अभाव करना चाहिए। स्पर्शों के साथ पुद्‌गलों का बन्ध, रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य-अवगाह वह

पुद्गल-जीवात्मक बन्ध कहा है। (प्र.सार गाथा १७७।) रागपरिणाममात्र ऐसा जो भावबन्ध है वह द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है जो छोड़ने योग्य है।

(२) मिथ्यात्व और क्रोधादि रूप भाव-उन सबको सामान्य रूप से कषाय कहा जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, देहली पृष्ठ ४०) ऐसे कषाय के अभाव को शम कहते हैं। और दम अर्थात् जो ज्ञेय-ज्ञायक, संकर दोष टालकर, इन्द्रियों को जीतकर, ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (पृथक्, परिपूर्ण) आत्मा को जानता है उसे - निश्चयनय में स्थित साधु वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं। (समयसार गाथा ३१)।

स्वभाव-परभाव के भेदज्ञान द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषयों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है - ऐसा जानना उसे इन्द्रिय-दमन कहते हैं। परन्तु आहारादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयरूप बाह्य वस्तुओं के त्यागरूप जो मन्दकषाय है उससे वास्तव में इन्द्रिय-दमन नहीं होता, क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है, इसलिए बन्ध का कारण है - ऐसा समझना।

(३) शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है। प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के आलम्बनानुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है। स्वोन्मुखता के बल से शुभाशुभ इच्छा का निरोध सो तप है। उस तप से निर्जरा होती है।

(४) संवर :- पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तद्नुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं-स्वतः रूक जाये तो द्रव्यसंवर है।

(५) निर्जरा :- अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष से अंशतः शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धि की अंशतः हानि करना सो भाव-निर्जरा है; और उस समय खिरने योग्य कर्मों का अंशतः छूट जाना सो द्रव्यनिर्जरा है। (लघु जैन सि.प्र.पृष्ठ ४५-४६ प्रश्न १२१)

(६) जीव-अजीव को उनके स्वरूप सहित जानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना, आस्रव को जानकर उसे हेयरूप, बन्ध को जानकर उसे अहितरूप, संवर को पहिचानकर

उसे उपादेयरूप तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिए* (मोक्षमार्ग प्र.अ. ९, पृष्ठ ४६९)

'आस्रव त्याग का उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जरा का लक्षण।' देखो ! यह तो अभी नौं तत्त्वों को जैसा है, ऐसा मानना तो व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है। निश्चय में तो आत्मा निर्विकल्प शुद्ध अखण्डानन्द की प्रतीति अनुभव में होना, (वह निश्चयसम्यग्दर्शन है)।

मुमुक्षु :- आत्मा शुद्ध है - ऐसा तो मानता है।

उत्तर :- शुद्ध क्या माने ? धूल में कहाँ से माने ? यह सब व्यवहार, उसे विकल्प में ऐसा होता है। ऐसा व्यवहार न हो, वहाँ निश्चय यथार्थ नहीं होता। निश्चय हो, तब उसे ऐसा व्यवहार होता है - ऐसा सिद्ध करते हैं। आगे बाद करते हैं न ! अबी तो बहुत बात बाकी है।

---

* आस्रव आदि के दृष्टांत :-

(१) आस्रव :- जिस प्रकार किसी नौका में छिद्र हो जाने से उसमें पानी आने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि आस्रव के द्वारा आत्मा में कर्म आने लगते हैं।

(२) बन्ध :- जिस प्रकार छिद्र द्वारा पानी नौका में भर जाता है, उसी प्रकार कर्मपरमाणु आत्मा के प्रदेशों में पहुँचते हैं (एक क्षेत्र में रहते हैं)।

(३) संवर :- जिस प्रकार छिद्र बन्ध करने से नौका में पानी का आना रुक जाता है, उसी प्रकार शुद्धभावरूप गुप्ति आाद के द्वारा आत्मा में कर्मों का आना रुक जाता है।

(४) निर्जरा :- जिस प्रकार नौका में आये हुए पानी में से थोड़ा (किसी बरतन में भरकर) बाहर फैंक दिया जाता है, उसी प्रकार निर्जरा द्वारा थोड़े-कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।

(५) मोक्ष :- जिस प्रकार नौका में आया हुआ सारा पानी निकाल देने से नौका एकदम पानी रहित हो जाती है, उसीप्रकार आत्मा में से समस्त कर्म पृथक् हो जाने से आत्मा की परिपूर्ण शुद्धअवस्था (मोक्षअवस्था) प्रगट हो जाती है अर्थात् आत्मा मुक्त हो जाता है।।९।।

समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप है – ऐसा अन्तर निर्णय अनुभव में सम्यक् प्रतीति होने पर भी, साथ में जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसे सात तत्त्व के वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा, उपादान निमित्त आदि भलीभाँति मानना चाहिए। आगे अभी देव-शास्त्र-गुरु की बात कहेंगे। नौंवी गाथा –

ये ही आतमको दु:ख-कारण तातैं इनको तजिये;
जीवप्रदेश बंधै विधि सों सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं बिधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये।।९।।

यह आस्रव छोड़ने योग्य है – ऐसा इसे मानना चाहिए। प्रत्येक शब्द में... प्रत्येक में अन्तर डाला है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता, व्यवहार आदि की विपरीत मान्यता '**आत्मा को दु:ख का कारण है।**' यह स ब मिथ्यात्व आदि दु:ख के कारण हैं। आस्रव दु:ख का ही कारण है। दु:ख का कारण संयोग नहीं है। समझ में आया ? प्रतिकूलता, शरीर में रोग, निर्धनता और नरक में संयोग का दु:ख... नरक में संयोग है, वह दु:ख नहीं है। यह मिथ्यात्वादि दु:ख के कारण तो इन्हें भगवान ने कहा है। इसके बदले संयोग को दु:ख का कारण माने तो इस आस्रवतत्त्व का इसे पता नहीं है। समझ में आया ?

विपरीत मान्यता और राग-द्वेष के परिणाम, यह दु:ख के कारण हैं; स्वभाव आनन्द का कारण है, यह विभाव दु:ख का कारण है; संयोग दु:ख का कारण नहीं है। नरक का संयोग आया, पशु (गति) में प्रतिकूलता आयी या मनुष्य में बिच्छु काटे, सर्प काटे – यह दु:ख का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... याद नहीं रहता...

उत्तर :- यह क्या कहा ? दो बार कहा न ? दूसरा घोलन हो गया है, इसलिए (यह) याद नहीं रहता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ?

मिथ्याश्रद्धा – विपरीत मान्यता कि यह प्रतिकूलता मुझे दु:ख का कारण है, यह विपरीत मान्यता और राग–द्वेष, वह दु:ख का कारण है। क्या कहा न पहले ? पढ़ा, इसमें है या नहीं ? ऊपर से नहीं, अन्दर से... है ? '**यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दु:ख का कारण है।**' यह कारण है। प्रतिकूल संयोग, शरीर में रोग – पैर चले नहीं – यह दु:ख का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :– जीव को ?

उत्तर :– जीव को। यह क्या जड़ को है ? कहो, समझ में आया ? लड़के प्रतिकूल हो जाएँ, लड़के अलग हो जाएँ, बंटवारा हो जाए, इसलिए दु:ख का कारण है – ऐसा नहीं है, यह यहाँ तो कहते हैं। विपरीत मान्यता (कि) मुझे ऐसा हुआ, मुझे ऐसा हुआ तथा राग और द्वेष के भाव, दु:ख का कारण है। क्यों भाई ! विपरीत मान्यता, (जो शुभभाव है)। वह धर्म है अथवा वह मुझे ठीक है, पाप में मुझे मज़ा आता है – ऐसा मिथ्यात्वभाव दु:ख का कारण है। सर्प काटे, बिच्छु काटे, सिर पर छूरे पड़े... सिर पर से समझे न ? बड़ा पचास–सौ मण का क्या कहलाता है ? कैंची पड़े... सिर पर कोई घन मारे, वह दु:ख का कारण नहीं है। सिर पर कोई घन मारे ऐसे सिर में वह दु:ख का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :– मारे, यह दु:ख का कारण नहीं ?

उत्तर :– नहीं, कौन मारता है ? मारता नहीं इसे छूता भी नहीं। छुरा मारा, यह दु:ख का कारण नहीं है। परन्तु मारा कहाँ है ? छुरा तो वहाँ शरीर के पास घूमता है, इसे छुता कहाँ है ? इसे स्पर्शित है मिथ्याश्रद्धा और राग–द्वेषभाव। वह इसे दु:ख का कारण है। कहो, समझ में आया ? अग्नि में हाथ डाला, वह अग्नि दु:ख का कारण नहीं है। गर्म उबलते हुए पानी और तेल की कड़ाई में मनुष्य को डाला, वह दु:ख का कारण नहीं है; दु:ख का कारण अन्दर में मिथ्याश्रद्धा और राग–द्वेषभाव खड़ा करता है, वह है। मुझे ऐसा हुआ इसे ऐसा हुआ, यह मुझे हुआ – ऐसी मिथ्या मान्यता और राग–द्वेष का भाव करता है, वह दु:ख का कारण है।

मुमुक्षु :– बहुत कठिन...

उत्तर :– परन्तु है या नहीं इसमें ? तुम्हारे हाथ में तो यह (पुस्तक) दी है। समझ में

आया ? क्या कहा ?

'ये ही आतमको दु:ख-कारण-' ये ही आत्मा को दु:ख का कारण है – ऐसा है न ? विपरीत श्रद्धा और राग–द्वेष के परिणाम, हर्ष–शोक के भाव, आस्रव है, वे जीव को दु:ख का कारण है। स्वभाव दु:ख का कारण नहीं है; संयोग दु:ख का कारण नहीं है, परन्तु लड़का अच्छा हुआ हो और फिर समान हिस्सा नहीं दे, सँभाले नहीं तो दु:ख होता है या नहीं ? वह दु:ख का कारण है या नहीं ? कहो, इसमें समझ में आया ?

मुमुक्षु :– लड़का...

उत्तर :– इसे लड़का ही नहीं है परन्तु व्यर्थ में मान बैठा है, मूढ़। लड़का तो दूसरा कहीं का जीव है, वह उसका जीव है; उसके रजकण कहीं के हैं – उसमें तेरा लड़का कहा आया ?

मुमुक्षु :– परन्तु यह राग...

उत्तर :– यह राग मार डालता है। यहीं कहते हैं। यह राग करता है, और दोष निकालता है किसी और का। क्या (कहा) ? राग करता है, द्वेष करता है और दोष निकालता है किसी और का (अन्य का) है। कहते हैं, मूढ़ है। तुझे आस्रवतत्त्व का पता नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– भूल जाते हैं। वह उल्टा रस चढ़ गया है। 'क्षत्रिय का रंग चढ़ा है, उतरता नहीं।' वह नहीं (मिला) था एक बार ? वह रंग ऐसा चढ़ा सवेरे से शाम तक और पूरी जिन्दगी और अनन्तकाल से (चढ़ा हुआ है)। आहा..हा..! दु:ख का कारण कौन हो ? कि जिसमें – आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द की उल्टी अवस्था दु:ख का कारण होती है। प्रतिकूल अवस्था – जड़ की या पर की प्रतिकूल अवस्था दु:ख का कारण कैसे हो ? न्याय समझ में आता है कुछ ? परवस्तु की प्रतिकूलता तो मानी है। प्रतिकूलता क्या ? अपने आनन्द की प्रतिकूलता; आनन्दस्वरूप है, उसकी प्रतिकूलता अर्थात् विपरीतता – ऐसा मिथ्यात्वभाव और राग–द्वेष, यह दु:ख का कारण है। समझ में आया ? नरक के बाह्य संयोग या स्वर्ग के या दरिद्रता के या निर्धनता के, कुँवारेपन के या सन्तानहीनता के या सिर पर पचास मण का भार पड़ा और पैर,

शरीर दब गया... हाय... हाय... अब ? मोटर में... लगता है, लो न ! देखो न ! अभी हुआ न ? कहते हैं, आज रात्रि में ही यहाँ हुआ, एक व्यक्ति मर गया। एक को यहाँ लाये थे। यह दु:ख, मोटर फटी और उस पर पेट्रोल पड़ा, इसलिए दु:ख का कारण है – ऐसा नहीं है।

परवस्तु – परपदार्थ तो भिन्न है। भिन्न है, वह दु:ख का कारण कैसे होगा ? इसमें – इसके अस्तित्व में, इसकी सत्ता में, इसके होनेपने में कुछ हो तो दु:ख का कारण हो। क्या कहा ? जो इसमें नहीं है, वे चीज़े इसे दु:ख का कारण कैसे हो ? इसमें कुछ समझ में आया ? आत्मा में कर्म नहीं, शरीर नहीं; प्रतिकूल–अनुकूल चीज़े आत्मा में नहीं। जो चीज़े आत्मा में नहीं हैं, वे इसे प्रतिकूल कैसे हो ? आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द की उल्टी अवस्था स्वयं अपने अस्तित्व में – सत्ता में करता है। क्या कहा ?

इसके अस्तित्व में होवे तो दु:ख का कारण हो, इसके अस्तित्व में हो तो आनन्द का कारण हो। समझ में आया ? इसके नित्य अस्तित्व में तो अतिन्द्रिय आनन्द है, अत: यह अतीन्द्रिय आनन्द का कारण होता है और इसके अस्तित्व में आनन्द को भूलकर विपरीत श्रद्धा करता है (कि) इस पुण्य से मुझे ठीक पड़ता है, पाप से मज़ा आता है; प्रतिकूल ठीक नही है, अनुकूल ठीक है – ऐसी मान्यता खड़ी करता है। यह मान्यता इसकी सत्ता में खड़ी करता है। सत्ता अर्थात् इसके क्षेत्रमें, इसके भावमें, इसके अस्तित्वमें यह भाव खड़ा करता है। इसके अस्तित्व में भाव खड़ा करता है, वह दु:ख का कारण होता है। पर के अस्तित्व में हो तो इसे दु:ख का कारण कहाँ से होगा ? समझ में आया इसमें ? हैं ! समझ में आया या नहीं ?

स्वयं असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का धाम है औ इसकी वर्तमान अवस्था – यह इसका अस्तित्व द्रव्य–गुण और पर्याय। इसका अस्तित्व इन तीन में है। अब तीन में – अस्तित्व में इसे आनन्द और दु:ख का कारण इसके अस्तित्व में होता है। ठीक है ?

मुमुक्षु :– वस्तु को ग्रहण करता है...

उत्तर :– व्यर्थ (ही) मूढ़ होकर मानता है। मानता है, ग्रहण करता है कब ? ग्रहण कब कर सकता है ? मानता है। यही कहते हैं न ? यह मेरा है, यह मैंने ग्रहण किया है, यह मैंने छोड़ा है – ऐसी मान्यता, इसे दु:ख का कारण है। वस्तु कब पकड़ सकता है ? पर तो पर है।

आथ्मा कहाँ पर को पकड़ता है ? और पर को छोड़ता है ? पर (चीज़) तो पृथक् ही पड़ी है। पर के अस्तित्व में आत्मा का अस्तित्व है ? अपने अस्तित्व में - अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अस्तित्व में दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अस्तित्व नहीं है। कहो, सिद्धान्त बराबर है ? क्या कहा ?

इस आत्मा के चार बोल - द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। द्रव्य अर्थात् गुणपर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् इसकी चौड़ाई; काल अर्थात् वर्तमान अवस्था; भाव अर्थात् इसकी शक्ति। इसके अस्तित्व में इसे आनन्द और दु:ख होता है। इसकी अस्ति में न हो, वह दूसरी चीज़ आनन्द और दु:ख का कारण नहीं हो सकती। समझ में आया ? अब इसे अस्तित्व में - भाव में - द्रव्य में आनन्द है, तो उसका कारण अन्दर पर्याय से करे तो पर्याय में आनन्द आवे। इसके अस्तित्व में - द्रव्य में और भाव में तो आनन्द पड़ा है। इसके क्षेत्र की चौड़ाई में भी उतना चौड़ा आनन्द पड़ा है। ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द जिसके अस्तित्व में है, उसे कारण बनावे तो पर्याय में आनन्द हो और पर का लक्ष्य करके, 'यह मुझे ठीक नहीं है' - ऐसा कारण बनावे तो यह भाव इसे मिथ्यात्व राग-द्वेष दु:ख का कारण है। कहो, भाई ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? ऐ..ई ! लड़को ! इसमें समझ में आता है या नहीं ? आहा..हा.. !

जिसकी सत्ता में जो हो, वह उसे दु:खरूप या सुखरूप होता है - यह सिद्धान्त। जिसमें जो नहीं, वह नहीं; इसमें नहीं, वह नहीं, यह नहीं वह दु:खरूप-सुखरूप कैसे होगा ? इसमें वह है नहीं। आहा..हा.. ! आत्मा में कर्म नहीं। आत्मा में इसे (शरीर को) चोंट लगे, हथियार या अग्नि आत्मा में नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- असाता का उदय,

उत्तर :- असाता का उदय जड़ में रहा है, आत्मा में कहाँ आया है ? समझ में आया या नहीं ? पेन्सिल लगी, उसमें असाध्य हो गया, वह कहाँ हो गया ? कौन हो गया ? वह तो पर्याय में हो गयी थी। अपने अस्तित्व में खाली हुआ था। पर के कारण हुआ था ? पेन्सिल के कारण हुआ था ? क्या कहलाती है वह ? पेन्सिल। कहो, समझ में आया ? कोई भी वस्तु, यथार्थ क्या है - उसका निर्णय करना चाहिए। ऐसा का ऐसा गड़बड़-वाला मानना - ऐसा

नहीं होना चाहिए। उसका निर्णय (यथार्थ चाहिए)। जो चीज़ आत्मा है, उस आत्मा में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार है। द्रव्य अर्थात् तो शुद्ध पूरा शक्ति का पिण्ड; गुण अर्थात् शक्ति; क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई - अवगाहन है, काल अर्थात् उसकी अवस्था। अब इन चार में अवस्था में हो, उसे सुख-दु:ख होता है। नित्य-आनन्द है, वह गुण में है और उसका आश्रय करे तो पर्याय में आनन्द होता है। उस पर्याय में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में तो कुछ है नहीं; पर्याय में पर की प्रतिकूलता देखकर मुझे ऐसा हुआ - ऐसी मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष भाव इसकी अवस्था में हो, वह दु:खरूप और दु:ख का कारण है। कहो, भाई ! निमित्त उड़ गया इसमें। भाई ! अरे...! भगवान ! वह तो धर्मास्तिकायवत् निमित्त है, सुन न ! पूज्यपादस्वामी का 'धर्मास्तिकायवत्' - एक ही शब्द महासिद्धान्त है। सबकी हड्डियाँ एक शब्द में है। तेरी पर्याय से तुझे सुख-दु:ख होता है या दूसरी चीज़, दूसरे की पर्याय (से) तुझे सुख-दु:ख (का कारण) होती है ? समझ में आया ? आहा..हा..!

मुमुक्षु :- यह बात सुनी वहाँ तो..

उत्तर :- फिर बाहर फिर क्या हो गया वापस ? भूल जाने का होगा ? नींद में कोई कहे कि जमु... तो कहता है - हं...! ऐसा हो जाता है। तीन काल में देखा नहीं। लो ! नाम दिया, इस शरीर का नाम दिया। (नाम) किसे कहना ? इस अंगुली को ? इसे ? किसे कहना इसमें ? पूरे को कहना परन्तु पूरा शरीर है। पूरा कहो तो शरीर है, यह कहो तो कान है, यह कहो नाक है, यह कहो तो आँख है, यह कहो तो चमड़ी है। इसमें किसे कहना - जमुभाई ! कल्पित खड़ा किया, (उसे) भी हूँकार में हकार आ जाता है। यह (आत्मा) तो विद्यमान चीज़ है। समझ में आया ? आहा..हा..!

यह सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, वे यह तत्त्व है। इन तत्त्वों को इस प्रकार न माने तो उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन में भूल है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया ? आस्रव अर्थात् मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेषभाव-शुभाशुभभाव, वह दु:ख का कारण है - ऐसा न मानकर... इसलिए तो शब्द लिया। '**ये ही-**' ऐसा शब्द लिया है। है ? '**ये ही आतमको दु:ख कारण -**' ऐसा शब्द लिया है। अर्थात् निश्चय से यही दु:ख का कारण है - प्रतिकूल-अनुकूल संयोग

परसत्तामें रहे हैं, वे दु:खके कारण नहीं है - ऐसा सम्यग्दृष्टि व्यवहार समकित में भी ऐसा मानता है। निश्चय समकित में तो आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, अनुभव और श्रद्धा है। समझ में आया ? आहा..हा..! बहुत विवाद परंतु... समझ में आया ?

मिथ्यात्वादि दु:ख का कारण है, अर्थात् वे दु:खरूप है, उसे दु:ख का कारण कहा है। दु:खरूप ही वह है; फिर दु:ख दूसरा और दु:ख का कारण दूसरा ऐसा है नहीं। यह कारण और रूप - कारण और कार्य स्वयं एक ही है - ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? '**ये ही आतमको दु:ख का कारण -** 'तो दु:खरूप फिर दूसरी चीज़ होगी और दु:ख का कारण दूसरी (चीज) होगी ऐसा है नहीं। आहा..हा..! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड कुण्ड है। उसमें विपरीत श्रद्धा-विपरीत मान्यता और राग-द्वेष, यह स्वयं ही दु:खरूप कहो या दु:ख का कारण कहो। इसलिए यहाँ कारण रखा है। इसलिए दूसरी कोई चीज़ दु:खरूप है - ऐसा तो आता नहीं। दु:खरूप यह है और दु:ख का कारण दूसरा कहलाये, (-ऐसा नहीं है)। भाई ! यह अवस्था दु:खरूप और दु:ख का कारण दूसरा ? तभी यहाँ रखा है कि यही दु:ख का कारण है - ऐसा शब्द रखा है। क्या कहा ?

कोई ऐसा कहे कि आस्रव दु:खरूप है। तब तो फिर उसे ऐसा लगता है कि कारण (दु:खकारण) फिर दूसरा होगा। यहाँ तो कहते हैं - '**ये ही आतमको दु:ख का कारण -**' उनके शब्दो में तो बहुत सूक्ष्मता भरी है, हाँ ! पण्डित है न ! पूर्व के शास्त्रानुसार बात को रखते हैं। समझ में आया ? जमैया लगा, वह दु:ख का कारण नहीं है; उसमें द्वेष हुआ, वह दु:ख का कारण और दु:खरूप है। समझ में आया ? स्त्री-पुत्र प्रतिकूल बोले (कि) बैठ जाओ अब, अबतक बहुत मूर्खता की है, कब तक करनी है ? (ऐसे) स्त्री-पुत्र कहे, (तो) वे शब्द दु:ख का कारण नहीं है; वैसे ही उनका आत्मा और उनका शरीर दु:ख का कारण नहीं है। उस समय 'तिष्ठित हुआ' यह ऐसा करता है, वह ऐसा करता है - वह ऐसा करता है - वह तो परवस्तु है, उसमें तुझे क्या है ? ऐसी मिथ्या मान्यता और राग-द्वेष का भाव, वह दु:खरूप है। कहो, भाई ? यह तो समझ में आता है या नहीं ?

यह तो दो और दो = चार जैसी बात है, परन्तु लोगों को कुछ विचार ही नहीं होता, मंथन

नहीं होता, मनन नहीं होता। ऐसे के ऐसे अन्धेरे-अन्धेरे में गाड़ी हाँकते जाते हैं। खड्डे में पड़ती है या कहाँ पड़ती है – इसका उन्हें कुछ पता नहीं मिलता। आहा..हा..! कहो, इसमें समझ में आया ? कहो, भाई ! यह अच्छा लड़का हुआ, कमाया और इसकी पढ़ाई में पचास हजार खर्च किये, अलग हुआ एकदम... एक पाई नहीं देता, लो ! वह ऊपर से बोले कि क्या है ? तुमने हमें जन्म दिया है ? तुम्हारी रमण की वासना में हमारा जन्म हो गया। क्या है ? कहते हैं, यह दु:ख का कारण नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया ? कारण ? कारण समझ में आया ?

तूने मिथ्याभाव और राग-द्वेष उत्पन्न किये हैं, (वे ही दु:ख के कारण हैं)। यह चीज़ (पर चीज़) कोई दु:ख का कारण नहीं है। ऐसे समय में (दु:ख) नहीं होता ? लड़के ऐसा बोले ? लड़का बोले, वह तो जड़ की पर्याय है। उसका आत्मा है, वह राग करता है, दूसरा करे क्या ? द्वेष करता है। वह तो उसमें रहा। समझ में आया ? तुमने हमें उत्पन्न नहीं किया। हम तो तुम्हारी वासना की वृत्ति में हमारा आत्मा आ गया और हम हमारे कारण से हो गये, तुम्हारे कारण से नहीं। हाय... हाय... ! मार डाला यह तो ! भाई ! ऐसा बोलनेवाला है, हाँ ! व्यर्थ का दृष्टान्त दिया है – ऐसा नहीं है। (ऐसा) बनता है और यह बना हुआ है। यह घर की बात नहीं है। जो कुछ कहा जाता है, वह बनी हुई, सुनी हुई सही कही जाती है। भाई ! तुम तो व्यापार और धन्धे में पूरी जिन्दगी फँस गये, इसलिए तुम्हें पता भी नहीं होगा कि जगत में क्या होता है ?

यह तो हमने ठीक से सुना है। एक लड़के ने उसके पिता से कहा। हाय... हाय..! क्या शुरू हो गए हो ? एक पाई नहीं देंगे। (तुमने) कब दी है ? हमें उत्पन्न कब किया है तुमने ? तुम्हारे लिये किया है। तुम अभी तुम्हारी ममता से कहते हो। भाई ! तुम्हें पता भी नहीं होगा। यह संयोग दु:ख के कारण नहीं हैं। यह तो ऊँचे से ऊँचा अन्तिम दु:ख का दृष्टान्त दिया; यह दु:ख का कारण नहीं है। मूढ़ व्यर्थ में मानता है। ऐ... मुझे ऐसा कहा... परन्तु तू कब उसका पिता था ? और वह कब तेरा पुत्र था ? व्यर्थ में तूने माना और फिर (कहता है कि) ऐसा होता है ? यह तो तूने राग के कारण दु:ख माना। ठीक होगा ? भाई ! क्या होगा यह ?

'इसलिए इन मिथ्यात्वादि भावों को छोड़ देना चाहिए।' देखो ! इन्हें छोड़ना है। प्रतिकूलता आवे और वे बोलते बन्द होवे, 'छोड़ दे' बोलना- ऐसा नहीं। क्या कहा ? तुझे छोड़ देना चाहिए, मिथ्या श्रद्धा और राग-द्वेष के भाव तुझे दु:खरूप है, तूने किये हैं, तुझसे हुए हैं, तुझमें हुए हैं; इसलिए तुझे उन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरा छोड़े या बोलते बन्द हो तो तुझे हर्ष (सुख) आवे... सुन न ! बोलते बन्द हो, वह तो उसके कारण है, परन्तु तुझे क्या है ? समझ में आया या नहीं ? **'इन मिथ्यात्वादि को छोड़ देना चाहिए।'** लडके अच्छे हों, उन्हें सूझे, हाँ ! बापू... बापू..! प्रतिकूलता न होवे और ऐसा कहे, वह भी दु:ख का कारण नहीं। बापूजी... बापूजी...! यह भी सिर पर हाथ फेरते। ऐसे निकलते और हमने देखते न ! यहाँ निकलते न ? सिर पर रखे। यहाँ जाते हों, तब देखते। हमने सब नजरों से देखा है, हाँ ! लड़के बड़े हुए तो समान मानना चाहिए न ! हम पिता है.. ऐसे। तुम मित्र हो गये अब बड़े हुए। अब तुम्हें स्वतन्त्रता की छूट है ऐसे। यहाँ एक बार देखा था। वह सुख का कारण नहीं है। संसारसुख का, हाँ ! वह संसारसुख का कारण नहीं है। कल्पना की कि यह मुझे ठीक है। कल्पना तो राग है। उसे सुख का कारण माना है, वह दु:ख है। प्रतिकूलता होवे... आहा..हा..!

बड़ा राजा हो, रानियां हों, राजपूतानी भी बड़े घर से आयी हो न ? वह भी पाँच-दस लाख का जागीरदार हों, यहाँ पचास लाख का हो। धीरे से कहे, हम राजपूतानी हैं, पता है न ? दरबार ! काली नागिन हो वह। समझ में आया ? भाई ! काली नागिन, हाँ ! ऐसा करके (कहे)। ध्यान रखना, दरबार ! हम भी राजपूतानी हैं, हाँ ! उसमें तो कितना भरा हो ! वहाँ उसे ऐसा (होवे कि) हाय... हाय...! यह ? परन्तु वह तुझे दु:ख का कारण कहाँ है ? तूने माना था कि यह मेरी प्रिया-अर्धांगिनी थी। (तेरी) मान्यता थी। उस मान्यता में तुझे चोट लगी। हें ! यह संसार का सब आलेख ! संसार ऐसा है।

'इन मिथ्यात्वादि को छोड़ देना चाहिए।' है न ऐसा ? छोड़ना इन्हें। तूने विकारीभाव किये हैं। मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष यह तुझे दु:ख का कारण है; इसलिए छोड़ देना चाहिए। उसे छोड़ना चाहिए। वह कैसे छूटे ? यह प्रश्न अभी नहीं है। यहाँ तो अभी साधारण तत्त्व की व्याख्या चलती है न !

'**आत्मा के प्रदेशों का (विधिसों)...**' विधि है न ? विधि अर्थात् कर्म। '**कर्मोसे बंधना, वह बन्ध (कहलाता है)।**' द्रव्यबन्ध की व्याख्या ली है। समझ में आया ? द्रव्यबन्ध की व्याख्या ली है। बहुत जगह बन्ध में द्रव्यबन्ध की ही व्याख्या आती है। आत्मा सर्वत्र आता है। आत्मा में जो रजकण का बन्ध होता है, कर्म का बन्ध (होता है), वह आस्रव से बन्ध होता है। यह बन्ध है, वह कर्म के रजकण एक प्रदेश में होते हैं। '**वह बन्ध कहलाता है।**'

'**यह बन्ध कभी भी नहीं करना चाहिए।**' अर्थात् बन्ध में निमित्तपना नहीं करना चाहिए। इसके बदले बन्ध नहीं करना चाहिए – ऐसा कहा गया है, क्योंकि बन्ध का कारण आस्रव है; इसलिए बन्ध नहीं करना चाहिए, इसका अर्थ कि आस्रव नहीं करना चाहिए, तो बन्ध नहीं होगा। '**वह (बन्ध) (कबहुं)...**' शब्द है न ? '**कबहुं न सजिये-**' अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा...! आत्मा तो अबन्धस्वभावी चैतन्यमूर्ति है। उसके भान द्वारा ऐसे बन्ध को किसी समय भी 'सज' न करना, अर्थात् बाँधना नहीं – नहीं करना चाहिए। यह बन्ध की व्याख्या हुई। इन नौ की व्याख्या 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में आती है न ? अमुक यह है – बन्ध अहित है, निर्जरा हितकारण है, मोक्ष है, वह परमहित है। सब आता है न ? उसी शैली से यहाँ वर्णन किया है।

अब संवर की व्याख्या। '**कषायों का अभाव...**' कषाय में मिथ्यात्वादि सब आ गया। इन्द्रियों का और मन का जीतना। इन्द्रियों और मन की ओर के झुकाव का वापस मोड़ना और कषायों का अभाव। '... **जीतने से कर्म नहीं आवे...**' इससे आवरण नहीं आते। '**वह संवरतत्त्व है...**' कर्म नहीं आवे, वह संवरतत्त्व है – ऐसे द्रव्यसंवर की व्याख्या की है। समझ में आया ? पहले में द्रव्यबन्ध की व्याख्या की थी; उसमें (आस्रव में) भाव आस्रव से बात की थी, भाव आस्रव से। यहाँ भी द्रव्यकर्म अर्थात् द्रव्यसंवर (से बात की है)।

भावसंवर होने पर आत्मा में... यहाँ ऐसा कहा न ? कषायों का अभाव होने पर, अविकारी स्वभाव के आश्रय से कषाय का अभाव होने पर इन्द्रियों की ओर का झुकाव घटने से अतीन्द्रिय की ओर आने पर उसे भाव नहीं होते, इसलिए कर्म नहीं आते। उसमें कर्म नहीं आते, इसलिए यहाँ भावसंवर हुआ। कर्म नहीं आये, वह द्रव्यसंवरतत्त्व है। कहो, समझ में आया ?

'उस संवर को ग्रहण करना...' उस संवर को ग्रहण करना। आस्रव को छोड़ना कहा था न ? आस्रव छोड़ना कहो या संवर ग्रहण करना कहो – दोनों एक बात है। शुद्धस्वरूप का आश्रय करके कषाय और इन्द्रियों का दमन करना अर्थात् दमन होता है, उसे संवर कहते हैं और उससे विरुद्ध को आस्रव (कहते हैं)। आस्रव को छोड़ना और संवर को ग्रहण करना, सब एक ही हुआ। आस्रव का व्यय करना और संवर का उत्पाद करना, संवर उत्पन्न करना। संवर आदर करने योग्य है; आस्रव आदर करने योग्य नहीं है – ऐसा कहा है। देखा ? समझ में आया ? फिर शुभ या अशुभ; शुभ हो या अशुभ हो। पुण्य परिणाम – आस्रव छोड़ने योग्य है – ऐसा कहा है। **'संवर ग्रहण करना चाहिए।'** यह संवर की व्याख्या हुई।

अब, **'तप की शक्ति से कर्मों का (झरना)...'** कर्मों का झरन (कहकर) यहाँ पर से निर्जरा की बात ली है। समझ में आया ? तप की शक्ति अर्थात् आत्मा की शुद्धता के प्रतपन द्वारा... भगवान आत्मा परम शुद्धस्वभाव की एकाग्रता द्वारा प्रतपन होना, उग्रता, आत्मा की अवस्था में शोभा होना, उसके द्वारा... यह भावतप हो गया, भावनिर्जरा हो गई; कर्मों का झरना, वह द्रव्यनिर्जरा हुई। **'एकदेश खिर जाना...'** एकदेश खिर जाना। समझे न ? निर्जरा है न ?

इसमें दृष्टान्त दिया है। है न इसमें ? सब दृष्टान्त दिये हैं, हाँ ! अजीव में कहा है न ? उसमें वर्ण में पाँच-पाँच डाले हैं, देखो ! आकाश है न ? लोकाकाश। एक-एक को स्पर्शना; आँख रखी, उसमें पाँच वर्ण रखे है। समझे न ? यहाँ कषाय का सब रखा है। मीठे में आम रखा है; चटपटे में मिर्च रखी है। यहाँ सब हूँ, एक-एक जो है न ? ये सब रखे हैं, हाँ ! कड़वे में कोई कड़वी चीज़ रखी है; खट्टे में नीबू आदि रखे हैं; गर्म में कोई उष्ण रखा है; ठण्डे में बर्फ रखा लगता है। प्रत्येक में

अलग-अलग चीज़ रखी है। यह सब वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श है, यह जड़ के स्वभाव हैं – ऐसा बताया है। उनसे हटकर और आत्मा में अन्तर अनुभव की दृष्टि द्वारा शुद्धता द्वारा (अन्दर स्थिर होना), वह तप कहलाता है शुद्धता द्वारा तप, हाँ ! उससे कर्मों का झरना, कर्मों का खिरना। यह भी दृष्टान्त दिया है, हाँ !

आस्रवतत्त्व, देखो ! जहाज है न ? जहाज, देखो जहाज ! उसमें पानी आता है, देखो ! पानी आता है – ऐसा दृष्टांत दिया है। फिर इस ओर ऐसा दिया, देखो ! बन्ध तत्त्व। अटकता है, पानी आकर उसमें अटकता है, देखो ! भर जाता है, देखो ! इसे बन्धतत्त्व का दृष्टान्त दिया है। इसमें संवर तत्त्व।

रोका है, देखो ! यहाँ रोका है। नीचे हाथ रखकर पानी आना रोकता है; और यह निर्जरा। थोड़ा पानी खाली करता है, देखो ! ऐसे अन्दर से निकालता है। जहाजमें से थोड़ा-थोड़ा पानी निकालता है। यह पाठ में दृष्टान्त दिया है। साधारण व्यिक्त को ख्याल आवे। हमने नयी छपाई है, उसमें होगा न ? परंतु ऐसा स्पष्ट नहीं छपा है। नयी है न नयी ? है न ? नयी में यह सब है, यह रहा। इसमें है, परन्तु स्पष्ट नहीं है। कहो, इसमें समझ में आया ?

'उस निर्जरा को सर्वदा प्राप्त करनी चाहिए।' लो ! ठीक ! **'उस निर्जरा को सर्वदा प्राप्त करनी चाहिए।'** शुद्धता, उग्रता सर्वदा करनी चाहिए। आत्मा के अखण्ड शुद्धस्वभाव आनन्द की ओर की एकाग्रता बारम्बार करनी चाहिए, उसे निर्जरा कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

'भावार्थ - (१) यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दु:ख का कारण है, किन्तु परपदार्थ दु:ख का कारण नहीं है...' देखो ! है न ? यह स्त्री, पुत्र, निर्धनता, अविवाहितपना, गरीबी - यह दु:ख का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- सुख का कारण तो है न ?

उत्तर :- सुख का कारण फिर कब कहा ? समझ में आया ? यह तो मूढ़ कल्पना से मानता है कि मुझे सुख है। सुख का निमित्त कहा, परन्तु यह माने तब न ? दु:ख माने तो दु:ख का निमित्त कहा जाता है; इसलिए वास्तव में तो यहाँ उपादान को सिद्ध किया है। समझ में आया ? उससे सुख माना तो सुख की कल्पना भी दु:ख है, यह तो उसमें दु:ख का निमित्त हुआ। सुख की कल्पना तेरी है। प्रतिकूलता में दु:ख का कारण तो तेरा है। वह तो उसके अस्तित्व में है; तेरे अस्तित्व में कहाँ है ? भाई ! अद्‌भुत बात। परन्तु यह। लड़का अच्छा हो और ऐसे मीठास लगे। कहते हैं कि उसके कारण मीठास नहीं लगती; इसे स्वयं के राग की मीठास लगती है।

मुमुक्षु :- ... मीठा लगता है...

उत्तर :- ऐसा अर्थात् क्या परन्तु ? परन्तु मीठा कब हो ? यह फिर ठीक कहता है। मीठी कहना किसे ? परवस्तु में कल्पना करके ऐसी दृढ़ आस्था हो गयी है कि मानो यह मीठास है, इसलिए ऐसा होता है; यह प्रतिकूल है, इसलिए ऐसा होता है। ऐसा इसे दृढ़ हो गया है। वहाँ

प्रतिकूल-अनुकूल कहाँ है ? वह तो है वह है। है, बस ! इतना एक है। क्या (है) ? आत्मा है, शरीर है। अब है, उसमें यह अच्छा-ऐसा कहाँ से आया ? वह तो ज्ञेय है। उसकी कल्पना में ऐसी भाषा और ऐसा मान और ऐसा होवे (तो अच्छा) यह तो इसने कल्पना की है, वस्तु में है नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

'**इसलिए अपने दोषरूप मिथ्याभावों का अभाव करना चाहिए।**' दोष स्वयं उत्पन्न करता है, वह भाव को छोड़ना चाहिए। '**स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध...**' तीन बन्ध की व्याख्या करते हैं। 'प्रवचनसार' में है न ? ये परमाणु-परमाणुं एकित्रत हों, उसे द्रव्यबन्ध कहा जाता है। '**रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य-अवगाह...**' रागादि के साथ जीव का बन्ध (अर्थात्) राग के साथ में, यह शुद्ध स्वभाव, राग के साथ में एकत्व हो, वह भावबन्ध; परमाणु-परमाणु रजकण ऐसे स्पर्श से एकत्रित हों, वह द्रव्यबन्ध (है)। आत्मा शुद्धस्वभाव है, वह पुण्य-पाप के विकार से एकत्व हो, वह भावबन्ध है। समझ में आया ? '**अन्योन्य-अवगाह, वह पुद्गल-जीवात्मक बन्ध कहा है।**' जीव और पुद्गल एक प्रदेश में इकट्ठे रहना, वह उभयबन्ध है।

'**राग परिणाममात्र ऐसा जो भावबन्ध है, वह द्रव्यबन्ध का हेतु होने से...**' वस्तुत: तो विकारी परिणाम, वह भावबन्ध है। वह जड़-द्रव्यबन्ध का हेतु होने से '**वही निश्चय बन्ध है, जो छोड़ने योग्य है।**' निश्चय बन्ध छोड़ने (योग्य) है - इस प्रकार पाठ में छोड़ने को कहा है न ? निश्चय बन्ध छूटने से द्रव्यबन्ध नहीं होता।

'**(१) मिथ्यात्व और क्रोधादिक भाव...**' क्रोधादि में मानादि, लोभादि आ गये। '**उन सबको सामान्यरूप से कषाय कहा जाता है।**' इन्हें कषाय कहते हैं। देखो ! 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहा है। मिथ्यात्व को भी कषाय कहते हैं। '**ऐसे कषाय के अभाव को शम कहते हैं।**' लो ! समझ में आया ? शम अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्भाव, उसकी श्रद्धा और शान्ति का नाम शम (है)। वह मिथ्यात्व और कषाय के अभाव से होता है।

'**दम अर्थात् जो ज्ञेय-ज्ञायक का संकर दोष...**' जो (समयसार की) ३१ वीं गाथा में वर्णन किया है। ज्ञेय वस्तु और ज्ञायक आत्मा, उसे '**संकर दोष टालकर...**' अर्थात् दो का

एकपना टालकर '**(इन्द्रियो को) जीतकर, ज्ञान स्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (पृथक् परिपूर्ण) आत्मा को जानता है, उसे निश्चयनय में स्थित साधु वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।**' अर्थात् यहाँ तो दम की व्याख्या (की है।) आत्मा, खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, उसके विषय और जड़ इन्द्रियों से विमुख होकर अतीन्द्रिय स्वभाव में एकत्व हो, उसने इन्द्रियों का दमन किया - ऐसा कहा जाता है। भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड है, एक-एक विषय को जाननेवाली, जो विषय हैं - ऐसे खण्ड-खण्ड का लक्ष्य छोड़कर, अखण्ड ज्ञायक अतीन्द्रिय पर दृष्टि करके और खण्ड-खण्ड इन्द्रियों को जीते, उसने इन्द्रियों को जीता, उसने दम किया, दमन किया - ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? 'समयसार' ३१ वीं गाथा है।

'**स्वभाव-परभाव के भेदज्ञान के बल द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है - ऐसा जानना...**' उसकी व्याख्या है। '**उसे इन्द्रियदमन कहते हैं परन्तु आहारादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयरूप बाह्य वस्तु के त्यागरूप जो मन्द कषाय है, उससे वास्तव में इन्द्रियदमन नहीं होता...**' शरीर, आहारादि या इन्द्रियाँ मन्द होने से इन्द्रियों का दमन नहीं होता। शरीर, आहार, इन्द्रियाँ मन्द होने से कहीं इन्द्रियों का दमन नहीं होता - एक बात; और राग की मन्दता होने से भी इन्द्रियों का दमन नहीं होता - दो बात। क्या कहा ? आहारादि और पाँच इन्द्रियों के विषय, उस बाह्य वस्तु का त्याग अथवा घटना-कम होना, वह दमन नहीं है - एक बात। और उसमें होनेवाली मन्द कषाय भी दमन नहीं है। समझ में आया ? यहाँ संवर लिया है न ?

'**शम-दमतैं जो कर्म न आवै -**' समताभाव और दमन का अर्थ - संयोग छूटे या इन्द्रियाँ कमज़ोर पडी, शरीर कमज़ोर पड़ा या आहार नहीं आया और आहार नहीं लिया - यह दमन नहीं है; यह तो जड़ की पर्याय हुई। उसके सम्बन्ध में कुछ राग की मन्दता की, शुभभाव (हुआ), वह भी इन्द्रियदमन नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- .. न खाना ...

उत्तर :- नहीं, नहीं आहार ऊपर नहीं, वह दमन नहीं - ऐसा कहते हैं। वह तो जड़ की पर्याय है। उसमें दमन क्या करना ? उसमें कहाँ दमन करना है ? शरीर को कमज़ोर करना तो

शरीर की पर्याय है। उसमें आत्मा ने क्या दमन किया ? इन्द्रियाँ कमज़ोर पड़ी, क्षीण हुई – उसमें इसने दमन क्या किया ? वह तो जड़ की पर्याय हुई और उसके सम्बन्ध में कहीं राग की मन्दता की, आहार-पानी का मन्द भाव हुआ, वह कहीं दमन नहीं है; वह तो पुण्यभाव है। समझ में आया ? संवरभाव नहीं है। यहाँ संवरभाव कहना है न ! कपड़ा पहिनते और आधा खुला रखते, पहले नहीं करते थे ?

मुमुक्षु :- ... मीठा नहीं खाये.

उत्तर :- हाँ, मीठा नहीं खाये। दूसरी मीठास होवे तो मीठा नहीं खाना। (-लोग ऐसा कहते हैं) । आहा.. ! मीठे के त्यागी... आहा..हा... ! वास्तविक मीठे के त्यागी अन्दर के।

'**...वास्तव में इन्द्रियदमन नहीं होता क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है; इसलिए बन्ध का कारण है...**' बन्ध का कारण हो, उसे दमन नहीं कहा जाता। जिसमें बन्ध का अभाव हो, उसका नाम संवर है। आस्रव, बन्ध का कारण है न ? आस्रव का अभाव होने का नाम संवर है। कषाय का मन्दपना या शरीर का मन्दपना हो जाना, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाना, वह कहीं दमन नहीं है; दमन तो संवरभाव है। राग की मन्दता और पर से हटकर स्वभावसन्मुख की एकाग्रता से जितना संवरभाव होता है, उसमें बन्ध का कारण रुकता है; इसलिए उसे संवर कहते हैं। समझ में आया ?

'**शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है।**' अब अस्ति से विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। शुद्धात्मा ज्ञायकस्वरूप आत्मा, पूर्णानन्द के आश्रय से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र जो शुद्धपर्याय (प्रकट हो), वह संवर है। '**प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के अवलम्बानुसार...**' अपना चैतन्य भगवान, उसे शुद्धता का जितना अवलम्बन हो, '**उसके अनुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है।**' निमित्त के अनुसार देह की मन्दता, इन्द्रियों का दमन या उसके अनुसार या राग की मन्दता के अनुसार संवर प्रारम्भ नहीं होता। इस तरह से संवर-निर्जरा प्रारम्भ नहीं होती। समझ में आया ?

'क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है।' निमित्त में अन्तर पड़े, या विकार में तीव्र में से मन्द का अन्तर पड़े, वह कहीं शुद्धता का

कारण नहीं है। वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। जिसमें बन्ध रुके, (वह संवर है)। वह तो शुभाशुभभाव रहित हो, तब रुकता है। शुभाशुभभावरहित कब होता है ? कि स्वभाव का आश्रय करके शुद्ध श्रद्धा ज्ञान और शान्त करे, अर्थात् आंशिक स्वभाव की शुद्धि हो, वह संवर-निर्जरा की शुरुआत है। समझ में आया ?

'**स्वसन्मुखता के बल से शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध, वह तप है।**' तप की व्याख्या की है। इच्छा निरध तप: कहलाता है न ? तो इच्छा-निरोध तो नास्ति से हुआ। अस्ति से अपने में और अपने में होना चाहिए न ? शुद्ध पवित्र स्वरूप है, उसके सन्मुख होकर जितनी शुद्धता की उग्रता प्रकट हो, उसे तप कहा जाता है, उस तप से निर्जरा होती है। उपवास आदि तप से निर्जरा-बिर्जरा नहीं होती। परलक्ष्य से जितनी राग की मन्दता की क्रिया होती है, वह सब निर्जराभाव नहीं है; वह त बन्धभाव के कारणरूप आस्रवभाव है। शुद्धस्वभावस्वरूप चैतन्य के आश्रय से जितना शुद्धता का पवित्र भाव प्रकट होता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। वह निर्जरा का कारण अर्थात् शुद्धता बढ़ी। निर्जरा का कारण कहो या निर्जरारूप कहो। समझ में आया ? संवर की व्याख्या आ गयी है।

'**पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना, वह भाव संवर है और तदनुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं-स्वत: रुक जाए सो द्रव्य संवर है।**' यह भाव और द्रव्य (संवर) की व्याख्या की।

'**अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष्य के बल से अंशत: शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की अंशत: हानि करना, वह भाव निर्जरा है...**' शुद्धि बढ़ना। '**और उस समय खिरने योग्य कर्मों का अंशत: छूट जाना, वह द्रव्यनिर्जरा है। (लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, पृष्ठ ६८-६९ प्रश्न १२१)**'

'**जीव-अजीव को उसके स्वरूपसहित जानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना, आस्रव को जानकर उसे हेयरूप मानना...**' यह स्पष्टीकरण किया है। ऊपर जो बात पाठ में की थी न ! (उसका स्पष्टीकरण है)। इसे मोक्षमार्ग प्रकाशक का आधार देकर (स्पष्ट करते हैं)। यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में है। '**जीव-अजीव को उसके स्वरूपसहित...**' स्वरूपसहित, ऐसा। जीव-अजीव द्रव्य, उसका स्वरूप-गुण-स्वभाव; उस '**सहित**

पहिचानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना...' यह जीव-अजीव की मान्यता कहलाता है। '**आस्रव को जानकर उसे हेयरूप जानना...**' इसमें छोड़ने योग्य कहा था न ? पुण्य-पाप के भाव, जो दु:ख के कारण हैं, उन्हे पहिचानकर, उन्हें हेयरूप जानना।

'**बन्ध को जानकर उसे हेयरूप मानना...**' बन्ध को तजना - एसा कहा था। उसे अहितरूप जानना। '**संवर को पहिचानकर उसे उपादेयरूप मानना...**' '**संवर आदरिये**' - ऐसा था न ? इसमें आया था - '**संवर आदरिये।**' '**निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिए।**' आत्मा में जितनी शुद्धि स्वभाव की - शुद्धि की वृद्धि हो, उसे हित का कारण मानना - ऐसा 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में 'टोडरमलजी' ने कहा है। आस्रव का दृष्टान्त नीचे दिया है, वे सब तो आ गये। कहो, समझ में आया ? यह नौवीं गाथा (पूर्ण) हुई।

मोक्ष का लक्षण, व्यवहारसमकित का लक्षण तथा कारण

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव सुखकारी;
इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयादुत सारो;
येहु मान समकितका कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो।।१०।।

अन्वयार्थ :- (सकर कर्मतैं) समस्त कर्मों से (रहित) रहित (थिर) स्थिर-अटल (सुखकारी) अनन्त सुखदायक (अवस्था) स्थिति-पर्याय - सो (शिव) मोक्ष कहलाता है। (इहि विध) इस प्रकार (जो) जो (तत्त्वनको) सात तत्त्वों के भेद सहित (सरधा) श्रद्धा करना सो (व्यवहारी) व्यवहार (समकित) सम्यग्दर्शन है। (जिनेन्द्र) वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी (देव) सच्चे देव (परिग्रह बिन) चौबीस परिग्रह से रहित (गुरु) वीतराग गुरु (तथा) (सारो) सारभूत (दयाजुत) अहिंसामय (धर्म) जैनधर्म (येहु) इन सबको (समकितको) सम्यग्दर्शन का (कारण) निमित्तकारण (मान) जानना चाहिए। सम्यग्दर्शन को उसके (अष्ट) आठ (अवगुत) अंगो सहित (धारो) धारण करना चाहिए।

भावार्थ :- मोक्ष का स्वरूप जानकर उसे अपना परमहित मानना चाहिए। आठ कर्मों

के सर्वथा नाश पूर्वक आत्मा की जो सम्पूर्ण शुद्ध (पर्याय) प्रकट होती है उसे मोक्ष कहते हैं। वह अवस्था अविनाशी तथा अनन्त सुखमय है; - इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना उसे व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) कहते हैं। जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु, तथा जिनेन्द्रप्रणीत अहिंसामय धर्म भी उस व्यवहार सम्यग्दर्शन के कारण है अर्थात् इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है उसे निम्नोक्त आठ अंगो सहित धारण करना चाहिए। व्यवहार समकिती का स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छंद के भावार्थ में समझाया है। निश्चय समकित के बिना मात्र व्यवहार को व्यवहार समकित नहीं कहा जाता॥१०॥

'**मोक्ष का लक्षण...**' अन्तिम रहा। सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा व्यवहार समकित है – ऐसा कहना है न ? ये तत्त्व आ गये – जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। अब इसमें मोक्ष आया। '**व्यवहार समकित का लक्षण...**' सब इकट्ठा किया और देव–गुरु–शास्त्र इसमें रखेंगे न ? '**तथा कारण।**'

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव सुखकारी;
इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयादुत सारो;
येहु मान समकितका कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो॥१०॥

'**सकल कर्मतैं रहित अवस्था...**' अवस्था, हाँ ! सिद्ध–मोक्ष एक अवस्था है – ऐसा सिद्ध करना है। '**इहि विधि जो सरधा तत्त्वनकी सो समकित व्यवहारी।**' लो, यह अभी व्यवहार समकित; (यदि) निश्चय समकित होवे तो। समझ में आया ? आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति अखण्डानन्द है – ऐसे पुण्य–पाप के राग से भिन्न करके आत्मा के अनुभव में प्रतीति (होना), वह निश्चय समकित है। वह निश्चय समकित हो, वहाँ उसे ऐसा व्यवहार समकित होता है। ऐसा व्यवहार (समकित) होना चाहिए – ऐसा कहते हैं।

'**(सकल कर्मतैं) समस्त कर्मों से (रहित)...**' आठों कर्मों से रहित अर्थात् उन्हें अब

वापस जन्म लेना पड़े या अवतार लेना पड़े – ऐसा नहीं होता। सकल कर्मों से रहित '**थिर अर्थात् अविनाशी (सुखकारी) अनन्त सुखदायक...**' नाश न हो – ऐसा सुखदायक '**(हालत-पर्याय), वह मोक्ष कहलाता है।**' देखो ! मोक्ष, आत्मा की एक पर्याय है। मोक्ष गुण नहीं है, द्रव्य नहीं है, आत्मा की पूर्ण अशुद्ध अवस्था, वह संसार; शुद्धता की अपूर्ण अवस्था, वह मोक्ष का मार्ग और पूर्ण शुद्ध अवस्था, वह मोक्ष; यह सब पर्यायें हैं। अभी तो समकित पर्याय में लोगो को विवाद उठता था। समकित गुण है या पर्याय ? तुम पर्याय कहते हो, परन्तु विचारकर लिखो, वह तो गुण है – ऐसा लेख आया था।

यहाँ तो कहते हैं – मोक्ष अवस्था है। मोक्ष, पर्याय है न ? और मोक्षमार्ग क्या है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या है ? गुण है या पर्याय है ? पर्याय है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, सम्यग्ज्ञान पर्याय है, चारित्र पर्याय-अवस्था है; गुण तो त्रिकाल है। गुण प्रकट नहीं होते; प्रकट हो वह पर्याय, टिके वह गुण। समझ में आया ? आहा..हा.. ! अनन्त गुण सहित का टिकना, वह द्रव्य। एक-एक शक्ति-गुण का टिकना, वह गुण और प्रकट होना, वह पर्याय। उत्पाद-व्यय होना वह पर्याय तो प्रकट है। मोक्ष अवस्था कहीं अनादि से प्रकटी हुई नहीं थी। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं – अटल अविनाशी अनन्त सुखदायक की अवस्था को भगवान, मोक्ष कहते हैं, वह मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित से उसे भलीभाँति मानना चाहिए। '**इस प्रकार जो सात तत्त्वों के भेद सहित...**' यह सात भेद है न ? '**श्रद्धा करना, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।**' कहो, समझ में आया ?

'**वीतराग-सर्वज्ञ और हितोपदेशी सच्चे देव...**' उन्हें व्यवहार समकित में श्रद्धना चाहिए। जिनेन्द्रदेव वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान है। ऐसे सर्वज्ञ प्रभु वीतराग हित के उपदेशक हैं। यह अरिहन्तरूप से लिया है। सच्चे देव अकेले सामान्य उपदेश बिना लो तो सिद्ध भी देव में आ जाते हैं। वीतराग-सर्वज्ञ अरिहन्त, वीतराग सर्वज्ञ पूर्णस्वरूप सिद्ध – ये सच्चे देव हैं, उन्हें इस प्रकार मानना, वह व्यवहार समकित का विषय है।

'**(परिग्रह बिन) २४ परिग्रह से रहित वीतराग गुरु...**' दिगम्बर गुरु, जिन्हें २४ प्रकार के परिग्रह में एक (भी) नहीं होता। जिन्हें अन्तर में तीन कषाय का अभाव हुआ, वह भाव

(लिंग); बाह्य में वस्त्र का एक तंतु नहीं होता, वस्त्र का तंतु भी नहीं होता – ऐसे गुरु को जैनदर्शन में निर्ग्रंथ गुरु (कहते हैं)। व्यवहार समकित के कारण में उन्हें – देव-गुरु को गिना गया है। समझ में आया ? जिसके गुरु में भूल है, वस्त्र-पात्र सहित को गुरु माने (उन्हें) निर्ग्रंथ गुरु माने, उन्हें साधु माने, उसे तो अभी व्यवहार समकित में भूल है। समझ में आया ? ए... देवानुप्रिया !

मुनि, दिगम्बर मुनि-आत्मा के तीन कषाय का नाश (हुआ है)। उसमें बाह्य में २४ प्रकार का परिग्रह (नहीं); वस्त्र का एक तंतु, धागा नहीं होता। उसे यहाँ निर्ग्रंथ गुरु, मोक्षमार्ग में समकित के निमित्तकारणरूप से उन्हें कहा गया है। उन्हें इस प्रकार से जानना-मानना चाहिए।

'**(तथा) सारभूत अहिंसामय जैनधर्म...**' लो ! सारभूत अहिंसा ऐसा धर्म, रागरहित आत्मा का धर्म। '**(येहु) इन सबको सम्यग्दर्शन का निमित्तकारण जानना चाहिए।**' समझ में आया ? सम्यग्दर्शन का निमित्तकारण, हाँ ! व्यवहार समकित का निमित्तकारण। '**सम्यग्दर्शन को उसके आठ अंगो सहित धारण करना चाहिए।**' लो ! फिर वह सम्यग्दर्शन (इस प्रकार धारण करना चाहिए)। यह सब व्यवहार समकित कहा। सात तत्त्व की श्रद्धा, सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे अहिंसा धर्म को श्रद्धा करना, वह व्यवहार समकित है। उसे आठ अंग सहित धारण करना चाहिए। (विशेष कहेंगे...) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

तीन काल और तीन लोकमें शुद्ध निश्यनयसे ज्ञान-रस और आनन्द-कन्द प्रभु केवल मैं हूँ। 'ऐसा हूँ' - ऐसी दृष्टि ही आत्म-भावना है । मैं ऐसा हूँ तथा सभी जीव भी भगवत्स्वरूप है, परमात्मस्वरूप सभी जीव हैं, - वस्तुदृष्टिसे सभी जीव ऐसे हैं - ऐसे आत्माका अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और उसमें स्थिर होना चारित्र है । इस प्रकार मन-वचन-कायासे व कृत-कारित-अनुमोदनासे निरंतर याने कि अन्तर डाले बिना - यह भावना भाना कर्तव्य है 'कि समस्त जीव ऐसे (परमात्मस्वरुप) ही हैं' इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य माने तो वह आत्मा का अनादर है । **(परमागमसार - २७०)**

वीर संवत २४९२, माघ कृष्ण १, रविवार

दि.६-२-१९६६, गाथा १० से १२, प्रवचन नं.-१८

यह श्री 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। तीसरी ढाल की १० वीं गाथा का भावार्थ है। इसमें ५८ पृष्ठ है। अर्थ आ गया है, भावार्थ बाकी है। देखो ! क्या कहते हैं ? देखो ! भावार्थ है। इसमें क्या अधिकार है ? कि यह आत्मा है न ? देह से भिन्न आत्मा है। इस आत्मा का अन्तर में वस्तु स्वरूप ऐसा है कि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान और शान्ति भरी है। इस देह में आत्मा है न ? यह देह तो जड़ मिट्टी, जड़ है, धूल है। इसमें रहा हुआ आत्मतत्त्व है, उसमें अनन्त शान्ति, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान, दर्शन और बल भरा हुआ तत्त्व है। इस तत्त्व का अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रकट करके और शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ – ऐसा अन्तर में विश्वास में लाकर उसकी ओर का प्रयत्न करना, जो शुद्धता भरी है, उसे प्रकट करना, इसका नाम आत्मतत्त्व की श्रद्धा, आत्मतत्त्व का मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धता प्रकट हो, उसे मोक्ष कहते हैं। इस दुनिया की शिक्षा से यह अलग शिक्षा है। इसने अनन्त काल में यह नहीं किया है।

यहाँ यह पहली बात आयी है। देखो ! '**मोक्ष का परम स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...**' यह आत्मा है; यह देह तो जड़ है छूट जाती है, उसे पता है कि यह कोई आत्मा नहीं है। अन्दर कर्म जिसे कहते हैं – आठ कर्म; जिसे प्रारब्ध कहते हैं, वह भी जड़ कर्म है, वह कोई आत्मा नहीं है। उसमें पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभरागादि होते हैं, वह तो विकार है। उस विकार से रहित आत्मा की चीज़ शुद्ध है। उसका भान करके उसकी पूर्ण आनन्द अवस्था आत्मा में प्रकट करने को मोक्ष अवस्था कहते हैं। वह जीव को परमहित है। उस हित का कारण वह आनन्द है।

आत्मा के स्वभावमें से शुद्धता प्रकट करके, परम अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा की वर्तमान अवस्था में, स्वभाव में है, वैसी वर्तमान अवस्था में अन्तर्मुख के स्वभाव का ध्यान

करके पूर्णानन्द की प्राप्ति करना, वह जीव का सुखरूप परम ध्येय और हित है। समझ में आया ? इसके बिना सब धूलधाणी है। भाई ! आत्मा अन्दर में सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीन लोक – तीन काल का ज्ञान, आत्मा के ज्ञान में परम ज्ञान होने पर सब ज्ञात हो गया। ऐसे भगवान परमेश्वर ने जो आत्मा और उसकी जो मोक्ष अवस्था देखी, जानी और कही; वह इस जगत को आत्मा की अवस्था परम हितकर है – ऐसा इसे जानना चाहिए।

पुण्य–पाप के भाव आदि हो, वह हितकर नहीं; यह बाह्य की संयोगी चीज़ें – यह धूल–पैसा, स्त्री–पुत्र–परिवार तो पर है; ये कहीं हितकर नहीं है। आत्मा में, आत्मा और जड़ दो पृथक् हैं – ऐसा जानना और जानकर स्वयं अपने लिये प्रयास करना तथा पर को जानकर उससे उदास होना। ऐसा जड़ और आत्मा का दो का ज्ञानपने में ज्ञानपने का यह प्रयोजन है। फिर आत्मा में पुण्य और पाप के भाव शुभ–अशुभभाव हों, वह आस्रव है, वे अहितकर हैं। वे अहितकर है; आदरणीय नहीं, क्योंकि पुण्य और पाप के भाव दु:खरूप है। कठिन बात ! वे दु:खरूप है; संयोग दु:खरूप नहीं, बाहर के पदार्थ दु:खरूप नहीं। आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर, जितना पुण्य और पाप का शुभ और अशुभ का भाव करे, (वह दु:खस्वरूप है)। यह अपने ऊपर आ गया है। समझ में आया ? आस्रव दु:खकारी आया था न ? '**ये ही आतम को दु:खकारण तातैं इनको तजिये;...**' नौंवी गाथा में है न ? '**ये ही आतम को दु:खकारण तातैं इनको तजिये;...**' आत्मा में जो शुभ और अशुभभाव–विकार होता है, वह दु:ख का कारण है, बाह्य चीज़ दु:ख का कारण नहीं है। यह शरीर, पैसा सुख का कारण भी नहीं है और दु:ख का कारण भी नहीं है।

आत्मा में अतन्द्रिय आनन्द (भरा है)। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का भण्डार आत्मा है। उसका इसने अनन्त काल में पता नहीं किया है। उसका पता करके, उसके ज्ञान में जो कुछ विपरीत पुण्य और पाप के भाव होते हैं; उन्हें इसे दु:ख का कारण जानना चाहिए। दु:ख का कारण जाने तो उन्हें छोड़े और आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, उसकी श्रद्धा–ज्ञान करे तो यह संवर (होवे और) वह सुखरूप है, वह उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है (– ऐसा माने) तो उसे शूरू करें और पूर्व के कर्म तथा अशुद्धता को

मिटाने को शुद्धता की एकाग्रता करे, उसे निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा हित का कारण है और पूर्ण शुद्धि परमहित है।

मुमुक्षु :- ऐसी स्पष्ट...

उत्तर :- ऐसी स्पष्ट है न ? देखो न ! अपने आ गया है या नहीं ? भाई ! इन्हें तो पूरा कण्ठस्थ हैं। यह इनके लिए तो शुरू की थी परन्तु पन्द्रह दिन विलंब से आये। यहाँ हमारे तो समय पर चलता है। यह कह गये थे कि इस पर व्याख्यान करना। इन्होंने कहा था या नहीं ? और (दूसरी एक बिहन) कह गयी थी कि 'छहढाला' पर व्याख्यान करे तो ठीक। यहाँ हमारे तो समय हो गया था, इसलिए हमने तो शुरु कर दिया। कहो, समझ में आया इसमें ?

भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द की कतली है। कैसे बैठे ? आनन्द कहीं बाहर में नहीं है। पैसे में, धूल में, स्त्री, पुत्र, परिवार, प्रतिष्ठा, हजीरा... हजीरा अर्थात् यह मकान - इनमें कहीं सुख नहीं है तथा ये सुख का निमित्त भी नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, पूर्णानन्दस्वरूप है। उसका विश्वास करके, पूर्ण मोक्ष की अवस्था प्रकट करना - इसका नाम परम हित है। कहो, समझ में आया ? इस '**मोक्ष का स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...**'

'**आठ कर्मों का सर्वथा नाश होने पूर्वक आत्मा की जो सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था...**' देखो ! अवस्था है। मोक्ष, आत्मा की एक अवस्था है; मोक्ष, वह गुण नहीं है। आत्मा में गुण तो पूर्ण-पूर्ण आनन्द मोक्षस्वरूप ही पड़ा है। शक्तिरूप से आत्मा आनन्द है, आनन्द है, वह तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। उसकी आनन्द अवस्था प्रकट करने का नाम मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष कहीं दूसरी चीज़ नहीं है। इसलिए तो कहा है न, भाई ! इसमें आया था न ! '**सकल कर्म तैं रहित अवस्था...**' यह अवस्था है, गुण नहीं। '**सो शिव, थिर सुखकारी।**' क्या कहा ? आत्मा में कर्म का नाश करके पमरानन्द की पूर्ण अवस्था प्रकट करना, वह स्थिर अर्थात् अविनाशी (मोक्ष अवस्था हैं)। देखो ! '... **अवस्था अविनाशी और अनन्त सुखमय है।**' वही आत्मा की पूर्ण आनन्द अवस्था अविनाशी अर्थात् स्थिर रहनेवाली है। यह सब (बाहर का) स्थिर नहीं है, कहते हैं। संवर-निर्जरा एक समय की अमुक पर्याय है। यह (-मोक्ष अवस्था) तो

फिर ऐसी की ऐसी स्थिर रहेगी। इसलिए 'स्थिर' शब्द का प्रयोग किया है।

पुण्य-पापभाव तो दु:खरूप अस्थिर है, बाह्य संयोग अस्थिर हैं, मोक्ष का मार्ग भी स्थायी नहीं रहता; वह तो मोक्ष हो तब तक थोड़े काल रहता है। मोक्ष हो तो वह ऐसा का ऐसा स्थिर रहता है। आत्मा की शुद्ध आनन्द अवस्था प्रकट होने पर वह अवस्था स्थिर (रहती है)। जब से प्रकट हो, वह अनन्त काल वह अवस्था रहती है। स्थिर और अनन्त सुखमय, फिर है न ? पाठ में ही यह सब है। देखो ! स्थिर सुख... इसका अर्थ यह किया कि '**शिव थिर सुखकारी।**' कल्याणस्वरूप और सुख का कारण तथा अविनाशी। एक मोक्ष अवस्था ही आत्मा को प्रकट करने योग्य है, अन्य कुछ करने योग्य नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना, उसे व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।**' क्योंकि आत्मा अनन्त आनन्दादि स्वरूप महान अनन्त गुण का पुंज है। उसका अन्दर निर्विकल्प-रागरहित-आत्मा के अनुभव की श्रद्धा करना, अनुभव करके श्रद्धा करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा तीर्थंकरदेव त्रिलोकनात परमेश्वर जिनवर ने ऐसा कहा है कि भाई ! अन्दर आत्मा पूर्ण आनन्द और शान्ति का सागर है न ? ऐसे आत्मा की अन्तर्मुख होकर, स्वसन्मुख होकर, पर से विमुख होकर स्वभाव की सन्मुखता की, रागरहित वीतरागी श्रद्धा स्वभाव में करने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सच्चा दर्शन है, वह मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरा रूप है और सुख रूप है। वह निश्चय सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरारूप है, वर्तमान सुखरूप है। समझ में आया ? उसके साथ वह सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा है, यह शुभरागरूप है, विकल्परूप है, निमित्तरूप-निश्चयमोक्षमार्ग को निमित्तरूप है; बन्ध का कारण है; वस्तुत: तो यह दु:खरूप है, तथापि निश्चयसम्यग्दर्शन के भान में इसे ऐसे सात तत्त्वों के भेद का विकल्प सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्वों का (भेदरूप विकल्प होता है)। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्व; अज्ञानियों द्वारा कथित नहीं। परमेश्वर वीतरागदेव, जिसने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल - तीन लोक जाने हैं - ऐसे भगवान द्वारा कथित जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की - सात तत्त्वों

की व्यवहार से अचल श्रद्धा करने का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अर्थात् इसका नाम शुभ उपयोग है। तात्पर्य यह कि निश्चयसम्यग्दर्शन तो शुद्ध परिणति है; जबकि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन, अशुद्ध-शुभरागरूप परिणति-पर्याय है। आहा..! कितना भरा है ! गागर में सागर भर दिया है, लो ! समझ में आया ?

कहते है, '**जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु...**' सन्त '**तथा जिनेन्द्र प्रणीत अहिंसामय धर्म...**' यह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन का कारण अर्थात् तीनों का यथार्थ श्रद्धान, '**इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है।**' यह निश्चय आत्मा का भान, सम्यक् होवे, तब व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा शुभराग उसे होता है। सच्चे सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ वीतरागी दिगम्बर भावलिंगी मुनि और बाह्य नग्न द्रव्यलिंग तथा बाह्य में अहिंसा धर्म जो भगवान परमेश्वर ने कहा कि रागरहित अवस्था-अहिंसा की उत्पत्ति हो, उसे भगवान ने धर्म कहा है। ऐसे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा हो, उसे शुभरागरूप व्यवहार

सम्यग्दर्शन (कहा जाता है)। अशुद्ध परिणति को अनुकूल निमित्त-निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसा अनुकूल निमित्त व्यवहार से देखकर उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- व्यवहार मार्ग अलग...

उत्तर :- यह पूरा अलग ही अर्थ करते हैं। यह 'नियत को हेतु' - निमित्त कहते हैं। व्यवहारनय से निमित्त है, व्यवहारनय से साधन है, व्यवहारनय से कारण है; वस्तुत: वह नहीं है। वे तो व्यवहार से निश्चय होता है - ऐसा कहते हैं - यह बात ही मिथ्या है। निर्विकल्प भगवान आत्मा की श्रद्धा, राग-व्यवहार हो तो उससे होती है - ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए नियत (का) हेतु कहा न ? निमित्त कहा है। नियत का निश्चय का हेतु-कारण (कहा है)। कारण, अर्थात् व्यवहार कारण है। व्यवहार कारण का अर्थ निमित्त की

ऐसी अनुकूलता, सच्ची सम्यग्दर्शन अवस्था हो, वहाँ उसे ऐसे ही व्यवहार के विकल्प शुभरागरूप उसकी अवस्था में होते हैं; इस कारण उसे व्यवहार कहा है; वास्तव में वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की पर्याय है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उस श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है; यह तो शुभराग है। यह सब समझना ! लोगों को व्यापार के कारण, खाने-पीने और पाप करने की आड़ में फुरसत नहीं मिलती। भाई ! फुरसत नहीं मिलती। (यह भाई) अभी लिखते हैं। लिखकर फिर किसे भेजना है ? कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला चैतन्य पिण्ड और आनन्द का रस, पूर्ण सामान्य एक स्वरूप की अन्तर्मुख की सम्यग्दृष्टि हो, उसे निश्चय सत्यदृष्टि कहते हैं; उसे संवर-निर्जरा कहते हैं। उसमें साथ में ऐसा भाव (होता है)। सच्चे सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित सात त्तवों के भेदवाला श्रद्धा भाव व्यवहार से अनुकूल देखकर, पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए ऐसा शुभराग अशुद्धपरिणतिरूप होता है। उसे निमित्तरूप से निश्चय का निमित्तरूप से कारण कहा जाता है। समझ में आया ?

'उसे निम्नोक्त आठ अंगो सहित धारण करना चाहिए। व्यवहार समकिती का स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छन्द के भावार्थ में समझाया है। निश्चय समकित के बिना...' अर्थात् आत्मा (की) निश्चय निर्विकल्प श्रद्धा के भान बिना मात्र 'व्यवहार को व्यवहार समकित नहीं कहा जाता।' माल के बिना थेली किसकी ? ऐसा नहीं कहा जाता। यह थेली किसकी ? चावल की, गेहूँ की या दाल की ? माल डाले तब कहा जाता है कि यह चावल की थेली है। थेली तो थेली है। समझ में आया ? ऐसे निश्चय समकित माल हो तो उसकी निमित्त थेली वह व्यवहार समकित उसे कहा जाता है। ऐसी बात है। समझ में ाया ? माल के बिना थेली कहना किसे ? वह तो अकेली बोरी (थेली) कहलाती है। बोरी, चावल की थेली, दाल की थेली, शक्कर की थेली किसे कहना ? माल के बिना अकेली बोरी कहलाती है। कहो समझ में आया इसमें ? यह तो इन भाई को पूरा कण्ठस्थ है। बहुत वर्षों से इन्हे... है। कितनी बिक्री हुई। इन्हों ने कितनी बेची ? पन्द्रह हजार विक्रय हुई है। अब यह व्याख्यान हुए। समझ में आया ? यह होता है न, यह पूरा व्याख्यान होता है। देखो न ! यह अठारहवां व्याख्यान है।

पोष कृष्ण दशमी, रविवार को शुरु किया है। यह रविवार आया, बाईस दिन हुए न ? उनमें तीन दिन बन्द था। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा, जिसमें माल... माल... माल... भरा है। आत्मा में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन... एक-एक गुण अनन्त-अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त विभुता, अनन्त कार्य हो वैसा कारण, अनन्त कारण हो, वैसी करणरूप शक्ति (पड़ी है)। समझ में आया ? ऐसे अनन्त-अनन्त गुण। परंतु जिसका स्वभाव उसे अन्त क्या कहना ? ऐसा भगवान, वस्तु आत्मा में ऐसा अनन्त स्वभाव भाव अनन्त माल पड़ा है। उसकी अन्तर में पर से विमुख होकर; पर की, रागादि की उपेक्षा करके शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अर्थात् उस पर दृष्टि करके और एकत्वबुद्धि में आत्मा की दृष्टि, अनुभव होना, उसे सच्चा समकित-मोक्ष का साक्षात् कारण - वह स्वयं ही मोक्षमार्ग है। उसमें व्यवहार समकित होता है, साथ में होता अवस्य है; पूर्ण वीतराग न हो, (तब) भगवान द्वारा कथित छह द्रव्य, भगवान परमेश्वर द्वारा कथित नौ तत्त्व, उसके व्यवहार के भेद, उसकी श्रद्धा में शुभराग में आते है; इस कारण उसे व्यवहार कारण के रूप से कहा जाता है; परन्तु निश्चय न हो, उसे व्यवहार किसका ? जहाँ वस्तु ही नहीं है, वहाँ व्यवहार कहना किसे ? यह बात करते है।

मुमुक्षु :- ... व्यवहार...

उत्तर :- व्यवहार, परन्तु किसका व्यवहार ? माल के बिना व्यवहार किसका ? पहली वस्तु ही यह है। चैतन्य ज्ञायकमूर्ति आनन्द के स्पर्श बिना, उसके स्पर्श बिना, वह आये बिना इसे व्यवहार कहे कौन ? जाने कौन ? समझ में आया ? कठिन, सूक्ष्म बात। यह अभी बड़ा विवाद है न ? व्यवहार करते-करते (निश्चय) होगा... प्रथम चौथे, पाँचवे, छठवें, सातवें में व्यवहार फिर आठवें में निश्चय (होता है)। अरे... भगवान ! अरे.. ! स्वयं भगवान आत्मा न हो, (वहाँ) दूसरा व्यवहार आया कहाँ से ? समझ में आया ?

समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;

बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये॥११॥

अन्वयार्थ :- (वसु) आठ (मद) मद का (टारि) त्याग करके, (तिरसठता) तीन प्रकार की मूढता को (निवारि) हटाकर, (षट्) छह (*अनायतन) अनायतनों का (त्यागो) त्याग करना चाहिए। (शंकादिक) शंकादि (वसु) आठ (दोष बिना) दोषों से रहित होकर (संवेगादिक) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में (चित) मन को (पागो) लगाना चाहिए। अब समकित के (अष्ट) आठ (अंग) अंग (अरू) और (पचीसों दोष) पच्चीस दोषों को (संक्षेपैं) संक्षेप में (कहिये) कहा जाता है। क्योंकि (बिन जाने तैं) उन्हें जाने बिना (दोष) दोषों को (किसे) किस प्रकार (तजिये) छोड़े और (गुननको) गुणों को किस प्रकार (गहिये) ग्रहण करें ?

भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन (अधर्मस्थान) और आठ शंकादि दोष :- इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों का त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए। अब समकित के आठ गुणों (अंगो) और पच्चीस दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है; क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है, तथा गुणों को कैसे ग्रणह किया जा सकता है ?॥११॥

अब '**समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण**' कहते हैं। देखो !

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;

शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;

बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये॥११॥

---

* अन + आयतन = अनायतन = धर्म का स्थान न होना।

यह व्यवहार समकित के दोष की बात है, हाँ ! निश्चय तो आत्मा की प्रतीति-सम्यग्दृष्टि हुई, वह निश्चय है। उसके साथ ऐसे दोषरहित व्यवहार सम्यग्दर्शन का विकल्प-शुभराग यथार्थ होना चाहिए। कहो, समझ में आया इसमें ? यह व्यवहार समकित की बात है। निश्चय तो अकेला अभेद है।

'**आठ मद का त्याग करके...**' देखो ! व्यवहार समकित में भी आठ मद का त्याग होता है। जहाँ भगवान आत्मा अखण्ड परिपूर्ण अनन्त-अनन्त केवलज्ञान और आनन्द की खान का सागर जहाँ प्रतीति में लिया, उसे किल्प में अल्पज्ञान या बाहर की चीज़ का अभिमान नहीं होता। समझ में आया ? समकिती चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो, जिसके घर में छियानवें हजार पद्मनी जैसी रानियाँ हों, छह खण्ड का राज्य हो, सोलह हजार देव तो जिसकी सेवा-तैनाती में खड़े हों; सम्यग्दर्शन (सहित हों)। हम इस प्रजा से, दूसरे से इस ऋद्धि से अधिक हैं - ऐसा उसे अभिमान नहीं होता। आहा..हा... !

'**बसु मद...**' आठ मद। स्पष्टीकरण आयेगा। उन्हें टाले। मद नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में पर का मद नहीं होता। आहा..हा... ! जिसने परमेश्वर का पहलू देखा, परमेश्वर भगवान आत्मा के पक्ष में चढ़ा, अब उसे कमी क्या है कि फिर बाहर के किसी अल्पज्ञान में, जाति, कुल में उसे अभिमान हो ? नहीं होता - ऐसा कहते हैं। जिसका मक्खन जैसा कलेजा नरम.. नरम... नरम... नरम... नरम होता है। समझ में आया ? आठ मद को टालकर '**तीन प्रकार की मूढ़ता को हटाकर...**' इसका स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! देव-गुरु और धर्म की मूढ़ता नहीं होती। आत्मा का भान है, वहाँ उसे ऐसे व्यवहार में मूढ़ता नहीं होती। सच्चे सर्वज्ञ परमेश्वर देव के अतिरिक्त दूसरे को व्यवहार में नहीं मानता। व्यवहार में (नहीं मानता); निश्चय में तो आत्मदेव माना है। आहा..हा.. !

निर्ग्रन्थ गुरु दिगम्बर मुनि आत्मज्ञानी-ध्यानी संवर-निर्जरा की उत्कृष्ट अवस्था से परिणमित (होते हैं)। समझ में आया ? उसमें उसे उलझन नहीं होती कि यह गुरु होंगे या दूसरे गुरु होंगे ? निर्ग्रन्थ गुरु मोक्ष के मार्ग में (होते हैं)। उन्हें वह स्वीकार करता है और धर्म-अहिंसा। राग की उत्पत्ति मात्र हिंसा (है।) राग की अनुत्पत्ति वह अहिंसा है। उसमें उसे मूढ़ता नहीं होती कि यह सब ऐसी दया पालते हैं और ऐसा यह करते हैं, उन्हे कुछ अहिंसा का लाभ

होगा या नहीं ? वह ठीक से समझता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! इन तीन मूढ़ता को हटाकर।

'**छह अनायतन...**' धर्म के अस्थान - धर्म के स्थान नहीं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवाले सेवक। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उन्हें माननेवाले उनके सेवक। ये तीन धर्म के अस्थान हैं। ये धर्म में निमित्त भी नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... कुल हो ?

उत्तर :- वह व्यवहार साधारण हो, उसकी बात नहीं है। यह पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ? निश्चय में उसे ऐसा स्पष्ट व्यवहार होता है। सहज कोई साधारण मद आदि दोष हों - वह बात नहीं है। पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ?

(छह अनायतनों का) '**त्याग करना चाहिए।**' समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव को व्यवहार समकित में भी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों को धर्म में निमित्तरूप से भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। (वे) धर्म के स्थान ही नहीं हैं। यह बात जगत को कठोर (लगती) है। उसका व्यवहार ऐसा होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, उसे ऐसा व्यवहार होता है। उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का अनुमोदन नहीं होता; उनके माननेवालों का अनुमोदन नहीं होता। समझ में आया ? अभी तो बहुत परिवर्तन-परिवर्तन हो गया है। लोग मानते हैं और ऐसा होता है।

'**शंकादि आठ दोषों से रहित होकर...**' लो ! समझ में आया ? शंका, कांक्षा आदि है न ? समकित के आठ गुण हैं, उनसे विपरीत आठ दोष हैं; उनका उसे त्याग होता है। '**संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में मन को लगाना चाहिए।**' जिसे विकल्प में भी आत्मा के स्वभाव की तरफ का वेग हो, अकषाय भाव की अनुकम्पा हो। समझ में आया ? और विकल्प हो। अकषाय भाव की अनुकम्पा (होती है)। किसी प्राणी को दु:खी देखकर अनुकम्पा होती है, आस्तिक्यता होती है - यह सब व्यवहार है, हाँ ! प्रशम है और कषाय की मन्दता है। उसमें उसे चित्त को लगाना चाहिए।

'**अब समकित के आठ अंग और जो पच्चीस दोष हैं, उन्हें संक्षेप में कहा जाता है,**

क्योंकि (बिन जानेतैं) उन्हें जाने बिना दोषों को किस प्रकार छोड़े...' जाने बिना, यह दोष है – यह सर्प है या बिच्छु है – यह जाने बिना किस प्रकार छोड़ना ? – इसी प्रकार दोष को जाने बिना दोष छूटेंगे किस प्रकार ? **'और गुणों को किस प्रकार ग्रहण करे ?'** देखो ! ग्रहण–त्याग है न ? ग्रहण–त्याग है न ? विकल्प है अवश्य न ? दोष को जाने बिना छोड़ना क्या ? और गुणों को जाने बिना गुण ग्रहण करना क्या ? अन्दर में व्यवहार समकित की बात है न ? निश्चय स्वरूप में तो कुछ ग्रहण–त्याग है नहीं। यह तो (जिसे) अखण्ड ज्ञानमूर्ति चिदानन्द की अन्तर प्रतीति, अनुभव हो, उसे ग्रहण–त्याग नहीं होता, वह तो विकल्प रहित बात है। इस व्यवहार समकित में ऐसा विकल्प होता है कि ऐसे दोष छोड़ना चाहिए और ऐसे गुण ग्रहण करना चाहिए – ऐसा भाव व्यवहार समकित में होता है।

'भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन...' अन–आयतन। आयतन अर्थात् स्थान–घर होता है। अ अर्थात् नहीं। वह धर्म का घर नहीं, धर्म का स्थान नहीं। **'और आठ शंकादि दोष - इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों को त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए।'** पाठ में था न ? **'चित्त पागो।'** है न ? **'संवेगादिक चित्त पागो। अब समकित के आठ गुण (अंगो)...'** नि:शंक आदि **'और पच्चीस दोषों का वर्णन किया जाता है, क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है तथा गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?'** लो ! बारहवीं गाथा।

समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोषों का लक्षण

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;

इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

अन्वयार्थ :- १ - (जिन वचमें) सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों में (शंका) संशय-सन्देह (न धारण) (धारण नहीं करना) (सो निःशंकित अंग है); २ - (वृष) धर्म को (धार) धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा (भानै) न करे (सो निःकांक्षित अंग है); ३ - (मुनि-तन) मुनियों के शरीरादि (मलिन) मैले (देख) देखकर (न चिनावै) धृणा न करना (सो निर्विचिकित्सा अंग है) ४ - (तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों को (पिछानै) पहिचान रखे (सो अमूढ़ दृष्टि अंग है); ५ - (निजगुण) अपने गुणों को (अरु) और (पर औगुण) दूसरे के अवगुणों को (ढांके) छिपाये (वा) तथा (निजधर्म) अपने आत्मधर्म को (बढ़ावै) बढ़ाये अर्थात् निर्मल बनाए (सो उपगूहन अंग है); ६ - (कामादिक कर) काम-विकारादि के कारण (वृषतैं) धर्म से (चिगते) च्युत होते हुए (निज-परको) अपने को तथा पर को (सु दिढ़ावै) उसमें पुनः दृढ करे (सो स्थितिकरण अंग है।) ७ - (धर्मी सों) अपने साधर्मीजनों से (गौ-वच्छ-प्रीति सम) बछड़े पर गाय की प्रीति समान (कर) प्रेम रखना (सो वात्सल्य अंग है) और (जिनधर्म) जैनधर्म की (दिपावै) शोभा में वृद्धि करना (सो प्रभावना अंग है)। (इन गुणतैं) इन (आठ) गुणों से (विपरीत) उल्टे (वसु) आठ (दोष) दोष हैं, (तिनको) उन्हें (सतत) हंमेशा (खिपावे) दूर करना चाहिए।

भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है, - इस प्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना सो निःशंकित अंग कहलाता है।

टिप्पणी :- अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते; किन्तु जिसप्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दुःख सहन करता है, उसीप्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थ अवस्था में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिये उन्हें निःशंकित और निःकांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं

आती।

(२) धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा न करना उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं।

(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर धृणा न करना उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।

(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं तथा अनायतनो में न फँसना वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

(५) अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणों को तथा दूसरे की निंदा करानेवाले दोषों को ढकना और आत्मधर्म को बढाना (निर्मल रखना) सो उपगूहन अंग है।

टिप्पणी :- उपगूहन का दूसरा नम 'उपबृहण' भी जिनागम में आता है; जिससे आत्मधर्म में वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है। श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के २७ वें श्लोक में भी यही कहा है :-

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृहगुणार्थम्।।२७।।

(६) काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।

(७) अपने साधर्मी जन पर बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना सो वात्सल्य अंग है।

(८) अज्ञान-अन्धकार को दूर करके विद्या-बल-बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना वह प्रभावना अंग है।

इन अंगो (गुणों) से विपरीत १-शंका, २-कांक्षा, ३-विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, ५-अनुपगूहन, ६-अस्थितिकरण, ७-अवात्सल्य और ८-अप्रभावना - यह समकित के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए। (१२-१३ पूर्वार्द्ध)

'समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोष...' यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हाँ ! निश्चय में समकित में भेद नहीं है। यह तो भेदवाली श्रद्धा में ऐसे भेद-दोष हों उन्हें छोड़ना चाहिए। नहीं होना चाहिए।

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

'सर्वज्ञदेव के कथित तत्त्वों में संशय-संदेह धारण नहीं करना...' लो ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संदेह अर्थात् क्या ?

उत्तर :- संदेह नहीं करना कि ऐसा होगा या नहीं ? भगवान के कहे तत्त्व ऐसे होंगे या नहीं ?

मुमुक्षु :- ऐसे के ऐसे मान लेना ?

उत्तर :- हाँ, समझकर ऐसे के ऐसे मान लेना। समझने के लिए आशंका होती है, परन्तु इन भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनवरदेव एक समय में त्रिकाल (के ज्ञाता) परमेश्वर ने जो कहा, उसमें उसे शंका नहीं होती। सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीन काल - तीन लोक जाने हैं। समझ में आता है ? बाहर की बात अभी यह सब चन्द्र-फन्द्र का आता है, वह सब गौण कर डाले, उसमें कुछ दूसरा होगा ? उसमें शंका नहीं करे। समझ में आया ? अभी तो बहुत धमाल चली है न ? हमें पक्रित को पूछना पड़ा था। कितना लम्बा कहे और कितना कहे ? क्या कहते है ? उसके

साथ कुछ मेल नहीं है।

'सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्वों में...' भगवान के द्वारा कथित छह द्रव्य, परमेश्वर द्वारा कथित छह द्रव्य अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय (एक) अधर्मास्तिकाय और आकाश – इनके अन्तरभेद के रूप में नव तत्त्व, यह भगवान ने कहे हैं। इनमें उसे सदेह नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञपद आत्मा ही प्रतीति में आया है, उसे दूसरे सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व, उसके ज्ञान में भले प्रत्यक्ष न भासे, परन्तु उनकी शंका का स्थान नहीं होता। समझ में आया ? **'(निःशंकित अंग है)।'** इसका नाम निःशंकित अंग है – समकित का पहला व्यवहार अंग है। समझ में आया ? व्यवहार की बात है, हाँ ! निश्चय के आये हुए शास्त्र में, वहाँ 'समयसार' में। वहाँ आठ निश्चय (अंग) आये हैं, आत्मा के अन्दर में। यह तो जिनवचन में शब्द पड़ा है न ? परवचन/परवस्तु ली है न ? आत्मा में अन्दर निःसंदेह, निःशंक हो जाना। वहाँ 'समयसार' में यह बात है, हाँ !

(दूसरा) निःकांक्षित अंग है। उसे कांक्षा–इच्छा नहीं होती। शंका नहीं होती। समझ में आया ? निःशंक... निःशंक। माँ की गोद में पड़ा हो, उसे शंका नहीं होती है। क्यों होगी ? कोई मारने आयेगा तो मुझे बचायेगी या नहीं बचायेगी ? सर्वज्ञ की वाणी, परमात्मा ने कहा है, बहुत प्रकार का गंभीर तत्त्व है, गहरा है; बहुत अपेक्षाओं वाला है – ऐसा जानकर उसमें शंका नहीं करता। परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में परमेश्वर ने तीन काल – तीन लोक प्रत्यक्ष वीतराग भाव से देखा है। समझ में आया कुछ ? ऐसे वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों को पहिचानना तो सही ? समझ में आता है न ? पहिचानकर शंका नहीं करना। निःशंक रूप से परमेश्वर कहते हैं, उसे आत्मा के भानसहित में व्यवहार में मानना। समझ में आया ?

'निःकांक्ष धर्म को धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करे...' देखो ! सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव, व्यवहार धर्म में भी धर्म को धारण करके भवसुख की वांछा (नहीं करता)। समझ में आया ? (उसे) भव सुख (की) वांछा नहीं होती। देखो ! **'वृष, भव-सुख वांछा भानै;...'** भव के सुख की वांछा का नाश करे। देखो ! आहा..हा... !

भवसुख वांछा.. भवसुख की वांछा, ऐसा। जहाँ आत्मा के आनन्द की प्रतीति और भान हुआ है – ऐसा जीव व्यवहार में भी भवसुख की वांछा, संसार–सुख की इच्छा नहीं करता। कहो !

मुमुक्षु :– धर्म करने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :– धर्म करने का प्रयोजन अन्दर शुद्धता प्रकट करना वह (है)। धर्म करने का प्रयोजन स्त्री, पुत्र मिलना यह है ? धर्म करे तो सुखी होगा। पुत्र और पैसा और धूल मिले वह... ? मिलती कब है ? इसके पास तो ममता मिलती है।

यहाँ तो कहते हैं, भव की इच्छा में भव में सुख ही नहीं है। उसकी वांछा ही नहीं होती। देखो ! चारों गतियों में दु:ख में है, उसके बदले सुख की इच्छा करे – स्वर्ग में जाऊँ, देव होऊँ, ऐसा करुँ – ऐसी वांछा भानै – नष्ट करे। यह वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! समझ में आया ? भले उसे पुण्य भाव हो जाए और स्वर्गादि मिले परन्तु उसकी वांछा नहीं है। समझ में आया ? यहाँ तो जहाँ–तहां मन्नत में भगवान के नाम से भगवान को मानना है – लड़का होगा तो ऐसा चढ़ाऊँगा, अमुक होगा तो ऐसा करूँगा, केसर चढ़ाऊँगा, बहुत केसर... बालक होगा तो केसर चढ़ाऊँगा। करोड़ रूपयेवाले को लाख का केशर चढाना होवे तो क्या ? धूल में भी नहीं। महा शंकावाला है, कहते हैं। उसे आत्मा का भान नहीं है। वीतरागदेव का धर्म कैसा है ? उसका उसे पता नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? लो ! यहाँ मांगलिक सुने तो स्वस्थ रहेंगे; विवाह किया है, वे ऐसे के ऐसे अच्छे रहेंगे, ऐसे रहेंगे, वैसे रहेंगे।

मुमुक्षु :– परन्तु वह मांगलिक सुने किसलिए ?

उत्तर :– वह तो शुभभाव के लिये है। एक शुभभाव होता है। शुभभाव, बस ! उसमें ऐसी वांछा नहीं होती कि नवदंपति सब अच्छा रहे, अपना सब सुख ठीक रहे – ऐसी समकिती को व्यवहार समकित में भी भव के सुख की वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! यह तो कितने सुरधन और माता और .. तावड़ी... तावड़ी है। तावड़ी आती है, मुफ्त में शब्द नहीं आता। हजारों तावड़ी, तावड़ी, माता है, वहाँ हजारों तावड़िया पड़ी होती है। देवी के पास। तावड़ी मानते है, मूर्ख..! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? भाई ! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? हर गाँव में (मूर्ख) पड़े होते हैं।

मुमुक्षु :- नयी या पुरानी ?

उत्तर :- नयी, उसे नयी चढ़ाते हैं। हजारों पड़ी है, रास्ते में हजारो (पड़ी है)। किस जगह है ? कुछ पता है ? कहीं आता है। यहाँ तो बहुत घूमे है न ! हजारों तावड़ियों के ढेर। ऐसे आते है, ऐसे। कितनी तावड़ियों के ढेर हाँ ! पचास-पचास हजारों तावड़ियों के ऐसे बड़े ढेर के ढेर (पड़े होते हैं)। दुनिया को क्या है ? रोटियों के भिखारी..., तावड़िया चढ़ाएँगे तो अपने को रोटी-बोटी ठीक से मिलेगी। भिखारी है।

वीतराग परमेश्वर को माननेवाले सर्वज्ञदेव को माननेवाले को ऐसी वांछा नहीं होती। समझ में आया ? आहा..हा... ! कहा नहीं था ? हम (संवत्) २००६ में 'सरा.. सरा' गये थे। 'सरा' में उपाश्रय में उतरे थे, लोगों को प्रेम तो था न ! भले बदल डाला, परन्तु सबको पूर्व का प्रेम था न ! ढाल-बैंण्ड लाकर सामने अगवानी की, उपाश्रय में उतरे, हाँ ! नाम बड़ा इसलिए लोग उपाश्रय में तो समाते नहीं थे; बड़ी पाठशाला थी, बहुत लोग एकत्रित हुए थे। (वहाँ से) वापस लोटे, उनका एक व्यक्ति प्रमुख है। (वह कहने लगा), माता है, दो हजार रुपये देती है, उसे मांगलिक सुनाओ। मैंने कहा - कोई वृद्ध... सेठानी होगी। बारह महीने दो हजार देती होगी, लाओ न मांगलिक सुनायें कहाँ इन्कार करुं। व्याख्यान बहुत दूर था। इस किनारे नदी और उस किनारे उपाश्रय; इसलिए बीच में आता था। अपने को पता नहीं, जब वहाँ आये तो मेलड़ी माता। मेलड़ी माता सत्य है, अन्दर गये, मैंने कहा अपने को तो अब जरुर देखना। अन्दर गये तो उसके लकड़ी के होते है न ? उसके उपर हाथ रखा। ऊपर हाथ रखा। महराज ! इसे मांगलिक सुनाओ। उसे ऐसा कि महाराज का मांगलिक हो तो दो हजार के पाँच हजार हो जाएँ। महाराज का मांगलिक अलग प्रकार का है, परन्तु मूर्ख यह क्या है परन्तु यह ? यह जैन में नहीं होता, कहा। ऐसी लकड़ी को मांगलिक सुनाना, किसे सुनाना इसमें ?

मुमुक्षु :- मेलड़ी माता के स्थान में ?

उत्तर :- हाँ, उसके स्थान में बड़ा मकान है। 'दोशी परिवार' में उसे मानते हैं। स्थानकवासी, मेलड़ी माता को मानते हैं, उसे धूनते हैं, उसे मानते हैं। प्रौषध करनेवाले, सामायिक करनेवाले... उनकी कुलदेवी, उन्हें मेरा विश्वास था न ! महाराज का मांगलिक

(अर्थात्) आहा..हा...! उन लोगों को देखो न कितना है ! भले सम्प्रदाय छोड़ दिया परन्तु उसकी महिमा तो अपार लगती है। इसलिए महाराज मांगलिक सुनाये तो सुनेंगे... परन्तु किसे सुनाना ? बापा ! अरे..! ऊपर से देव उतरे तो धर्मी जीव उन्हें नहीं चाहता। क्या बोलते हो ? मैंने उन्हें ऐसा कहा, हाँ ! देव ऊपर से उतरे और कहे कि तुम्हें यह दूँ, क्या बात (करते) है ? सुने फिर हाँ ! ऐसा नहीं कि महाराज झूठ कहते हैं। द्वेष नहीं, अरुचि नहीं। रात्रि में वापस एकत्रित हुए तब कहा - महाराज ! ऐसा हमें पता नहीं, हाँ ! ऐसा हमें पता नहीं, बापू ! धर्म दूसरी बात है, बापा ! यह सामायिक, प्रौषध करनेवाले जैन ऐसी मेलड़ियों को मानते हैं। हम धर्मी है, बापा ! यह तो तू धर्म को लजाता है। परन्तु वस्तु का पता नहीं है। यह तो निश्चय के बिना भी व्यवहार का ठिकाना नहीं है। देव ऊपर से उतरे तो भी तू क्या कर सकता है ? मेरे पुण्य के बिना पाई मिले - ऐसा नहीं है और असाता का उदय होवे तो तू इन्द्र आवे तो तीन काल में रोक सके - ऐसा नहीं है। मेरी शान्ति और प्रतीति तो मेरे पास है। मुझे क्या करना है देव का ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- देव होवे तो रूपये दे।

उत्तर :- धूल (भी) रूपये नहीं देता। अभी कहा न ? फिर भी यह तो बेचारा स्पष्ट कहता है। 'राजकोट' में है न ? (एक भाई की) बहु के पास देव आता है, कोई देवी आती है, परन्तु नाम स्पष्ट नहीं कहती। अपने (एक भाई: है न ? उनका एक मुनीम है। एक देवी आती है। सो। दौ सौ, तीन सो रूपये छोड़ जाती है। वैसे दिखायी नहीं देती। अभी तक पन्द्र-सोलह हजार रुपये हुए हैं। ऐसा कह जाती है कि तीनसो पड़े हैं, दो सो पड़े हैं; इसलिए उन्हें उठाकर फिर बैंक में जमा कर आवे, फिर वह नहीं ले जाती। सोलह हजार हुए हैं, अभी यहाँ आये थे, तब कहते थे कि सोलह हजार हुए हैं, परन्तु वह स्पष्ट कहते है कि देखो ! हम तो दिगम्बर जैन हैं और परमेश्वर को माननेवाले हैं; हम (अन्य) किसीको नहीं मानते, तू पैसे रख तो भी हम नहीं मानते - ऐसा कहते हैं। वह पूछे - कौन है तू ? तो बोलते हैं, अम्बाजी। अम्बाजी (न हो) परन्तु कोई पूर्व का प्रेम होता है। पैसा छोड़ जाती है, दो सौ, पचास, सो, तीन सो, पाँच सो। गद्दे में पाँच सो हैं, देखो ! ऐसा कहे (और निकले)। अभी तक सोलह हजार हुए हैं। बैंक में रखे हैं। वह कहते हैं, एक बार पैसे रखे और मैंने नहीं लिये तो ले गयी, इसलिए रखते ही

साथ ले लूं। बैंक में रख आऊँ, परन्तु स्पष्ट बात करती है, हम मानते नहीं, हाँ ! तेरे पैर नहीं पड़ते – ऐसा कहते हैं, भाई ! हाँ ! हम किसीके पैर नहीं पड़ते, वीतराग परमेश्वर के अलावा; वीतरागदेव के गुरु–सन्त और परमात्मा के अलावा हम किसी के पैर नहीं पड़ते। तू कौन है ? कहे, तो भी हम पैर पड़नेवाले नहीं हैं। यों पैसेवाले हैं, वैसे अभी साधारण नौकरी करते हैं। उनकी लड़की 'भोपाल' में है। अरे..! देव होवे तो भी क्या ? क्या दे देगा हमें ? धर्मी को, जिसे आत्मा की श्रद्धा है...

मुमुक्षु :– नगद दे...

उत्तर :– परन्तु नगद देकर आत्मा को क्या हुआ ? उसने क्या किया ? वह तो पुण्य था। पुण्य होवे तो वह आता है। इसके पुण्य बिना वह आता नहीं। तीनकाल में आ नहीं सकता। यहाँ पुण्य होवे तो आता है। (हमें) पुण्य भी नहीं चाहिए तो फिर तेरे पैसे हमें कहाँ चाहिए है ? धर्मी की ऐसी श्रद्धा अन्दर होती है। यह तो लालापेठा ठिकाने बिना के। ऐसा कहते है, भगवान को माननेवाले और माने ऐसे ठिकाने बिना के हो उन्हे, आहा..हा... ! आदर करते हैं, हाँ ! प्रेम से, घर ले गये। महाराज ! फिर से पधारना – ऐसा कहते। बेचारें भले भोले लोग। यह वीतराग का मार्ग क्या है और पमरेश्वर ने आत्मा क्या कहा ? आत्मा। उसका पता नहीं मिलता, उसे व्यवहार धर्म का तो ठिकाना नहीं मिलता। भाई !

इस (भाई के) पैसे ले गये। नहीं कहा ? चार हजार रुपये गये हैं। कितने ? चालीस हजार। यह परदावाला नहीं ? यह कहे कि, मैंने मकान लिया, वह शंकास्पद था परन्तु मैंने तो लिया, परन्तु माल चला जाता है। अलमारी में माल भरा हो, वह चला जाता है। रोटी, दाल, चावल किये हो वह चला जाए। अलमारी में, वह क्या कहलाता है लोहे का ? स्टील के बर्तन तीन–तीन हजार के भरे हों, वे चले जाते हैं। चालीस हजार का गया। बाद में मकान बेच दिया। क्या है यह कुछ पता नहीं, कुछ पता नहीं चलता; चला जाता है – यह सत्य है। जिसने मकान लिया, उसे कुछ नहीं होता, उसे कुछ जाता नहीं; इसलिए पाप का उदय हो, उसका जाता है। इसमें दूसरा कौन करे ? व्यर्थ का भ्रम करता है। यह बात सत्य है, इसके चालीस हजार गये हैं, हाँ ! यह कहता था। समझ में आया ?

धर्मी जीव, पर की कांक्षा करता ही नहीं। ऐसा रोग मिट जाए तो इसे मानूँ; इसका ऐसा होवे तो मानूँ – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है। व्यवहार धर्म में निश्चय समकिती को ऐसा न होवे तो बेवजह व्यवहार धर्मवाले को होता नहीं। निश्चय के बिना भी व्यवहार धर्मवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती समझ में आया ?

'**(भव-सुख-वांछा)**...' देखो ! यहाँ तो पूरी गति की ही बात की है। देव के सुख की ही इच्छा नहीं। देव के सुख की... यहाँ के वर्तमान की पैसे की (बात) तो कहाँ रही ? ऐसी वांछा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार में नहीं होती। आहा..हा... ! बहुत बदल गया, बहुत मान्यता चलती है न ? महावीरजी में चलती है न ? भाई ! महावीरजी में, पदमपुरी.. लोग धुने और वह जाए। यह जैन के नाम से वीतराग परमेश्वर में ऐसे वाड़ा (सम्प्रदाय) चलते हैं। परमेश्वर, जिन्हें सौ इन्द्र तो पूजते हैं। जिनके जन्म के पहले माता के पेट को साफ करने इन्द्र आते हैं – ऐसे जो भगवान, ऐसे तीर्थंकर उन्हें जब सर्वज्ञपना हुआ और जब (केवल) ज्ञान हुआ और उपदेश किया – ऐसे परमेश्वर को माननेवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती। देखो ! भव सुख की वांछा कही है, हाँ !

'**मुनियों के शरीर इत्यादि मलिन देखकर**...' इत्यादि कहा है। '**(मुनि तन)**' ... सच्चे दिगम्बर मुनि होते हैं। उन्हें आत्मध्यान, ज्ञान, आनन्द का अन्दर अनुभव होता है। शरीर में नहाना-धोना नहीं होता; मलिन शरीर भी हो परन्तु धर्मी को उसकी मलिनता देखकर घृणा नहीं करना... ग्लानि नहीं होती। शरीर की स्थिति ऐसी है। शरीर अशुचि से भरा हुआ है। मुनि तो आत्मा की देखभाल करनेवाले हैं, उन्हें कहीं शरीर की देखभाल नहीं होती। इसी तरह कोई विष्टा का ढ़ेर देखे, सड़ा हुआ कुत्ता-बिल्ली देखे तो घृणा नहीं आती। वह तो परमाणुओं की पर्याय है, उसमें किसकी ग्लानि करनी ? समझ में आया ? शरीर सड़ता है न ? बड़ा भाठा होता है न, वह क्या कहलाता है ? फोड़ा... फोड़ा... फोड़ा दुर्गन्धित होता है, सड़ता है... परन्तु वह तो परमाणुओं की पर्याय है। उसे ऐसा देखकर घृणा-ग्लानि न करे। समझ में आया ?

एक सेठ को ऐसा फोड़ा हुआ... ऐसी गन्ध दे। किस प्रकार खाना ? शेरो करे, एकदम

उतारे। वरना सड़ गया इसलिए इतनी गन्ध मारे। एकदम शेरो करके मुँह में डाल दे, वरना उल्टी होजाए। यह शरीर की दशा (है), बापू ! यह तो परमाणु-मिट्टी है। उसकी पर्याय कैसी होगी – यह किसी के आधार से नहीं है। धर्मी जीव को उसकी धृणा नहीं हो सकती। समझ में आया ? एक गधा दुर्गन्धित सड़ा हुआ, हाँ ! रात्रि में मरने की तैयारी। ऐसे शरीर गन्ध मारता है। यह सब सड़ गया था। ऐसा सड़ा हुआ तो ऐसे गन्ध मारे, हाँ ! साथवाले कहने लगे – मांगलिक सुनाओ, महाराज ! तो सुनाया।

'**(तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों की पहिचान रखे, वह अमूढ़ दृष्टि...**' उलझता नहीं, सम्यग्दृष्टि उलझता नहीं; नि:शंक निमूढ़ होता है। निमूढ़-अमूढ़ समझ में आता है ? भगवान के द्वारा कथित सच्चे तत्त्व और उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों के द्वारा कथित (मिथ्यातत्त्व)। परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व, उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों द्वारा कथित तत्त्व-दोनों को जानता है कि इसमें बड़ी भूल है। उलझता नहीं है। अज्ञानी तत्त्ववाले गुरु आदि हों, (उन्हें) हाथी के ओहदे पूजे, राजा पूजे, देव पूजे तो (ज्ञानी को) ऐसा नहीं लगता कि इसमें कुछ होगा ! यह क्या है ? यह सब तो पुण्य के ठाठ हैं, इसमें धूल में क्या आया ? सच्चे-खोटे तत्त्व की पहिचान में धर्मी उलझता नहीं है, भाई ! प्रवीण होता है – ऐसा कहते हैं। लिया या नहीं ? '**तत्त्वों की (पीछानै)...**' पीछाने (अर्थात्) प्रवीण होता है उसमें होशियार होता है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-सच्चे तत्त्वों में उलझता नहीं है। समझ में आया ? कुतत्त्व के माननेवाले की इज्जत देखे, बड़ी सभा देखे, ओहो..हो.. ! बड़े-बड़े राजा मानते हैं, इसलिए कुछ होगा ? अब राजा माने या देव माने – उसमें क्या है ? देव भी मानते हैं। ऐसे मूढ़ देव नहीं होते ? समझे न ?

जिसे सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग परमात्मा द्वारा कथित आत्मा की श्रद्धा हुई है, उसे व्यवहार श्रद्धा में कुतत्त्व और सुतत्त्व की शंका नहीं होती; उलझन में नहीं आता कि इसमें क्या निर्णय करना ? एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है, वे कहते हैं कि व्यवहार से होता है, वे कहते हैं कि निश्चय होवे तो व्यवहार को व्यवहार कहा जाता है। अरे.. ! परन्तु यह क्या होगा ? भगवान ! निर्णय करना चाहिए प्रभु ! बापू ! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्यपना मिला है; आँखे बन्द हो जाएगी (और) कहाँ चला जाएगा, बापा ! कोई शरण नहीं है, कोई शरण नहीं है।

समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों में, किसके कुतत्त्व है और भगवान के सुतत्त्व क्या हैं ? (उसमें) उलझन में नहीं पड़ता; तुलना करके भलीभाँति पहिचान करता है। समझ में आया ?

'**(निज गुण) अपने गुणों को और दूसरे के अवगुणों को छिपावे...**' आहा..हा...! क्या कहते हैं ? अपने गुण प्रकट हुए हों, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करने का ढिंढोरा नहीं पीटता। आहा..हा...! ऐ..ई..! समझ में आया ? क्या काम है ? दुनिया माने तो गुण की शुद्धि बढ़ती है ? तथा न माने और निन्दा करे तो कोई गुण की शुद्धि घट जाती है ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा...! अपने गुणों को ढँकता है। आहा..हा..! समझ में आया ? जो गुण प्रकट हुए हों, उनकी प्रसिद्धि होवे तो ठीक, दुनिया माने तो ठीक, दुनिया को अधिक पता लगे तो ठीक – ऐसी भावना उसे नहीं होती है। (प्रसिद्धि होने से) क्या लाभ है ? और दुनिया स्वीकार न करे, इसमें उसे क्या नुकसान है ? आहा..हा...! समझ में आया ?

'**और दूसरे के अवगुणों को...**' जगत के अवगुण हैं, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करूँ तो उसकी अवहेलना होगी – ऐसी इच्छा आुसे नहीं होती है। उसके अवगुण बाहर प्रकट हो तो यह तो पाप का उदय होगा तो लोग उसका अनादर करेंगे; वरना अवगुण बाहर प्रसिद्ध हों और फिर भी उसका पुण्य होगा तो लोग उसका आदर करेंगे। तुझे क्या काम है ? ऐ... यह प्राणी ऐसा है, यह प्राणी ऐसा है... समझ में आया ? दूसरे के अवगुण बाहर प्रकट करने से तुझे क्या लाभ है ? तेरे गुण बाहर प्रसिद्ध न होवे तो तुझे क्या नुकसान है ? और दूसरे के अवगुण दुनिया न जाने तो तुझे क्या नुकसान है ? आहा..हा...! देखो न ! व्यवहार समकित में भी कितनी बात है ?

मुमुक्षु :- किसकी बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की। किसकी बात करते हैं यह ? यह किसके आत्मा के लिए बात चलती है ? किसके लिए बात चलती है ?

मुमुक्षु :- बात किसकी है ?

उत्तर :- बात आत्मा की। समझ में आती है ? आहा..हा...! पहले तुम्हारी लड़की नहीं आयी थी ? जातिस्मरणवाली यहाँ आयी थी न ? अब आयेगी। उसे कहते तो हैं, लावे तब

सही। उसकी फिर सेवाचाकरी करनी पड़े न ? थोड़ा-बहुत रखना पड़ता होगा न ? यह सब लोग देखना चाहते हैं। इस (भाई के) घर से कहते थे, लो, मुम्बई जानेवाले हैं ? परन्तु लड़की ? यहाँ आवे न, होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हारी बड़ी बहिन नहीं ? यह लोग अधिक आये तो देखेंगे या नहीं ? लोग आयेंगे तो देखेंगे तो सही न ! उसके लिये तो पहले से कहा था। तुम्हारा घर नहीं ? बड़ी बहिन का नहीं ? मुझे तो दूसरा कहना था। उसकी थोड़ी बाहर प्रसिद्धि हुई तो लोगों में ऐसा हो गया कि आहा..हा..हा... ! समझ में आया ? फिर मैंने एक बहिन से कहा कि बहिन ! यह तुम्हारी बात कहाँ ? और वह कहाँ ? (तो कहा कि) बाहर प्रसिद्धि का क्या काम है ? आहा..हा... ! उस समय की शैली देखी होवे तो पता चले। समझ में आया ? परन्तु बाहर क्या है ? दुनिया माने या लोग पहिचाने, उसका हमें काम क्या है ? समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि उसे इस प्रकार का विकल्प नहीं होता। अपने गुण प्रसिद्ध करना और दूसरे के अवगुण ढ़ांकना; प्रसाद्ध नहीं करना। प्रसिद्ध करके (उसे) क्या नुकसान ? तुझे क्या लाभ ? समझ में आया ? यह समकित का गुण है। समझ में आया ? दूसरे बोल विशेष है, वे कहेंगे। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✲

डॉ. गींगुली :- आत्मज्ञान होने पर तो ये व्रतादि राग हैं - ऐसा भासित होता है, परन्तु आरंभमें आत्मज्ञान तो शीध्र ही नहीं होता न ?

पू. गुरुदेव श्री :- शीध्रका अर्थ - इसका अभ्यास करना चाहिए । राग क्या है, आत्मा क्या है, मैं त्रिकाल टिकने वाली वस्तु कैसी हूँ (आदिका) अभ्यास कर-ज्ञानकर, रागसे भिन्न आत्माका अनुभव करना - यह पहली बात है । आत्माको जाने बिना इसके सभी क्रिया-कांड अरण्य-रोदनसमान है । अन्तरमें आत्मा आनन्द-स्वरुप भगवान चैतन्य-तेजका पुँज प्रभु है । उसका ज्ञान न हो, अन्तर दशाका वेदन न हो, तब तक अज्ञानीके सभी क्रिया-कांड झुठे हैं । सम्यक्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए। **(परमागमसार - २६२)**

वीर संवत २४९२, माघ कृष्ण २, सोमवार

दि.७-२-१९६६, गाथा १२, १३, प्रवचन नं.-१९

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी तीसरी ढाल चलती है। उसकी १२वीं गाथा है (और) १३ वीं आधी है। क्या कहते हैं ? पहले बात आ गयी है कि परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। '**भला है,...**' आया है पहले। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या की। निश्चय अर्थात् सच्चा-सत्यदर्शन। आत्मा परद्रव्य अर्थात् शरीर, कर्म, वाणी, पुण्य-पाप के विकल्प-रागादि से भिन्न आत्मतत्त्व है। ऐसे आत्मा की अन्तर में स्वभावसन्मुख की, अन्तर्मुखी अनुभवदृष्टि करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन (कहते हैं)। वहाँ से धर्म की प्रथम शरुआत होती है। वह मोक्षमहल की पहली सीड़ी है। आगे आयेगा न ? मोक्षमहल की पहली सीड़ी है। कुछ समझ में आया ?

आत्मा आनन्द ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, उसकी शान्ति, उसमें - आत्मा में वतीरागता भरी है, उसे अन्तर दृष्टि में वीतराग दृष्टि द्वारा वस्तु के स्वरूप का नि:शंकरूप से अनुभव में प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन - निश्चय सत्यदर्शन कहा जाता है। उसके साथ व्यवहार समकित होता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन शुभविकल्प-रागरूप होता है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, यह श्रद्धा का भाव भेदवाला, रागवाला है; इस कारण इसे व्यवहार श्रद्धा कहा जाता है। निश्चयसम्यग्दर्शन आत्मा का भान, अनुभव-दृष्टि होवे तो उस व्यवहार समकित को उपचार से समकित कहा जाता है।

मुमुक्षु :- आगे-पीछे चलता है।

उत्तर :- आगे-पीछे की बात ही नहीं है। अआगे-पीछे क्या होता है ? इसीलिए तो इसमें पहली यह बात की और फिर यह बात करते हैं। शैली ऐसी ली है। पहली निश्चय और बाद में व्यवहार की बात ली है और फिर लिया मुख्य उपचार। पीछे है न श्लोक में ? मुख्य-उपचार।

वहाँ भी मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार, भाषा ऐसी ली है। समझ में आया ?

आत्मा अन्दर शान्त वीतरागी स्वभाव, उसे इस पुण्य-पाप के विकल्प से अथवा व्यवहार से भी आत्मा प्राप्त हो – ऐसा वह नहीं है। यह तो दोपहर में बहुत आया था। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अनन्त काल के जन्म-मरण के नाश का उपाय, उसकी सीडी – पहला ही सोपान उत्तम है। जिसके समकित बिना उसका ज्ञान और सभी क्रिया निरर्थक है।

मुमुक्षु :- दु:ख का कारण है।

उत्तर :- हाँ दु:ख का कारण कहा (है)। निरर्थक कहा परन्तु सार्थक है, दु:खरूप है। निरर्थक अर्थात् उसमें प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यवहार शास्त्र का ज्ञान, व्यवहार नव तत्त्व की श्रद्धा, व्यवहार पंच महाव्रत के परिणाम – यह आत्मा के सम्यग्दर्शन के लिये बिलकुल कार्यगत नहीं है। समझ में आया ? परन्तु यह व्यवहार, निश्चय आत्मा का भान होने पर पूर्ण वीतराग न हो, वहाँ ऐसा व्यवहार आता है। उसकी मर्यादा में ऐसे शुभयोग की स्थिति होती है, उसे व्यवहार समकित कहते हैं; परन्तु यह व्यवहार समकित है, इससे निश्चय समकित है – ऐसा नहीं है तथा व्यवहार समकित है, उससे निश्चय उत्पन्न हुआ है – ऐसा नहीं है। वास्तव में व्यवहार समकित और व्यवहार श्रद्धा या व्यवहार ज्ञान या पंच महाव्रत के परिणाम – ये तीनों दु:खरूप हैं। जिसे व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं, उसे दु:खरूप कहा है। आहा..हा... ! कल आया था। उससे आत्मा का कार्य बिलकुल नहीं है।

मुमुक्षु :- अज्ञानी को ऐसा है।

उत्तर :- ज्ञानी को भी ऐसा है। अज्ञानी को क्या, ज्ञानी को भी यह है। इससे आत्मा का कार्य नहीं होता।

निर्विकल्प निरपेक्ष भगवान आत्म ाका अन्तर में अनुभव, विकल्प के व्यवहार की अपेक्षा बिना की दृष्टि होती है, तब उसकी भूमिका में वह व्यवहार दु:खरूप मानता है, उसे यहाँ व्यवहाररत्नत्रय या निमित्तरूप कहा जाता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? कहो, भाई ! ऐसे व्यवहार समकित के आठ गुण हैं और उनमें उसके आठ दोषों का त्याग है।

पहला नि:शंक कहा, नि:शंक। जैन वचन में नि:शंक। स्वरूप की दृष्टि, अनुभव तो है।

सर्वज्ञ-कथित वीतराग मार्ग में व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि नि:शंक है, शंका नहीं। शुभविकल्प की मर्यादा में व्यवहार में उसे शंका नहीं है; महा अचल दृढ़ है।

नि:कांक्ष - समकित दृष्टि दूसरे को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म के भाव को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म में कुछ होगा - ऐसी कांक्षा उसे नहीं होती। इस व्यवहार समकित में इतनी अटल दृढ़ता होती है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ की बात है, भाई ! आहा..हा... ! नि:शंक और नि:कांक्ष (हुए)।

निर्विचिकित्सा - मुनियों का शरीर मलिन देखकर उसकी धृणा नहीं होती - ऐसा भाव। संतो के शरीर की अवस्था ही ऐसी होती है। समझ में आया ? महामुनि हों, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, शीतला निकली हो, ... हों। समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि, जिसे अन्तरदृष्टि सम्यक् हुआ है, उसे व्यवहार समकित में भी, ऐसे मुनि या धर्मात्मा धर्मी हों, दूसरे सम्यग्दृष्टि धर्मी हों, पुण्य कम हो, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, .. निकले हों (और) स्वयं सुन्दर हो .. समझ में आया ? ऐसे दांत बाहर निकले हों, दाढ़ ऐसी हो, ऐसा निकला हो - ऐसा सब हो। आहा..हा... ! उस (उसकी) धृणा नहीं होती। यह देह की स्थित हि। सम्यग्दृष्टि अपने साधर्मी जीव में समकिती जीव में भी ऐसा देखता है, उसका इसे तिरस्कार या धृणा नहीं होती। यह तो पाप के प्रकार हैं। पुण्य का प्रकार ऐसा हो। सम्यग्दृष्टि निश्चय में, व्यवहार सम्यग्दर्शन में धर्म को प्राप्त जीव के शरीर की अवस्था ऐसी हो, इसकी उसे धृणा नहीं होती। समझ में आया ? हम महारूपवान है, सुन्दर हैं, दूसरे से अधिक बड़े हैं और यह धर्मात्मा है, इसे पुण्य कम है, कुछ ठिकाना नहीं है - ऐसा उसे नहीं गिनता। समझ में आया ? यह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा जानात है) कि जो पुण्यबन्ध का कारण है, कि जो निश्चय अनुभव की दृष्टि होवे, वहाँ (ऐसा होता है)। समझ में आया ? आहा..हा... !

सच्चे और मिथ्या तत्त्वों की पहिचान में उलझता नहीं है। है न ? उलझन नहीं। सत्य तत्त्व है, सूक्ष्म में भी कही फर्क पड़े तो सम्यग्दृष्टि व्यवहार में उलझता नहीं। निश्चय में तो नहीं, व्यवहारमें भी उलझे नहीं - ऐसी उसके अन्तर में अमूढ़ता होती है। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह कैसे होगा ? ऐसा कुछ होगा ? इसमें कुछ मार्ग होगा, (ऐसा) उसे नहीं होता, उलझन नहीं होती। कोई अन्य के देव-गुरु-धर्म की प्रभावना वर्ते, बाहर में बहुत बहुमान वर्ते,

देव उसके पास आते हों (तो भी) शंका नही पड़ती। उसे मूढ़ता नहीं होती कि इसमें कुछ होगा ? धर्मात्मा के पास देव भी नहीं आते हैं। ... समझ में आया ? यह ऐसी बात है। धर्मी जीव के पास देव भी नहीं आते, अधर्मी के पास बाहर के पुण्य के कारण देव आते हों, उसकी बाहर में जोरदार प्रभावना दिखती हो, राजा-महाराजा (उसे) मानते हों - उसमें कोई तत्त्व होगा ? ऐसा शंकाशील नहीं होता। समझ में आया ? यह चार हुए। पाँचवां कहा था।

अपने गुणों को ढ़ाँके। आहा..हा... ! धर्मात्मा अपने गुणों को बाहर प्रसिद्ध करके पुकारता नहीं है। समझ में आया ? अपनी शक्ति का जो स्वभाव, भान हुआ, अनेक गुण प्रकट हुए हैं, उनकी प्रसिद्धि करूँ तो मुझे ठीक लगेगा - ऐसा भाव उसे नहीं होता। आहा..हा... ! समझ में आया ? गुणों को ढ़ाँकता है अथवा दूसरे के अवगुणों को (ढ़ाँकता है)। धार्मिक साधर्मी जीव होवे, उसमें कोई साधारण दोष आदि (देखे तो) व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि जीव के कोई ऐसा व्यवहार आदि अवगुण होवे तो ढ़ाँकता है, बाहर प्रसिद्ध नहीं करता है। देखो ! इसे ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि के तत्त्व की विपरीत बात करता है - यह कहीं दूसरे के अवगुण खोलने की बात नहीं है, यह तो तत्त्व से विरुद्ध है, उसके विरुद्ध तत्त्व की श्रद्धा की बात करता है। समझ में आया ? परन्तु धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जीव का कोई साधारण प्रकृति का फर्क हो, अमुक हो, फिर भी भानवाला जीव है, ऐसों के व्यवहार समकिती जीव, निश्चयवाला ऐसे व्यवहार के अवगुण को ढ़ाँकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? प्रकट नहीं करता। धर्म की निन्दा हो जाएगी। धर्मात्मा है, सम्यग्दृष्टि है, अनुभव है और व्यवहार के किसी परिणाम में सहज बाहर में अन्तर दिखे, शरीरादि की कोई चेष्ठा (ऐसी हो, उसे) ढ़ँकता है; लोक में धर्म की निन्दा होगी। समझ में आया ?

बापू ! जैनमार्ग तलवार की धार जैसा है, परनु तलवार की धार अर्थात् ? कठिन, ऐसा नहीं। यहाँ एक दृष्टान्त दिया है न ? रत्नकरण्डश्रावकाचार में तलवार और जल का दृष्टान्त दिया है। तलवार की धार का जल होता है न ? जल अर्थात् पानी पिलाया हो न ? तेज... तेज... चाहे जैसा प्रकार हो तो भी वह तेज बदलता नहीं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? जैसे तलवार का पानी हो, अन्दर पानी पिलाया होवे न ? सूक्ष्मधार। वह किसी से घिसती नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का पानी - तेज व्यवहार में समकित में भी

किसी से नष्ट नहीं होता। समझ में आया ? अवगुण की प्रशंसा नहीं करता। दूसरे के, धर्मीजीव के, हाँ ! अज्ञानी की तत्त्व से विरुद्ध(ता) होवे तो यह बात स्पष्ट करे कि यह श्रद्धा मिथ्यात्व है, यह श्रद्धा अज्ञान है। उसे फिर छुपावे और कुछ न कहे तब तो उसकी बात कहने का अन्त नहीं आवे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? जिसकी दृष्टि ही मिथ्यात्व है और जिसका आचरण ही मिथ्या है - ऐसों की बात को स्पष्ट करे कि इसकी दृष्टि मिथ्या है, इसका मिथ्यात्वभाव है, श्रद्धाभाव विपरीत है; वीतराग मार्ग है, उसे मानता नहीं - यह तो स्पष्ट करे। धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि के व्यवहार में कोई अवगुण हो तो उसे ढँकता है। यह उपगूहन का (स्वरूप) कहा।

अब, '**अपने आत्मधर्म को बढ़ावे...**' एक में दो डाले हैं। उपबृहण। यह पाँचवां बोल है न, यह दो है। उपगुहन है और उपबृहण है। इसलिए यह कहा। अपने धर्म को बढ़ावे। अन्तर में अपनी आत्मा की शुद्धि को बढ़ावे। उपगूहन और उपबृहण दो शब्द हैं। अवगुण को ढाँकना और गुण की वृद्धि करना। एक लाईन में दो गुण डाल दिये हैं। भाई ! उपगूहन है और यह निजधर्म उपबृहण डाल दिया है, स्वयं ने डाल दिया है। मूल में ही पाठ है। अपनी शुद्धि में वृद्धि हो यह बात रखे, दुनिया के साथ काम नहीं है। दुनिया कैसे देखती है, कैसे मानती है ? - उसके साथ इसे काम नहीं है। समझ में आया ? '**निर्मल बनावे...**' उपगूहन है - ऐसा कहकर, उपबृहण डाल दिया। इसमें दो डाल दिये हैं।

'**काम विकार आदि कारणों से धर्म से च्युत होते हुए...**' काम-विकार अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा की तीव्रता में आ जाए, विषय-वासना का प्रकार आदि (आ जाए तो) उससे (धर्म से) च्युत नहीं होते; अपने को और पर को दृढ़ करें। इसमें दृष्टान्त दिया है। ऐसे दृष्टान्त हैं। नि:शंक में लकडहारे का दृष्टान्त दिया है। सिर पर भार भरा है। नि:कांक्षित में यह दिया है। यह शास्त्र रखे है, ठीक ! नि:शंकता अर्थात ? नि:कांक्ष - सर्प निकाला; सर्प के बदले यह निकाला लगता है, फुलमाला निकली है न भाई ने ? निर्विचिकित्सा में तो साधु

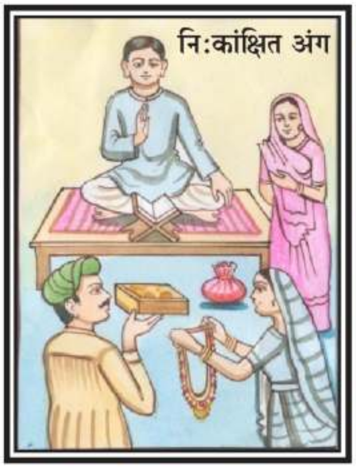

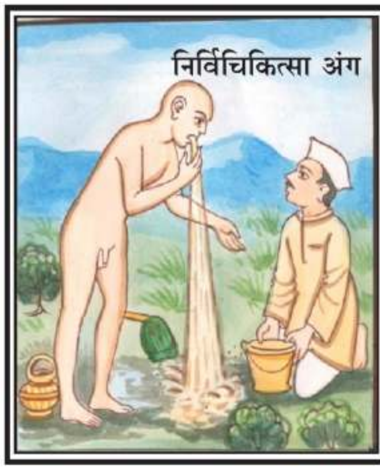

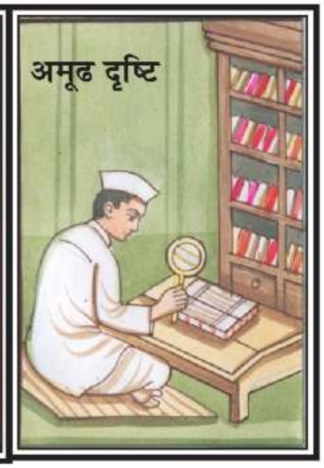

वमन करते हैं और समकिती देखता है, वह शान्ति रखता है और वहाँ तत्त्व की अमुढदृष्टि की है। यहाँ उपगूहन किया है। ढँकता है। कोई चोर हो, ऐसा धर्मी हो उसने किया हो तो उसे जाने दे, (माफ) करे। समझ में आया ?

कामादिक अर्थात् इच्छा आदि। कोई राग के लोभ की वृत्ति आदि हुई, स्वयं को भी उस प्रकार का हुआ, व्यवहार का हाँ ! निश्चय में तो भान सम्यक् निश्चय निर्विकल्प है। व्यवहार के विकल्प में स्वयं उसे जाने से रोके, अपने को स्थिर करे और पर को भी स्थिर करे। धर्मी जीव हो, उसे भी कोई अस्थिरता आदि की लोभादिक की वृत्ति का भाव आया हो तो उसे समझावे।

निश्चय सम्यग्दृष्टि है, उसे व्यवहार में ठिकाने लगावे - दृढ़ करे, वह स्थितिकरण अंग है।

'धर्मी सों गौ-वच्छ प्रीति सम...' देखो ! इसमें भी दृष्टान्त दिया है, हाँ ! देखो ! गाय और बछड़ा। सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे सम्यग्दृष्टि जीव को, बछड़े के प्रति जैसे गाय को प्रेम होता है, ऐसा उसे

प्रेम होता है। समझ में आया ? द्वेष नहीं होता कि यह मुझसे बढ़ गया। मुझसे ऐसा हुआ, मेरे तो अमुक है और इसे तो अवधिज्ञान हो गया और यह तो महिमामण्डित हो जाएगा, दुनिया में कीर्ति बढ़ जाएगी। समझ में आया ? और मैं तो इससे पहले समकिती था। समझ में आया ? ऐसा उसे नहीं होता, प्रेम होता है। जैसे बछड़े के प्रति गाय को प्रेम है। गाय को बछड़े (के पास से) कुछ लेना है ?

मुमुक्षु :- ... पुत्र ...

उत्तर :- परन्तु पुत्र अर्थात् क्या ? पैर दबायेगा ? घास लायेगा ? पानी लायेगा ? बछड़ा क्या करेगा ? हें !

मुमुक्षु :- ... स्पर्धक ...

उत्तर :- स्पर्धक तो भी उसे क्या मदद करेगा ? वह मदद क्या करेगा ? फिर भी उसे (बछड़े) के प्रति प्रेम है। इसी तरह दूसरे धर्मात्मा जीव इस आत्मा को कुछ नहीं करते हों परन्तु उनके प्रति इसे प्रेम होता है। निश्चय का भान है, व्यवहार में कोई (दोषादि) हों तो भी उसका प्रेम है। जैसे, माँ को पुत्र के प्रति प्रेम है, वैसा प्रेम इसे होता है। साधर्मी को पारस्परिक प्रेम होता है आपस-आपस में द्वेष, ईर्ष्या नहीं होती। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पुत्र आज्ञाकारी होवे तो प्रेम होता है।

उत्तर :- माँ को प्रेम होता ही है। काट दिया। दो लड़कों का दृष्टान्त नहीं दिया था ? एक अपना पुत्र था, वह अधिक सौतन के पास रहता था। अब विवाद उत्पन्न हुआ। वह कहे कि मेरा लड़का.. यह कहे मेरा लड़का। कोर्ट में ले गये। कोर्ट में कहे - अब किसका करना ? जज ने हुकम दिया - करो दो टुकड़े, आधा-आधा दे दो। जिसका लड़का था, वह कहने लगी - रहने

दो, उसे मारना रहने दो – लगी अन्दर से। जज ने हुकम दिया कि इसे दे दो, इसका लड़का है। समझ में आया ? दूसरी थी, वह ऐसी की ऐसी खड़ी रही। (यह कहने लगी) – इसे मारना नहीं, उसे दे दो। समझ मे आया ? अन्दर में प्रेम है। अरे..! मेरा लड़का भले ही वह ले जाए परन्तु मारे नहीं, उसे मारना नहीं, हाँ ! आहा..हा...! समझ में आया ? उसे प्रेम होता है। समझ में आया ?

इस प्रकार साधर्मी सम्यग्दृष्टि जीव के प्रति समकिती को गौ–वत्सल की तरह प्रेम होता है। समझ में आया ? यह क्या कहा ? '**अपने साधर्मीजनों से बछड़े पर गाय की प्रीति समान प्रेम रखना...**' यह वात्सल्य अंग है। ऐसा न बढ़ जाए कि मैं समकिती हूँ, यह भी समकिती है। मेरे पास पचास लाख की पूँजी है, मैं खुच करता हूँ, यह तो खर्च भी नहीं करता। स्त्री–स्त्री होती है, आदमी–आदमी होवे तो यह तो कुछ खर्च नहीं करता और यह अधिक गिना जाता है। ऐसा नहीं होता। एक बड़ा करोड़पति गृहस्थ होवे, दूसरा समकिती साधारण होवे। वह पचास लाख खर्च करता हो, यह खर्च न करता हो, बापा ! खर्च करने की क्रिया तो मन्दराग की है; इस कारण कहीं मैं अधिक हूँ और तुम कम हो – ऐसा नहीं है। ऐसा जानकर उसका प्रेम नहीं छोड़ता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? (ऐसा) वात्सल्य अंग है।

'**जैनधर्म की शोभा में वृद्धि करना...**' प्रभावना करना। परन्तु आत्मा की निश्चय प्रभावना का भान है, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसके साथ ही यह बात है, हाँ ! अकेला मात्र शुभराग होवे तो पुण्य बाँधे, (उससे) आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। समझ में आया ? आत्मा की निश्चय अनुभव–दृष्टि बिना ऐसे अकेले आठ बोल हो, उसे आत्मा का कुछ लाभ नहीं होता। राग मन्द हो तो कदाचित् मिथ्यादृष्टि सहित पुण्य बाँधता है, मिथ्यात्व सहित..। अन्दर रस तो उत्पन्न हुआ है, यह और यह और यह मीठास (पड़ी है)। मिथ्यात्व सहित पुण्य बाँधता है, उसमें आत्मा

का कार्य जरा भी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? यह तो निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त को ऐसा प्रभावना का व्यवहार होता है, भाव आता है तो भी समझता है कि शुभभाव से मुझे कुछ कार्य सिद्ध होता है – ऐसा नहीं है। मेरा कार्य शुभभाव से सिद्ध होता है – ऐसा नहीं है और मुझे शुभभाव आया, इसलिए मेरे भाव से दूसरे को कार्य सिद्ध होगा – ऐसा भी नहीं है। आहा..हा... ! भाई ! इतने अधिक पहलू हैं। सत्य के पक्ष में चढ़ना अलौकिक बात है, भाई !

गृहस्थ समकिती हो, करोड़पति हो तो दो लाख एकदम निकाल दे लो ! दूसरे से कहे – तुम चन्दा भरो तो कहे – हमारे पास पाँच रुपये हैं, पाँच रुपये, भाई ! उसकी अधिकाई नहीं दिखती इसे। उसका प्रेम है। आहा..हा... ! मेरा साधर्मी भाई है। बाहर के कम–ज्यादा आचरण पर उसका अप्रेम हो जाए या प्रेम घटे – ऐसा नहीं होता। आहा..हा... ! वीतराग मार्ग अन्तर दृष्टिपूर्वक उसके व्यवहार की कितनी उज्जवलता होती है – यह बात तो यथार्थ भान करे, उसे समझ में आये – ऐसा है। समझ में आया ? '**शोभा में वृद्धि करना।**'

'**इन गुणों से उल्टे आठ दोष हैं...**' इनसे उल्टे आठ दोष हैं। उन दोषों को सर्वथा दूर करना चाहिए। बस ! जैसे निःशंक है तो शंका नहीं करना – ऐसे सामने आठ ले लेना। भावार्थ में साधारण कहा है, देखो !

'**भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है - इसप्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना, सो निःशंकित अंग कहलाता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते...**' यहाँ अब निःकांक्ष में लेना है। समझ में आया ? अव्रती सम्यग्दृष्टि कभी भी भोगों को आदरणीय नहीं मानते। कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि है और यह छियानवें हज़ार स्त्रियों से विवाह करे, भोग करे तो उसे इसकी इच्छा होगी ? नहीं, नहीं, भाई ! इच्छा नहीं है, आदर नहीं है। सम्यग्दृष्टि (चक्रवर्ती) को छियानवें हजार अप्सरा जैसी स्त्रियाँ होती है, करोड़ों इन्द्राणियाँ होवे (तो भी) आदर नहीं है। अरे.. ! हमारा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु, अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का नाथ चैतन्य प्रभु के आनन्द के समक्ष जगत में आनन्द है कहाँ कहीं ? समझ में आया ? ऐसे आनन्द में जरा विकल्प उत्पन्न होता है, वह दुःख लगता है, उसे आदर नहीं है, भोग का आदर नहीं है।

आहा..हा... !

'जिस प्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दु:ख सहन करता है...' करता है न बन्दी ? **'उसी प्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थाश्रम में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिए उन्हें नि:शंकित और नि:कांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं आती।'** ऐसा। कुछ होगा, इसमें कुछ होगा, भोग में कुछ सुख होगा ? यह भोग करते हैं, इसलिए इसमें कुछ सुख होगा ? समझ में आया ? ऐसा है नहीं। यह भोग करते हैं, इसलिए कुछ सुख मानते होंगे ? भोग करते हैं, भोग को प्राप्त करना चाहते हैं - इसलिए उन्हें कुछ उसकी इच्छा होगी ? नहीं, भाई ! आहा..हा... !

दो बातें की - यह भोग भोगते हैं तो सुख मानते होंगे न ? उसके बिना कोई भोगता है ? बिलकुल नहीं। (वे) नि:शंक है कि मेरा आनन्द मुझसे है। यह राग की वृत्ति आती है, हटती नहीं; हटती नहीं, इसलिए उपसर्ग की तरह उसे भोगते हैं - ऐसा दिखता है। वस्तुत: यह दु:ख लगता है। आहा..हा... ! इस इन्द्राणी के भोग के राग में ज्ञानी को दु:ख लगता है। मिथ्यादृष्टि छटपटाता है, कहीं प्राप्त करूँ, कुछ प्राप्त करुँ, कोई मान, कोई सम्मान, कुछ अधिकता, कुछ कीर्ति (प्राप्त करुँ - ऐसे छटपटाता है)। समझ में आया ? यह मिले हैं न ? तुम सुखबुद्धि बिना भोगते हो ? बापा ! यह बात रहने दे। समझ में आया ? कहते हैं कि शंका नहीं है कि उसमें सुखबुद्धि होगी या नहीं ? नहीं, सुख बुद्धि नहीं है; और भोगते हैं, इसलिए इच्छा होगी या नहीं ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- अज्ञानी को इच्छा रहती है ?

उत्तर : अज्ञानी को रहती ही है, उसमें सुखबुद्धि ही है। अन्दर सुखबुद्धि मिठास पड़ी ही है। वह प्रतिक्षण राग की मिठास में ही खिंचता है। समझ में आया ? चैतन्य आनन्दगोला है, उसका तो भान हुआ नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द तो दृष्टि में, प्रतीति में भान होकर आया नहीं है; इसलिए बाहर में से उसके छटपटाना हटता ही नहीं। मिठास... मिठास... दुनिया माने, दुनिया आदर करे, दुनिया बड़ा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होऊँ, दूसरों से कुछ ठीक गिना जाऊँ - ऐसी मिथ्यात्व की मिठास अन्दर पड़ी ही होती है। कहो, समझ में आया इसमें ? समकित अर्थात्

बापू ! ओहो..हो... ! सिद्ध का पुत्र हो गया। समझ में आया ?

कहते हैं, उसे शंका नहीं करना, उसे शंका नहीं कि यह भोगते हैं, इसलिए सुख होगा। निःकांक्षित इच्छा भी (आयी), भोगने की इच्छा – एक वृत्ति आयी, इसलिए उसकी इच्छा है – ऐसा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है। भावना तो अन्तर अनाकुल आनन्द में है। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह धर्मी का खेल धर्मी ही जानता है। अज्ञानी–ऊपरीतौर से माननेवाले को उसका पता नहीं चलता। ऊपरीतौर से माननेवाला – देखनेवाला, उपर से देखनेवाला... उसे पता नहीं चलता कि उसका अन्दर हृदय क्या है ? समझ में आया ?

'धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करना...' इसमें डाला अवश्य, परन्तु विशेष दूसरा अलग किया। **'उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं।'** धर्म का सेवन करे – दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम करे, उससे कुछ संसार का – देव का सुख आदि (मिले – ऐसी वांछा नहीं होती) हैं ?

मुमुक्षु :– स्वर्ग में जाऊँगा।

उत्तर :– स्वर्ग में, धूल मे ंक्या है ? उसकी इच्छा नहीं होती, कांक्षा नहीं; कांक्षा छूट गयी। आहा..हा... ! अरे..! अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास के स्वाद के समक्ष, आत्मा का अतीन्द्रिय सन्तोष, जिसकी स्वर्ग के इन्द्रों के पास गन्ध भी नहीं मिलती, उसके सुख में, हों ! समझ में आया ? यह (धर्म) सेवन के बदले में (सांसारिक सुख की) इच्छा नहीं करता। निःकांक्षित.. निःकांक्षित है। इसके एवज में न ले, एवज अर्थात् बदले में। एवज... एवज।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– हाँ एवेज में रखे, कोई काम करे तो बदले में उसका हेतु दूसरा गहरा होता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि को नहीं होता है। उनको तो गहरा अभिप्राय ही उसमें अन्दर ऐसा होता है, बदले में कुछ प्रतिफल मिले, यह करूँ इसका कुछ प्रतिफल मिले, या वर्तमान में या लोक में या पैसे का, कीर्ति या परलोक में एवेज... एवेज... प्रतिफल, भाई ! आहा..हा... ! कुछ बोलते हैं, प्ररूपण करते हैं, कुछ दुनिया को कहते हैं, उसका कुछ प्रतिफल... प्रतिफल चाहिए या नहीं ? लोग अच्छा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होवे। (इस प्रकार) अज्ञानी को प्रतिफल

लेने की इच्छा मिटती नहीं है, ज्ञानी को बदले में कुछ लेने की इच्छा नहीं है। आहा..हा...! अद्भुत बात, भाई ! समझ में आया ?

'**(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर घृणा नहीं करना, (उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।)**'

'**(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं और अनायतनों में न फँसना...**' अनायतन अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (और उन्हें) माननेवालों में न फँसना, वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

'**(५) अपनी प्रशंसा करनेवाले गुणों तथा दूसरों की निन्दा करनेवाले दोषों को ढंकना और आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना-दूषित न होने देना), वह उपगूहन अंग है। उपगूहन का दूसरा नाम उपबृहण...**' (है) उसमें वह आ गया। '**जिनागम में आता है। जिसमें आत्मधर्म की वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है।**' उसमें पाठ में आ गया है, हाँ !'**श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धियुपाय के २७ वें श्लोक में भी वही कहा है।**'

'**(६) काम, क्रोध, लोभ इत्यादि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थिर करना, वह स्थितिकरण अंग है।**' समझ में आया ? यह उपगूहन की गाथा है, उसका अर्थ आ गया है। अपने स्वरूप में किंचित् रागादि विशेष हो जाते हो, उसे वापस हटाना। दूसरे जीव धर्मात्मा-धर्मी हों... देखो ! देखो ! इसमें तो किसी को उठाया है, ऊँचा (किया है)। स्थिति करे, स्थितिकरण। सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दृष्टि जीव को... सम्यग्दृष्टि जीव को, हाँ ! उसमें कोई साधारण अस्थिरता होवे तो उसे स्थिर करे। समझ में आया ?

'**(७) अपने साधर्मी पर, बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना, वह वात्सल्य अंग है।**' प्रेम के बदले में कुछ लेना है (-ऐसा नहीं)। (हम) तुम्हें प्रेम करते हैं तो तुम भी

कभी किसी बुरे वक्त में काम आओगे या नहीं ? धूल में भी काम नहीं आता, व्यर्थ में मूढ़ मानता है। ऐसी अज्ञानी को कुछ करते समय गहरी अभिलाषा होती है कि इससे ऐसा होगा, इससे ऐसा मिलेगा। धर्मी निरपेक्ष प्रेम करके प्रेम करता है। प्रेम में कोई अपेक्षा नहीं होती। (कुछ) लेने की, कीर्ति की, बड़प्पन की, यह मुझे अच्छा कहे - ऐसी अपेक्षा उसे नहीं होती।

'**(८) अज्ञान-अन्धकार को हटाकर...**' प्रभावना की बात है न ? '**विद्या, बल आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई यग्य रीति से अपनी सामर्थ्य-अनुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना...**' समकिती-निश्चय सम्यग्दृष्टि की बात है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा विकल्प होता है, तो भी उसे वह बन्ध का कारण मानता है। आहा..हा...! अद्भुत बात, भाई ! उस विकल्प से मेरे स्व-आत्मा का कार्य होगा - ऐसा नहीं मानता। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण कराता है, मिथ्यादृष्टि को.. ?

उत्तर :- मिथ्यादृष्टि स्थिर हुआ ही नहीं है, वहाँ क्या स्थिति करे ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो वस्तु समझावे, वह तो समझने का प्रसंग है, उसकी बात ली है। यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जो धर्म समझा है, उससे अस्थिर होवे, उसे किसी व्यवहार में (अस्थिरता होती है), निश्चय में दृष्टि यथार्थ हैं, जरा सा फर्क होवे तो उसे स्थिर करता है। समझ में आया ? '**अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना, वह प्रभावना अंग कहलाता है।**' यह विकल्प, अकेला शुभविकल्प है। कितने ही लोग तो ऐसे व्यवहार को ही अकेला धर्म मानकर बैठे हैं। लो, यह (भाई) कहते हैं - बहुधा (ऐसा है)। इन्होंने तो बहुत देखा है और बहुत सुना है न ? बहुधा, इस निश्चय समकित के बिना ऐसे किसी साधारण व्यवहार से धर्म मानकर पड़े हैं। उन्हें तो आत्मा का किंचित् भी लाभ नहीं है। समझ में आया ? परंतु निश्चय सम्यग्दृष्टिवंत को भी ऐसे आठ प्रकार के विकल्प, शुभयोग होते हैं। समझ में आया ? उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूप में निमित्त है, परन्तु निमित्त है, इसलिए कार्य हुआ है - ऐसा नहीं है। मेरी शुद्धि में उनके कारण वृद्धि होगी - ऐसा नहीं है। आहा..हा...! अद्भुत बात भाई ! समझ में आया ?

'इन अंगो (गुणों) से विपरीत (१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा (४) मूढ़दृष्टि (५) अनुपगूहन, (६) अस्थितिकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए।'

लो, अब गाथा १३ का उत्तरार्द्ध।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठाने;
मद न रुपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै।।१३।।

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

अन्वयार्थ :- (जो जीव) (जो) यदि (पिता) पिता आदि पितृपक्ष के स्वजन (भूप) राजादि (होय) हों (तौ) तो (मद) अभिमान (न ठानै) नहीं करता (यदि) (मातुल) मामा आदि मातृपक्ष के स्वजन (नृप) राजादि (होय) हों तो (मद) अभिमान (न) नहीं करता; (ज्ञानकौ) विद्या का (मद न) अभिमान नहीं करता; (धनकौ) लक्ष्मी का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (बलकौ) शक्ति का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (तपकौ) तप का (मद न) अभिमान नहीं करता; (जु) और (प्रभुताकौ) ऐश्वर्य, बड़प्पन का (मद न करै) अभिमान नहीं करता (सो) वह (निज) अपने आत्मा को (जानै) जानता है। (यदि जीव उनका) (मद) अभिमान (धारै) रखता है तो (यही) ऊपर कहे हुए मद (वसु) आठ (दोष) दोषरूप होकर (समकितकौ) समकित को सम्यक्दर्शन को (मल) दूषित (ठानै) करते हैं।

भावार्थ :- पिता के गोत्र को कुल और माता के गोत्र को जाति कहते हैं। (१) पिता

आदि पितृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने से (मैं राजकुमार हूँ आदि) अभिमान करना सो कुल-मद है। (२) मामा आदि मातृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना सो जाति-मद है। (३) शारीरिक सौन्दर्य का मद करना सो रूप-मद है। (४) अपनी विद्या का अभिमान करना सो ज्ञान-मद है। (५) अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान करना सो धन-मद है। (६) अपनी शारीरिक शक्ति का गर्व करना सो बल-मद है। (७) अपने व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना सो तप-मद है। (८) अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना सो प्रभुता-मद है। कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता यह आठ मद-दोष कहलाते हैं। जो जीव इन आठ का गर्व नहीं करता वही आत्मा का ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो यह मद सम्यग्दर्शन के आठ दोष बनकर उसे दूषित करते हैं। (१३ उत्तरार्द्ध तथा १४ पूर्वार्द्ध)

मद नहीं करना, मद। सम्यग्दृष्टि, निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त (को) व्यवहार के विकल्प में भी ऐसे जाति, कुल आदि का मद नहीं होता।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठाने;
मद न रुपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै॥१३॥

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

'यदि पिता आदि पितृपक्ष के लोग राजा आदि हों...' अरबोंपति सेठ हों, उनका मैं पुत्र हूँ – इस प्रकार समकिती को पिता के कुल के पक्ष का मद नहीं होता। आहा..हा..! किसका मद ? बापू ! जहाँ पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में आया, वह पूर्ण प्रकट नहीं हुआ, तब तक नरम...

नरम... नरम... (होता है)। जहाँ मेरी परमात्म अवस्था पूर्ण है, वह प्रकट नहीं हुई, मैं किसका अभिमान करूँ ? समझ में आया ?

'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो लिया है कि सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी का अभाव और मिथ्यात्व का नाश होकर (आत्मा का) अनुभव हुआ है, वह आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा से - धर्मात्मा अधिक होने की अपेक्षा से अपने को तुच्छ मानता है। आहा..हा... ! कहाँ वह परमेश्वर अवस्था, कहाँ वह सन्तों का चारित्र-वीतरागी आनन्द की अवस्था (और) कहाँ मेरी अल्प अवस्था ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला पाँचवे - छठवेंवाले की अधिकता, शान्ति देखता है और केवली की पूर्ण शान्ति, वीतरागता देखता है। आहा..हा.. ! उसे-स्वयं को तुच्छ जानता है कि हम कहाँ हैं ? अरे.. ! यह बात कहाँ है ? दृष्टि में प्रभुता बसी होने पर भी, समकिती पर्याय में तुच्छपना मानता है। किस अपेक्षा से ? अरे.. ! कहाँ केवलज्ञान, कहाँ एक समय में अतीन्द्रिय आनन्द का उछाला ! पूर्ण अनन्त आनन्द का (उछाला) ! वह अवस्था कहाँ और यह कहाँ ! केवली का अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर ज्ञान में देखता है न ! पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द ! किसका मद करे ? हमारे पिता... पिता ही तेरा नहीं है। पिता कैसा ? कर्म के निमित्त से शरीर और शरीर के निमित्त से पिता कहा है, वह आत्मा को नहीं हो सकता। उसका मद नहीं हो सकता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- आप किस दुनिया की बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की दुनिया की। यहाँ तो जरा एक भाई अच्छा होवे, वहाँ महिमागान करता है, स्त्री जरा अच्छी होवे तो हमारी बहु अमुक (है), हमारे भाई को (एक) हजार का वेतन है... परन्तु तुझे क्या है ? साथ न हो, देता न हो, लेना-देना (न हो), गौरव ले, अभिमान ले, बस ! अभिमान, अभिमान ले, बस ! हमारे साले की बहु ऐसी है, हमारे अमुक की बहु (ऐसी है)। जगत के जड़ के फल का अभिमान क्या ? कहते हैं - वह तो कर्म की सामग्री है। जिसे धर्म सामग्री का भान हुआ उसे कर्म-सामग्री का अभिमान क्या ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

पिता बड़ा राजा आदि हो; (परन्तु) मद नहीं करता। लड़के का आता होगा या नहीं ?

भाई ! लड़के का। वह इसमें आ जाता है। लड़का बहुत अच्छा तैयार हुआ हो... ऐसा नहीं आता, उसका क्या कारण है ? लड़का और पिता अलग नहीं होते, पिता और सब शामिल होते हैं इसलिए इसमें (नहीं आया होगा) भाई ! बात समजाने के लिये तो सब आती है या नहीं ? ऐ...ई... ! कारण किबात ऐसी है कि पिता और पुत्र अलग नहीं पडते, इसलिये वह बात इसमें नहीं लेते। लड़का (आगे) बढ गया हो तो पिता को उसका मद होता है – यह बात इसमें नहीं लेते। समझ में आया ? यहाँ तो उसका पिता (लिया है)। ऐसे कुल में जन्म हुआ। अरे.. ! बापू ! किसका कुल ? कुल किसका ? यह तो कर्म की सामग्री का कुल है। समझ में आता है ? आहा..हा... !

आत्मा का कुल – तीर्थंकर की जाति का मार्गानुसारी आत्मा है। 'आनन्दघनजी' कहते हैं न ? हम तो तीर्थंकर के मार्गानुसारी हैं। समझ में आया ?

'घर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं, भंग मा पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं, ए हम कुलवट रीत जिनेश्वर,

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं।'

धर्म जिनेश्वर। 'आनन्दघनजी' गाते हैं न ?

'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशु, भंग मा पड़शो रे नाथ प्रीत प्रभुजी,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं,'

प्रभु ! आप मार्गानुसारी धर्म, सर्वज्ञ तीर्थंकरने लिया उस मार्ग को हम नहीं छोड़ेंगे। **'बीजो मन मन्दिर आणु नहीं -'** समझे ? **'यह हम कुलवट रीत...'** यह तो हमारे चैतन्य के

कुल के वट की रीत है। तीर्थंकर का आत्मा जिस कुल का है, उस कुल के हम आत्मा हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? वह तो हमारा कुल है। तीर्थंकर का कुल (हमारा कुल है)। भाई ! आहा..हा... ! यह हम कुलवट रीत। हमारे कुल का वट, अब दूसरा आने नहीं देंगे, प्रभु ! हमारे स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे की अधिकता धर्मी नहीं आने देता। पिता का अभिमान नहीं होता।

'**(मातुल) मामा...**' माँ बड़े ननिहाल की हुई हो, राजा की पुत्री हो, उसकी माँ अरबोंपति की पुत्री हो.. हमारी माँ आहा..हा... ! अरे.. ! माँ तेरी कब थी ? समझ में आया ? मीठास लेने के लिए कहीं न कहीं अन्दर गहरा खिंचता है। मिथ्यादृष्टि को मीठास वेदन करनी है न ? हमारे मामा ऐसे... हमारे मामा ऐसे, हों ! उनकी बहिन हमारी माँ ! ओ..हो...! यह कर्म की सामग्री का अभिमान - मद समकिती को नहीं होता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'**विद्या का (मद न) घमण्ड...**' कुछ पढ़ा हो, कुछ दूसरो से अधिक आता हो तो अन्दर से घमण्ड.. घमण्ड

होता है। 'ओछु पात्र ने अदकुं भण्यों, वढकणी बहुए दीकरो जण्यो' -तुम्हारे यहाँ ऐसा आता है ? आता होगा, तुम्हें पता नहीं। दूसरे प्रकार से - चूल्हे में चारों ओर राख ही होती है - ऐसी कहावत आती ही होगी। कम पात्र हो और अधिक पढ़ा, उसकी माँ हो झगड़ालू और झगडालू और झगड़ालू माँ ने पुत्र पैदा किया; एक तो झगडालु का पुत्र, इसलिए जहाँ-तहाँ झगड़ा-झगड़ा करे, शरारत ही (करे) आहा..हा... ! कहते हैं - कुछ पढ़ा हो (तो) बस ! ऐसा नहीं होता, धर्मात्मा का अनादर करता है, धर्मी का अनादर करता है। ऐ... तुम्हें नहीं

आता। समझ में आया ?

यह विद्या का मद ज्ञानी को नहीं होता। आहा..हा...! चौदह-चौदह पूर्व प्रकट हुए हों, परन्तु कहाँ केवलज्ञान और कहाँ चौदह पूर्व ! यह तो अनन्तवें भाग का अंश है। समझ में आया ? जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व की लब्धि प्रकट होती है, तो भी केवलज्ञान के तो अनन्तवें भाग है। किसका विद्याभिमान करे ? कितनी पढ़ाई अब ? अभी की पढ़ाई तो क्या थी ? समझ में आया ? आहा..हा...! विद्या का मद-घमण्ड... घमण्ड लिखा है न ? घमण्ड.. हम पढ़े हैं, हमे आता है, हमारे सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता। घमंड नहीं होता। यह तो पिघला होता है, समकिती अन्दर स्थिर होता है। आहा..हा...!

'लक्ष्मी का अभिमान...' नहीं करता। अरबोंपति हो, बड़ा राजा (या) इन्द्र हो या बाहर का वैभव (हो), छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती... भरत चक्रवर्ती... हमारे अन्तर वैभव के समक्ष, यह जड़ का वैभव हमारा नहीं है, भाई ! आहा..हा...! भरत को छह खण्ड का वैभव, हाँ ! समकिती घर में वैरागी। उदास... उदास... उदास... (है)। उसे - आत्मदृष्टि की सम्पत्ति के स्वामी को ऐसा लक्ष्मी का अभिमान नहीं होता। लाओ, हम बैठें, भरो, जो संख्या तुम भरो उससे मैं अधिक भरूँ। होता है या नहीं ? क्या है ?

मुमुक्षु :- पैसे का ज़ोर।

उत्तर :- पैसे का जोर या आत्मा का ज़ोर है ? उसमें जोर किसका लेना ? धूल का जोर ? आहा..हा...! यह तो वीतराग मार्ग है, बापा ! पिघला कर पिघलाकर राग को पिघलाकर अन्दर स्थिर होना, यह मार्ग है। समझ में आया ? धन का मद - अभिमान।

'बल का मद...' शक्ति... शक्ति। शरीर की, हाँ ! हमारी शरीर शक्ति (ऐसी है कि) बैल को खड़ा रखते हैं - इतनी हमारी शक्ति है। मोटर को खड़ा रखूँ तो भी क्या है ? वह तो

जड़ की – धूल की शक्ति है। समकिती को शारीरिक बल का अभिमान नहीं है। समझ में आया ? नेमिनाथ भगवान और श्रीकृष्ण के बीच चर्चा हुई थी। तब नेमिनाथ बोले थे, परन्तु वह अन्दर (अभिमान) नहीं था। आहा..हा...! समझ में आया ? ज्ञानी का हृदय परखना बहुत कठिन है। परीक्षा में बैठे, सब राजा बैठे हुए, सब महिमा करने लगे। कोई कहे – इसका जोर... कोई कहे इसका जोर.. कोई कहे पाण्डवों का जोर.. कोई कहे वासुदेव का जोर.. वासुदेव के पिता का (जोर), बहुत गुणगान किये। एक व्यक्ति बोला कि देखो ! तीन ज्ञान के स्वामी भगवान बिराजमान हैं। वे तो बोलते नहीं एक तरफ बैठे हों, सब राजा बैठे हुए, नेमिनाथ तीन ज्ञान के स्वामी बैठे हुए। गृहस्थाश्रम में (थे)। तुम सब अन्य-अन्य कहते हो, परन्तु ये भगवान तीन ज्ञान के स्वामी हैं, ये सबसे बड़े हैं, सबसे बलवान हैं।

मुमुक्षु :- किसके ?

उत्तर :- शरीर का। यहाँ तो शरीर की बात है। आत्मा की बात कहाँ है ? उनका शारीरिक बल इतना था। समझ में आया ? तब फिर श्रीकृष्ण कहने लगे – हम (परीक्षा) कर लें। भाई ! तुम तो बड़े हो और तुम्हारे साथ कुछ हो ? पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा करो। भगवान तीन ज्ञान के स्वामी, क्षायिक समकिती नेमिनाथ प्रभु गृहस्थाश्रम में थे। यह सब बात चली है, तब कहते हैं – लाओ न, एक विकल्प ऐसा आया, बस ! यह सब इतने लोग एकत्रित (हुए है)। वह कहे कि उसका मान, पाण्डवों ने ऐसा किया, अमुक ने ऐसा किया, वासुदेव ने तो बहत्तर हजार स्त्रियों से विवाह किया। यह वासुदेव के पिता बहुत बड़े थे। सबके गुणगान करते-करते (बात करते थे)। फिर स्वयं इतना बोले, हम दोनों करते हैं, बड़े भाई तुम्हारे साथ मेरे नहीं होता। ओ..हो..हो...! तुम बड़े कहलाते हो। अरे..! तीर्थंकर तीन लोक के नाथ, जिनके इन्द्र तलवे चाटे... बड़े (भाई) तुमसे हमें नहीं होता, हाँ ! आहा..हा...!

यह पैर नीचे रखा है। देखो ! यह सिंहासन है और पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा

करो। लिपटकर लटक गया तो भी पैर ऊँचा नहीं हुआ। अभिमान नहीं, हों ! ऐसी बाहर क्रिया हुई, इसलिए वहाँ ऐसा हुआ और वहाँ इच्छा है या आकांक्षा है – ऐसा नहीं है और बल बताना है – ऐसा नहीं है। एक प्रसंग ऐसा बन गया, एक विकल्प आ गया। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :– यह झुकाने की बात आयी।

उत्तर :– यह होनी थी, वह आयी। अन्दर में कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :– अंगुली की बात नहीं आयी, पैर के अंगुठे की बात...

उत्तर :– अंगुली कहे तो भी वह है। समझ में आया ?

भरत चक्रवर्ती ने अंगुली की थी, लो न। भरत चक्रवर्ती का शारीरिक बल बहुत था; फिर रात्रि में घूमने निकले, उसमें कोई कहता है – यह भरत चक्रवर्ती अपनी सब प्रजा के कारण निभता (जिन्दा) है, अकेला क्या कर (सकता) था। इनका कितना बल ? भरत ने सुना, घर आये, सबको कहा कि भाई ! यह मेरी अंगुली टेडी हो गयी है, सीधी करो। सभी लगे, बड़े-बड़े योद्धा (इकट्ठे हुए), तब कहा तुम छियानवें करोड़ पैदल सैनिक एकत्रित होओ और एक सोने की लम्बी जंजीर बनाओ, उसे यहाँ लगाओ और छियानवें करोड़ (उसे) खींचो तो (अंगुली) सीधी होगी। छियानवें करोड़ सैनिक और इतनी लम्बी सोने की जंजीर खिंचे परन्तु (कुछ नहीं हुआ)। (फिर) स्वयं ने जरा ऐसे करके छोड़ दिया तो सभी धरती पर गिर पड़े ! अरे.. ! भगवान ! तुमने यह क्या किया ? कोई कहता था कि हमारा बल नहीं है, इस प्रधान और दीवान के बल से निभते (टिकते) हैं। बापू ! रहने दे, भाई ! ऐसा रहने दे, बापा ! हम कुदरत के पुरुष हैं, हम कुदरत के पुरुष हैं। कुदरत से हम बड़े होकर आये हैं और बड़े शरीर में है, उस कुदरत से हम है; तुम्हारे किये हुए नहीं। सबको कौन समझाये ? देखो ! बापा ! शरीर की ऐसी ताकत है, हाँ ! राग करते हैं – ऐसा बताया, वहाँ अन्दर इच्छा नहीं, हों ! सम्यग्दृष्टि हैं।

मुमुक्षु :– दृष्टान्त ऐसा देते हैं...

उत्तर :– इसीलिए तो यहाँ ऊपर कहा था। नि:कांक्ष में नहीं कहा था ? नि:शंक और नि:कांक्ष में कहा था कि भोग की इच्छा दिखने पर भी इच्छा नहीं है। भोग को प्राप्त करने की

इच्छा होती है तो भी अन्दर गहराई में प्राप्त करने की इच्छा नहीं है। इस गज के नाप बहुत कठिन है. समझ में आया ?

बल का – शक्ति का मद सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। दूसरों के साथ क्या कहलाता है वह ? स्पर्धा...स्पर्धा... स्पर्धा... कहलाती है न ? स्पर्धा में खड़ा नहीं रहता कि हमारा बल है, देख लो ! यह वह किया तो भी अन्दर नहीं है, हों ! यह तो प्रसंग ऐसा बना। सभा भरी थी, हजारों राजा (बैठे थे)। नेमिनाथ भगवान तीन ज्ञान के स्वामी और शरीर छोटा; 'श्रीकृष्ण' आदि से छोटे थे। छोटे नहीं थे, वे बड़े थे। समझ में आया ? राजा का पुत्र छोटा नहीं कहलाता। साँप का छोटा बच्चा वह छोटा नहीं कहलाता फणिधर हो, क्या कहलाता है, वह साँप का बच्चा ? अभी एक बच्चा निकला था। निकला नहीं था अपने बाहर ? नहीं ? बाहर दरवाजे के पास था। ऐसे उस दिशा में जाकर आते थे। इतना बच्चा। किसी को मार डालेगा – ऐसे उछाले मारता था। एक कणबी कोई खड़ा था। वह छोटा बच्चा तो भी साँप का। समझ में आया ? इसी प्रकार धर्मात्मा भी केवली के पुत्र हैं, कहते हैं। उनके बाहर का बल भी पुण्य के कारण इतना होता है। समकित प्रकट हुआ, उसकी बात है, हों ! कहते हैं, इसका उसे अभिमान नहीं होता।

तप का अभिमान नहीं होता। देखो ! हम अष्टमी करते हैं, उपवास करते हैं, महीने-महीने के करते हैं और यह तो एक बार खाता है तो उ..उ.. हो जाता है। समझ में आया ? एक दिन में एक बार छोड़ना होवे तो छोड़ नहीं सकता और हम तो आठ-आठ दिन के (उपवास करते हैं)। यह अभिमान समकिती को नहीं होता। यह तो जड़ की क्रिया है और राग मन्द हो तो पुण्य है, उसका अभिमान क्या ? आहार नहीं हुआ, यह तो जड़ नहीं आया। उसे तप का मद नहीं होता।

एश्वर्य – बड़ापन – सेठपने का मद '**घमण्ड नहीं करता।**' समझ में आया ? परन्तु आत्मा के बडप्पन के आगे दूसरे का घमण्ड क्या ? धूल का... आहा..हा...! अपने आत्मा को पहिचानता है... लो ! वजन यहाँ आया। '**प्रभुताकौ मद न करे, निज जाने...**' आत्मा का ज्ञान करके आनन्द से जानता है। आहा..हा...! अन्तर में आनन्द की वीणा बजती है, उसे बाहर का अभिमान क्या ? बापू ! आहा..हा...! समझ में आया ? वह, अपने आत्मा को आनन्दमय है, उसे पहिचानता है। शुद्ध आनन्दमय, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ही मैं हूँ – ऐसा पहिचानता है। इस कारण उसे आठ प्रकार का मद नहीं होता है।

'**यदि जीव उनका अभिमान रखता है तो ऊपर कहे हुए मद आठ दोष रूप होकर समकित-सम्यग्दर्शन को दोष करते हैं।**' लो ! यदि करे तो वह समकित में मैल है। समझ में आया ? इसलिए ज्ञानी ऐसा नहीं करते। (विशेष कहेंग) (श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

पवित्र-वस्तु अपवित्र रूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं । वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है । एकरूपता जिसमें है - ऐसी वस्तु रागादि रुप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है । चैतन्यका जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है। सुन्दर वस्तु है, सो सुन्दर रुपसे परिणमित हो तो ही शोभा है । सत्शाश्वत-ज्ञान और आनन्द-स्वरूप भगवान एकरुपकतामें रहे - वही उसकी शोभा है । (वस्तु) राग रहित निर्विकल्प स्वरुप है, अतः निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरुपता ही उसकी शोभा है । (परमागमसार-३५८)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ३, मंगलवार

दि.८-२-१९६६, गाथा १४, १५, प्रवचन नं.-२०

छन्द १४ (उत्तरार्द्ध)

छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता दोष

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करे है।।१४।।

अन्वयार्थ :- (सम्यग्दृष्टि जीव) (कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म-सेवक की (प्रशंस) प्रशंसा (नहिं उचर है) नहीं करता। (जिन) जिनेन्द्रदेव (मुनि) वीतरागी मुनि (और) (जिनिश्रुत) जिनवाणी (विन) के अतिरिक्त (जो) (कुगुरादि) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं (तिन्हें) उन्हें (नमन) नमस्कार (न करै हैं) नहीं करता।

भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव, कुधर्म; कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक तथा कुधर्म सेवक, - यह छह अनायतन (धर्म के अस्थान) दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से भी समकित में दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह आदि के कारण भी) नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढ़ता नामक दोष हैं।।१४।।

अब, '**छह अनायतन दोष और तीन मूढ़ता दोष**' (कहते हैं।) चौदहवीं (गाथा का) आधा भाग।

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करे है।।१४।।

सम्यग्दृष्टि, महान अलौकिक आत्मा के अन्तर का भान (हुआ है), सम्यक् चैतन्यमूर्ति की जहाँ अन्तर में प्रतीति और भान हुआ है, उस निश्चयसम्यग्दर्शन में, उसे व्यवहार में ऐसे पच्चीस दोष आदि नहीं होते। जहाँ वीतरागभाव ही दृष्टि में अधिकपने भासित हुआ-ऐसे धर्मी को रागादि और राग के फल में, जो कि मिथ्यादृष्टि आदि होते हैं, उनकी उसे सेवा और प्रशंसा नहीं हो सकती – यह बात करते हैं। देखो !

'**(कुगुरु कुदेव कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक की प्रशंसा नहीं करता।**' जिसे आत्मा के शान्त अविकारी धर्मका भान है, वह (जो) उस विकारी अवस्था में धर्म मानता है, वह वास्तविक नव तत्त्व से विरुद्ध जिसकी दृष्टि है – ऐसे कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र तथा उनके माननेवालो की प्रशंसा उसे कैसे होगी ? जैसा आत्मा का स्वंरूप शुद्ध, आनन्द और ज्ञायकमूर्ति है, एक समय की पर्यायवाला और त्रिकाल द्रव्यवाला – ऐसा जिसे वास्तविक अन्तर दृष्टि में भासित हुआ है – वह निश्चय सम्यग्दृष्टि, व्यवहार में भी कुगुरु-कुदेव की सेवा नहीं करता अथवा प्रशंसा नहीं करता। सेवा तो ठीक, परन्तु प्रशंसा नहीं करता – यहाँ तो ऐसा कहते है। '**नहि प्रशंस उचरै...**' समझ में आया ?

मुमुक्षु :- लौकिक में मेल रखना अच्छा।

उत्तर :- लौकिक के साथ मेल रखता ही नहीं। उसे कोई मेल है ही नहीं। कोई राजादि हो, उनसे हाथ जोड़कर लौकिक बात करे, वह अलग बात है। धर्मबुद्धि से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों की (प्रशंसा नहीं करता कि) तुम बहुत अच्छा करते हो, अच्छी संगत करते हो, सत् समागम ठीक करते हो। हम सदा पढ़ते सत् समागम करते हैं, विपरीत

शास्त्र पढ़ते (हैं), उन्हें कहे ठीक, तुम इतना तो करते हो, सम्यग्दृष्टि ऐसी प्रशंसा (नहीं करता)। मिथ्या शास्त्र के पढ़नेवाले, मिथ्या देव को माननेवाले, मिथ्या गुरु को माननेवाले तथा मिथ्या देव-गुरु और शास्त्र (ऐसे) छह की प्रशंसा नहीं करता है।

'**जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि...**' दिगम्बर सन्त, आत्मज्ञानी भावलिंगी सन्त और '**जिनवाणी...**' देखो ! वीतराग की वाणी, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कही गई वाणी, उस परम्परा से जो वीतराग की वाणी आयी हो, इसके अतिरिक्त '**कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को नमस्कार नहीं करता।**' समझ में आया ? पहले में प्रशंसा नहीं करता - ऐसा कहा; उन्हें नमस्कार नहीं करता - ऐसे दो बोल है। समझ में आया ? जिसे माल संभालना हो, उसकी यह बात है। माल प्रकटा है, आत्मा आनन्द और ज्ञायकमूर्ति की दृष्टि में जिसे वह माल संभालना है, उसके व्यवहार में भी ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (वह) धर्मबुद्धि से नमन नहीं करता। समझ में आया ? यह छह अनायतन धर्म के दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजन इत्यादि तो दूर रहा, परन्तु सम्यग्दृष्टि उनकी प्रशंसा भी नहीं करता। जगत के साथ मिलनसार न हो ऐसा हो जाए - ऐसी बात है।

पूर्णानन्द प्रभु, एक समय में अखण्ड आत्मा जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल- तीन लोक का जानना होता है - ऐसी पर्याय के अनन्त पर्याय का स्वामी द्रव्य, उसकी जिसे अन्तर में - अनुभव में सम्यक् प्रतीति हुई है, वह ऐसे अज्ञानी-जिन्हें अभी द्रव्य अखण्ड क्या है, (यह पता नहीं है।) खण्ड माने, अनेक न माने सब होकर एक ही माने, अनेक प्रकार के व्यवहार के विकल्प आदि से धर्म माने - ऐसे जीव की धर्मी भक्ति, बहुमान, विनय, पूजन इत्यादि तो दूर रहा (परन्तु) प्रशंसा (भी) नहीं करता।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन होने के बाद न ?

उत्तर :- बाद की बात है, परन्तु पहले उसकी श्रद्धा सच्ची होनी चाहिए या नहीं ? पहले भी वह सच्ची श्रद्धा करने के लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (करना)। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़नी चाहिए या नहीं ? पहले छूटे बिना इसे स्वद्रव्य की श्रद्धा कैसे होगी ? वस्तुत: तो पहले ऐसा विकल्प है। इसीलिए कहा न - 'त्याग वैराग्य न चित्त में' तो

इसका अर्थ यह है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, नव तत्त्व से विरुद्ध मान्यतावाले, ऐसों की श्रद्धा, राग की तीव्रतामें से नहीं हटे और मन्दराग न हो तो उसे आत्मदर्शन नहीं होता, तथापि उससे आत्मदर्शन नहीं होता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समन्वय रखना चाहिए...

उत्तर :- विरोध किसने किया ? यह प्रश्न किसने किया ? विरोध तो किसी के प्रति नहीं है। विरोध का प्रश्न क्या ? किसी व्यक्ति के प्रति विरोध होता है ? सबके साथ प्रेम होता है। 'तत्त्वेषु मैत्री, गुणेषु प्रमोदम्, किलषेषु कृपा करत्वम्।' और बहुत विपरीत हो, उसके प्रति मध्यस्थता ही आती है। व्यक्तिगत विरोध किसी के प्रति नहीं होता। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि उसकी अनुकूलता का आदर और विनय और भक्ति (न करे)। तुम बहुत अच्छे है, तुम ठीक हो, तुम भी धर्म का अच्छा काम करते हो - ऐसी प्रशंसा नहीं करे। पूरी बात ही अलग होती है। उल्टे रास्ते खिंच गया हो, परन्तु सुल्टे रास्ते जानेवाले उल्टे रास्तेवाले की प्रशंसा किस प्रकार करें ? समझ में आया ? न्याय से भी बात है न ?

सर्वज्ञ परमात्मा और महा सन्त... लो न ! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' बिराजमान हों और उनसे विरुद्ध मान्यतावाले जीव हों, उनका भी आदर करे और इनका भी आदर करे, उनके भी पैर लगे और इनके भी पैर लगे - इसका क्या अर्थ हुआ ? यह तो तत्त्व का विरोध हुआ। समझ में आया ? यह तत्त्व का विरोध है। सामनेवाले के लिये नहीं, स्वयं की श्रद्धा में निश्चय भान में व्यवहार में विरुद्ध श्रद्धा नहीं होती, इसके लिये यह बात है; दूसरे व्यक्ति के लिये बात नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मध्यस्थता...

उत्तर :- हाँ; मध्यस्थ हो जाना। दोनों को (समान माने तो) मिथ्या मूढ़ है। जहर और अमृत दोनों को समान (माने) वह तो मूढ़ है, मिथ्या मूढ़ है। (उसे) विवेक का भान नहीं होता। खाने के लिए विष्टा भी सच्ची और अमृत भी सच्चा - ऐसा होता है ?

मुमुक्षु :- जानना चाहिए... !

उत्तर :- जानना तो यथार्थ जानना चाहिए, जानने में कहाँ प्रश्न है ?

'**क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से सम्यक्त्व में दोष लगता है।**' यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हों ! जिनेन्द्रदेव, परमेश्वर पूर्ण परमात्मा, वीतराग मुनि – ऐसा लिया। देखो ! अन्दर में जिनका राग टल गया। तीन कषाय टली है और भावलिंगी मुनि हुए हैं, बाह्य में नग्न द्रव्यलिंगी है।

मुमुक्षु :- दोष ...

उत्तर :- दोष में दोष करे तो दोष है, यह बात है। दोष है, वह तो निश्चय की अपेक्षा दोष है, परन्तु अशुद्धता टलने की अपेक्षा से यह व्यवहार से लाभ है। समझ में आया ? कुदेव-कुगुरु से छूटता है न ? इतनी अपेक्षा से उसे व्यवहार से लाभ भी कहा जाता है। निश्चय से लाभ नहीं है; निश्चय से बन्ध का – दु:ख का कारण है, परन्तु जो तीव्र मिथ्यात्व आदि का पोषण करने की अपेक्षा ऐसे जो मन्द रागादि होते हैं, उमें उसे मन्द बन्ध पड़ता है, पहले में तीव्र में कठोर बन्ध पड़ता है – इस अपेक्षा से अन्तर है। बन्ध की अपेक्षा से निश्चय में आदरणीय नहीं है, यह अलग बात है। यह तो व्रत ले, उनमें अतिचार टाले। व्रत है, वह विकल्प है; विकल्प है, वह दोष है। यह तो दोष में दोष कहा न, इसलिए (स्पष्ट किया)।

वस्तुत: तो जहाँ आत्मदर्शनपूर्वक स्वरूप की स्थिरता है, वहाँ बारह व्रत का विकल्प आता है, परन्तु विकल्प है, वह वास्तव में तो दोष है, बन्ध का कारण है, परन्तु उसकी मर्यादा-प्रमाण जो मन्दता है, उससे विरुद्ध हो तो उसे टालना चाहिए- ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ? व्रत को अनाचार रूप से नहीं करना, अतिचार टालना – इसका अर्थ क्या हैं ? जो मन्द दोष है, उसमें से तीव्र दोष नहीं होना चाहिए – ऐसा उसका अर्थ है।

वीतराग देव परमेश्वर सर्वज्ञ देव... अरे...! जिसे सर्वज्ञ देव का वस्तु का स्वरूप अन्तरदृष्टि में जँचा, उसे सर्वज्ञ देव ही विकल्प में, प्रतीति में होते हैं। निश्चय में स्व आत्मा; व्यवहार में विकल्प में भगवान परमेश्वर। समझ में आया ? और या वीतराग मुनि। वीतराग दृष्टि हुई है, वीतरागभाव का आदर हुआ है तो विकल्प में भी वीतरागी मुनि का ही आदर

व्यवहार से होता है।

'**जिनवाणी...**' वीतराग की वाणी परमेश्वर द्वारा कथित। अन्दर गड़बड़ करके विपरीत कहा हो, वह जिनवाणी नहीं है। जिसमें परमेश्वर सर्वज्ञ देव ने वीतरागता की स्थिति की स्थापना की है, वीतरागता की शुद्धि बताई है, वीतरागता की वृद्धि कही है – ऐसी वीतराग की वाणी होती है। समझ में आया ? ऐसी वीतराग की वाणी के अतिरिक्त '**कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र इत्यादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह इत्यादि से भी) नमस्कार नहीं करता।**' समझ में आया ? जिसे अभी व्यवहार का ठिकाना नहीं, उसे निश्चय तो होता नहीं, ऐसा कहते हैं, परंतु जिसे निश्चय होता है, उसे व्यवहार ऐसा होता है; उसे मिथ्या व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ?

भय से, यदि यहाँ नहीं करूँ तो मेरी नौकरी छूट जाएगी या अमुक होगा या पालन–पोषण (नहीं रहेगा), परिवार को आधार नहीं रहेगा – इस भय से भी सम्यग्दृष्टि ऐसे कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र की विनय, आदर नहीं करता। आशा से – कुछ लाभ होगा; लोभ से – लड़के–लड़कियों का विवाह होगा अथवा विवाह आदि प्रसंग होंगे अथवा प्रेम से भाई–बन्धु रूप से – ऐसे प्रेम से भी उन्हें नमस्कार नहीं करता।

'**क्योंकि उन्हे नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। अर्थात् कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढ़ता नामक दोष हैं।**' लो ! मूढ़ता के दोष हैं; अमूढ़पने में ये दोष नहीं हो सकते।

अब, यहाँ कहते हैं – समकित की महिमा। ओ..हो...! सम्यग्दर्शन अर्थात् आहा..हा...! लोगों को महिमा ही नहीं है, क्या सम्यग्दर्शन है !

अव्रति सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है।।१५।।

अन्वयार्थ :- (जे) जो (सुधी) बुद्धिमान पुरुष (उपर कहे हुए) (दोष रहित) पच्चीस दोष रहित (तथा) (गुणसहित) नि:शंकादि आठ गुणों सहित (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन से (सजैं हैं) भूषित हैं (उन्हें) (चरितमोहवश) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश (लेश) किंचित् भी (संजम) संयम (न) नहीं है (पै) तथापि (सुरनाथ) देवों के स्वामी इन्द्र (उनकी) (जजैं हैं) पूजा करते हैं; (यद्यपि वे) (गेही) गृहस्थ हैं (पै) तथापि (गृहमें) घर में (न रचै) नहीं राचते (ज्यों) जिस प्रकार (कमल) कमल (जलतैं) जल से (भिन्न) भिन्न है, (तथा) (यथा) जिस प्रकार (कादेमें) कीचड़ में (हेम) सुवर्ण (अमल है) शुद्ध रहता हैं, (उसी प्रकार उनका घरमें) (नगरनारिकौ) वेश्या के (प्यार यथा) प्रेम की भाँति (प्यार) प्रेम (होता है)।

भावार्थ :- (जो विवेकी पच्चीस दोष रहित तथा आठ अंग (आठ गुण) सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं उन्हें, अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में युक्त होने के कारण, यद्यपि संयमभाव लेशमात्र नहीं होता; तथापि इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं। जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) रहता है। जिस प्रकार [१]वेष्या का प्रेम मात्र पैसे में ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें

१ यहाँ वेश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गई है।

लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे [२]त्याज्य (त्यागने योग्य) मानता है।[३]

अव्रती सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है।।१५।।

तीन तो दृष्टान्त दिये हैं। देखो ! भाषा मात्र शुद्धि प्रयोग की है। समझ में आया ? पाठ में 'सुधी' है। सम्यग्दर्शन ही 'सुधी' है। सुधी अर्थात् सच्ची बुद्धिवाला है। समझ में आया ? और वह साध्य में है, बाकी सब असाध्य में है।

आत्मा चैतन्य ज्योत भगवान पूर्णानन्द का जहाँ भान (हुआ), भले गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती का राज्य हो, समझ में आया ? बहुत भोग हों, यह अभी कहेंगे... और विषयासक्त भी हो। आसक्त, हाँ ! रुचि अलग और आसक्त अलग (वस्तु है), तथापि आत्मा अन्दरमें उस विकल्प से पार निर्विकल्प भगवान आत्मा की दृष्टि-अनुभवदृष्टि हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को... कहते हैं, हम बुद्धिमान कहते हैं। वह बुद्धिमान है। कहो, समझ में आया ? कम जाना या बाहर का अधिक जाना, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा..हा... !

'**(सुधी) बुद्धिमान पुरुष (ऊपर कहे हुए) (दोष रहित)**' ऊपर कौन कहें ? पच्चीस दोष कहें न ? ऐसे '**पच्चीस दोष रहित (और) नि:शंकादि आठ गुण सहित,...**' उसके सामने (आठ गुण) शंकादि दोष रहित और नि:शंकादि गुण सहित... '**सम्यग्दर्शन से (सजै है)**

२ विषयासक्तः अपि सदा सदा सर्वारम्भेषु वर्तमान अपि। मोहविलास एषः इति सर्व मन्यते हेयं।३४१। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

३. रोगी को औषधि सेवन और बन्दी को कारागृह भी इसके दृष्टान्त हैं।

भूषित है...' सम्यग्दर्शन से भूषित है। उस सम्यग्दर्शन के आभूषण से जो सज्जित है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'(उन्हें) चारितमोहवश...' यह शब्द पड़ा है। कर्म के कारण नहीं परन्तु **'अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के वश...'** समझ में आया ? दूसरी चोकड़ी का उदय है, उसके यह आधीन हो गया है, वश है। भाई ! चारित्रमोह का उदय है, उसमें यह वश, आधीन हो गया है। आधीन होता है, हों ! स्वयं से, पर से नहीं; इस कारण इतनी भाषा प्रयोग की है। देखो ! कितनी विवेक की भाषा है। कर्म के कारण आरम्भ में पड़ा है और विषयों की आसक्ति में पड़ा है – ऐसा नहीं है। आत्मा के आनन्द की रुचि है, विषयों में आनन्द नहीं मानता; आरम्भ में आरम्भ है, वह ठीक करता हूँ – ऐसी रुचि नहीं है। हिंसा, झूठ, विषय आदि व्यापार धन्धा, बड़ा करोडों-अरबों का धन्धा हो, समकिती को...

मुमुक्षु :- धन्धा कर सकता है ?

उत्तर :- धन्धा होता है, अर्थात् उसके पास होता है – यहाँ तो ऐसा बताना है। हें ? उसके पास दिखता है कि यह महाधन्धा, ऐसा व्यापार करता है। जहाज आदि का बड़ा व्यापार हो, समझ में आया ? परन्तु आत्मा के स्वरूप के आनन्द के प्रेम के समक्ष कोई प्रेम लूंट नहीं जाता, किसी चीज़ में प्रेम नहीं आता। समझ में आया ? आहा..हा... !

'अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश...' समझ में आया ? 'तीव्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भावार्थ में 'तीव्र' शब्द का प्रयोग किया है। वश है। मूल तीव्र है। तीव्र का अर्थ क्या ? अभी पाँचवा आदि (गुणस्थान) नहीं आया है। भावार्थ में तीव्र (शब्द) प्रयोग किया है न ? मूल पाठ में भी प्रयोग किया है। तीव्र का अर्थ कि उसे जरा भी मन्द (नही), पंचमगुणस्थान के योग्य जो चाहिए, वैसा भी अभी नहीं हुआ। कुछ एसी योग्यता (चाहिए, वह नहीं है)। अप्रत्याख्यान दूसरी चौकड़ी के उदय में अत्यन्त जूड़ गया है, वश है। वश है, वह सम्यग्दर्शन का दोष नहीं है; वह चारित्रदोष है। दोनों कठोर (है)। आसक्ति और रुचि दोनों में बड़ा अनन्तगुना अन्तर है। समझ में आया ?

विषयों की रुचि, वह मिथ्यात्व है और विषयों की आसक्ति, वह चारित्रदोष है – दोनों

पूरी अलग चीज़ है। बाह्य विषयों का त्यागी हो और अन्दर गहरे राग की रुचि पड़ी है, वह उसे विषय की ही रुचि है, क्योंकि राग का फल ही विषय है और उनका भोक्तापन है। समझ में आया ? जहाँ भगवान आत्मा के आनन्द की रुचि नहीं है और जिसके राग के, शुभराग की, एक मन्द राग की भी रुचि और प्रेम है, उसे राग के फलरूप विषय (मिले), उनका उसे अन्दर प्रेम है ही, उसे विषय नहीं छूटे हैं। उसे राग का प्रेम है। राग तो परवस्तु के लक्ष्य से हुआ है और राग के फल में परविषय मिलते हैं। समझ में आया ? (ज्ञानी) राग से भिन्न आत्मा के भान में सज्जित हुआ है।

दूसरे ऐसा कहे कि यह श्रीखण्ड, पुड़ी खाता है, हम रोटी खाते हैं, भाई ! यह समकिती और सदा हलुआ-पुड़ी उड़ाता है और हम रोटी खाते हैं, छाछ-पानी और दो-तीन ऐसे खाते हैं। अब, सुन न भाई ! जिसे राग के विकल्प का प्रेम और रस का भोग है, उसे बाह्य त्याग में चाहे जितना त्याग वर्तता हो, समझ में आया ? उसे मिथ्यादृष्टि का ही भोग है और आत्मदर्शन की दृष्टि में संयोग की क्रिया कोई अघाति के कारण बहुत बन जाए और घातिकर्म के उदय के वश होने से आसक्ति भी हो, तथापि वह चारित्रदोष है, अति अल्प दोष है, महान अल्प दोष है। आहा..हा... ! इन दोनों का अन्तर (भेद) करना जगत को (कठिन पड़ता है)। स्व और पर विवेक (चाहिए)। समझ में आया ?

कितने ही इसके बहाने ऐसा कहते हैं कि देखो ! समकिती को भी ऐसे भोग होते हैं न ! अमुक होता है न ! हमें चारित्रमोह का उदय है, इसलिए यह है... ! मर जाएगा। अन्दर मीठास पड़ी है और तू चारित्रमोह के उदय के वश कहता है... (मर जाएगा)। समझ में आता है ? इस तरह कीर्ति, विषय-भोग आने पर अन्दर में गुदगुदी (होने लगती है), अन्दर मीठास आती है। वह मीठास मिथ्यात्व की मीठास है। वह भले ही बाहर में बहुत अधिक त्याग हो। भाई !

मुमुक्षु :- एक को अल्पदोष है और एक को महादोष है ?

उत्तर :- एक को अल्पदोष है और एक को महा मिथ्यात्व का दोष है। एक ही घर में रहनेवाले करोड़पति के दो लड़के हों, लो ! यह कोई कहता था कि सम्यग्दृष्टि का पक्षपात है, भेदभाव करते हो, (-एसा कहता था), परन्तु कुछ भान नहीं है। बापू ! सम्यग्दर्शन अर्थात्

क्या ? भाई ! वह तो परमात्मा का पुत्र हो गया। अब उसे परमात्मा का उत्तराधिकार लेने की तैयारी है। आहा..हा...! केवलज्ञान ! वह आगे कहेंगे, देखो ! सम्यग्दर्शन तो मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी। वह १७ वें श्लोक में है, इसका अंतिम श्लोक है न ! तीसरी (ढाल का)।

मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।

पवित्रता... पवित्रता... पवित्रता... आहा..हा...! अरे..! भाई ! कहते हैं कि, चारित्रमोह के अन्तर उदय के वश पड़ा होने पर भी **'जरा भी संयम नहीं...'** जरा भी... भाषा कैसी प्रयोग की है ? लेश भी संयम नहीं है। आहा..हा...! अरे..! संयम नहीं, अस्थिरता का नहीं, बाकी पूरे लोकालोक का संयम (है) दृष्टि में निषेध हो गया है। समझ में आया ? यह बात इसके लिए तो यहाँ कहते हैं।

'जरा भी संयम नहीं है तो भी (सुरनाथ)...' देवों के इन्द्र। इन्द्र आकर सेवा करते हैं। इसमें लिखा है, हाँ ! चित्र में किया है, चित्र में किया है। चित्र सब बनाये हैं। यह चित्र बनाया है, देखो ! समकिती बैठा है, वस्त्र पहिने हुए हैं, हाँ ! है इसमें ? इन्द्र आकर हाथ जोड़ता है, देखो ! ओ..हो...! धन्य अवतार... धन्य अवतार... धन्य अवतार ! भव का किया अभाव, धन्य अवतार तेरा..! भव का किया अभाव, यह तेरा अवतार। आहा..हा...! समझ में आया ? लो, यह इन्द्र तो तीन ज्ञान का स्वामी है, समकिती है तो भी... आहा..हा...! मनुष्यपने में जो आत्मदर्शन को प्राप्त हुए, (उन्हें धन्य है)। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन (प्राप्त करने के बाद) जरा भी संयम न हो। अज्ञानी (कहता है) हम तो रूखा खाते हैं, छाछ पीते है, दो द्रव्य कम करते हैं, नीचे सोते है, चद्दर में सोते हैं, क्या है तेरे ? और यह तो ऐसा करता है, अमुक करता है।

एक बार नहीं कहा था ? बहुत वर्ष पहले (एक भाई ने) पूछा था। महाराज ! यह सब दो-दो गद्दे रेशम के गद्दों पर सोते हैं और तुम कहते हो कि निर्जरा होती है, उसे धर्म होता है। कहा-सोने से धर्म होता है - ऐसा कहा था ? और हम यहाँ नीचे सोते हैं, गद्दा पुराना हो, (तो तुम कहते हो) तुम मिथ्यादृष्टि हो, तुम्हें इसमें गृद्धि है। भाई ! (एक भाई ने) पूछा था। पहले से होशियार व्यक्ति है। इस तरह बुद्धि में पहले से तर्क (करता है)। कहा - बापू ! वह दो गद्दों पर नहीं सोता; वह तो आत्मा के आनन्द में पड़ा है; उसे बाहर की आसक्ति भले हो, परन्तु अन्दर रुचि नहीं है। तीन काल-तीन लोक की रुचि एकदम उड़ गई है ! एक समय में उड़ गयी है। जहाँ आनन्द का प्रेम जगा, अनुभव (हुआ तो) एक समय में तीन काल-तीन लोक दृष्टिमें से छूट गया है। अज्ञानी बाहर से हजारों रानियों का त्याग करके, बाहर से खाता-पीता न हो और कम खाता हो और कम बोलता हो तथा किसी की प्रकृति ऐसी हो कि धीमे धीमे बोलने का होता हो, इससे कोई वस्तु है नहीं। समझ में आया ?

जिसे भगवान आत्मा नजर में नहीं पड़ा है और राग व पुण्य के वर्तन में जिसकी बुद्धि - एकत्व वर्तती है - ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को इन्द्र आकर पूजते हैं। लो, वह अविरति है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? बहुमान देते हैं कि ओ..हो... ! तुमने मनुष्यपने में ऐसा काम किया। हम तो देव हैं, भगवान का योग था, हमें तो धर्म प्राप्त हुआ। तुम... आहा..हा... ! साधर्मी के रूप में उन्हे बहुत प्रेम आता है। समझ में आया ? अरे.. ! ऐसे माँस के पिण्ड में आत्मा को जाना, ऐसे शरीर में रोग और ऐसे में (तुमने आत्मा को जाना)। हम तो वैक्रियक शरीर के स्वामी, पूर्व का पुण्य भी बहुत, और हम तो पवित्रता लेकर आये हैं। देखो न ! फिर शब्द कैसा प्रयोग किया है !

'चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।' फिर भी देवों के स्वामी इन्द्र, जजैं अर्थात् पूजा करते हैं अर्थात् बहुमान करते हैं। बहुमान करते हैं, ओ..हो.. ! अरे.. ! अछूत हो और आत्मज्ञान हो, अछूत ! आत्मदर्शन (होवे) और अछूत हो। घर में कुछ न हो, स्त्री काली कुबड़ी हो, लड़के का ठिकाना न हो... रहने के लिए बंगला तो कहाँ से हो ? साँठे (सूखी घास) हो, ले। थोड़ा ऐसा साँठे और थोड़ा ऐसे साँठे। ऊपर से बिच्छु गिरते हों। (इन भाई के वहाँ) बैठे थे और एक बार बिच्छु गिरा। (एक भाई) और हम तो बैठे थे और पढ़ते थे तो बीच

में बिच्छु गिरा। लो ! इतना बड़ा, हाँ ! चीड़िया जैसा (बड़ा)। एक बार मैं कमरे में खुल्ला बैठा था और ऊपर से ऐसे गिरा। इतना (बड़ा) बिच्छु। क्योंकि पुराना मकान है न ! दो बिच्छु। (मकान) बहुत पुराना न ! यह तो अभी दिखता भी ठीक है, वहाँ तो कोर्ट थी। (बाकी) तो समझने जैसा है। हमने एक मकान देखा था। वहाँ उतरे थे न ? 'मोरबी' के इस ओर एक मकान था। वेला, वेला के मकान में उतरे थे। मकान समझने जैसा था। वह तो एकबार यह हो और एकबार वह हो। वहाँ 'सरा' गये थे न, 'सरा' ? सूखी घास अभी अन्दर से कुछ गिरेगा, ऐसा सब (था)। सम्यग्दृष्टि को बाहर में ऐसा भी होता है। देव आकर पूजता है, बहुमान करता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! बाहर के संयोग की अपेक्षा नहीं है।

जिसे अकेला चिदानन्द स्वभाव रुचिकर हुआ है, जिसने भव का अभाव किया है, उसे अब भव नहीं है। यह तो थोड़ा राग (होवे और) एक-दो (भव होवे, वह अलग बात है)। समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन की महिमा कहते हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या और उसकी महिमा अर्थात् क्या ? उसका स्वरूप क्या ? समझ में आया ? '**इन्द्र (जजैं हैं)।**'

'**गृहस्थ हैं...**' देखा ? गृहस्थ में रहते हैं। स्त्री-पुत्र हों, परिवार हों... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि हो। स्त्री हो, पुत्र हो, परिवार हो, व्यापार हो, धन्धा हों। देखो ! गृहस्थ है न ? '**गृहस्थ हैं, तथापि घर में नहीं राचते।**' अन्दर राग में जरा भी रुचि नहीं है। आहा..हा... ! यह समझ में आता है ? सम्यग्दर्शन में स्व-पर का विवेक हुआ है, इसलिए पर का प्रेम, अपने से भिन्न में प्रेम अन्दर से उड़ गया है, सम्पूर्ण लोक का प्रेम उड़ गया है।

स्व-पर का ज्ञान है न ? स्वपर किसे कहना ? भगवान आत्मा अनाकुल शान्तरस का स्वरूप, वह स्व और विकल्प से लेकर और पुण्य-पाप से लेकर पूरी दुनिया, वह पर (है)। आहा..हा...! अन्तरमें से

लोकालोक का त्याग दृष्टिमें से हो गया है और भगवान परमात्मा अनन्त... अनन्त केवलज्ञान का कन्द भगवान आत्मा अन्दर में आ गया है, परन्तु अस्थिरता में गृहस्थाश्रममें रहते हैं। समझ में आया ? अत: कहते हैं – गृहस्थ में हो। आदमी हो तो स्त्री भी हो और स्त्री हो तो उसका पति भी हो, पुरुष भी हो, परन्तु राचते नहीं। समझ में आया ? अरे.. ! हमारा आनन्द जहाँ देखा, उस घर में हम जाना चाहते हैं या उसमें आना चाहते हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा... !

'नहीं राचते...' गृहस्थाश्रम में कहीं उनका दिल नहीं ठहरता, कहीं मन नहीं लगता। ठहरा है, वहाँ से नहीं हटता। समझ में आया ? आठ वर्ष की बालिका सम्यग्दृष्टि हो, आठ वर्ष की कन्या ! समझ में आया ? निर्विकल्प दृष्टि, अनुभव (हुआ हो), घर में उसके मात-पिता भी कहें – लड़की ! धन्य है तुझे ! तेरे अवतार को धन्य है ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :– हमें सुनकर प्रसन्न रहना न ?

उत्तर :– सुनकर प्रसन्न रहना अर्थात ? समझना, उसे समझना। अर्थात् क्या ? उसका स्पष्टीकरण करो तो कहें। समझ में आया ?

'नहीं राचते। जिस प्रकार...' अब तीन दृष्टान्त देते हैं। आहा... ! बाहर का दूसरा कोई त्याग नहीं – ऐसा कहते हैं और अभी राग भी आसक्ति का, विषय और भोग का वर्तता है। अन्दर दृष्टि में ठहर गये हैं। कहीं रस नहीं है, रस नहीं है। किसकी तरह ? **'कमल पानी से भिन्न रहता है...'** दृष्टान्त देते हैं। कमल और जल। कमल और जल दोनों अत्यन्त भिन्न है। इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान, आत्मदर्शी उसे और यह सब बाह्य चीजें अत्यन्त भिन्न भासित होती हैं। जिसे भिन्न भासित हुआ, उसमें अहंपना कैसे आये ? जिसमें स्वभासित हुआ, उसमें उसकी अन्तर की महासत्ता का अस्तित्वपना कैसे छूटे ? समझ में आया ?

'कमल जल से भिन्न...' है न ? शास्त्र में दृष्टान्त दिया है न ? ऐसे पानी छुआ हुआ दिखता है, कमल को स्पर्शित (दिखता है), उस कमल के रोम ऐसे होते हैं न ! कि पानी उसे छूता ही नहीं, छूता ही नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? इसी प्रकार चैतन्य सम्यग्दृष्टि जीव को... उसमें नहीं आता ? ऐसे साधारण भाषा नहीं आती ? तुम नहीं बोलते ? **'सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब प्रतिपाल'** – यह सब बोलते थे या नहीं ? **'सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब**

प्रतिपाल, अन्तरंग से न्यारो रहें ज्यों धाउ खीलावे बाल' - यह बालक मेरी जंघा का नहीं, मैं तो उसकी पालक हूँ, मुझे बीस-पच्चीस (रुपये) जो देना हो वे दें। बड़ा होगा तो यह मेरा पोषण करेगा - ऐसा वह नहीं मानती, फिर भी पुत्र को जैसे संभाले उसी प्रकार नहलाती, धुलाती, खिलाती, सुलाती, खेल कराती है। समझ में आया ? अन्दर में कुछ नहीं होता। मेरा लड़का ही नहीं है न ? आहा..हा... ! फिर बोलती भी है बेटा ! तुझे कैसा है ? पुत्र ! मेरा ऐसा है। ऐसा कहती है या नहीं ? अन्दर में कुछ लेना देना नहीं होता। समझ में आया ? 'धाउ खिलावे बाल' ऐसे सम्यग्दृष्टि जगत के खेल में खड़ा दिखे, (फिर भी) अन्दर में उसे खेल का प्रेम नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'**कीचड़ में सुवर्ण...**' इस कीचड़ में सुवर्ण सो वर्ष रहे (तो भी) उसे जंग नहीं लगती, हजारों वर्ष रहे तो भी जिसे एक समय कीचड़ नहीं लगता, उसे कभी नहीं लगता। सोना कीचड़ में पड़ा (हो), कैसा चिकना कीचड़, हाँ ! ऐसा समुद्र का... आता है न ? क्या कहलाता है वह ? सीमेन्ट। ऐसा कीचड़। उस कीचड़ में पड़ा हो परन्तु सोने को कोई जंग लगता होगा ? भाई ! आहा..हा... ! ऐसे जहाँ आत्मा की दृष्टि-निर्विकल्प सम्यग्दर्शन भान हुआ (तो) कहते हैं, कीचड़ में जैसे सोना शुद्ध रहता है, वैसे प्रत्येक प्रसंग में संसार में रहने पर भी उसे लेप नहीं लगता। कहो, समझ में आया ?

'समयसार नाटक' में तो एक जगह बहुत कहा है। चलता है तो कहते हैं कि वह स्वयं स्थिर है बोलता है तो कहते हैं कि मौन है। ऐसा आता है न ? एक जगह आता है। समझ में आया ? वह विकल्प आता है, वह खिर जाता है। आहा..हा... ! अज्ञानी बाह्य त्याग करके बैठा हो, उसमें उसे अन्दर में राग के प्रेम में पड़ा (है), उसे समय-समय अनन्त संसार बढ़ता जाता है। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व। मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी, वह पुष्ट

होती है, और संसार दूसरा कहाँ है ?

जैसे, कीचड़ में सोना शुद्ध रहता है, वैसे सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में भी लेप नहीं लगता। '**(उसी प्रकार वे घर में) नगरनारिकौ) वैश्या के (प्यार यथा)...**' देखो ! दृष्टान्त दिया। दृष्टान्त में क्या ? वैश्या का प्यार। वैश्या को पैसे की सोबत है। पैसा देनेवाला एक अछूत आवे तो भी रमे, परन्तु गहराई में उसे प्रेम नहीं है। यह तो एक दृष्टान्त दिया है, हाँ ! वह कहेंगे। वैश्या का प्रेम मात्र पैसे में होता है। समझ में आया ? उसे मनुष्य के प्रति प्रेम नहीं होता, यह मनुष्य जो आया, उसके प्रति प्रेम नहीं होता, उसे पैसे के प्रति (प्रेम) है। वैसे ही धर्मी को आनन्द के प्रति प्रेम है। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेम है; जगत की किसी चीज में रुचि नहीं है। समझ में आया ? नीचे स्पष्टीकरण किया है, हाँ ! '**यहाँ वैश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गयी है।**' (किसी को ऐसा लगे कि) ऐसी उपमा क्यों दी ? ऐसी उपमा क्यों दी ? उपमाा में सिद्धान्त सिद्ध करना है। वैश्या, पैसे देनेवाला हो (और) तीन हजार दे तो अछूत होवे तो उसके साथ रमती है। उसे है कुछ ? रमती है तो प्रेम किसका है ? अछूत का है ? मनुष्य का है ? यह दृष्टान्त है। वैसे ही ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के समक्ष अन्य में कहीं प्रेम नहीं आता, कहीं मन नहीं ठहरता, मन कहीं विश्राम नहीं पाता। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**नगरनारि...**' नगरनारी कहलाती है, क्योंकि किसी एक घर की नारी नहीं, ऐसा। भाषा ऐसी प्रयोग की है न ! नगरनारी अर्थात् जो कोई मनुष्य आवे उसकी स्त्री, ऐसा। उसकी तरह प्यार-प्रेम है; उसकी तरह प्रेम होता है। जैसे उसे अन्दर में प्रेम नहीं है; वैसे ही धर्मात्मा को परिवार में, शरीर में, कर्म में (प्रेम नहीं है)। बाहर से देखो तो ओ..हो..हो...! ऐसे घर में करोड़ों का, अरबों का खर्च होता हो, घर में पुत्र का विवाह होता हो... समझ में आया ? ऐसे गहने पहनकर स्वयं बैठा हो, गहने अन्य को (पहनाये) हों, घुड़सवार, हाथी (हों)... चक्रवर्ती को चौरासी लाख हाथी (होते हैं)। उसका-चक्रवर्ती का स्वयं का विवाह हो, तब कितना होगा ? अथवा पुत्र का विवाह हो, उसे कितना वैभव होगा ? समझ में आया ? यह तो अघाति के उदय का संयोग है। स्वरूप और राग के बीच भेद पड़ गया है। राग और स्वभाव के बीच भेद पड़ गया है, भेद पड़ गया है। भेद हुआ, वह अब अभेद नहीं होगा - ऐसा कहते हैं।

जहाँ राग और पर के प्रति भेदज्ञान हुआ, उसे बाहर की चीज लाख, करोड़ हो और कदाचित आसक्ति भी हो, परन्तु उस आसक्ति और पर से जिसे अन्दर भेद पड़ गया है। समझ में आया ?

'**भावार्थ - जो विवेकी २५ दोष रहित...**' यह २५ दोष कहे न ? '**और अंगरूप आठ गुण सहित सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में जुड़ने से...**' ऐसा शब्द इसमें है। यह बात अपेक्षा से है। '**यद्यपि संयमभाव लेशमात्र भी नहीं होता...**' ऐसा सिद्ध करना है। संयम का अंश भी नहीं है, उसमें अप्रत्याख्यान की तीव्रता है – ऐसा कहना है। '**तथापि इन्द्र इत्यादि...**' इन्द्र इत्यादि, हाँ ! इन्द्र बड़ा हो, यह तो दृष्टान्त में दिया है। '**सुरनाथ जजै हैं।**' दृष्टान्त में इन्द्र दिया, परन्तु बड़ा नगरसेठ अरबपति (होवे, वह आकर पूजते हैं)। समझ में आया ? आहा..हा... ! एक अछूत की लड़की अनुभव पाकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुई हो और उसे पता चले तो अरबोंपति (वहाँ जाए)। ओ..हो... ! माता ! वह वापस विवाह करनेवाली हो, हाँ ! भाई !

'अगम प्याला पिओ मतवाला, चिन्ही अध्यात्म वासा,
आनन्दघन चेतन वहै खेले, देखे लोक तमासा।'

कहते हैं, उसे इन्द्र आदि से लेकर (सभी नमस्कार करते हैं)। इन्द्र (कहकर) बड़ी से बड़ी बात की है। गाँव का नगरसेठ हो, राजा हो, दीवान हो... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को आदर करते हैं, बहुमान देते हैं। धन्य... धन्य... ! ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भर दिया है न !

'**जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है...**' लिप्त नहीं होता। '**उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, निर्मोह (उदासीन) रहता है।**' निर्मोह रहता है। आहा..हा... ! नारियल की काचली में गोला पृथक् रहता है, उसी प्रकार पृथक गोला रहता है, कहते हैं।

'**जिस प्रकार वेश्या का प्रेम मात्र पैसे से ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता।**' ऐसा कहते हैं।

'**जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल और पृथक् ही रहता है...**' भिन्न और निर्मल दोनों। '**उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता क्योंकि वह उसे त्याज्य मानता है।**' हेय मानता है, छोड़ने योग्य मानता है। छोड़ने योग्य माने, उसका प्रेम क्या ? समझ में आया ? नीचे 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा (दी है)।

विषयासक्त: अपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमान: अपि;

मोहविलास: एष: इति सर्व मन्यते हेयं।।३१४।।

देखो ! यह 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा है। सम्यग्दृष्टि जीव, विषयासक्त होने पर भी '**सदा सर्वारम्भेषु**' वह जीव '**सर्वारम्भेषु**' समस्त प्रकार के जो संसार के आरम्भ हैं, उसके योग्य, हाँ ! '**वर्तमान: अपि**' वर्तमान में वर्तने पर भी, '**मोहविलास: एष**' यह तो मोह का विलास हैं; मेरा नहीं। समझ में आया ? यह मेरा स्वरूप नहीं '**इति सर्व मन्यते हेयं**' समज में आया ? क्या अर्थ किया है इसमें ? मोहविलास। ३१४ है न ? मोहविलास। मोहनीयकर्मविलास। '**विलसनम्**' वह चेष्टा है; मेरा स्वरूप नहीं।

'**सर्व विषयादिकर्म हेयं त्याज्यं मन्यते प्रत्यक्ष मोहविलास मोहनीयकर्म विलास विलसनम् चेष्टा।**' मेरी चेष्टा नहीं, आत्मस्वभाव की चेष्टा नहीं। समझ में आया ? '**पुत्र कलत्र शरीर धनधान्य सुवर्ण गृहादि परद्रव्यं सर्ववस्तु त्याज्य मन्यते, जानाति मन्युते। सदा निरंतरो विषयासक्तोपि।**' देखो ! यहाँ 'सदा' डाल दिया है। पाठ में सदा है न ? '**इन्द्रियाणां विशेषो आसक्ति प्रीतिगतोऽपि... विरक्तसन् सर्व हेयं परवस्तु त्याज्यं**' - जहाँ स्व और पर का विवेक है और पर का विवेक न हो, उसे पर का प्रेम होता है। जहाँ पर और स्व का विवेक हुआ, वहाँ स्व के प्रेम में पर का विवेक कैसे रहे ? तो उसे स्व और पर का अन्तर में विवेक नहीं हुआ। '**सर्व आरम्भेषु असिमसिकृषिपशुपालनादि वर्तमानोऽपि**' - पशुपालन आदि सब कहा। '**सर्व व्यापारकरोऽपि सर्वहेयं भरत चक्रीवत् मन्यते।**' दृष्टान्त दिया है। 'भरत' चक्रवर्तीवत् मानते हैं। क्या कहते हैं ? '**अपिशब्दा सर्वआगमनेषु**' प्रवर्तमान कहा, परन्तु '**विरक्ततएव सर्वहेयं मन्यते**' प्रवर्तमान कहा परन्तु फिर विरक्त लेना - ऐसा कहते हैं, ऐसी गुलांट खाता है। समझ में आया ? देखो ! उसका दृष्टान्त दिया है।

'**धात्रिबालासतिनाथपद्मिनीजलबिन्दुवत**' ऐसा दृष्टान्त दिया है। धात्रि समझे न ? माता, सती, नाथ, पद्मिनी, जलबिन्दुवत्... '**आभासम भुंजनम् राज्यं...**' बाहर से भोक्ता दिखता है। ठीक... ठीक... टीका की है। यह गाथा है।

जिसे छोड़ने योग्य माने... हाथ में सर्प पकड़ा है, वह कहीं प्रेम से (पकड़ा) नहीं है, छोड़ने के लिये हैं। ओ..हो...! जिसे आत्मा के आनन्द की प्रेम - रुचि हुई, उसे आसक्ति आदि समस्त चीजे छोड़ने योग्य है; इस कारण उसे उनका लेप नहीं लगता। समझ में आया ? अब, उसकी महिमा कहेंगे। वह जीव कहाँ-कहाँ नहीं उत्पन्न होता - यह बात करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

आचार्यदेव कहते हैं कि अनेक प्रकारके शुभ विकल्प करनेसे कोई कार्यसिद्धि तो होती नहीं । कार्यसिद्धि तो अनंत-अनंत आनन्दके सागर-ऐसे आत्माकी ओर ढलनेसे ही होती है । उधर क्यों नही झुकता ? अनेक प्रकार के शुभ विकल्पोंकी क्रियामें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे स्वानुभवरूपी कार्यको सिद्ध करनेसे भ्रष्ट होता जाता है । प्रथम आत्माका निर्णय करके स्वानुभवका प्रयत्न करना चाहिए । जो ऐसा नहीं करता, और शुभ विकल्पों में आगे बढ़ता जाता है , वह स्वानुभव-मार्गसे भ्रष्ट होता जाता है । अशुभकी ओर जानेकी तो बात है ही नहीं । श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि 'केवल वांचन ही करते रहनेसे चिन्तन शक्ति घटती है' उसी प्रकार जैसे केवल शुभविकल्पों और क्रियाकाण्डमें बढ़ते जाते हैं, वैसे ही स्वानुभव - मार्गसे भ्रष्ट होते जाते हैं । सर्व शास्त्रबोधका सार तो आत्मानुभव करना है । बारह अंगमें भी आत्मानुभूति ही करनेका निर्देश है । (परमागमसार-२८६)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ४, बुधवार

दि.९-२-१९६६, गाथा १५ से १७, प्रवचन नं.-२१

तीसरी ढाल की पन्द्रहवीं गाथा चली न ? देखो ! अन्त में उसमें कहा कि जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित छह द्रव्यों और नौं तत्त्वोंमें से अपनी आत्मा एक स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड, उसे राग से भिन्न करके, अन्तर अनुभव में प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीडी है। यह अभी १७ (वीं गाथा में) आयेगा। समझ में आया ? इस सम्यग्दर्शन प्राप्त (हुए जीव को) चारित्रमोह के उदय के वश होनेवाले विषयासक्ति-भोगासक्ति आरम्भ के परिणाम होने पर भी, उस सम्यग्दृष्टि को देव के इन्द्र भी उसका आदर करते हैं। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म। ऐसा विषय कषाय, ऐसे तीन कषाय के परिणाम सम्यग्दृष्टि को होते हैं; इसलिए उसके आधीन विषय की आसक्ति होती है और आरम्भ-परिग्रह भी अन्दर तीन कषाय परिणाम बहुत होते हैं। तीन कषाय के (परिणाम हो) तो भी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का भाव नहीं है; इसलिए उस विकार का स्वामीपना नहीं है और अनन्त गुणों का चैतन्य पिण्ड, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कहा, देखा हुआ ऐसा आत्मा, उस आत्मा को अन्दर में दर्शन-श्रद्धा निर्विकल्प प्रतीति में लेने से अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से उसे आत्मा की शान्ति और आनन्द के अनुभव में, तीन कषाय के वश होने पर भी, देव उसे पूजते हैं - ऐसा इस सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है।

मुमुक्षु :- पहले में पहला धर्म यह।

उत्तर :- पहले में पहला धर्म यह। यह इसमें अभी कहेंगे। सम्यग्दर्शन क्या है ? वह चीज क्या कहलाती है ? जैन के अलावा अन्यमति में तो यह बात तो तीन काल - तीन लोक में कहीं नहीं हो सकती।

सम्यग्दृष्टि, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को तो अभ्यन्तर में किसी प्रकार नहीं मानता, उनका

आदर नहीं करता, उनका विनय नहीं करता, उनका बहुमान नहीं करता। यह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा होता है)। निश्चयसम्यग्दर्शन में तो आत्मा एक स्वरूप अखण्ड आनन्द अनन्त गुणस्वरूप एकरूप, हाँ ! उसकी अन्तर में निर्विकल्प-रागरहित की अनुभव होकर प्रतीति (हुई, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है)। उसके साथ व्यवहार समकित में कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर नहीं करता, सेवन नहीं करता, बहुमान नहीं करता। उनका बहुमान उसे अन्तर में नहीं होता। समझ में आया ? ऐसे जीव को...

यहाँ तो ऐसा कहा न ?

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।

परन्तु अन्याय नहीं होता, हाँ ! उसे अन्याय के ऐसे कर्तव्य नहीं होते। यह अनन्तानुबन्धी गया है, इस कारण आत्मदर्शी को अनन्तानुबन्धी के योग्य जो अन्याय के कार्य (हों) - ऐसे कार्य उसे नहीं होते। 'भावदीपिका' में 'दीपचन्दजी' ने इसका बहुत विस्तार लिया है। समझ में आया ?

'**चरितमोहवश लेश...**' जो संयम के स्थान कहलाते हैं, संयम के स्थान, हाँ ! दूसरी कषाय का, तीसरी कषाय का अभाव होकर जो संयम-स्थान कहलाते हैं, वह संयम-स्थान इसे नहीं है, परन्तु स्वरूप में दृष्टिपूर्वक स्वरूपाचरण है, वह यहाँ नहीं लिया हैं, क्योंकि संयम का वजन आगे लेंगे। चारित्र के भाग में संयम का वजन देंगे। वहाँ स्वरूपाचरण अर्थात् संयम का स्वरूपाचरण कैसा होता है ? - उसकी व्याख्या आगे करेंगे। यहाँ संयम का स्थानरूपी संयम नहीं है, उसे स्वरूपाचरण नहीं कहा है, इतना यहाँ कहा जाता है।

मुमुक्षु :- सीताजी को अन्याय नहीं हुआ ?

उत्तर :- वह अन्याय नहीं है। उन्हें लोक की लाईन में अभी उतना राग था। उस राग के कारण लौकिक इतना होता है। ज्ञान में आनन्द का अनुभव वर्तता है। अरे... ! इस आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द... सम्यग्दर्शन में हाँ ! इस कारण उन्हें कहीं आनन्द का सन्तोष हो - ऐसी

उन्हें प्रीति और रुचि नहीं होती। यह बात है जरा। समझ में आया ?

कहते हैं, '**सुरनाथ जजै हैं...**' परन्तु इससे कहीं उसमें उसे गृद्धि है, एकाकार है, उसमे - विषय-भोग में (तन्मय है - ऐसा नहीं है)। ऐसा लोग कहते हैं न कि हमारे क्रम में आया होवे तो ? भाई ! ऐसा नहीं होता प्रभु ! जिसे क्रम में आया हो - ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मिट गये होते हैं। इसमें समझ में आया ? जिसे, क्रम में आयी हुई बात (है) - ऐसा जो मानता है, उसे तो मिथ्यात्व अर्थात् भ्रम और अनन्तानुबन्धी मिट गया है। समझ में आया ? उसे आत्मा का अनुभव, प्रतीति और आत्मा का आनन्द आया है। उस आनन्द के समक्ष यह क्रमबद्ध आवे, उसे जानता है - ऐसा कहा जाता है।

अज्ञानी होकर (ऐसा कहे कि) हमारे क्रम में ऐसा आना था (तो यह ठीक नहीं है)। यह देखो ! समकिती को संयम नहीं है, इसलिए हमारे भी ऐसा तीव्र असंयम होवे या ऐसा होवे तो क्या बाधा ? ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन में तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि वर्तती है। समझ में आया ? यह तो जरा विचार क्या आया ? कि लेश संयम नहीं है, इसलिए कोई (ऐसा कहे कि) ऐसा हमारे क्रम में ऐसे परस्त्री के भोग आये... समझ में आया ? मांस खाने की क्रिया या ऐसी होवे तो (वह कहे) क्रम में (होती है), नहीं समझता, उस वस्तु को नहीं समझता। समझ में आया ?

जिसे क्रमबद्धपर्याय का निश्चय हुआ है... यहाँ तो क्रमबद्ध के नाम से स्वच्छन्द सेवन करता है, इस बहाने (सेवन करे) ऐसा नहीं होता (- यह कहना है)। समझमें आया ? क्रमबद्ध में यह नहीं होता, यह मेरा (कहना है)। अभी तो यह सिद्ध करना है। सम्यग्दर्शन में, क्रमबद्ध में सम्यग्दर्शन आ जाता है। समझ में आया ? जो देहादि की या स्व की क्रमसर पर्याय होती है - ऐसा जिसे अन्तर्मुख में अनुभव में निर्णय होता है, उसे आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। उसे क्रम(सर) हो, उसका यह जाननेवाला होता है। उसकी मर्यादा ऐसी होती है। समझ में आया ? ऐसी बात है, भाई !

मुमुक्षु :- आनन्द का अनुभव हुआ, वही क्रमबद्ध को मानता है न ?

उत्तर :- वही क्रमबद्ध को मानता है, दूसरा नहीं मानता। क्यों ? क्योंकि उसे राग और

पर की क्रिया की कर्तापने की बुद्धि छूट गयी है। उसे वह बुद्धि घुसी है ज्ञान और आनन्द में। आहा..हा... ! वह अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान और अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु आत्मा, उसके अनुभव में वह क्रमबद्ध का जाननेवाला रहता है। उसे भले लेश संयम न हो तो भी उसे सम्यग्दर्शन और आनन्द का भान है और असंयम में वर्तता होता है, उसके क्रम में वह भाव आया है। समझ में आया ? तथापि उसे देव, देवो के इन्द्र भी जिसे साधर्मी के रूप में बहुमान देते हैं। ओ..हो... ! हम देवरूप से आये, परन्तु मनुष्यपने में प्राप्त ऐसे रोग का शरीर, मेला, ऐसा शरीर, उसके अन्दर ऐसा काल, उसमें तू यह आत्मदर्शन को प्राप्त हुआ। ओ..हो... ! उसे बहुमान देते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह महान कीमती चीज़ की बात करते हैं। आहा..हा... !

कहते हैं, गृहस्थ में रहने पर भी जल से भिन्न कमल (जैसे होता है वैसे) उसका उसे लेप नहीं है, लेप नही है। आहा... ! जिसने अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के चैतन्य के दरबार खोले हैं, उसे इस विकल्प में प्रेम कहाँ है ? समझ में आया ? असंयम है, हाँ ! परन्तु उस असंयम में उसे रस, प्रेम नहीं है। क्या करे, आ जाता है, स्थिरता नहीं है, इसलिए सहन करता है, बेगार की तरह (सहन करता है)। समझ में आया ?

कहते है, '**नगरनारी का प्यार...।**' जैसे बाहर वैश्या का प्यार दिखता है (परन्तु) अन्दर में नहीं। कुछ नहीं, कुछ नहीं; केवल पैसे का प्रेम है, उसका (प्रेम) नहीं। वैसे ही धर्मी को आत्मा के आनन्द के प्रेम के समक्ष गृहस्थाश्रम में होने पर भी पर में रुचि नहीं है।

'**हेम अमल।**' जैसे कीचड़ में सोना है; वैसे भगवान आत्मा देह, वाणी.. देखो ! देह, वाणी की अस्ति है, हाँ ! देह है, कर्म है, वाणी है, पुण्य-पाप के विकल्प भी हैं, यह सब अस्ति रखकर, उनसे रहित चिदानन्द के अनुभव की दृष्टि हुई। अकेला ऐसा कहे कि आत्मा एक ही है और दूसरा कुछ है नहीं - वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का पता नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा है, उसके अन्त गुण हैं, उनकी अनन्त पर्याय हैं। उसमें विकार की अवस्था भी है, उसे संयोग में शरीर, कर्म आदि सब है। ये है, उसमें अकेला आत्मा निकाला। अन्य (संयोगो को) रखा है, उड़ा नहीं दिया है।

मुमुक्षु :- कीचड़ में सोना ?

उत्तर :- हाँ, कीचड़ में कीचड़ है, कीचड़ है, सोना भी है - ऐसा कहते हैं। इसी तरह सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के भाव हैं, शरीरादि है, स्त्री आदि हैं, भोगादि की वासना है। आहा..हा... ! परन्तु उस कीचड़ में जैसे सोना छूता नहीं है, सोने को जंग नहीं लगता है; वैसे ही अन्तर दृष्टि चैतन्य पर सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा के पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द पर दृष्टि होने से उसे इस विषय-वासनादि होने पर भी लेप नहीं है। है अवश्य, हाँ ! है, उसकी बात है। सब उड़ गया, हो गया जाओ, अकेला आत्मा (है- ऐसा नहीं)। सम्यग्दर्शन हुआ तो फिर अकेला आत्मा (ही है), दूसरा कुछ नहीं - ऐसा नहीं है - ऐसी बात करते हैं, भाई ! वह असंयम है - ऐसा सिद्ध करके, सम्यग्दर्शन-आत्मभान हुआ, इसलिए उसे अब दूसरा कुछ नहीं रहा, असंयमभाव नहीं रहा, विषयवासना नहीं रही, विकल्प में आरम्भ का भाव ही नहीं, शरीर के संयोग का सम्बन्ध ही नहीं, बाह्य वस्तु ही नहीं - ऐसा नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सब चीज़ हो और स्वयं भी अन्दर दूसरा अलग है; उस अलग के भान में अलग चीज़ में उसे एकत्व नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

नीचे अन्तिम दृष्टान्त दिया है न ? रोगी को औषधि सेवन। समझ में आता है ? रोगी, औषधि सेवन करता है, परन्तु प्रेम होगा ? रहो सदा औषध (ऐसा होगा) ? रोग सदा रहना और औषध सदा (रहना), (डोक्टर को) बारम्बार बुलाना, (लोग) देखने आवे - ऐसा होगा ? धर्मी को उस रोग की तरह जैसे रोगी औषधि मानता है - ऐसे रागादि की वासना में, वह संयोग में दिखता है। उसे अन्दर में भावना नहीं होती।

कैदी को कारागृह - दूसरा दृष्टान्त दिया है न ? नीचे है न ? भाई ! कैदी को कारागृह। आहा..हा... ! जैसे कैदी कारागृह में पड़ा है, वैसे धर्मी को ये पुण्य-पाप के विकल्प, शरीर, वाणी - इन सब कारागृह में स्वयं भिन्न कैदी है। उनका उसे उत्साह नहीं है। कारागृह का उत्साह होगा कि इसमें रहूँ ? लम्बा काल बढ़े तो ठीक ? गरीब मनुष्य को रोटियाँ नहीं मिलती हो तो ऐसा होता होगा कि यहाँ रहे, बाहर रोटियाँ नहीं मिलती। ऐसे कैदी को कारागृह में प्रेम नहीं होता। कारागृह कहा है न ? साधारण जेल नहीं। समझ में आया ? कठोर जेल, मजदूरी

कराकर दम निकाल दे। यह उस काठिया को बैठा दे – ऐसा नहीं है वहाँ। बंदीखाने ना मत करो, जैसे केदी को उत्साह नहीं है वैसे। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण... अनन्त गुणरूप एक है। अकेला एक है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा के भान में, वह गृहस्थाश्रम में आसक्त नहीं होता, क्योंकि उसे कारागृह समान, रोग की औषधि समान मानता है।

समकित की महिमा, सम्यग्दृष्टि के अनुत्पत्ति स्थान तथा सर्वोत्तम सुख और सर्व धर्म का मूल

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भबन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।
तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी।।१६।।

अन्वयार्थ :- (सम्यक्धारी) सम्यग्दृष्टि जीव (प्रथर नरकविन) पहले नरक के अतिरिक्त (षट् भू) शेष छह नरकों में - (ज्योतष) ज्योतिषियों देवों में, (वान) व्यंतर देवों मे, (भवन) भवनवासी देवों में (षंड) नपुंसको में, (नारी) स्त्रियों में, (थावर) पाँच स्थावरों में, (विकलत्रय) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा (पशु में) कर्मभूमि के पशुओं में (नहि उपजत) उत्पन्न नहीं होते। (तीनलोक) तीनलोक (तिहुकाल) तीनकाल में (दर्शन सो) सम्यग्दर्शन के समान (सुखकारी) सुखदायक (नहिं) अन्य कुछ नहीं है, (यही) यह सम्यग्दर्शन ही (सकल धरम को) समस्त धर्मों का (मूल) मूल है; (इस विन) इस सम्यग्दर्शन के बिना (करनी) समस्त क्रियाएँ (दुखकारी) दु:खदायक हैं।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु प्राप्त करते हैं तब दूसरे से सातवें नरक के नारकी, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, सब प्रकार की स्त्री,

ऐकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमि के पशु नहीं होते; (नीच फलवाले, विकृत अंगवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते) विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यंच ही होते है। कर्मभूमि के तिर्यंच भी नहीं होते। कदाचित् *नरक में जायें तो पहले नरक से नीचे नहीं जाते। तीनलोक और तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है। इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं वे दु:खदायक हैं।

अब इस समकित की महिमा और सम्यग्दृष्टि के अनुत्पत्ति के स्थान, सम्यग्दृष्टि कहाँ–कहाँ नहीं उत्पन्न होता, (वह कहते हैं)। यहाँ तो ऐसा है परन्तु अब भविष्य में भी कहाँ–कहाँ नहीं उत्पन्न होता – ऐसी बात करते हैं, भाई ! क्या कहा ? आत्मा की अन्तरदृष्टिवन्त सम्यग्दृष्टि को अभी यहाँ भी पर की एकत्वबुद्धि नहीं है। वस्तु सब है, परन्तु अब मरने के बाद अब भविष्य में भी उसे ऐसे स्थान नहीं होते, उसका ऐसा पुण्य साथ होता है, कहते हैं। पवित्रता तो ऐसी है; अब उसके साथ सम्यग्दृष्टि को पुण्य भी ऐसा होता है कि भविष्य में वह अमुक स्थान में उत्पन्न नहीं होता। आहा... ! और '**सर्वोत्तम सुख तथा सर्वधर्म का मूल-**' इन चार का इसमें वर्णन करते हैं।

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भबन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।

* ऐसी दशा में सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक के नपुंसको में भी उत्पन्न होता है; उनसे भिन्न अन्य नपुंसकों में उसकी उत्पत्ति होने का निषेध हैं।

टिप्पणी :– जिस प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरक की आयु का बन्ध करके फिर समकित को प्राप्त हुए थे, उससे यद्यपि उन्हें नरक में तो जाना ही पड़ा किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की ही रही। इस प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व तिर्यंच अथवा मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं वे भोगभूमि में जाते हैं किन्तु कर्मभूमि में तिर्यंच अथवा मनुष्यरूप में उत्पन्न नहीं होते।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥१६॥

देखो ! इसमें विशेष क्या कहते हैं ? ये सब स्थान हैं। कितने ही ऐसा कहते हैं कि कुछ नहीं है, यह सब कुछ नहीं है; एक ही आत्मा... एक ही आत्मा, सब कुछ नहीं है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।

सम्यक्धारी, अभी सम्यग्दर्शन हुआ, फिर भी अभी उसे भव होते हैं। सम्यग्दर्शन हो गया, इसलिए अब भवमुक्त हो गया, आत्मानुभव हुआ इसलिए हो गया, इसलिए जाओ, अनन्त में अनन्त मिल गया – ऐसा नहीं है। उसे (–ऐसा कहनेवाले को) कुछ भान नहीं है। उसे भान ही नहीं है – आत्मा क्या ? सम्यग्दर्शन क्या ? बस ! हो गया, आत्मा का साक्षात्कार हुआ तो सबमें मिल गया, उसे फिर बाद में दो क्या और अनुभव क्या और यह क्या ?

यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि अनुभव उपरान्त उसे असंयम भाव है और असंयम में ऐसा अशुभ असंयम होने पर भी, उसे ऐसा अशुभ असंयम होने पर भी उसकी वासना में ऐसा शुभभाव होगा कि जिसमें वैमानिक स्वर्ग आदि में जाए – ऐसा जिसका पुण्य होता है। सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए उसे इस भव में मोक्ष हो जाए, फिर दूसरा कुछ नहीं, उसे भव-बव कुछ नहीं – ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करते हैं।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥

'**(सम्यकृत्व धारी) सम्यग्दृष्टि जीव (प्रथम नरक बिन)**' ऐसा कहकर सात नरक सिद्ध किये। सात नारकी (नरक) हैं, गति सात नारकी हैं; नीचे नारकी के सात स्थान हैं। अधोलोक है; कुछ नहीं (है) – ऐसा नहीं है। उसमें '**पहले नरक के अतिरिक्त शेष छह नरकों में...**' नहीं उपजता। समझ में आया ? पहली नरक में जाता है। आयु बँध गयी हो, सम्यग्दर्शन के

पहले आयु बंध गयी हो (तो)। सम्यग्दर्शन (होने के) बाद (नरक की) आयु नहीं बँधती। यहाँ तो समुच्चय बात की है न ? सम्यग्दृष्टि को आत्मदृष्टि हुई, अनुभव हुआ, तथापि उसे असंयम भाव आदि रहा; अब उसे असंयम होने पर भी उसे पुण्य ऐसा बँधेगा... समझ में आया ? कि वह छह नरको में तो नहीं ही जाएगा। पहली नरक में (जा सकता है, यदि पूर्व आयु बँध गई होवे तो।)

'**ज्योतिषी देवों में...**' नहीं जाता। ज्योतिष देव सिद्ध किये। ज्योतिष देव है। समझ में आया ? वह ज्योतिष में उत्पन्न नहीं होता। कोई कहे कि वह तो समकित है, देव में जाए। देव में जाता है परन्तु ज्योतिष में नहीं जाता। '**व्यंतरदेवों में...**' नहीं जाता। नीचे व्यन्तरदेव की भूमि है। यह ज्योतिषदेव है, उसमें नहीं जाता। '**भवनवासी देवों में...**' नहीं जाता। समझ में आया ? '**नपुंसकों में...**' पहले नरक में नपुंसक होता है, इसके अतिरिक्त स्त्री-पुरुष (मनुष्य) नपुंसक में नहीं जाता।

मुमुक्षु :- पहली नरक में जाता है...

उत्तर :- पहली नरक की आयु बँध गयी। कहा न ? पहले आयु बँध गई। पहले नरक और तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो... समझे न ? तिर्यञ्च की बँध गई हो तो भोगभुमि में जाता है। नरक की आयु बँध गई हो तो पहली नरक में जाता है। बँध गई हो, उसकी बात है। समकित के पहले मनुष्य की आयु बँध गयी हो तो वह भोगभूमि में जुगलिया में उत्पन्न होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च समकिती ने पहले आयु न बाँधी हो तो स्वर्ग में ही जाते हैं - यह बात अभी अधिक सिद्ध करनी है। वैमानिक में जाता है। यहाँ नपुंसक से इनकार करते हैं तो वे कौनसे नपुंसक ? स्त्री-पुरुष के नपुंसक, मनुष्य और तिर्यञ्च के नपुंसक। समझ में आया ? नरक का नपुंसक होता है - यह बात तो पहले कही है। ओहो..हो...! कितनी बात सिद्ध करते हैं !

तीन वेद है, इतने देवों के स्थान हैं, इतनी नारकी के स्थान हैं, उसमें वह पहले नरक में जाता है, छह में नहीं जाता। देव के इतने स्थान - ज्योतिष, भवनपति और व्यंतर में नहीं जाता। मनुष्य में तीन वेद है - स्त्री, पुरुष और नपुंसक; तो वह नपुंसक में अवतरित नहीं होता। समझ

में आया ?

मुमुक्षु :- स्त्री में नहीं अवतरित होता ?

उत्तर :- वह तो बाद में कहेंगे। यहाँ तो पहले यह (कहते हैं)।

अब '**(नारी) स्त्रियों में...**' अवतरित नहीं होता। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री नहीं होता। वैमानिक देव में भी इन्द्राणी नहीं होता। यह सब स्थान है, उनके योग्य परिणाम समकिती को ऐसे ही होते हैं। उसकी विधि, रीति कहते हैं। समझ में आया ? उसे नव तत्त्व का, जैसा है वैसा यथार्थ ज्ञान होता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...! स्त्री में उत्पन्न नहीं होता। इन्द्राणी भी स्त्री होती है, वह मिथ्यादृष्टि हो, वह होती है, फिर भले वहाँ समकित प्राप्त करे और एकावतारी हो। सौधर्म देवलोक की 'शची' इन्द्राणी है, वह एकावतारी है, परन्तु यहाँ से उत्पन्न होती है, तब मिथ्यात्व लेकर उत्पन्न हुई है। यह सब अस्तित्व है। इस अस्तित्व में इतना अस्तित्व पूरा आत्मा पूर्ण अस्तित्व को अन्तर (में) स्वीकारा, उसे अभी असंयम का अस्तित्व होने पर भी, उसे ऐसे अमुक-अमुक अस्तित्व में उपजना नहीं होता – ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। आहा..हा...!

मूढ़ है, मूढ़ हो जाएगा मूढ़। विकल्प तोड़ो, विकल्प तोड़ो... क्या विकल्प तोड़े ? वस्तु क्या है ? अस्ति क्या अस्ति ? एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड भगवान एक-एक आत्मा अखण्ड है कौन ? विकल्प तोड़ डालो, विकल्प घटा डालो। बस ! किसका विकल्प घटे ? नास्ति हो जाएगा। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समीप में है।

उत्तर :- समीप में है ? यह 'रजनीश' न ? हाँ ! वह गप्पेगप्प मारता है। बेचारें जैन भ्रम में पड़े हैं, कितने ही बेचारों को भान नहीं होता। अकेले वेदान्त... वेदान्त पढ़े हुए को बेचारों को बातें अच्छी लगती है। अत्यन्त मूढ़ता की बात है। वीतरागदर्शन से एक-एक बात एकदम उल्टी है; सब एकदम उल्टी (बात है)।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो सब देखा, सर्वज्ञ ने सब देखा, उसमें सर्वज्ञस्वभाव आत्मा

की प्रतीतिवाले को इन सब स्थानों में ऐसा स्थान नहीं होता। उसे निर्विकल्प अवस्था प्रकटी है इसलिए। परन्तु फिर भी अभी विकल्प है। ऐसा नहीं है कि सब एक हो गया है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं न कि ईशु, महावीर, बौद्ध और गांधी सब एक ही है। महा मूढ़ है। आहा..हा..! बहुत होते हैं, बहुत देखे हैं न ? वहाँ आया था न ? उसका व्यक्ति है। 'मल्हारगढ़' पुस्तक लेकर आया था न ? महाराज ! यह देखो ! हमने कहा – गृहीत (मिथ्यादृष्टि का) हम नहीं पढ़ते हैं। उसे जरा अच्छा नहीं लगा। यह सब मिथ्यात्व की पुस्तकें हैं, सब मिथ्यात्व की पुस्तके हैं, कहा। 'मल्हारगढ़' लाया था। उसका एक व्यक्ति दाढ़ीवाला था। नहीं आया था ? अभी जैन में रहनेवालों को जैन का पता नहीं होता।

मुमुक्षु :– लौकिक बाते करते हैं।

उत्तर :– लौकिक बात नहीं, वे बाते लोकोत्तर करें, लौकिक तुम्हारे जैसी नहीं होती। बेचारे लोग उसमें उलझते हैं न ? ऐसा बस ! महावीर–कथित विचार छोड़ देना, बौद्ध–कथित विचार छोड़ देना, तब वे कहें – ओ..हो...! अपने भी 'कानजीस्वामी' कहते हैं कि विकल्प छोड़ देना। सब लगता है एक, हाँ ! 'श्रीमद्' भी ऐसा कहते हैं कि विकल्प छोड़ देना। समझ में आया ? कुछ पता नहीं।

यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त द्रव्य देखे हैं। उनमें से यह एक भगवान द्रव्य पूरा–पूर्ण अखण्ड एक द्रव्य है। ऐसे अखण्ड अनन्त आत्मा हैं। ऐसे एक अखण्ड आत्मा के भानसहित होने पर भी अभी उसका खण्डपना पर्याय में बाकी है। आहा..हा...! उस खण्ड में भी, वह असंयम के वश होने पर भी उसे ऐसा शुभभाव आवे, तब आयु बँधती है; अशुभभाव के काल में आयु नहीं बँधती – ऐसी उसकी मर्यादा है। आहा..हा...! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि युद्ध में हो (–ऐसे) अशुभभाव के समय आयु नहीं बँधती – ऐसी उसकी मर्यादा है। समझ में आया ? आहा..हा...! यह वस्तु की स्थिति की मर्यादा ही ऐसी है।

कहते हैं, वह स्त्री में उत्पन्न नहीं होता। समझ में आया ? '**पाँच स्थावरों में...**' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु (वनस्पति) वस्तु है, हाँ ! पाँच स्थावर जीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति अनन्त जीव हैं। उन अनन्त जीवों में सम्यग्दृष्टि – राग और पर से भिन्न हुई अवस्था – उसमें नहीं उत्पन्न होता। उत्पन्न अवश्य होगा, अभी भव बाकी है इसलिए, परन्तु कहाँ ?

वैमानिक स्वर्ग मैं, पुरुषवेद में, मनुष्य-तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो तो भोगभूमि में जुगलिया में उत्पन्न हो, वह अलग बात है। समझ में आया ?

'द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में...' उत्पन्न नहीं होता। यह सब कितना विचार माँगते हैं ? **'कर्मभूमि के पशुओं में उत्पन्न नहीं होता।'** इसलिए स्पष्टीकरण किया। क्यों ? समझ में आया ? कि सम्यग्दृष्टि के पहले यदि तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो तो भोगभूमि में (उत्पन्न होता है)। यह भोगभूमि सिद्ध की। जुगलिया है, कितनों की तीन पल्य की लम्बी आयु है। समझ में आया ? तीन कोष के... तीन कोष के ऊँचे (लम्बे) न ? है। इस सम्यग्दृष्टि को पहले से पशु की आयु बँध गयी हो तो वहाँ जाता है। कर्मभूमि के पशु में नहीं जाता। आहा..हा...! समझ में आया ?

'तीन लोक, तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई सुखदायक नहीं है...' आहा..हा...! तीन लोक और तीन काल में... कितना वजन है।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;

सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी।

इसके बिना क्रिया - पंच महाव्रत, दया, दान, व्रत, भक्ति, शास्त्र का ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना शास्त्र का पठन, यह सब क्रियाकाण्ड दु:खकारी है। यहाँ करनी दु:खकारी आयी है, अपने तीनों दु:खकारी आया था, 'परमात्मप्रकाश' समझ में आया ? आहा..हा...! भगवान आत्मा पूर्ण सर्वज्ञसवभावी है - ऐसी जहाँ अन्तर दृष्टि और अनुभव हुआ, कहते हैं - उस सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी जगत में कोई नहीं है। देखो ! सुखकारी (अर्थात्) किसका सुख ? आत्मा के आनन्द (जैसा) सुखकारी दूसरा कोई नहीं है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संयोगी सुख होगा न उसमें ?

उत्तर :- कहा है धूल में ? यह बात तो की (है)। संयोग का सुख है या नहीं उसे ? यह स्त्री, पुत्र, असंयम में पड़ा है वह। उसमें सुख माने तो सम्यग्दर्शन कहाँ है ? यह बात तो पहले हो गयी। होता है, दिखता है कि देखो, स्त्री के साथ बैठा है। अन्दर में लेश स्पर्शता नहीं है। वह तो कीचड़ में सोना कहा न ? इन ९६ हजार इन्द्राणी के वृन्द में समकिती बैठा हो, उनके साथ

बात करता हो, खिलखिलाकर हँसता हो, यह करता हो; अन्दर में कुछ लेना-देना नहीं है। यह वह बात। समझ में आया ?

मिथ्यादृष्टि त्यागी, ब्रह्मचारी, बाल ब्रह्मचारी हो और पूरी जिन्दगी स्त्री का सेवन (न किया हो)... समझ में आया ? पंच महाव्रत धारण किये हों, भगवानने कहा हो वैसा व्यवहार, हाँ ! पंच महाव्रत भगवान ने कहे वे, और नग्न दिगम्बर हुआ हो... समझ में आया ? परन्तु अन्तर में भेद - राग और पर से भेदज्ञान नहीं हैं, इस कारण दो भेद नहीं, वे दो एक है। अनेक को अनेक रूप न मानकर, अनेक को एकरूप अन्तर प्रतीत में अनुभव करता है। मूढ़ है, कहते हैं। उसे कोई त्याग नहीं है, कहते हैं। ठीक ! क्या हो गया परन्तु इसमें ? वह क्रिया तो देह की है। आहा..हा... !

भगवान आत्मा, राग और पर की पर्याय से अत्यन्त भिन्न (है)। समस्त वस्तुये हैं, होने पर भी उनके अस्तित्व में यह नहीं और इसके अस्तित्व में वे नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? लोगों को भी वह बाहर की महिमा लगती है, हाँ ! बाह्यत्याग होवे, भाई ! (सम्यग्दृष्टि को) भव ही नहीं है। यह भव और भव के भाव का आदर नहीं है। अब प्रश्न कहाँ ? कहो, अकेला भव रहित स्वभाव का आदर है, कहो ! फिर भी कमजोरी के कारण ऐसा कोई राग आवे तो उसे भव रहता अवश्य है, इसीलिए तो कहा है। समझ में आया ? कहेंगे, कोई स्वर्ग में जाता है, कोई मोक्ष में जाता है। यहाँ तो स्वर्ग में ही जाता है। यहाँ तो आगे बढ़े हुए की बात नहीं करनी है न ? चौथे (गुणस्थानवाले) की बात करनी है। समझ में आया ?

'सम्यग्दर्शन जैसा सुखदायक दूसरा कुछ नहीं है...' दूसरा कुछ नहीं है - इसका अर्थ क्या है ? कि चारित्र सुखदायक नहीं या सम्यग्ज्ञान (सुखदायक नहीं) - ऐसा नहीं लेना। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के अतरिक्त दूसरी चीज़ों (की बात है)। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुखदायक है ही। वे सुखदायक नहीं है - ऐसा नहीं है। यहाँ तो तीन में पहली चीज़ तो सम्यग्दर्शन है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई भी चीज़ हो - दया, दान, व्रत का भाव शुभ महाव्रत के परिणाम, बालब्रह्मचारी, बाह्य क्रियाकाण्ड, लाखों स्त्रियाँ छोड़कर, हजारों रानियाँ छोड़कर, बाह्य त्यागी हुआ हो तो भी अन्दर आत्मदर्शन क्या है - उसका भान नहीं है तो वह

मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन जैसा कोई सुख नहीं है और (मिथ्यादर्शन) जैसा दुःख नहीं है। मिथ्यादर्शन जैसा दुःख नहीं है। वह दुःखी है। आहा..हा...! अनाकुल भगवान आत्मा आकुलता की अस्ति से भिन्न है। ऐसे अनाकुल तत्त्व के भान बिना अकेली आकुलता के साथ एकता है, वह दुःखी है और आकुलता तथा अनाकुलता का भेद-भान है, उसके जैसा कोई सुखी नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- सुख के लिए पैसे का पूछता है।

उत्तर:- पैसे का पूछता है। दुनिया में तो यही पूछे न ? कितने पैसे हैं ? धूल है ? यह है ? यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! तेरे विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह दुःखदायक है। सम्यग्दृष्टि को विकल्प तो इस पुण्यबन्ध के कारण भाव आये, वह भाव दुःखदायक है। आते हैं, होते हैं परन्तु दुःखदायक है। समझ में आया ? ओ..हो..हो...!

'**सम्यग्दर्शन के समानसुखदायक...**' सुख करनेवाला '**अन्य कुछ नहीं है...**' कुछ नहीं है, इसलिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की बात कहेंगे। यह तो विशेष है, वह तो महासुखदायक है, वह तो विशेष कहेंगे। समझ में आया ? यह तो सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त की क्रिया पुण्य-पाप के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति के (परिणाम) या बाहर के संयोग - ये सब सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य में कहीं सुख नहीं है - ऐसा कहना है, हाँ !

'**यह सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है...**' समस्त धर्म अर्थात् ? अज्ञानियों के द्वारा कथित धर्म, वह (नहीं)। आत्मा... भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त आत्मा देखे, उनमें से यह एक आत्मा, उसकी जो श्रद्धा-ज्ञान, शान्ति, आनन्द, क्षमा आदि के अनन्त धर्म, उनमें यह सबका मूल है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। आत्मा की समस्त निर्मल पर्यायें, क्षमा, शान्ति, निर्मानता, निर्लोमता, अमानपना... समझ में आता है ? इत्यादि-इत्यादि निश्चय समिति-गुप्ति इत्यादि जो जीव की धर्म पर्यायें उनमें सबका मूल यह सम्यग्दर्शन है, क्योंकि पूरा आत्मा प्रतीति में, अनुभव में लिये बिना उसमें शक्ति की व्यक्ति का कारण तो यह है। समझ में आया कुछ ?

'**यह सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मो का मूल है...**' सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित आत्मा,

उसका जो सम्यग्दर्शन, उसकी समस्त भगवान के द्वाराकथित निश्चय धर्म की पर्यायों में मूल तो यह है। इसके बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इसके बिना चारित्र नहीं होता, इसके बिना क्षमा आदि (नहीं होते)। निर्मान, ऐसे शान्ति दिखे, प्रकृति शान्त... शान्त... यह सब शान्ति सम्यग्दर्शन के बिना झूठी है। समझ में आया ? आहा..हा... ! इसके बिना... लो, यह तो स्वयं कहते हैं।

'इस सम्यग्दर्शन के बिना समस्त क्रियायें दुःखदायक है...' समझ में आया ? एक सम्यग्दर्शन आत्मा की निर्विकल्प अनुभव दृष्टि के बिना जितनी शास्त्र के पढ़ने की क्रिया, दया, दान, व्रत, भक्ति की क्रिया, पूजा की क्रिया, भानरहित अन्तर ध्यान की क्रिया, सम्यग्दर्शनरहित ध्यान की क्रिया दुःखदायक है। समझ में आया ? यह भी ऐसा ध्यान तो करे न ? किसका ध्यान ? वस्तु के भान बिना ध्यान कहाँ आया तेरा ?

मुमुक्षु :- मस्ती (का आनंदानुभव) तो करता है।

उत्तर :- मस्ती करता है अज्ञान की। आर्तध्यान हो, आर्तध्यान, उसकी मस्ती होती है। ऐसे बहुत बाबा होते है मस्त.. मस्त ऐसे मानो। हों मूढ़ मिथ्यादृष्टि ! आहा..हा... !

'इस सम्यग्दर्शन के बिना...' समस्त क्रियाओं में क्या बाकी रहा ? दया, दान, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मकथा, मन्दिर बनाने का भाव... मन्दिर तो पर वहाँ रह गया, भाई ! क्या हुआ यह ? आहा..हा... ! भाई ! जिसका मूल नहीं, उसके वृक्ष फूले-फले है - ऐसा कैसे कहना ? 'मूलं नास्ति कुतो शाखा' - जहाँ पहली वस्तु ही क्या है ? एक भगवान पूर्णानन्द एक-एक आत्मा भिन्न, उसका अन्तर में भान नहीं - ऐसे अनन्त परमात्मा-आत्मा भिन्न-भिन्न सब स्वतन्त्र है। समस्त आत्मायें परमात्मा हो सकते हैं। एक नहीं, हाँ ! एक हो सके नहीं, तीन काल में कभी एक नहीं होते। आहा..हा... ! ऐसे आत्मा के भान बिना समस्त क्रियायें दुःखदायक है, दुःख की दाता है। पुण्य भाव करे, वह दुःख का दाता है - ऐसा कहा, लो ! ऐसा कहा या नहीं इसमें ? व्रत के परिणाम, पंच महाव्रत के परिणाम दुःख के देनेवाले है - ऐसा कहते हैं, लो !

मुमुक्षु :- शास्त्र का ज्ञान तो सुख देनेवाला है न ?

उत्तर :- सब दु:ख का देनेवाला है। उसके कारण धर्म होता होगा ? अरे.. ! भगवान ! पूरा आत्मा प्रभु पड़ा रहा, पूरी अस्ति पड़ी रही। अस्ति - महातत्त्व भगवान पूरा आत्मतत्त्व क्या है ? उस बिना की सब बातें दु:खदायक हैं, कहते है।

'**सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु...**' मृत्यु अर्थात् समझाना क्या ? देह छूटे, उसका नाम मरे। आत्मा मरता कहाँ है ? समझाने की शैली क्या होगी ? परन्तु उसे अभी देह होता है, वह देह छूटता है - ऐसा सब सिद्ध करना है। '**तब दूसरे से सातवें नरक का नारकी...**' उसमें नहीं जाता। '**ज्योतषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक...**' पहले नरक के नपुंसक के अतिरिक्त '**समस्त प्रकार की स्त्री...**' समस्त प्रकार की स्त्री में नहीं जाता।

इसमें चिह्न किया है, नहीं ? देखो ! यह सब किया है, हों ! देखो ! गति बनायी है। छह नरक लिये हैं। यह लिखा है, क्या कहलाता है ? ज्योतिषी। यह चन्द्र ज्योतिषी (देव) है। यह व्यंतर, स्थावर सब अलग-अलग लिये हैं। यह तो ठीक, यहाँ देखो ! मोक्ष का महल लिया, देखो ! सीढ़िया ! सम्यग्दर्शन पहली सीढी ली है। और यहाँ उस नपुंसक को कहाँ लिया है ? यह रहा, देखो ! नपुंसक। एक ने स्त्री का वेष पहिना है, परन्तु है

नपुंसक वह ढोल बजाता है। ऐसे नपुंसक भी अभी होते हैं। स्वयं (नपुंसक), हो परन्तु फिर स्त्री के वस्त्र पहिनता है, ऐसे ढोल बजाता है, देखो ! यह बजाता है। समझे न ? मनुष्य के नपुंसक में उत्पन्न नहीं होता - ऐसा बताना है। समझ में आया ?

'एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमि के पशु नहीं होते...' अर्थात् पहले (आयु) बँध (गयी होवे तो) भोगभूमि के होते हैं। **'(नीच फलवाले, विकृत अंगवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते);...'** समझ में आया ? **'विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होते हैं।'** विमानवासी देव होते हो या आयु बँध गयी होवे तो भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होते हैं। **'कर्मभूमि के तिर्यञ्च भी नहीं होते। कदाचित् नरक में जाएँ तो पहले नरक से नीचे नहीं जाते। तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है।'** भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित समस्त धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उत्तम क्षमा आदि परमात्मा के द्वारा कथित, हाँ ! इन सबका मूल सम्यग्दर्शन है। **'इसके बिना जितने क्रियाकाण्ड है, वह सब दुःखदायक होते हैं।'** नीचे स्पष्टीकरण किया है। ठीक, बात हो गयी है। कहो, समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान चारित्र का मिथ्यापना

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यकृता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।१७।।

अन्वयार्थ :- (यह सम्यग्दर्शन) (मोक्षमहलकी) मोक्षरूपी महल की (परथम) प्रथम (सीढी) सीढ़ी है; (या बिन) इस सम्यग्दर्शन के बिना (ज्ञान चरित्रा) ज्ञान और चारित्र (सम्यकृता) सच्चाई (न लहै) प्राप्त नहीं करते; इसलिये (भव्य) है भव्य जीवो ! (सो) ऐसे (पवित्रा) पवित्र (दर्शन) सम्यग्दर्शन को (धारा) धारण करो। (सयाने 'दौल') हे समझदार दौलतराम ! (सु) सुन, (समझ) समझ और (चेत) सावधान हो, (काल) समय

को (वृथा) व्यर्थ (मत खोवै) न गँवा; (क्योंकि) (जो) यदि (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (नहिं होवै) नहीं हुआ तो (यह) यह (नर भव) मनुष्य पर्याय (फिर) पुन: (मिलन) मिलना (कठिन है) दुर्लभ है।

भावार्थ :- यह [१]सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है। सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए। पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधकर कहते हैं कि - हे विवेकी आत्मा ! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर अन्य अनुभवी ज्ञानियों से प्राप्त करने में सावधान हो; अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि समकित प्राप्त न किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुन: पुन: प्राप्त नहीं होते।

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में हैं। आकुलता का मिट जाना वह सच्चा सुख है; मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिए।

निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र- इन तीनों की एकता सो मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वास्तव में बन्धमार्ग है; लेकिन निश्चयमोक्षमार्ग में सहचर होने से उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

आत्मा की परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ श्रद्धान सो निश्चयसम्यग्दर्शन है और परद्रव्यो

१ सम्यग्दृष्टि जीवकी, निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्ध तें होय तो सम्यक् दोष न कोय।।

से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। तथा सातों तत्त्वों का यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान करना सो व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वों के भेद की अटल श्रद्धा शुभराग होने से वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु निम्न अवस्था में (चौथे, पामचवें और छट्ठे गुणस्थान में) निश्चय समकित के साथ सहचर होने से वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन और शंकादि आठ-यह सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं, तथा निःशंकितादि आठ समकित के अंग (गुण) हैं; उन्हें भलीभाँति जानकर दोष का त्याग तथा गुण का ग्रहण करना चाहिए।

जो विवेकी जीव निश्चय सम्यक्त्व को धारण करता है उसे जब तक निर्बलता है तब तक; पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किंचित् संयम नहीं होता, तथापि वह इन्द्रादि के द्वारा पूजा जाता है। तीन लोक और तीन काल में निश्चय समकित के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। सर्व धर्मों का मूल, सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी यह समकित ही है; उसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं।

आयुष्य का बन्ध होने से पूर्व समकित धारण करनेवाला जीव मृत्यु के पश्चात् दूसरे भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, पशु, हीनांग, नीच गोत्रवाला, अल्पायु तथा दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव होता है देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमि में उत्तम क्षेत्र में मनुष्य ही होता है। यदि सम्यग्दर्शन होने से पूर्व- १ देव, २ मनुष्य, ३ तिर्यंच या ४ नरकायु का बन्ध हो गया हो तो, वह मरकर १ वैमानिक देव, २ भोगभूमि का मनुष्य; ३ भोगभूमि का तिर्यंच अथवा ४ प्रथम नरक का नारकी होता है। इससे अधिक नीचे के स्थान में जन्म नहीं होता। - इस प्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन की अपार महिमा है।

इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्तवविचार द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यदि इस मनुष्यभव में निश्चय समकित प्राप्त नहीं किया तो पुनः मनुष्यपर्याय प्राप्ति आदि का सुयोग मिलना कठिन है।

अब, '**सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र का मिथ्यापना।**'

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।१७।।

'**मोक्षमहलकी परथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा; या बिन ज्ञान चरित्रा।**' नाम तो दिया, हाँ ! मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी-सौपान-सीढ़ी यह है। पहले सोपान नहीं हो तो दूसरा सोपान नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- चारित्र है, इसलिए सम्यग्दर्शन ही होगा।

उत्तर :- परन्तु चारित्र कहाँ ? चारित्र हो वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है (- ऐसा कहते हैं), परन्तु वह चारित्र था कब ? पंच महाव्रत के परिणाम, दया, दान, अहिंसा - यह सब विकल्प तो शुभभाव है। वह चारित्र कैसा ? समझ में आया ?

'**मोक्षरूपी महल की पहली (सीढ़ी) सोपान है...**' पहली ही सीढ़ी यह है। अभी जहाँ पहली सीढ़ी ही हाथ नहीं आयी, वह मोक्ष में चढ़ने लगे (- ऐसा नहीं हो सकता)। समझ में आया ? पहली सीढ़ी (आयी न हो और) छलांग लगाकर दूसरी, तीसरी (सीढ़ी पर) जाए तो ? परन्तु (ऐसा) होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना कोई ज्ञान भी सच्चा नहीं होता और व्रत भी सच्चे नहीं होते। मिथ्याज्ञान पुण्यबन्ध का कारण दुःखदायक हो सकता है। आहा..हा... !

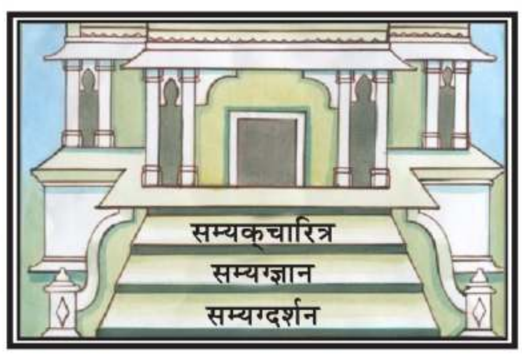

मुमुक्षु :- छलांग लगाकर चढे।

उत्तर :- यह होता ही नहीं। वह चढ ही नहीं सकता। यह ख्याल है, दिमाग में तो

ख्याल था।

'इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र... मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है...' यहाँ तो ऐसा सिद्ध करते हैं। पूर्णानन्द की आत्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष; मोक्ष अर्थात् पूर्ण शुद्धता। अवस्था-पर्याय है। मोक्ष, वह पर्याय है।

मुमुक्षु :- इसमें बड़ा महल बताया है।

उत्तर :- हाँ कहा न। बड़े महल की पर्याय है, निर्मल पर्याय है। मोक्ष, वह कोई गुण नहीं, द्रव्य नहीं; आत्मा की पूर्ण निर्मल शुद्ध आनन्द अवस्था है, पर्याय है, हालत है - उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्षमहल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन संवर-निर्जरास्वरूप है। लो ! समझ में आया ? उसका लक्ष्य ठेठ है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य पूर्ण शुद्ध और आनन्द प्रकटने के लिए है और उसके बिना पूर्ण शुद्ध की श्रेणी की धारा कहाँ से चलेगी ? समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को बीच में राग हो, आस्रव हो, पुण्य हो, छठवें गुणस्थान में मुनि को, सच्चे सम्यग्दर्शनसहित को व्रत भी आते हैं, परन्तु वह आस्रव है, उसमें उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती ! उसकी तो शुद्धता... पूर्ण शुद्धता उस शुद्धता के अंश बढ़ते जाते है, परंतु उस शुद्धता के अंश पर्याय बढ़े और पूर्ण शुद्ध हो उसकी शुरूआत की शुद्धता सम्यग्दर्शन से होती है; उसके बिना शुद्धता (पूर्ण नहीं होती)। वह शुद्धता, हाँ ! शुभभाव की शुद्धता नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- शुभभाव...

उत्तर :- नहीं, नहीं; शुभभाव पहली सीढ़ी का फल नहीं है और शुभभाव का यह फल नहीं हैं। कहो, समझ में आया ?

यह चैतन्य गोला अनन्त गुणों का पिण्ड शुद्ध आनन्दकन्द है, जिसकी शक्ति में अनन्त परमात्मा पड़े हैं, एक आत्मा में ! ऐसे अनंत आत्मा के परमात्म स्वरूप की दृष्टि बिना, कहते हैं, पूर्ण परमात्मा ऐसी मोक्षगति की श्रेणी उसके बिना इसका सब मिथ्या है। पहली श्रेणी ही यह है।

'इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र...' क्या भाषा ली है ? देखो ! **'सच्चाई प्राप्त नहीं करते...'** मिथ्यापना भले पावें। झूठा ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? चाहे

जितना पढ़ा हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व (पढ़ा हो) हजारों-लाखों लोगों को रंजन करता हो। ओ..हो..हो... ! क्या पढ़ाई और क्या इसका ज्ञान ! धारावाही ! बिना पुस्तक दो-दो, पाँच-पाँच घण्टे मुँह से बात करे, परन्तु सम्यक् भान, अन्तरदृष्टि के इस भान बिना वह समस्त ज्ञान सच्चेपन को प्राप्त नहीं होता। लो !

'**और चारित्र...**' सम्यग्दर्शन के बिना पाँच महाव्रत धारे, नग्न दिगम्बर हो जाए, मुनि, हाँ ! द्रव्यलिंगी, द्रव्य समकित और द्रव्य चारित्र। द्रव्य समकित अर्थात् उसकी व्यवहार श्रद्धा हो - देव-शास्त्र-गुरु की (श्रद्धा हो) निश्चय बिना, हाँ ! यह सब उसके सच्चेपने को प्राप्त नहीं होता। समझ में आया ? आहा..हा... ! ऐसा कहा कि सम्यग्दर्शन हो तो फिर ज्ञान-चारित्र भी होता है। ऐसा साथ कहा न ? परन्तु उसके बिना ज्ञान-चारित्र नहीं होते अर्थात् सत्य नाम नहीं पाते, सब मिथ्या।

'**इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...**' देखो ! प्रथम में प्रथम भगवान आत्मा नव तत्त्व में अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप से भिन्न ऐसा पूर्ण अखण्ड आत्मा, एकरूप अपने अभेद द्रव्य की श्रद्धा प्रथम में प्रथम प्रकट करो। इस पवित्र श्रद्धा के बिना धर्म का एक कदम भी नहीं होगा। समझ में आया ? आहा..हा... ! थोड़े में भी बहुत भर दिया है। '**हे भव्यजीवों !**' भाषा ऐसी ली है न ? अभव्य नहीं लिये। '**धारो भव्य पवित्रा**' अभव्य को नहीं होता, इसलिए भव्य लिया है। देखो ! जगत में अभव्य जीव हैं - यह सिद्ध करते हैं। कभी-भी मुक्ति प्राप्ति नहीं करें - ऐसे अभव्य जीव जगत में अनन्त है। अनादिकाल के है और (अनन्त काल) रहेंगे। तब भव्य नाम आया न ? हे भव्य ! छाँटकर कहा, उन अभव्योमें से निकालकर कहा। समझ में आया ? आहा..हा... ! और जीव के दो भाग ? भव्य और अभव्य... (फिर इसमें) विवाद। अज्ञानी को तो क्षण में और पल में आपत्ति (होती है)। दो भाव है, दो भाव।

हे भव्य ! '**ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो।**' ऐसी सिफारिश की है। अब, वे एक सिफारिश स्वयं को करेंगे और दूसरों को करेंगे। यह एक शैली बाकी है।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ५, गुरुवार
दि.१०-२-१९६६, गाथा-१७, प्रवचन नं.-२२

'छहढाला' की तीसरी ढाल है, उसकी आखिरी की १७वीं गाथा है। है न ?

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।१७।।

उसका अर्थ, उसका अन्वयार्थ है न ? देखो ! क्या कहते हैं ? '**(यह सम्यग्दर्शन ही) (मोक्षमहल की) मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढी है;...**' देखो ! पहली बात यह आई। सम्यग्दर्शन – पहली सीढ़ी तो यह है। आत्मा में अन्दर आनंद शुद्ध पडा है, वह पूर्ण आनंद की प्राप्ति होना उसका नाम मोक्ष है। पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद आत्मा में अंदर पडा है, उसकी पर्याय में–अवस्था में पूर्ण आनंद प्राप्त होना, उसका नाम मोक्ष (है)। उस मोक्षमहल की प्रथम सीढी–सोपान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की शुरूआत भी होती नहीं। क्योंकि मोक्षमार्ग में पहले तो सम्यग्दर्शन है।

'**मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है; (या बिन) इस सम्यग्दर्शन के बिना...**' सम्यग्दर्शन क्या (है) ? वह बात चली है, पहले आ गई है। परद्रव्य से भिन्न... वह आ गया है न ? परद्रव्य से भिन्न आत्मा की रुचि भली है। भगवान आत्मा शरीर, कर्म, पुण्य और पाप का विकारी भाव से भिन्न अपना स्वरूप शुद्ध आनंदकंद है, उसकी अंतर में दृष्टि होन। उसका नाम सम्यग्दर्शन पहले कहने में आया है। समझ में आया ?

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। आत्मा अर्थात् ज्ञानानन्द शुद्ध आनंदस्वरूप आत्मा है,

(उसकी) परद्रव्य से भिन्न और पुण्य-पाप का भाव जो आस्रव होता है उससे भी भिन्न अपना आत्मा आनंद और ज्ञायकस्वरूप है, उसका अंतर में भान होकर प्रतीत होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के बिना उसका ज्ञान हो या वर्तन आदि हो, वह सब मिथ्या है - यह कहते हैं, देखो !'छहढाला' यह तो सादी हिन्दी भाषा है।'दौलतराम' कृत 'छहढाला' है। समझ में आया ?

'इस सम्यग्दर्शन के बिना...' अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानंदस्वरूप है, उसका अंतर में अनुभव हुए बिना, उसका सम्यग्दर्शन-अंतर में प्रतीत हुए बनि कोई **'ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नहीं करते;...'** चाहे जितना पढ़ा हो परंतु सम्यग्दर्शन बिना वह ज्ञान, ज्ञान कहने में आता नहीं। समझ में आया ? अनंतकाल में यह क्या चीज है, वह उसने यथार्थपने सुनी नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा को जो एक समय में तीन काल तीन लोक देखने में आये ऐसे केवली परमात्मा ने आत्मा का स्वरूप ऐसा देखा कि, पुण्य-पाप का विकारी भाव होता है, उससे भिन्न देखा है।

मुमुक्षु :- किसको ?

उत्तर :- आत्मा को। पर के आत्मा को भी (ऐसा देखा है)। समझ में आया ? ऐसे आत्मा में... रात को सब प्रश्न चले थे उसका अर्थ एक ही है, **'भूदत्थमस्सिदो खलु'**। वह बात विशेष चलेगी, लेकिन अभी नहीं। समझ में आया ? वह जब चलेगी तब चलेगी। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसका ज्ञान होना, वही सब का सार है। क्रमबद्ध का, व्यवस्थित पर्याय होना, सर्वज्ञ ने देखा ऐसा होना, सब का एक ही लक्ष्य और एक ही स्वरूप है। समझ में आया ?

चैतन्य भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञायक सूर्य है। ज्ञायक सूर्य आत्मा (है), उसमें शुभाशुभभाव उठते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का भाव (होता है), वह भी आस्रवतत्त्व है, वह आत्मा में नहीं है। समझ में आया ? वस्तु स्वभाव में नहीं है। ऐसा आत्मा का अंतर में स्वलक्ष्य करके त्रिकाली ज्ञायकभाव का राग से रहित होकर, स्वभाव में एकत्व होकर अनुभव में प्रतीत करनी वही अनंत-काल में नहीं प्राप्त की ऐसी सम्यग्दृष्टि है। इस

सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितना ज्ञान करे, चाहे जितना व्रत, तप करे.. तो कहते हैं कि, इसके बिना '**ज्ञान और चारित्र (सम्यक्ता) प्राप्त नहीं करते**;...' सच्चापना उसे मिलता नहीं, सच्चाई की छाप उसे मिलती नहीं।

मुमुक्षु :- क्यों नहीं मिलती ?

उत्तर :- झूठा है, प्रतीत में तत्त्व ही झूठा है जो वस्तु ज्ञायक चिदानंद है, उसका तो भान है नहीं, तो ज्ञान तो उसका करना है। पर का ज्ञान नहीं (करना) है। समझ में आया ? आत्मा में ज्ञान है, आनंद है, श्रद्धा है, शांति आदि अनंत गुण हैं। जब उसकी प्रतीति हुई तो ज्ञान, ज्ञान कहने में आता है और उसका भान हुआ तो ज्ञान के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता (हो), अंतर आनंद में स्थिर हो, उसे चारित्र कहते हैं लेकिन सम्यग्दर्शन ही नहीं है, क्या चीज़ है, उसकी ही उसे खबर नहीं।

कहते हैं कि, '**इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नहीं करते**;...' उसे सम्यक्ता लागू नहीं होती। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं कहने में आता है। समझ में आया ? क्योंकि मोक्षमहल की प्रथम सीढी है। उसमें कहा है न ? उसमें लिखा है, देखो ! बड़ा महल है न ? महल है, देखो ! पहले सम्यग्दर्शन है, बाद में सम्यग्ज्ञान है, बाद में सम्यक्चारित्र है। देखो, है ? महल में चढने की सीढ़ी बनाई है। सीढ़ी में पहले सम्यग्दर्शन लिया है।

मुमुक्षु :- पुण्य क्यों नहीं लिया है ?

उत्तर :- पुण्य क्या है, पुण्य तो विकार है। समझ में आया ? पुण्य की प्रतीति, आत्मा की प्रतीति करने से पुण्य का भाव मेरे में नहीं है - ऐसी प्रतीति आती है। पुण्यतत्त्व भिन्न है, नव तत्त्व में पुण्यतत्त्व भिन्न है। आत्मतत्त्व भिन्न है, बंधतत्त्व भिन्न है, संवर, निर्जरातत्त्व भिन्न हैं। पहली सीढी यह ली है। थोड़े छोटे अक्षर हैं। महल लिया है न ? देखो न ! मोक्षमहल... मोक्षमहल की प्रथम (सीढ़ी)।

अंतर भगवान आत्मा... ! क्रमबद्ध में भी वह आता है। क्रमबद्ध का ज्ञान करनेवाला कौन ? आत्मा। आत्मा का ज्ञान हुए बिना क्रमद्ध का ज्ञान उसे यथार्थ होता नहीं। दर्शन बिना

ज्ञान यथार्थ नहीं होता – ऐसा कहा। समझ में आया ? मूल चीज़ की खबर नहीं और अनादि से ऐसे ही चलता है। कहते हैं कि, सम्यक् आत्मा के अंतरबोध बिना दया, दान का विकल्प जो राग आता है, वह भी पुण्यबंध का कारण है। ऐसा सम्यग्दर्शन हो तो भान, ज्ञान होता है, नहीं तो ज्ञान सच्चा होता नहीं। समझ में आया ?

'**हे भव्य जीवो !**' देखो ! अब स्वयं संबोधन करते हैं। 'दौलतरामजी' स्वयं अपने को (संबोधन करते हैं)। (हिन्दी में) पोते नहीं बोलते ? 'दौलतरामजी' अपने को संबोधन करते हैं और दूसरों को भी संबोधन करते हैं। '**हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...**' है ? यह तो सादी हिन्दी भाषा में है। हिन्दी भाषा (में) यह 'छहढाला' है। 'छहढाला' है, साधारण हिन्दी भाषा में है, लेकिन गागर में सागर भर दिया है। सारे जैनदर्शन का सार गागर में भर दिया है।

कहते हैं कि, '**पवित्र सम्यग्दर्शन...**' पवित्र क्यों लिया है ? निश्चय है इसलिए। व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वह विकल्प है, राग है। निश्चयसम्यग्दर्शन है, वहां व्यवहार होता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा होती है लेकिन वह राग है। राग है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है; पवित्र सम्यग्दर्शन नहीं। पवित्र सम्यग्दर्शन तो भगवान आत्मा, विकल्प जो शुभ-अशुभराग है, उससे हटकर स्वयं की अखंड आनंदमय ज्ञायकमूर्ति है, उसका अंतर में ज्ञान करके प्रतीत करनी, अनुभव में भास होकर प्रतीत करनी, उसका नाम पवित्र सम्यग्दर्शन कहने में आता है।

इसलिए लिया है, देखो ! '**हे भव्य जीवो ! ऐसे...**' ऐसे अर्थात् उपर कहा ऐसे सम्यग्दर्शन को – परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप का ज्ञान। '**पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...**' समझ में आया ? '**धारण करो...**' अर्थात् तुमसे प्रकट होता है। कर्म से, कर्म निकले तो धारण होता है और उसके पुरुषार्थ बिना धारण होता है – ऐसा नहीं। समझ में आया ?

पर्याय व्यवस्थित है, सर्वज्ञ ने देखी है तो पुरुषार्थ बिना व्यवस्थित का ज्ञान किसने किया ? यह आत्मा शुद्ध अखंड ज्ञान है – ऐसा अंतरबोध हुए बिना प्रतीत कहाँ से आयेगी ?

और पुरुषार्थ बिना स्वभाव का निर्णय कहाँ से होगा ? पुरुषार्थ से होता है, कर्म से नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, **'हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...'** अपने आप ही प्रकट होगा, जब काललब्धि आयेगी, भगवान ने देखा होगा तब होगा – ऐसा यहाँ नहीं कहा है।

मुमुक्षु :– दूसरी जगह पर कहा है।

उत्तर :– दूसरी जगह पर दूसरी बात है। वहाँ कहा है कि, ऐसा आत्मा जब तुम्हारी दृष्टि में आयेगा तो भगवान ने ऐसा देखा है। तुम्हारा पुरुषार्थ संयोग से, विकार से हटकर अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से स्वभाव का भान हुआ तो उसी समय में सम्यग्दर्शन पर्याय होनेवाली थी, वही भाव था, वही कर्म का अभाव समय में है – ऐसा भगवानने देखा है। परंतु कर्ता कौन है ? भगवान करते हैं या तुम करते हो ? तुम्हारे श्रद्धागुण की पर्याय तुम करते हो या भगवान करते हैं ? भगवान तो सर्वज्ञ हैं, वे तो पर हैं। भगवान (अन्य के) आत्मा के कर्ता नहीं। जैसे जगत का कोई ईश्वरकर्ता नहीं है, ऐसे आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय के कर्ता भगवान नहीं है। भगवान तो जाननेवाले हैं। इस कारण से कहते हैं, भाई ! कर्ता होकर तुम धारण करो, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! बहुत थोडे शब्दो में बहुत भर दिया है। 'दौलतरामजी' पंडित। पहले के पंडित ने बहुत अच्छी बात (कही है), गागर में सागर भर दिया है।

भगवान आत्मा की सम्यक् प्रतीति, पवित्रता धारण करो। देखो ! यहाँ से पवित्रता शुरू होती है। राग नहीं, पुण्य नहीं, विकल्प नहीं, शुभभाव नहीं। समझ मे आया ? आहा..हा... ! अब कहते हैं, ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन तुमने अनंतकाल में प्राप्त नहीं किया। उसके बिना – आत्मज्ञान बिन अंतर बार सब बाते की। समझ में आया ? 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन...' वह भी 'दौलतरामजी' (कहते हैं)। आगे आयेगा न ? आगे। इसमें आगे आयेगा। कहाँ है ? कौन-सी (गाथा) है ? कौन-सी (गाथा की) पंक्ति है ? ज्ञान में होगी। इस (चौथी) ढाल में होगी। चौथी ? देखो ! वही (गाथा) आयी। देखो ! पाँचवी (गाथा) है। देखो ! चौथी ढाल, पाँचवा श्लोक। इसी में है, देखो ! तीसरी (ढाल का)

अंतिम श्लोक चल रहा है, इसके बाद की चौथी (ढाल) । तीसरी ढाल का अंतिम श्लोक चल रहा है और सम्यग्ज्ञान चलेगा, उसकी यह पंक्ति हैं। पाँचवी है, देखो ! पाँचवी।

'**कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;...**' ९९ पन्ना है। '**कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;...**' करोड़ जन्म तप करो, करोड़ वर्ष के करो और करोड़ भव करो लेकिन आत्मा ज्ञान चिदानंदमूर्ति के आनंद का स्वाद आये बिना, कर्म झरै (नहीं) । '**ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरै ते।**' सम्यग्ज्ञानी-आत्मज्ञानी अंतर आत्मा में विकल्प से रहित होकर अंतर ध्यान में अंतर्मुहूर्त रहें तो भी जो करोड़ भव में करोड़ वर्ष तप करें उससे जो कर्म खिरते हैं, इससे अनंतगुने कर्म सम्यग्दृष्टि को झरते हैं।

'**मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना,...**' '**पै निज आतमज्ञान**' पै निज आतम, हाँ ! भगवान का ज्ञान भगवान के पास है। निज आत्मज्ञान बिना '**सुख लेश न पायौ।**' यह तो ज्ञान का अधिकार है। यह चल रहा है, वह दर्शन का अधिकार है। दर्शन के बाद ज्ञान अधिकार है। यह चल रहा है, वह दर्शन का अधिकार है। दर्शन केबाद ज्ञान अधिकार में यही ज्ञान लेंगे। ज्ञान यानी आत्मज्ञान। दर्शन जैसे आत्मा का दर्शन, वैसे ज्ञान भी आत्मा का ज्ञान; पर के ज्ञान की बात यहाँ नहीं है। आत्मा का ज्ञान हुए बिना अनंत बार मुनिव्रत धारण किया। उपर कहा न ? '**ग्रीवक उपजायो**' उत्तम ग्रैवेयक हैं, वहाँ जन्म धारण किया लेकिन आतमज्ञान बिना सुख लेश (न पायो) । एक सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना आनन्द के एक अंश का अनुभव उसे हुआ नहीं, उसके बिना उसे धर्म हुआ नहीं। समझ में आया ? वह बाद में कहेंगे। यह तो तीसरी (ढाल चल रही है) ।

'**हे समझदार दौलतराम !**' स्वयं अपने को कहते हैं। 'दौलतरामजी' अपने को कहते हैं, देखो ! हे '**(सयाने)**' सयाने... सयाने। '**हे समझदार दौलतराम ! (सुन-सुन)...**' स्वयं को कहते हैं, सुन ! और दूसरे को भी कहते हैं, सुन ! है 'दौलतराम' ! यह दौलत, आत्मा का आनन्दराम, अंतर में अंतर संपदा (है) । अंतर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद शांति आत्मा में पड़ी है। ऐसी दौलत का राम-आत्मा, आत्माराम दौलतराम है। हे दौलतराम ! समझदार 'दौलतराम'। ऐसी भाषा ली है। सयाने हो, भैया ! तुम तो सयाने आत्मा हो। विकार

और पर से प्रभु ! विवेक करनेवाले समझदार हो, तुम मूढ नहीं हो। तेरी चीज़ ऐसी है – ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? अरे.. ! प्रभु ! तुम तो सयाने हो न ! समझदार हो न ! तेरे आत्मा में आनंद है और पुण्य-पाप का विकार दु:खरूप है, उससे भिन्न ऐसे तुम समझदार हो। कहते हैं कि 'दौलतराम' सुन ! हम तुमको कहते हैं, आत्मा को आत्मा कहते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा... आत्मा को संबोधन करता है। हे आत्मा ! तेरा स्वरूप देह, वाणी, मन, कर्म और विकार से भिन्न है, ऐसा तुम सम्यग्दर्शन धारण करो, ऐसे तुम सयाने हो, तुम विवेकी हो, तुम समझदार हो – ऐसा आत्मा को कहते हैं। सुन, समझ। अंतर में सुन और समझ और चेत। तीन शब्द लिये हैं। सुन, समझ (और) चेत, तीन शब्द लिये हैं। यह तो हिन्दी भाषा सादी है न ? क्यों ? भाई ! यह मास्टरजी जैसी सूक्ष्म भाषा नहीं है।

कहते हैं कि, हे प्रभु ! आत्मा सुन ! मात्र सुन ऐसा नहीं,समज और सावधान होओ। समझ और सावधान होओ, देखा ! वहाँ मोह का अभाव दिखाते हैं। आहा... ! तेरी चीज तेरे पास है। हिरन की नाभि में कस्तूरी है, ढूंढता है बाहर। ऐसे भगवान आत्मा में अंतर में आनंद, शांति आदि जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने प्रकट किया, वह सब आत्मा में हैं। समझ में आया ? कहते हैं कि हे सयाने ! सुन, समझ, सावधान हो। '**समय को व्यर्थ न गँवा;...**' आहा..हा... ! काल वृथा मत गँवा, भगवान ! अनंत काल में मुश्किल से समय मिला है, अनंत काल के परिभ्रमण में भटकते-भटकते मुश्किल से मनुष्य का देह अल्पकाल के लिये मिला है। ऐसे काल में प्रभु ! तुम व्यर्थ काल मत गँवा – ऐसा आत्मा को कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सबको कहते हैं, अरे... ! आत्मा ! अनादि काल से प्रभु ! तुम भटक रहे हो, भगवान ! चार गति में चौरासी (लाख योनि के) अवतार में तुझे मुश्किल से मनुष्यदेह मिला। उस मनुष्यदेह में सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ जो आत्मा कहते हैं, उसे सुन। आहा.. ! आत्मा को सुन – ऐसा कहा। भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य आनंदमूर्ति है, उसे तू समझ। उसमें विकार है नहीं, शरीर, कर्म उसमें है नहीं। भगवान ! तेरा समझने का काल है। आहा..हा... ! कितना संबोधन किया है ! गृहस्थाश्रम में रहते थे। गृहस्थाश्रम में थे या नहीं ? स्त्री-पुत्र सब

थे, हो, वे उनके पास रहे, वे कहाँ घुस गये हैं ? आत्मा में कहाँ घुस गये हैं ? वे उनमें हैं, देह देह में है, स्त्री स्त्री में है, पैसा-पैसा धूल में है, पैसा धूल और धूल में है, आत्मा में कहाँ घुस गया है ? समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में कहते हैं, भाई ! गृहस्थाश्रमी पैसेवाले को ऐसा कहते हैं ? धूल कहाँ उसकी है ? धूल तो जड़ की है। वह तो मिट्टी है, अजीवतत्त्व है। अजीव से तेरी चीज तो भिन्न है। अजीव की ममता करता है उससे भी तेरी चीज भिन्न है। वह बात तो यहाँ कहते हैं, तू एकबार बात सुन ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अजीवतत्त्व से तो तेरी चीज भिन्न है और अजीव पर तू ममता करता है कि, मेरा है, ममता करता है, उस ममता से भी तेरी चीज भिन्न है। ममता तो विकार है, आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व जीवतत्त्व नहीं होता। समझ में आया ? क्या करे ? ऐसे ही काल गँवाता है। मूढपने अनंत काल गँवाया।

कहते हैं कि, हे सयाने ! समय व्यर्थ न गँवा। आहा..हा... ! तेरे एक-एक समय की कीमत है, प्रभु ! अनंत काल में महा कौस्तुभमणि मिलना भी सुलभ है लेकिन ऐसा मनुष्यदेह, उसमें ऐसा आत्मा का भान करने का अवसर महा महा दुर्लभ है। समझ में आया ? नववींग्रैवेयक अनंत बार गया तो भी उसने आत्मा का ज्ञान किया नहीं। ज्ञान करने का तेरा अवसर है - ऐसा कहते हैं। देखो ! आ..हा.. !

'व्यर्थ न गँवा;...' ऐसा नहीं कहते हैं कि, अभी हमारी काललब्धि परिपक्व नहीं हुई तो क्या करें ? ए..ई.. ! जब काललब्धि होगी, तब पुरुषार्थ होगा... भगवान ने देखा होगा तब होगा - ऐसा नहीं कहते हैं। समझ में आया ? भगवानने देखा ऐसा होगा - ऐसा जिसने माना और काललब्धि है, उसका जिसे ज्ञान होता है उसे आत्मा में पुरुषार्थ करके (निर्णय) होता है। काल व्यर्थ न गँवा, प्रभु ! काल व्यर्थ न गँवा। आहा..हा... ! भाई ! आत्मा को समझने का, प्रतीत करने का, श्रद्धा करने का तेरा काल है। देखो ! वही कहते हैं। तुझे क्षयोपशम है (परंतु) क्षयोपशम का ज्ञान तुम पर की ओर लगाते हो। तेरा क्षयोपशम तो है (लेकिन) पर में लगाते हो, वह तेरा काल व्यर्थ हो रहा है। लगा... आत्मा में। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'समय को व्यर्थ न गँवा;...' गजब बात कही है। काल को निरर्थक मत छोड़, सार्थक

कर दे। भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति तुम हो न ! सावधान होकर अंतर में प्रतीत कर, सावधान होकर श्रद्धा कर; काल को वृथा मत गँवा। '**(क्योंकि)**...' क्योंकि कहते हैं न ? '**यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ**...' देखो ! आत्मदर्शन-देह, वाणी, मन, कर्म, धूल से भिन्न, पुण्य-पाप का विकल्प जो दया, दान, काम, क्रोध शुभाशुभभाव आस्रव से भिन्न, ऐसे आत्मा का अंतर में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो तेरा परिभ्रमण नहीं मिटेगा। आहा..! भाई !

क्या परपदार्थ तुझे काम आते हैं ? और परपदार्थ को तुम काम आते हो ? क्या पुण्य-पाप के विकार तेरे काम आते हैं ? वह तो विकार है। भगवान आत्मा अनंत-अनंत शांतरस, आनंदकंद प्रभु आत्मा हे, उसे काम में ले - ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आता है ? समझ में आया ? आ..हा...! यह आपके लिये हिन्दी चलती है, नहीं तो गुजराती में चलता था। हमें बहुत हिन्दी नहीं आती है, साधारण-साधारण चलती है। समझ में आया ?

भगवान ! यहाँ तो आत्मा को भगवान कहकर ही बुलाते हैं। 'समयसार' में 'आस्रव अधिकार' में 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज दिगम्बर संत दो हजार वर्ष पहले जंगल में रहनेवाले (थे), उनके बाद 'अमृतचंद्राचार्य' हुए। आज से नौसो वर्ष पहले (हुए)। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के बात ११०० वर्ष बाद हुए। जंगल में रहनेवाले आत्मध्यान में, आनंद में मस्त 'अमृतचंद्राचार्यदेव' दिगम्बर मुनि उन्हों ने ताडपत्र पर टीका लिखी। वे कहते हैं कि, अरे..! भगवान आत्मा ! एसा कहते हैं। 'आस्र अधिकार' की ७२ गाथा है न ? हे भगवान आत्मा ! आहा..हा...! जैसे माता बालक को झुले में झुलाती हो, तब माता कहती है - सयाना है, मेरा बेटा होशियार है। वैसे आचार्यदेव आत्मा को कहते हैं। दिगंबर मुनि वनवास में रहनेवाले ९०० वर्ष पहले टीका बनाई। कहते हैं कि, अरे...! भगवान आत्मा ! पुण्य-पाप का विकार तो प्रभु आस्रव है न ! वह तो दु:खदायक है न ! वह तो अशुचि है न ! वह तो जड़ है न ! तुम तो चैतन्य हो न ! तुम तो आनंद हो न ! तुम तो विकार से रहित चेतन हो न ! आहा..हा...! ऐसा संबोधन करके जगाते हैं। उसकी माता गाना गाकर झूले में सुलाती है। यहाँ भगवान आत्मा को आचार्य, संतो, ज्ञानी जगाते हैं, जाग..! तुम कौन हो ? समझ में आया ?

अरे...! सम्यग्दर्शन, ऐसा भान... 'श्रेणिक राजा'। इसमें आ गया था, कल नहीं लिया

था। पहले सातवी नरक का आयुष्य बाँधा था। ८२ वे पन्ने पर नीचे है। '**जिस प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरक की आयु का बंध करके फिर समकित को प्राप्त हुए थे,...**' 'श्रेणिक' राजा, हजारो रानियां थी, राजपाट बडा था। महासुंदर शरीर था, 'चेलना' जैसी धर्मी रानी थी। ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान हुआ। भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ 'महावीर' भगवान के समवसरण में क्षायिक समकित हुआ। कहते हैं कि पहले सातवें नरक का आयुष्य बँध गया था। मिथ्यादृष्टि में मुनि की अशातना की थी। बाद में आत्मा का भान (हुआ कि), आत्मा अखंड आनंद ज्ञाता-दृष्ट (स्वरूप है)। वह राग, विकल्प उठता है, उसका भी करनेवाला नहीं। आत्मा में उसका संबंध है ही नहीं। ऐसा क्षायिक समकित हुआ तो भी '**उन्हें नरक में तो जाना ही पडा था किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की ही रही।**' पहली नरक की रह गई। सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो पहले जो सात नरक का आयुष्य बँधा था उसे तोड़कर पहली नरक में जाना पडा। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में अभी पहली नरक में है।

नीचे सात नरक है न ? सात नरक है। उसमें पहली नरक में (गये हैं)। भगवान के पास उन्होंने क्षायिक समकित पाया था। 'श्रेणिक' राजा। त्याग नहीं किया था, व्रतादि नहीं थे, आत्मभान हुआ। सम्यग्दर्शन जो अनंत काल में प्राप्त नहीं किया, ऐसा प्राप्त किया। गृहस्थाश्रम में राजपाट में रहने पर भी, आत्मा का अंतर अनुभव होने से सातवी नरक का आयुष्य जो पहले मिथ्यादृष्टि में बँधा था, (उसे) तोड़कर पहली नरक में चौरासी हजार (वर्ष का रह गया)। गति नहीं फिरती, स्थिति (फिर गई)। समझ में आया ? लड्डु बनाया हो, चूरमा का लड्डु। जो बन गया उसमें से गुड़, आटा निकालकर दूसरा पकवान नहीं होता, वह तो उसे खाना ही पडेगा। थोडे समय ऐसा ही रहेगा तो घी, गुड़ सूक जायेगा, लेकिन उसमें से घी निकालकर पूडी बनाये - ऐसा नहीं बनता। उसी प्रकार एकबार गति का आयुष्य बँध गया तो गति नहीं फिरती, लेकिन आत्मा के भान द्वारा स्थिति लंबी थी उसे तोड़ दी। पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है, परंतु सम्यग्दर्शन है।

सज्झाय आती है। किसमें आता है ? 'बाहिर नारकी कृत दु:ख भोगत, अंतर सुख की गटागटी'। सर 'हुकमीचंद' यहाँ पहली बार आये थे, तब यह बोले थे। शेठ आये थे न ? वे

पहले बोले थे। क्या ?'बाहिर नारकी कृत दु:ख भोगत, अंतर सुख की गटागटी' सम्यग्दर्शन है तो नरक में नारकी होने पर भी (सुख भोगते हैं)। सम्यग्दर्शन क्या चीज है, उसकी दुनिया को खबर नहीं।'श्रेणिक' राजा नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में हैं, २५०० हजार वर्ष गये, २५०० वर्ष गये और साढे इक्यासी हजार वर्ष बाकी हैं। बाद में पहले तीर्थंकर होंगे। आगामी काल में जगतगुरु त्रिलोकनाथ जैसे 'महावीर' भगवान हुए, वैसे होंगे। एक सम्यग्दर्शन का प्रताप !! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन क्या है, उसकी जगत को खबर नहीं। इसके बिना ज्ञान और व्रत बिना अंक के शून्य हैं। समझ में आया ? वह तो पहले कहा। सातवी नरक की (स्थिति तोड़कर) पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में गये। वहाँ भी आनंद है। बाहर में दु:ख है, अंदर में राग से भिन्न आत्मा का भान है न, नरक में भी ! नरक में यानी नारकी, आनंद आनंद का वेदन करते हैं। ओ..हो...हो... ! नरक में नारकीपने होने पर भी सम्यग्दृष्टि को आनंदरस का वेदन है।

कहते हैं कि, '**यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो यह मनुष्य पर्याय पुनः मिलना दुर्लभ है।**' आहा..हा... ! भगवान आत्मा को कहते हैं कि, है आत्मा ! दुनिया की बात छोड़ दे। दुनिया दुनिया में रही। तेरे आत्मा का भान कर ले, नहीं तो ऐसा मनुष्यदेह पाना दुर्लभ... दुर्लभ... दुर्लभ है। समझ में आया ? शास्त्र में तो बहुत दृष्टांत दिये हैं। चिंतामणि रत्न। हाथ में हो और वह समुद्र में चला जाये। जाने के बाद वह पाना मुश्किल है। रत्न समुद्र के तलवे में चला गया, कहाँ से मिलेगा ? ऐसा मनुष्यदेह फिर मिलना बहुत कठिन है। यदि आत्मदर्शन नहीं किया तो तेरा सब व्यर्थ है। पाँच-पचास लाख, करोड-दो करोड पैदा किये हो या त्यागी होकर व्रत और नियम धारण किये हो परंतु सम्यग्दर्शन बिना तेरा मनुष्यदेह व्यर्थ है। ऐसा कहते हैं। देखो ! देखो !'दौलतरामजी' तीसरी ढाल की अंतिम गाथा (में ऐसा कहते हैं)।'**यह (नर भव) मनुष्य पर्याय पुनः मिलना दुर्लभ है।**' थोडा भावार्थ लिया है। भावार्थ लिया है न ?

'**भावार्थ :- यह सम्यग्दर्शन ही...**' (मूल पुस्तक में) नीचे (फूटनोट में) लिखा है।

सम्यग्दृष्टि जीवको, निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्ध तें होय तो सम्यक् दोष न कोय।।

आत्मा सम्यग्दर्शन हुआ। कदाचित् उसको कुगति तो नहीं होती, परंतु पूर्व का बंध हो गया हो तो सम्यक् दोष नहीं होता, उसे सम्यग्दर्शन में दोष लगता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'परमात्मप्रकाश' में कहा है, सम्यग्दर्शन सहित नरक में जाना अच्छा है, लेकिन मिथ्यादृष्टि सहित स्वर्ग में जाना बुरा है। स्वर्ग में देव, देवियां लाखो, करोडो, अरबों वर्ष आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना मिथ्याश्रद्धा करके चला भी गया (तो भी) तेरा स्वर्ग दु:खरूप है। सम्यग्दर्शन आत्मा का भान करके नरक में गया तो भी वहाँ सुखरूप है। वहाँ से निकलकर 'श्रेणिक' राजा तीर्थंकर होंगे। समझ में आया ? 'श्रेणिक' राजा उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जायेंगे। नरक से सीधे निकलकर, सीधे निकलकर तीर्थंकर होंगे। तीन ज्ञान लेकर तो पहली नरक से आयेंगे और क्षायिक समकित तो साथ है। भान... भान... भान... (है)। राग नहीं, शरीर नहीं, दौलत नहीीं, यह जन्म है, वह मेरा नहीं। माता के पेट में आया, वह जन्म मेरा नहीं, माता मेरी नहीं है; मैं तो आनंदकंद शुद्ध चैतन्य ड़ूँ। माता के पेट में आयेंगे तो भी ऐसा भान रहेगा। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान...' देखो ! समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान ने कहा ऐसा आत्मा। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव भगवान ने ऐसे अनंत आत्मा देखे हैं। त्रिलोकनाथ परमेश्वर कहते हैं, वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' परमेश्वर मनुष्यदेह में बिराजमान हैं। एक करोड पूर्व का आयुष्य है, पांचसो धनुष का ऊँचा देह है। दो हजार हाथ ऊँचा। महाविदेहक्षत्र में भगवान बिराजते हैं। इस जमीन पर महाविदेहक्षेत्र में मनुष्यदेह में बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र दूर है। महाविदेहक्षेत्र दूर है, बहुत दूर है। यह भरतक्षेत्र है न ? उससे बहुत दूर है। जमीन पर है, बहुत दूर है, हजारो योजन दूर है। वहाँ भगवान वर्तमान में बिराजते हैं। 'सीमंधर' तीर्थंकरदेव। णमो अरिहंताणं पद में बिराजते हैं। चौबीस तीर्थंकर णमो सिद्धाणं में बिराजते हैं। चौबीस तीर्थंकर तो सिद्धपद में हैं, सिद्ध में बिराजते हैं, उनको शरीर नहीं है। यहाँ थे तब शरीर था। अब सिद्ध हो गये। भगवान बिराजते हैं तो शरीर है, वाणी भी है, उपदेश होता है, सो-सो इन्द्र की उपस्थिति है, समवसरण में उपस्थिति है। भगवान की दिव्यध्वनि ॐकार निकलता है और

वर्तमान मनुष्यक्षेत्र में इन्द्रों आदि को सुनाते हैं। समझ में आया ? वे भगवान कहते हैं कि, भाई ! भगवान ने कहा वही सब ज्ञानी कहते हैं।

'इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान...' है। आहा..हा... ! शास्त्र का पढ़ना, ग्यारह अंग का पढ़ना, नव पूर्व का पढ़ना, सब आत्मदर्शन शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान, आनंद की अंतर प्रतीत, भान बिना वह सब ज्ञान मिथ्याज्ञान है। है न ? **'और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है।'** आत्मा ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव अंतर दृष्टि बिना बाहर का क्रियाकांड मिथ्याचारित्र कहलाता है। वह चारित्र सम्यक् है नहीं। **'सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते।'** अस्ति-नास्ति की है।

आत्मदर्शन अनुभव बिना, आत्मज्ञान ज्ञाता-दृष्टा के अनुभव बिना जो कोई क्रियाकांड होता है, उसको भगवान चारित्र कहते नहीं। **'इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को...'** प्रत्येक आत्मार्थी को, प्रत्येक जीव को-आत्मार्थी को **'ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए। पंडित दौलतरामजी अपने आत्मा को संबोधन करके कहते हैं कि-हे विवेकी आत्मा !'** देखो ! सयाना कहा है न ? सयाना। **'हे विवेकी आत्मा ! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर...'** स्वयं सुनकर। कोई सुनाये ऐसा नहीं, तू स्वयं सुनकर - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- कोई सुनानेवाले हो तो सुने न ?

उत्तर :- कहते हैं कि, धर्मात्मा ज्ञानी के पास आत्मा के सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्वयं सुनकर, तू सुनकर। दूसरे ने कहा और दूसरे ने (सुन) लिया, ऐसा नहीं। **'स्वयं सुनकर अन्य अनुभव ज्ञानियों से प्राप्त करने में...'** प्राप्त करने में **'सावधान हो;...'** दो बात कही है। दो शब्द हैं न ? सुन, समझ और सावधान हो (ऐसे) तीन शब्द हैं न ? बहुत थोडे शब्द में बहुत भर दिया है। समझ में आया ?

'अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा।' मनुष्यदेह कींमत से नहीं मिलता। एक अरब रूपयें देने से ऐसी आँख मिलती है ? नाखुन का एक टूकडा भी करोड़ रूपयें दे तो

(भी) नया नहीं मिलता। अनंतकाल में ऐसा देह मिला, यदि आत्मा का भान नहीं किया तो व्यर्थ है - ऐसा कहते हैं। ओ..हो..हो...!

मुमुक्षु :- रूपये नहीं मिले तो व्यर्थ है।

उत्तर :- रूपये तो बहुत मिला है, धूल में क्या है ? भाई ! उनके पास रूपये हैं। पुत्र के पास दो करोड रुपये हैं। काम नहीं आते ? क्या है ? समझ में आया ? उसके पुत्र के पास दो करोड हैं।

मुमुक्षु :- उसे क्या काम आते हैं ?

उत्तर :- बाप तो कहलाता है या नहीं ? पिता तो कहने में आता है या नहीं ? भले ही पुत्र पैसा नहीं देता हो।

मुमुक्षु :- तीन-चार साल से छोड दिया है।

उत्तर :- छोड दिया तो क्या करे ? पहले से छोड दिया है, लिखकर दिया है, तुम अलग और हम अलग। वैसे भी भिन्न ही है, एक कौन है ? कल्पना की कल्पना है। धूल में है क्या ? पाँच करोड़ हो या दस करोड़ हो, मिट्टी-धूल है। आत्मा को कहाँ काम आती है ? आत्मा के सुख में वह चीज़ कहाँ मदद करती है ? वह तो मिट्टी है, धूल है, अजीवतत्त्व है। अजीव में सुख है ? अजीव धूल में सुख है ? ऐ..ई...!

मुमुक्षु :- लड़के को बडा किया।

उत्तर :- लड़के को बडा किया ? धूल में भी बड़ा नहीं किया। वह तो उसके आयुष्य के कारण बड़ा हुआ है। समझ में आया ?

कहते हैं, अरे...! '**अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि समकित प्राप्त नहीं किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।**' मनुष्यदेह वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की यथार्थ वाणी... समझ में आया ? ऐसा प्राप्त होना अनंत काल में महामुश्किल है। तीसरी ढाल (समाप्त) हुई। सारांश में है वह सब आ गया है। चौथी ढाल लो, चौथी।

चौथी ढाल

सम्यग्ज्ञान का लक्षण और उसका समय

(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।।१।।

अन्वयार्थ :- (सम्यक् श्रद्धा) सम्यग्दर्शन (धारि) धारण करके (पुनि) फिर (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान का (सेवहु) सेवन करो; (जो सम्यग्ज्ञान) (बहु धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक (स्व-पर अर्थ) अपना और दूसरे पदार्थों का (प्रगटावन) ज्ञान कराने में (भान) सूर्य के समान है।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान को दृढ़ करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को (आत्मा को) तथा पर पदार्थों को* ज्यों का त्यों बतलाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

'**सम्यग्ज्ञान का लक्षण और उसका समय।**' समझ में आया ? सम्यग्दर्शन की व्याख्या कही। अब चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान की व्याख्या चलती है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान का विशेष आराधन करना कि जिससे ज्ञान की बहुत निर्मलता हो। इसलिए दर्शन के बाद यहाँ ज्ञान का अधिकार लिया है। मोक्षमार्ग में भी तीन लिये हैं न ? '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग**' 'उमास्वामी'।

दो हजार वर्ष पहले 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज दिगम्बर संत प्रभु थे, महान मुनि थे। वे भगवान के पास गये थे। 'कुन्दकुन्दाचार्य' दो हजार वर्ष पहले 'वंदेवास' है ना ? 'वंदेवास'

---

* **स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।** (प्रमेयरत्नमाला, प्र.उ.सूत्र-१)

गाँव है। वहाँ से पाँच मील 'पोन्नुर हिल' है, 'मद्रास'। वहाँ दिगम्बर मुनि दो हजार वर्ष पहले रहते थे। वहाँ से भगवान के पास गये। 'सीमंधर' भगवान अभी बिराजते हैं, उस समय भी बिराजते थे। बहुत बड़ा आयुष्य है न ? वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार' ताड़पत्र में लिखे हैं। महासंत ! 'पोन्नुर हिल', 'मद्रास' से ८० माईल दूर है। पर्वत है। हम दो बार गये हैं, पूरा संघ साथ में था। 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने भगवान के पास (सुनकर) यहाँ शास्त्र बनाये। वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के बाद सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिए।

(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।।१।।

प्रगटावन सूर्य है। सच्चे आत्मदर्शनपूर्वक ज्ञान का भानु सूर्य है। अंतर सूर्य चैतन्य भगवान। अनंत धर्मयुक्त, ऐसा लेंगे। देखो ! **'सम्यग्दर्शन धारण करके...'** पहले सम्यग्दर्शन बाद में ज्ञान, हाँ ! सम्यग्दर्शन न हो और मात्र ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते नहीं।

'(बह धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक...' कहते हैं कि, ज्ञान में अनेक धर्मयुक्त आत्मा और अनेक स्वभावयुक्त जड़, उसका ज्ञानसूर्य में भान होता है। अनंत धर्मयुक्त आत्मा, अनंत गुण(स्वरूप) आत्मा। भगवानआत्मा जितने सिद्ध में अनंत गुण प्रकट हुए, वे सब अनंत गुण यहाँ आत्मा में हैं। ऐसे अनंत गुण का ज्ञान-बोध कराते हैं। विशेष लेना है न ? भाई ! दर्शन अभेद था न ? विस्तार करते हैं। ज्ञान स्वपरप्रकाशक (है), ऐसे लेना है न ? देखो !

'सम्यग्ज्ञान का सेवन करो;...' क्यों ? **'(जो सम्यग्ज्ञान) अनेक धर्मात्मक (स्वपर अर्थ) अपना और**

दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है।' क्या कहते हैं ? सम्यग्दर्शन में तो अपने आत्मा की प्रतीत होती है, उसमें भेद नहीं होता। मैं आत्मा हूँ, उसमें आनंद है, उसमें ज्ञान है - ऐसा भेद सम्यग्दर्शन में नहीं होता। समझ में आया ? आहा..हा... ! सम्यग्दर्शन में अखंडानंद भगवान आत्मा अनंत गुणरूप एकस्वरूप, अनंत गुणरूप एकरूप (है) - ऐसी अंतर में निर्विकल्प प्रतीति होनी, उसमें भेद नहीं आता कि, यह ज्ञान है, यह आत्मा है और यह आनंद है, और यह आत्मा है - ऐसा भेद नहीं। ऐसी अंतर प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहा.. !

सम्यग्ज्ञान, आत्मा में अनंत गुण हैं - ऐसा सम्यग्ज्ञान में ज्ञात होता है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक आत्मा में अनंत गुण देखे हैं। कहा था न ? बहुत बार कहते हैं। आकाश के प्रदेश हैं न आकाश के प्रदेश ? अमाप अमाप आकाश है न ? लोक के बाहर चारों ओर (आकाश है)। अमाप अनंत प्रदेश। अनंत प्रदेश से (अनंतगुने) गुण एक आत्मा में हैं। भगवान जाने, अपने को पता नहीं, अपने तो आत्मा को मानो। ऐसा कहते हैं कि, (ऐसा मानना उसे) मानना नहीं कहते। जिसे आत्मदृष्टि हुई, उसके ज्ञान में आत्मा अनंतगुणमय है - ऐसा नहीं। अनंत गुण है। आहा..हा...! सर्वज्ञ परमेश्वर के अलावा, वीतराग तीर्थंकरदेव के अलावा.. बराबर हिन्दी नहीं आती, शब्द में थोडा फर्क पड जाता है। भगवान के अलावा यह बात दुनिया में, ओर कहीं नहीं है। परमेश्वर वीतराग तीर्थंकरदेव के कथन के अलावा यह बात तीनकाल, तीनलोक में अन्यत्र कहीं दूसरे में होती नहीं। समझ में आया ?

इसलिए 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान... कैसे लिखा है, देखा न ! '**(बहु धर्मजुत)...**' समझ में आया ? '**अनेक धर्मात्मक अपना और दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है।'** समझ में आया ? जो ज्ञान-दर्शन-प्रतीति हुई उसमें यह अनंत गुणमय आत्मा है - (ऐसा भान हुआ)। एक एक ज्ञान में अनंत पर्याय होने की ताकत है। एक एक गुण में अनंती सामर्थ्यता है। एक एक ज्ञानगुण में अनंत पर्याय जो केवलज्ञान उ्पन्न होता है, केवलज्ञान, ऐसे केवलज्ञान की जो अनंती पर्याय हैं, वह ज्ञानगुण में पड़ी है। ऐसा-ऐसा अनंत गुणमय आत्मा है - ऐसा सम्यग्ज्ञान ज्ञान कराता है। समझ में आया ? अज्ञानी कहते हैं कि, एक आत्मा करो, आत्मा करो। लेकिन आत्मा क्या ? आत्मा है कौन ? और उसमें गुण कितने हैं ? जितने गुण हैं उतनी उसकी पर्याय होती हैं, अवस्था होती हैं। ऐसा भान हुए बिना उसका

सम्यग्ज्ञान होता नहीं। समझ में आया ? अच्छी बात कही है, देखो ! यहाँ लिखा है।

'स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।' आहा..हा... ! यह वाचाज्ञान की बात नहीं है। अंतरज्ञान, जिसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, जो दर्शनपूर्वक हुआ तो वह ज्ञान आत्मा में अनंत गुण हैं - ऐसा बताता है और वह ज्ञान परमाणु आदि अनंत जड़ पदार्थ हैं,उसमें भी अनंत गुण हैं - ऐसा वह ज्ञान बताता है। एक एक जड़ परमाणु है, वह मिट्टी है न ? बहुत रजकण इकट्ठे हुए हैं। जड़ है, मिट्टी-धूल है। एक-एक परमाणु में... एक-एक कहते हैं, क्या कहते हैं ? प्रत्येक परमाणु में अनंत गुण हैं, अनंतानंत। जितने जीव में हैं, उतने उसमें हैं। इसमें ज्ञान और आनंद है, ऐसा उसमें नहीं है, लेकिन संख्या से इतने हैं। इतने गुण को सम्यग्ज्ञान बताता है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- उसका नाम ज्ञान कहते हैं ?

उत्तर :- उसका नाम ज्ञान। आहा.. ! ज्ञान हो गया, लेकिन क्या ज्ञान हुआ ? अंदर कुछ जानने में आता था। लाल-पीला दिखता था। ध्यान... ध्यान... ध्यान... किसका ध्यान ? खरगोश के सिंग ? खरगोश होता है न ? उसे सींग नहीं होते। ऐसे आत्मा क्या चीज़ है ? एक समय में अनंतगुणमय अनंत धर्मस्वभाव और अनंती पर्यायमय - ऐसा ज्ञान नहीं हुआ तो उसे ज्ञान ही नहीं कहते। समझ में आया ? देखो !

अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रभुत्व, स्वच्छता ऐसे अनंतगुण, संख्या से अनंत गुण। द्रव्य एक, गुण अनंत। द्रव्य एक-वस्तु एक, गुण अनंत। कितने अनंत ? कि, आकाश के प्रदेश से अनंतगुने। ऐसे-ऐसे अनंत गुण परमाणु में हैं। सम्यग्ज्ञान अपने अनंत गुण का और परमाणु के अनंत गुण का बोध कराता है। समझ में आया ? ओ..हो..हो... ! **'अनेक धर्मात्मक (स्व-पर अर्थ) अपना और दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य समान है।'** चैतन्य का अंदर ज्ञान स्व का और पर का, सूर्य समान है। बाहर का सूर्य तो धूल है।

भावार्थ :- **'सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए।'** सम्यग्दर्शनसहित, हाँ ! उसके बिना ज्ञान होता नहीं। **'सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है,...'** देखो ! सूर्य अपने को दिखाता है,

सूर्य पर को दिखाता है। '**उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को...**' अनेक गुणयुक्त अपने को और अनेक गुणयुक्त परपदार्थों को '**ज्यों का त्यों बतलाता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।**' आहा..हा...! अभेददृष्टिपूर्वक ज्ञान में सब भेद जानने में आते हैं। स्व-पर का भेद, राग को जानना, पुण्य को जानना, पुण्य है, राग है, पुण्य को जानना। ज्ञान जानता है कि, यह पुण्य है, पाप है। आत्मा में अनंत गुण हैं; पर में अनंत गुण हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, उसको सम्यग्ज्ञान-मोक्ष के मार्ग का दूसरा भाग कहते हैं। पहला सम्यग्दर्शन, बाद में सम्यग्ज्ञान। उसकी विशेष बात कहेंगे... (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✲

व्यवहारनय उपचरित अर्थको बतानेवाला होनेसे अभूतार्थ है । सम्यग्दर्शनके विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकभावरुप अभेदमें भेद नहीं होने पर भी व्यवहारनय उसमें भेद बतलाता है, अतः उसे असत्यार्थ कहनेमें आता है । व्यवहारनय त्रिकाली ज्ञायक-भावको छोड़कर ज्ञायकभावमें नहीं है ऐसे भेदोंको - पर्याय आदिको प्रकट करता है, इसीलिए अभूतार्थ है। पर्यायको गौण कर, व्यवहार रूप बतलाकर, व्यवहारको झूठा बतलाया है । (परमागमसार-३४०)

✲

जैसे घने धुएँकी आड़में चूल्हे पर रखा हुआ लापसीका भगोना (तपेली) नहीं दिखता, वैसे ही पुण्य-पापके प्रेमरूपी धुएँकी आड़में ज्ञायकभाव दिखाई नहीं देता । पर्यायबुद्धि वालेको रागमें रस है - रूचि हे, जससे अन्तरमें विराजमान सकल-निरावरण वीतराग मूर्ति ढ़की रह जाती है।प्रबल कर्मके संयोगसे ज्ञायक-भाव तिरोभूत हो जाता है । तो भी ज्ञायक-भाव तो ज्ञायक भाव ही है , वह तिरोभूत नहीं होता । परन्तु प्रबल रागके संयोगसे अर्थात् रागकी रुचि और प्रेमके कारण ज्ञायक-भाव नहीं दिखाई देता, जिससे तिरोभूत हुआ है । (परमागमसार-३४१)

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૮	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૯	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૩૦	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૧	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૨	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૮	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૯	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૪૦	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૧	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦

૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૩	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૪	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૫	પદ્મનંદીપંચવિંશતી	-
૫૬	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૦	રાજહૃદય (ભાગ–૪) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૬૧	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૨	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૩	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૪	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૫	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૬	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૭	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૮	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૯	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-

૭૦	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૭૧	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૪	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૫	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૬	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૭	ધન્ય આરાધક	-
૭૮	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૪) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૭૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૫) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૮૦	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૧)	૨૦-૦૦
૮૧	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૨)	૨૦-૦૦
૮૨	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૩)	૨૦-૦૦
૮૩	મુક્તિનો માર્ગ (સત્તા સ્વરૂપ ગ્રંથ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન)	૨૦.૦૦
૮૪	રાજહૃદય (ભાગ–૫) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૫	રાજહૃદય (ભાગ–૬) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૬	રાજહૃદય (ભાગ–૭) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૭	રાજહૃદય (ભાગ–૮) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૮	રાજહૃદય (ભાગ–૯) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૯	રાજહૃદય (ભાગ–૧૦) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૦	રાજહૃદય (ભાગ–૧૧) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૧	રાજહૃદય (ભાગ–૧૨) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૨	રાજહૃદય (ભાગ–૧૩) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૩	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૬) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૯૪	અનુભવપ્રકાશના કિરણો (ભાગ–૧) ('અનુભવપ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर ॉ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निभ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००

२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	पथ प्रकाश	२०.००
३३	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३४	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३५	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३६	ज्ञानामृत्त (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत्त)	-
३७	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३८	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३९	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
४०	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४१	समयसार कलश टीका	अनुपलब्ध
४२	समयसार	अनुपलब्ध
४३	स्मरण संचिका	२०.००
४४	स्वरूप भावना (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-९१३, ७१० एवं ८३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२०-००
४५	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४६	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४७	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन)	१०-००
४८	वचनामृत्त रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००
४९	भगवान आत्मा	२०.००
५०	जिन प्रतिमा जिन सारखी	२०.००
५१.	छः ढाला प्रवचन (भाग-१)	२०.००
५२.	छः ढाला प्रवचन (भाग-२)	२०.००
५३.	छः ढाला प्रवचन (भाग-३)	२०.००
५४.	प्रवचनसुधा (भाग-६)	३०.००

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर प्रवचन) (गुजराती)	१०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	७६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४४००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२-३-४	५०००
३०	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३१	निभ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३२	निभ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७५००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	गुरुगुण संभारणा (हिन्दी)	७५००
३५	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३६	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३७	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३८	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३९	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
४०	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४१	प्रवचन नवनीत भाग-१-४ (गुजराती)	५८५०
४२	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४३	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४४	पथ प्रकाश (हिन्दी)	५००
४५	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४६	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४७	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४८	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४९	भगवान आत्मा (गुजरात)	२०००
५०	भगवान आत्मा (हिन्दी)	१५००
५१	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
५२	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५३	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५४	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५५	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५६	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५७	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५८	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५९	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
६०	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
६१	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
६२	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	४०००
६३	आत्मयोग (गुजराती)	१५००

६४	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६५	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६६	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६७	ज्ञानामृत (गुजराती)	३५००
६८	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००
६९	वचनामृत रहस्य (गुजराती)	१०००
७०	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
७१	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	कहान रत्न सरिता (भाग-१)	१०००
७३	कहान रत्न सरिता (भाग-२)	१०००
७४	कुटुम्ब प्रतिबंध (गुजराती)	१५००
७५	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी)	२५००
७६	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (गुजराती)	१५००
७७	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी)	२०००
७८	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७९	समयसार दोहन (गुजराती)	७५०
८०	समकितनुं बीज (गुजराती)	१०००
८१	स्वरूपभावना (गुजराती)	१०००
८२	स्वरूपभावना (हिन्दी)	१०००
८३	सुविधि दर्शन (गुजराती)	१०००
८४	सुविधिदर्शन (हिन्दी)	१९००
८५	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	१२५०
८६	प्रवचन सुधा (भाग-१) (गुजराती)	१४००
८७	प्रवचन सुधा (भाग-२) (गुजराती)	७५०
८८	प्रवचन सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००
८९	प्रवचन सुधा (भाग-४) (गुजराती)	१०००
९०	प्रवचन सुधा (भाग-५) (गुजराती)	१०००
९१	प्रवचन सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१०००
९२	प्रवचन सुधा (भाग-७) (गुजराती)	७५०
९३	प्रवचन सुधा (भाग-८) (गुजराती)	७५०
९४	प्रवचन सुधा (भाग-९) (गुजराती)	७५०
९५	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
९७	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१ (गुज.)	१०००
९८	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२ (गुज.)	१०००
९९	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१) (गुजराती)	१०००

१००	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२) (गुजराती)	१०००
१०१	राज हृदय (भाग-१) (गुजराती)	१५००
१०२	राज हृदय (भाग-२) (गुजराती)	१५००
१०३	राज हृदय (भाग-३) (गुजराती)	७५०
१०४	अध्यात्मसुधा (भाग-१) (गुजराती)	१०००
१०५	अध्यात्मसुधा (भाग-२) (गुजराती)	१०००
१०६	अध्यात्म सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००
१०७	अध्यात्म सुधा (भाग-४) (गुजराती)	७५०
१०८	अध्यात्म सुधा (भाग-५) (गुजराती)	७५०
१०९	गुरु गिरा गौरव (भाग-१) (गुजराती) (धारावाही प्रवचन)	१०००
११०	गुरु गिरा गौरव (भाग-२) (गुजराती) (धारावाही प्रवचन)	७५०
१११	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती(	१०००
११२	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
११३	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
११४	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
११५	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
११६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०
११७	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-१)	१०००
११८	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-२)	१०००
११९	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-३)	१०००
१२०	जिन प्रतिमा जीनि सारखी	५००
१२१	स्मरण संचिका	१५००
१२२	दंसण मूलो धम्मो	३५००
१२३	प्रवचन सुधा (भाग-१) हिन्दी)	१०००
१२४	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी)	१०००
१२५	प्रवचन सुधा (भाग-३) हिन्दी)	१०००
१२६	प्रवचन सुधा (भाग-४) हिन्दी)	१०००
१२७	प्रवचन सुधा (भाग-५) हिन्दी)	१०००
१२८	प्रवचन सुधा (भाग-६) हिन्दी)	१०००
१२७	धन्य पुरुषार्थी (गुजराती)	१५००
१२८	धन्य पुरुषार्थी (हिन्दी)	६५००
१२९	छः ढाला प्रवचन (हिन्दी) (भाग-१)	१०००
१३०	राज हृदय (भाग-४) (गुजराती)	५००
१३१	राज हृदय (भाग-५) (गुजराती)	५००
१३२	राज हृदय (भाग-६) (गुजराती)	५००

१३३ राज हृदय (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१३४ राज हृदय (भाग-८) (गुजराती)	१५०
१३५ राज हृदय (भाग-९) (गुजराती)	१५०
१३६ राज हृदय (भाग-१०) (गुजराती)	१५०
१३७ अध्यात्म सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१५०
१३८ अध्यात्म सुधा (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१३९ अनुभवप्रकाशना किरणो (भाग-१) (गुज.)	१००
१४० छहढाला प्रवचन भाग-१	४५००
१४१ छहढाला प्रवचन भाग-२	४५००